अद्वैत–वेदान्त की प्रमाणमीमांसा का समीक्षात्मक अध्ययन

(श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र विरचित 'वेदान्त–परिभाषा' ग्रन्थ के विशेष सन्दर्भ में)

भारतीय दर्शन में पी–एच.डी. की उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध–प्रबन्ध



शोध–निर्देशक

डॉ. नवीन दीक्षित

विभागाध्यक्ष एवं सहायक प्राध्यापक

भारतीय दर्शन विभाग

शोधार्थी

विनय कुमार तिवारी

नामांकन संख्या– EN18-00008

भारतीय दर्शन विभाग

भारतीय दर्शन विभाग

सनातन धर्म एवं भारतीय ज्ञान अध्ययनशाला

साँची बौद्ध–भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय

साँची, रायसेन, मध्य प्रदेश (464661)

2021

शोध–निर्देशक का प्रमाण–पत्र

यह प्रमाणित किया जाता है कि शोध–प्रबंध जिसका शीर्षक **'अद्वैत–वेदान्त की प्रमाणमीमांसा का समीक्षात्मक अध्ययन (श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र विरचित 'वेदान्तपरिभाषा' ग्रन्थ के विशेष सन्दर्भ में)'; श्री विनय कुमार तिवारी** द्वारा किया गया शोध कार्य है, जिसे **सनातन धर्म एवं भारतीय ज्ञान अध्ययनशाला** के अंतर्गत **भारतीय दर्शन विभाग**, साँची बौद्ध–भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, साँची, म. प्र. में पी–एच.डी. उपाधि हेतु मेरे निर्देशन में पूर्ण किया गया।

मेरे पूर्ण ज्ञान और विश्वास में यह शोध–प्रबंध –

1. शोधार्थी का व्यक्तिगत शोध कार्य है।
2. यह शोध कार्य विधिवत् पूर्ण है।
3. यह शोध कार्य विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के मापदड़ो/निर्देशों को पूरा करता है।
4. विश्वविद्यालय की पी–एच.डी. उपाधि की नियमावली की आवश्यकताओं को पूरा करता है।

दिनांक : ..... **शोध–निर्देशक के हस्ताक्षर**

स्थान : सॉं.बौ.भा.ज्ञा.अ.वि.वि., साँची, म.प्र.

डॉ. नवीन दीक्षित
सहायक प्राध्यापक (भारतीय दर्शन विभाग)
सॉं.बौ.भा.ज्ञा.अ.वि.वि., साँची, म.प्र.

अग्रसरित
विभागाध्यक्ष के हस्ताक्षर

भारतीय दर्शन विभाग
सॉं.बौ.भा.ज्ञा.अ.वि.वि., साँची, म.प्र.

शोधार्थी का घोषणा–पत्र

मैं एतद् द्वारा घोषणा करता हूँ कि प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध जिसका शीर्षक **'अद्वैत–वेदान्त की प्रमाणमीमांसा का समीक्षात्मक अध्ययन (श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र विरचित 'वेदान्तपरिभाषा' ग्रन्थ के विशेष सन्दर्भ में)'** है; मेरा व्यक्गित शोधकार्य है, जो कि मैंने **डॉ. नवीन दीक्षित**, सहायक प्रध्यापक, भारतीय दर्शन विभाग, सनातन धर्म एवं भारतीय ज्ञान अध्ययनशाला, साँची बौद्ध–भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, साँची, म. प्र. में शोधरत रहते हुए सम्पन्न किया है।

मैं यह भी घोषणा करता हूँ कि मेरी जानकारी के अनुसार इस शोध–प्रबंध में इस विश्वविद्यालय या किसी अन्य विश्वविद्यालय के समक्ष किसी भी उपाधि की प्राप्ति के लिए प्रस्तुत किसी शोधकार्य का कोई भी भाग प्रयुक्त नहीं किया गया है।

साथ ही मैं यह भी घोषणा करता हूँ कि –

1. मैंने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम 2018 के मापदंडों के अनुसार एक सत्र का कोर्स वर्क सफलतापूर्वक पूर्ण कर लिया है।
2. मैंने शोध–प्रबंध अंतिम रूप से जमा करने के पूर्व विभागीय शोध समिति के समक्ष पूर्व–प्रस्तुति भी दी है और दिये गये निर्देशों/सुझावों के आधार पर संशोधनों को सफलतापूर्वक शामिल किया है।
3. मैंने शोध–प्रबंध से संबंधित दो शोध–पत्र ISSN/रेफर्ड जर्नल में प्रकाशित कराया है, जिसकी छायाप्रति शोध–प्रबंध के अंत में संलग्न है। मैंने शोध विषय से संबंधित राष्ट्रीय संगोष्ठी में शोध–पत्र भी प्रस्तुत किया है।
4. मेरे द्वारा प्रस्तुत शोध–प्रबंध में कोई भी कंटेंट, किसी अन्य शोध या किसी प्रकाशित सामग्री का हिस्सा नहीं है। यदि साहित्यिक चोरी के अंतर्गत कोई भी कंटेंट पाया जाता है, तो उसके लिए मैं स्वयं उत्तरदायी रहूँगा।

दिनाँक : ..... **शोधार्थी का हस्ताक्षर**

स्थान : साँ.बौ.भा.ज्ञा.अ.वि.वि., साँची, म.प्र.

विनय कुमार तिवारी
पी–एच.डी. (भारतीय दर्शन विभाग)
साँची बौद्ध–भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय

सर्वाधिकार

मैं, **विनय कुमार तिवारी,** एतद् द्वारा घोषणा करता हूँ कि साँची बौद्ध–भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, साँची, म.प्र. द्वारा इस शोध–प्रबंध **'अद्वैत–वेदान्त की प्रमाणमीमांसा का समीक्षात्मक अध्ययन (श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र विरचित 'वेदान्तपरिभाषा' ग्रन्थ के विशेष सन्दर्भ में)'** को शैक्षणिक/अनुसंधान कार्य के लिए संरक्षण एवं प्रसारण हेतु इलेक्ट्रॉनिक या प्रिंट प्रारूप में उपयोग करने का अधिकार होगा।

नोट :– शोधार्थी अथवा अन्य द्वारा शोध–प्रबंध के आँकड़ों/निष्कर्षों का प्रयोग व्यक्तिगत रूप से किया जा सकेगा। बशर्ते कि यथा स्थान विश्वविद्यालय के सर्वाधिकार का उल्लेख किया जाए।

दिनाँक : ..... **हस्ताक्षर शोधार्थी**

स्थान : साँ.बौ.भा.ज्ञा.अ.वि.वि., साँची, म.प्र.

विनय कुमार तिवारी
पी–एच.डी. (भारतीय दर्शन विभाग)
साँ.बौ.भा.ज्ञा.अ.वि.वि., साँची, म.प्र.

साहित्यिक प्रतिबद्धता/नकल का प्रमाण–पत्र

यह प्रमाणित किया जाता है कि प्रस्तुत शोध–प्रबंध **'अद्वैत–वेदान्त की प्रमाणमीमांसा का समीक्षात्मक अध्ययन (श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र विरचित 'वेदान्तपरिभाषा' ग्रन्थ के विशेष सन्दर्भ में)'** की साहित्यिक प्रतिबद्धता की जाँच निम्नलिखित उपकरण से की गई है। मैं यह घोषणा करता हूँ कि :

1. शोध–प्रबंध ज्ञान के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण कार्य है। यह शोध–प्रबंध इस विषय में अब तक किए गए कार्य/प्रकाशित/प्रकाशित होने वाले कार्यों से भिन्न है। किसी भी प्रकार का वाक्य, चित्र, आरेख, अनुच्छेद कहीं से भी नकल नहीं है तथा जहाँ भी किसी पूर्व के कार्यों का उल्लेख शोध–प्रबंध में किया गया है उसे उद्धरण चिह्न के अंतर्गत रखा गया है।
2. यह शोधार्थी का मौलिक कार्य है (किसी भी कार्य का नकल नहीं है)। शोधार्थी द्वारा किसी अन्य के कार्यों, संकल्पना, प्रक्रिया, परिणाम को अपने शोध–कार्य का दावा नहीं किया गया है।
3. शोध–कार्य के परिणाम एवं विश्लेषण में किसी भी प्रकार की मिथ्या का सहारा नहीं लिया गया है।
4. शोध–कार्य में किसी भी अनुसंधान सामग्री, उपकरण या प्रक्रियाओं या परिणामों की अदला–बदली के माध्यम से गलत परिणाम आते हैं। शोध–कार्य में ऐसा कोई भी प्रयास नहीं है।
5. 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (उच्चतर शिक्षा संस्थानों में अकादमिक सत्यनिष्ठा एवं साहित्यिक चोरी की रोकथाम को प्रोत्साहन) विनियम, 2018' के दिशा–निर्देश के अनुसार शोध–प्रबंध की जाच URKUND के द्वारा की गई है।

दिनाँक : ..... **हस्ताक्षर शोधार्थी**

स्थान : साँ.बौ.भा.ज्ञा.अ.वि.वि., साँची, म.प्र.

विनय कुमार तिवारी
पी–एच.डी. (भारतीय दर्शन विभाग)
साँ.बौ.भा.ज्ञा.अ.वि.वि., साँची, म.प्र.

Curiginal

Document Information

Analyzed document	Ph.D. thesis Vinay Kumar Tiwari.docx (D121705834)
Submitted	2021-12-09T10:36:00.0000000
Submitted by	Prabhakar Pandey
Submitter email	coordinator.inflibnet@subis.edu.in
Similarity	3%
Analysis address	coordinator.inflibnet.subis@analysis.urkund.com

Sources included in the report

W URL: https://shodhgangotri.inflibnet.ac.in/jspui/bitstream/123456789/5683/1/synopsis.pdf
Fetched: 2020-07-23T10:17:53.3900000 — 1

SA **SHASHI.pdf**
Document SHASHI.pdf (D109883836) — 3

SA **Adwait Vedant evam Bouddha Darshan ka Gyanmimansiya Chintan Ek Tulnatmak Adhyayan by Gya Prasad Ph.D. Philosophy.pdf**
Document Adwait Vedant evam Bouddha Darshan ka Gyanmimansiya Chintan Ek Tulnatmak Adhyayan by Gya Prasad Ph.D. Philosophy.pdf (D114282206) — 210

SA **ALL IN ONE THESIS FINAL (1).pdf**
Document ALL IN ONE THESIS FINAL (1).pdf (D108938587) — 1

W URL: https://www.uok.ac.in/notifications/(13)%20Rajani%20Rani%20Hindi.pdf
Fetched: 2019-09-25T13:27:07.4270000 — 1

SA **Sanchi University Of Buddhist-Indic Studies / Plagiarism Ph.D. File Akhilesh Vishwakarma .docx**
Document Plagiarism Ph.D. File Akhilesh Vishwakarma .docx (D116385605) — 1
Submitted by: coordinator.inflibnet@subis.edu.in
Receiver: coordinator.inflibnet.subis@analysis.urkund.com

Established by Ministry of Culture Govt. of Madhya Pradesh
Recognised by UGC under section 2(F) & 12(B)

Sanchi University of Buddhist-Indic Studies
साँची बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय

Sr. No. 1939 /SUBIS/IPD/2021

Sanchi, Date 09/11/2021

Certificate

TO WHOMSOEVER IT MAY CONCERN

This is to certify that Mr. Vinay Kumar Tiwari, Ph.D. research scholar, Enrolment no. EN18-00008, Department of Indian Philosophy has successfully presented his thesis summary in Pre-Ph.D. Seminar, organized by the Head of the Department, Department of Indian Philosophy, School of Sanatana Dharma & Indic Studies, Sanchi University of Buddhist-Indic Studies, Sanchi, Raisen (M.P.) on 31/08/2021 via online Google Meet. His Ph.D. research topic is अद्वैत-वेदान्त की प्रमाणमीमांसा का समीक्षात्मक अध्ययन (श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरचित वेदान्त-परिभाषा ग्रन्थ के विशेष सन्दर्भ में) Members of Department Research Committee, all Faculty member and research search scholars/students etc. were present during this presentation.

9/11/2021

Dr. Navin Dixit
Head of Department
Department of Indian Philosophy
School of Sanatana Dharma & Indic Studies
Sanchi University of Buddhist-Indic Studies,
Sanchi, District-Raisen (M.P.)

प्राक्कथन

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का शीर्षक **'अद्वैत–वेदान्त की प्रमाणमीमांसा का समीक्षात्मक अध्ययन (श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र विरचित 'वेदान्त–परिभाषा' ग्रन्थ के विशेष सन्दर्भ में)** है। इस शोध कार्य का मुख्य उद्देश्य अद्वैत–वेदान्त के प्रकरण ग्रन्थ 'वेदान्त–परिभाषा' के प्रमाणमीमांसीय विमर्श का व्यवस्थित अध्ययन करना और इस विचार की पुष्टि करना कि 'वेदान्त–परिभाषा' अद्वैत–वेदान्त की प्रमाणमीमांसा का प्रतिनिधि प्रकरण ग्रन्थ है। प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में से एक, अर्थात् अद्वैत–वेदांत दर्शन की प्रमाणमीमांसा से सम्बन्धित प्रत्ययों का अध्ययन करने का प्रयास करता है। यह शोध कार्य मुख्यतः प्रमा, प्रमा के साधन, प्रमाण का स्वरूप एवं संख्या के प्रत्ययों से संबंधित हैं।

वर्तमान समय और इसके पूर्व भी व्यावहारिक जगत एवं शैक्षिक जगत के विद्वान जिस विषय में सबसे अधिक रुचि रखते हैं, वह विषय 'यथार्थ ज्ञान' या 'सत् का अनुसन्धान' है। यथार्थ ज्ञान या सत्य के अनुसन्धान से सम्बन्धित सभी प्रकार के चिन्तनों में 'प्रमाणमीमांसीय चिन्तन' को केंद्रीय स्थान प्राप्त है। सामान्यतः 'यथार्थ ज्ञान' या 'सत् के अनुसन्धान' में प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों को प्रमुखता दी जाती है, परन्तु भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में प्रमाणमीमांसीय विमर्श के सन्दर्भ में विविधता मिलती है। यह उन सम्प्रदायों की हठधर्मिता नहीं है बल्कि यह प्रमाणमीमांसीय विविधता प्रत्येक सम्प्रदाय की अपनी मौलिकता है। यह विविधता एवं मौलिकता प्रमा के स्वरूप एवं प्रमाणों की संख्या देखकर ही स्पष्ट हो जाती है।

'यथार्थ ज्ञान' या 'सत् के अनुसन्धान' की दो दिशाएं हो सकती है, एक विचार की तो दूसरी प्रमाण की। इसके अतिरिक्त सत् के अनुसन्धान के लिए किसी तीसरे विकल्प का अवकाश नहीं है। इनमें विचार का मार्ग अतिचक्रीय है। विचार में गति तो बहुत है, परन्तु निष्कर्ष या निर्णय नहीं आता है। सत् के अनुसन्धान में विचार का मार्ग सत्याभास ले जाता है। इसलिए विचार की दिशा भ्रमक और मिथ्या है। जो भी व्यक्ति या समाज विचार की दिशा में उलझता है, वह सत् से अलग मत–मतान्तरों में उलझकर रह जाता है।

लोक प्रसिद्ध है कि मत और सत् दोनों दो भिन्न–भिन्न तथ्य है। मत तो मात्र मानसिक एवं बौद्धिक अवधारणा है, जबकि सत् समग्र प्राणों की सजीव एवं यथार्थ अनुभूति है। विचार परिवर्तन सापेक्ष होता है और सत् परिवर्तन निरपेक्ष होता है। सत् की उपलब्धि शाश्वत् एवं सनातन में प्रतिष्ठा प्रदान करती है। जबकि विचार का मार्ग प्रत्यारोपित होता है। विचार में मतों को ही निजी सम्पत्ति मानकर चलना होता है। विचार श्रृंखलाओं में दूसरों के ऊहापोह और नए–नए संयोगों को मिलाकर ही मौलिकता की आत्मवंचना की जाती है, जबकि विचार कभी मौलिक नहीं हो सकते।

मौलिकता तो सत् का लक्षण है और सत् तो सजीव अनुभूति या स्वयं की अन्तर्दृष्टि है। इसलिए सत् के अनुसन्धान प्रमाण का मार्ग ही ग्राह्य है। यदि विचार, व्यक्ति या समाज का 'सत्' के सन्दर्भ में चिन्तन है तो 'प्रमाण' उस चिन्तन की चिकित्सा है।

विचारशीलता मनुष्य या समाज की मूल एवं सहज प्रवृत्तियों में से एक है। वर्तमान समय में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी आधारित एक देशीय विकास क्रम में जैसे–जैसे सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक और पर्यावरणीय अस्तित्व की जटिलाएं बढ़ी हैं, उसी अनुपात में मनुष्य की स्वभाविक वृत्ति के रूप में विचार एवं चिन्तन की जटिलताएं बढ़ती चली गई। इसी क्रम में चिन्तन की वैज्ञानिक पद्धति के रूप में 'प्रमाणमीमांसीय विमर्श' का अपना महत्व है। प्रमाणमीमांसीय विमर्श जटिलता एवं कठिनता को मौलिकता एवं सरलता परिवर्तित कर, व्यक्ति एवं समाज के समक्ष मुख्य चुनौती के रूप में उपस्थिति 'विकल्प हीनता' एवं 'चयन की समस्या' दूर कर देता है। इसी सन्दर्भ में पूर्वोक्त 'प्रमाणमीमांसीय विविधता' का अपना वैशिष्ट्य है। यह विविधता प्रमाण एवं प्रमा के स्वरूप को देखने से स्पष्ट हो जाती है।

चार्वाक दर्शन में यथार्थ ज्ञान का एकमात्र स्रोत 'प्रत्यक्ष प्रमाण' है। बौद्ध और वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान को ज्ञान के स्वतन्त्र साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। सांख्य, योग एवं जैन दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द को प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। न्याय दर्शन में इन तीनों के अतिरिक्त उपमान को भी प्रमाण माना है। प्रभाकर मीमांसकों ने इन चार के अतिरिक्त अर्थापत्ति को भी यथार्थ ज्ञान का स्वतन्त्र स्रोत माना है। भाट्ट और अद्वैत–वेदान्त दर्शन में उपरोक्त प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द एवं अर्थापत्ति के साथ अनुपलब्धि को भी यथार्थ ज्ञान का वैध स्रोत माना गया है। 'अनुपलब्धि प्रमाण' से अभावात्मक निर्णय प्राप्त होते हैं और जो संभवतः उपरोक्त अन्य किसी भी प्रमाण से नहीं प्राप्त हो सकते हैं।

उपरोक्त प्रमाणमीमांसीय विविधता भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की हठधर्मिता नहीं, बल्कि उनकी निजी मौलिकता है। क्योंकि प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय अपने प्रमाणमीमांसीय विमर्श की पुष्टि के लिए विस्तृत तर्क देता है। फिर भी अद्वैत–वेदान्त की दृष्टि से उनमें कतिपय न्यूनताएं है और अद्वैत–वेदान्त उन्ही न्यूनताओं का परिष्कार करता है। प्रमाता, प्रमा, प्रमिति, प्रमाण एवं प्रमेय आदि पद में 'प्र' उपसर्ग है और 'माङ्' धातु से पृथक्–पृथ्क प्रत्यय है। 'मा' धातु का अर्थ मापना है। इस प्रकार जो मापे जाए, वे प्रमा है। जिससे मापा जाए, वह प्रमाण है। जो मापता है, वह प्रमाता है। जो मापने का ज्ञान है, वह प्रमिति है। जिसे मापा जाए, वह प्रमेय है। प्रमा, प्रमेय, प्रमाण, प्रमिति आदि प्रमाणमीमांसा के मुख्य प्रत्यय है। सभी दर्शनिक सम्प्रदायों के प्रमा विषयक चिन्तन में विविधताएं है। प्रमाणमीमांसीय अध्ययन को लेकर दो तरह के मत उपलब्ध है। **प्रथम–** इस मत के

अनुसार प्रमाणमीमांसा भारतीय दर्शन का केन्द्रिय विषय है, क्योंकि प्रमा के स्वरूप का निर्धारण किए बिना तत्त्वमीमांसा एवं मूल्यमीमांसा का निर्धारण सम्भव नहीं हो सकता। **द्वितीय–** इस मत में तत्त्वमीमांसा एवं मूल्यमीमांसा को प्राथमिक स्वीकार करते हुए, उसकी स्थापना के प्रमुख साधन के रूप में प्रमाणमीमांसा के महत्व को स्वीकार करते है।

जबकि इन दोनों मत से विलक्षण वेदान्त परिभाषाकार ने अपने ग्रन्थ 'वेदान्त–परिभाषा' में दोनों को समान महत्व दिया है। इस निष्कर्ष की पुष्टि के सन्दर्भ डॉ. नीलिमा सिन्हा का मत उल्लेखनीय है। उन्होनें अपनी पुस्तक 'भारतीय ज्ञानमीमांसा' के प्राक्कथन में लिखा है कि 'तर्कनिष्ठ ज्ञानमीमांसा के काल में अद्वैत–वेदान्त परम्परा में धर्मराजाध्वरीन्द्र के साथ नव्य–वेदान्त का भी उदय हुआ। धर्मराजाध्वरीन्द्र कृत 'वेदान्त–परिभाषा' में तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों के साथ ज्ञानमीमांसीय प्रश्नों की भी समुचित विवेचना मिलती है'। इस कथन के साथ ही धर्मराजाध्वरीन्द्र कृत 'वेदान्त–परिभाषा' ग्रन्थ अद्वैत–वेदान्त के प्रमाणमीमांसा का प्रतिनिधि प्रकरण ग्रन्थ है, इसकी मौलिकता और उपादेयता की भी पुष्टि हो जाती है।

सारतः कहा जा सकता है कि प्रमाणमीमांसीय विमर्श, व्यक्ति या समाज की प्रज्ञा चक्षु है जैसे ही व्यक्ति या समाज इस प्रज्ञा चक्षु से दूर होता है, वह उसी आत्मप्रवंचना, जटिलता, विकल्पहीनता एवं चयनात्मक समस्या में उलझ जाता है। इस समस्या को दूर का करने के विकल्प के रूप में सत् का सन्धान या प्रमाण का चिन्तन है। प्रमाण विषयक चिन्तन में अद्वैत–वेदान्त दर्शन की प्रमाण विचार प्रणाली की अपनी मौलिकता एवं दोषरहितता है। जिसका प्रतिनिध ग्रन्थ 'वेदान्त–परिभाषा' है।

आभार

सर्वप्रथम मैं परमपिता परमात्मा, ईष्ट एवं गुरू सत्ता की सूक्ष्म एवं दिव्य प्रेरक संवेदनाओं को नमन करता हूँ, जिनकी चेतना से चैतन्य होकर मैं इस शोध–कार्य का वाहक बन पाया हूँ। तत्पश्चात् साँची विश्वविद्यालय परिवार के सभी सदस्यों का आभार प्रकट करता हूँ, जिनके आशीर्वाद, प्रेरणा, प्रोत्साहन, सतत् स्नेह एवं प्रयास से मेरा यह शोध–कार्य सम्पन्न हुआ। मैं माननीय कुलपति महोदया प्रो. डॉ. नीरजा अरूण गुप्ता एवं आदरणीय कुलसचिव महोदय प्रो. डॉ. अल्केश चतुर्वेदी के प्रति अपनी विशेष कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनके उचित मार्गदर्शन एवं प्रेरणा के बिना यह शोध कार्य पूर्ण नहीं हो पाता। यहाँ मैं उन सभी विद्वानों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होनें इस विषय पर मुझे प्रेरणास्पद सहयोग प्रदान किया।

यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे यह शोध–कार्य डॉ. नवीन दीक्षित, भारतीय दर्शन विभाग के निर्देशन में पूर्ण करने का अवसर प्राप्त हुआ। जो स्वयं ज्ञान से परिपूर्ण एवं योग्य सहायक प्राध्यापक हैं। आपने अमूल्य समय इस शोध–कार्य में देकर मुझे पूर्ण सहयोग प्रदान किया है, जिसके लिये मैं हमेशा आपका हृदय से आभारी रहूँगा।

मैं विशेष रूप से संस्थान के सभी सहायक प्राध्यापकों में डॉ. नवीन मेहता, डॉ. विश्वबन्धु, डॉ. प्रभाकर पाण्डेय, डॉ. देवेन्द्र सिंह, डॉ. श्याम गणपत तिखे, डॉ. सुष्मिता नंदी, डॉ. प्राची अग्रवाल, डॉ राहुल सिद्धार्थ डॉ. उपेन्द्र बाबू खत्री, डॉ. सन्तोष प्रियदर्शी एवं डॉ. रमेश रोहित के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने मुझे सम्पूर्ण शोधकार्य में ऊर्जा स्रोत के रूप में सहयोग प्रदान किया।

मुझे इस शोध कार्य को करने के लिए 'साँची बौद्ध–भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय द्वारा अध्येतावृत्ति प्रदान की गई है। अतः मैं 'साँची बौद्ध–भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय' की विशेष आभारी हूँ। मैं 'अखिल भारतीय दर्शन परिषद्' (भोपाल), 'दर्शन परिषद्' (मध्य प्रदेश एवं छत्तीसगढ़) एवं 'भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद' (नई दिल्ली)' की भी अभारी हूँ। इनके द्वारा समय–समय पर आयोजित सेमीनार, कान्फ्रेन्स, एवं कार्यशाला में भागीदारी करने से मुझे तथा दिशा प्राप्त हुई।

मैं अपने माता–पिता के प्रति विशेष रूप से आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने मुझे पूर्ण रूप से सहयोग प्रदान किया। मैं भारतीय दर्शन विभाग के कार्यालय लिपिक का भी उनके सहयोग के लिए धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। मैं अपने सहयोगी सभी मित्र बन्धुओं का भी आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने मेरी आवश्यकता पड़ने पर मुझे पूर्ण सहयोग प्रदान किया।

विश्वविद्यालय के पुस्तकालय प्रभारी डॉ. अमित ताम्रकर, एवं अन्य सदस्यों श्री हरीश असाटी एवं श्री प्रकाश मण्डलोई के सहयोग के लिए मैं आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने आवश्यकता पड़ने पर मेरा पूर्ण सहयोग दिया। मैं परीक्षा नियंत्रक श्री हरीश चंद्रवंशी एवं श्री विनोद शर्मा के प्रति भी अपना आभार प्रकट करता हूँ।

अंत में उन सभी ग्रंथ एवं ग्रंथकारों का मैं विशेष आभारी हूँ, जिनका इस शोध–कार्य को संपन्न करने में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से यत्किंचित सहयोग प्राप्त हुआ। अतः इस शोध–प्रबन्ध के कार्य में जिन महानुभवों का मार्गदर्शन, निर्देशन एवं सहयोग प्राप्त हुआ है, उनके प्रति मैं अपना आभार प्रकट करना परम कर्तव्य एवं सौभाग्य समझता हूँ।

धन्यवाद्

शोधार्थी

विनय कुमार तिवारी
पी.एच. डी. शोधार्थी (भारतीय दर्शन)

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन I-III

आभार IV-V

प्रस्तावना **1—5**

प्रथम अध्याय— अद्वैत—वेदान्त परम्परा एवं वेदान्त परिभाषा **6—18**

1.1 अद्वैत—वेदान्त परम्परा एवं उनके प्रमुख्य आचार्य

1.2 वेदान्त परिभाषाकार का संक्षिप्त परिचय

1.3 वेदान्त—परिभाषा का सक्षिप्त परिचय

1.4 वेदान्त—परिभाषा की विषयवस्तु का संक्षिप्त विवरण

द्वितीय अध्याय— अद्वैत—वेदान्त दर्शन में ज्ञान एवं उसके साधन **19—56**

2.1 ज्ञान एवं उसका स्वरूप

2.2 भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों में प्रमा

2.3 भारतीय दर्शन में ख्यातिवाद—

2.4 भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद

तृतीय अध्याय— अद्वैत—वेदान्त दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण **57—170**

3.1 प्रस्तावना

3.2 प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूप एवं लक्षण

3.3 अन्तःकरण वृत्ति का स्वरूप एवं प्रकार

3.4 प्रत्यक्ष प्रमाण का वर्गीकरण

चतुर्थ अध्याय— अद्वैत—वेदान्त दर्शन में अनुमान प्रमाण का स्वरूप **171—203**

4.1 प्रस्तावना—

4.2 स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में अनुमान प्रमाण

4.3 अनुमान प्रमाण का स्वरूप और लक्षण

4.4 मिथ्यात्व निरूपण एवं ब्रह्मज्ञान में सहायक अनुमान प्रमाण

पंचम् अध्याय– अद्वैत–वेदान्त दर्शन में उपमान प्रमाण **204–215**

5.1 प्रस्तावना

5.2 स्वतंत्र प्रमाण के रूप में उपमान

5.3 उपमान प्रमाण का स्वरूप एवं लक्षण

5.4 उपमान प्रमाण का महत्व

षष्ठम् अध्याय– अद्वैत–वेदान्त दर्शन में शब्द प्रमाण का स्वरू **216–294**

6.1 प्रस्तावना–

6.2 स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में शब्द प्रमाण–

6.3 शब्द प्रमाण का स्वरूप एवं लक्षण–

6.4 पदजन्य पदार्थ, शक्ति एवं लक्षणादि

सप्तम् अध्याय– अद्वैत–वेदान्त दर्शन में अर्थापत्ति प्रमाण का स्वरूप **295–310**

7.1 प्रस्तावना

7.2 स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में अर्थापत्ति प्रमाण

7.3 अर्थापत्ति प्रमाण की परिभाषा एवं वर्गीकरण

7.4 अर्थापत्ति प्रमाण की महत्व

अष्टम् अध्याय– अद्वैत–वेदान्त दर्शन में अनुपलब्धि प्रमाण का स्वरूप **311–348**

8.1 प्रस्तावना

8.2 स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में अनुपलब्धि प्रमाण

8.3 अनुपलब्धि प्रमाण का स्वरूप एवं लक्षण

8.4 अनुपलब्धि एवं अभाव

उपसंहार **349–361**

सन्दर्भ–ग्रन्थ–सूची **362–367**

परिशिष्ट

प्रस्तावना

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का शीर्षक **'अद्वैत–वेदान्त की प्रमाणमीमांसा का समीक्षात्मक अध्ययन (श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र विरचित 'वेदान्त–परिभाषा' ग्रन्थ के विशेष सन्दर्भ में)** है। इस शोध कार्य का उद्देश्य अद्वैत–वेदान्त के प्रकरण ग्रन्थ 'वेदान्त–परिभाषा' के प्रमाणमीमांसीय विमर्श का व्यवस्थित अध्ययन करना और इस विचार की पुष्टि करना कि 'वेदान्त–परिभाषा' अद्वैत–वेदान्त की प्रमाणमीमांसा का प्रतिनिधि प्रकरण ग्रन्थ है। इस शोध कार्य हेतु मुख्यतः 'समीक्षात्मक शोध–प्रविधि' का प्रयोग किया गया है तथा आवश्यकतानुसार गौण रूप से 'विश्लेषणात्मक शोध–प्रविधि' का भी प्रयोग किया है। प्रस्तुत शोध कार्य का मूल ग्रन्थ 'वेदान्त–परिभाषा' एवं उस पर उपलब्ध टीकाएं एवं भाष्य हैं। जिनका इस शोध कार्य में प्रचुरता से उपयोग किया गया है। प्राथमिक ग्रन्थों में अद्वैत–वेदान्त, न्याय, मीमांसा एवं बौद्ध दर्शन के ग्रन्थ हैं। जैसे– शारीरकसूत्र, न्यायसूत्र, न्यायभाष्य, तर्कसंग्रह, तर्कभाषा, परीक्षामुख, तत्वार्थसूत्र, प्रमाण समुच्चय, प्रमाणवार्तिक, न्यायबिन्दु, मीमांसासूत्र, श्लोकवार्तिक आदि हैं।

इस शोध कार्य के अन्य सन्दर्भित साहित्य में The Six Ways of Knowing, Theory of Knowledge, Nyaya Theory of Knowledge, Methods of Knowledge, Indian Theory of Knowledge, History of Indian Epistemology & History of Indian Logic है। इन पुस्तकों में भारतीय ज्ञानमीमांसा का विशद विवेचन प्राप्त होता है, विशेषतः डॉ धीरेन्द्र मोहन दत्ता की पुस्तक 'The Six Ways of Knowing' में अद्वैत–वेदान्त की ज्ञानमीमांसा का विशद विवेचन प्राप्त होता है। द्वितीयक ग्रन्थों में भारतीय ज्ञानमीमांसा, भारतीय एवं पाश्चात्य ज्ञान मीमांसा, प्रो. एस. एन. दासगुप्त, आचार्य बलदेव उपाध्याय, प्रो. राधाकृष्णन, प्रो. मैसूर हिरियन्ना, प्रो. जदुनाथ सिन्हा, प्रो. चन्द्रधर शर्मा, प्रो. संगम लाल पाण्डेय, डॉ. नन्द किशोर देवराज आदि दार्शनिकों की भारतीय दर्शन से सम्बन्धित पुस्तकें हैं। इसके अतिरिक्त कतिपय शोध–पत्रिकाएं एवं अन्तरजालीय स्रोतों से भी सन्दर्भ लिए गए है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में से एक, अर्थात् अद्वैत–वेदांत दर्शन की प्रमाणमीमांसा से सम्बन्धित प्रत्ययों का अध्ययन करने का प्रयास करता है। यह शोध कार्य मुख्यतः प्रमा, प्रमा के साधन, प्रमाण का स्वरूप एवं संख्या के प्रत्ययों से संबंधित हैं। वर्तमान समय और इसके पूर्व भी व्यावहारिक जगत एवं शैक्षिक जगत के विद्वान जिस विषय में सबसे अधिक रुचि रखते हैं, वह विषय 'यथार्थ ज्ञान' या 'सत् का अनुसन्धान' है। यथार्थ ज्ञान या सत्य के अनुसन्धान में 'प्रमाणमीमांसीय चिन्तन' को केंद्रीय स्थान प्राप्त है। सामान्यतः 'यथार्थ

ज्ञान' या 'सत् के अनुसन्धान' में प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों को प्रमुखता दी जाती है, परन्तु भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में प्रमाणमीमांसीय विमर्श के सन्दर्भ में विविधता मिलती है। यद्यपि कि यह प्रमाणमीमांसीय विविधता प्रत्येक सम्प्रदाय की अपनी मौलिकता है। यह विविधता एवं मौलिकता प्रमा के स्वरूप एवं प्रमाणों की संख्या देखकर ही स्पष्ट हो जाती है।

चार्वाक दर्शन में यथार्थ ज्ञान का एकमात्र स्रोत 'प्रत्यक्ष प्रमाण' है। बौद्ध और वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान को ज्ञान के स्वतन्त्र साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। सांख्य, योग एवं जैन दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द को प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। न्याय दर्शन में इन तीनों के अतिरिक्त उपमान को भी प्रमाण माना है। प्रभाकर मीमांसकों ने इन चार के अतिरिक्त अर्थापत्ति को भी यथार्थ ज्ञान का स्वतन्त्र स्रोत माना है। भाट्ट और अद्वैत–वेदान्त दर्शन में उपरोक्त प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द एवं अर्थापत्ति के साथ अनुपलब्धि को भी यथार्थ ज्ञान का वैध स्रोत माना गया है। 'अनुपलब्धि प्रमाण' से अभावात्मक निर्णय प्राप्त होते हैं और जो संभवतः उपरोक्त अन्य किसी भी प्रमाण से नहीं प्राप्त हो सकते हैं।

उपरोक्त प्रमाणमीमांसीय विविधता भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की हठधर्मिता नहीं हैं। बल्कि प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय अपने प्रमाणमीमांसीय विमर्श की पुष्टि के लिए विस्तृत तर्क देता है। फिर भी अद्वैत–वेदान्त की दृष्टि से उनमें कतिपय न्यूनताएं है और अद्वैत–वेदान्त उन्ही न्यूनताओं का परिष्कार करता है। यद्यपि की भारतीय प्रमाणमीमांसा पर कई मौलिक एवं विद्वतापूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमें प्रमा, प्रमाण और उनके भेद आदि विषयों पर गहन विचार प्रस्तुत किया गया है। फिर भी पृथक्तया 'वेदान्त–परिभाषा' के आलोक में प्रमाणमीमांसा पर कोई शोध कार्य सरलता से एक जगह पर नहीं उपलब्ध होता है। इसलिए यह शोध कार्य अद्वैत–वेदान्त स्वीकृत यथार्थ ज्ञान के छह प्रमाणों का और अन्य सम्प्रदायों की न्यूनताओं के परिष्कार का श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र 'वेदान्तपरिभाषा' ग्रन्थ के आलोक में अध्ययन करता है। प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में आठ अध्याय हैं।

शोध–प्रबन्ध के प्रथम अध्याय का शीर्षक 'अद्वैत–वेदान्त परम्परा एवं वेदान्त परिभाषा' है। इस अध्याय के प्रथम बिन्दु में अद्वैत–वेदान्त के प्रमुख आचार्यों उनकी कृतियों को शंकर पूर्व–अद्वैत वेदान्त, आचार्य शंकर का वेदान्त एवं इसके पश्चात् अद्वैत–वेदान्त के प्रस्थान भेद का अध्ययन है। द्वितीय बिन्दु में वेदान्त परिभाषाकार श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र का परिचय एवं उनकी

कृतियों का उल्लेख एवं तृतीय बिन्दु में वेदान्त–परिभाषा एवं उसकी टीकाओं का तथा चतुर्थ बिन्दु में वेदान्त–परिभाषा की विषयवस्तु का संक्षिप्त विवरण दिया जाना है।

शोध–प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय का शीर्षक 'अद्वैत–वेदान्त दर्शन में ज्ञान एवं उसके साधन' है। इस अध्याय में ज्ञान का स्वरूप, भारतीय दर्शन में ज्ञान का स्वरूप, ज्ञान के चार प्रकार (द्रव्य, गुण, क्रिया एवं शून्यता के रूप में ज्ञान) प्रमा का स्वरूप, वेदान्त–परिभाषा में प्रमा एवं प्रमाण का लक्षण, प्रमाण का स्वरूप एवं संख्या, प्रमाण की त्रि–परम्परा, ख्यातिवाद, अनिर्वचनीयख्यातिवाद, प्रामाण्यवाद एवं वेदान्त–परिभाषा में वर्णित स्वतः प्रामाण्यवाद एवं परतः अप्रामाण्यवाद का अध्ययन उपलब्ध है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का तृतीय अध्याय प्रत्यक्ष प्रमाण से सम्बन्धित है। इस अध्याय के प्रारम्भ में अन्य भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के प्रत्यक्ष सम्बन्धी अवधारणाओं का संक्षिप्त विवेचन और उन सम्प्रदायों के प्रत्यक्ष प्रमाण की परिभाषा किस तरह से साक्षात् ज्ञान की तरफ संकेत करती है या किस तरह से उनका तन्त्रान्तर्गत विचलन होता है। अद्वैत–वेदान्त के प्रत्यक्ष सम्बन्धी लक्षणों का उपस्थापित किया गया है। जिसके अन्तर्गत प्रत्यक्ष का स्वरूप, प्रत्यक्ष की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया, अन्तःकरण एवं उसकी वृत्ति, इन्द्रिय का स्वरूप एवं मन का अनिद्रीयत्व, जाति एवं उपाधि, सत्ता की त्रिविधता, प्रत्यक्ष की विषयवस्तु एवं प्रत्यक्ष का वर्गीकरण आदि का विस्तृत अध्ययन किया है।

अनुमान प्रमाण का अध्ययन प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में किया गया है। इस अध्याय के प्रारम्भ में अनुमान को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में अस्वीकार करने वाले तर्कों का निराकरण है। साथ ही अन्य भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के अनुमान सम्बन्धी अवधारणाओं का संक्षिप्त विवेचन है। इन सम्प्रदायों के अनुमान प्रमाण से अद्वैत–वेदान्त के अनुमान की विलक्षणता और उनके लाघव का वर्णन है। इस अध्याय के मुख्य भाग में अद्वैत–वेदान्त सम्मत् अनुमान प्रमाण के स्वरूप एवं लक्षण, अनुमान का आधार व्याप्ति, पक्षधर्मता, अनुमान के त्रिविध हेतुत्व का निराकरण, अन्वयरूप लिंग का प्रतिपादन, मिथ्यात्व के निराकरण में अनुमान प्रमाण की महत्ता एवं अनुमान का वर्गीकरण आदि का अध्ययन उपलब्ध है।

पस्तुत शोध–प्रबन्ध का पंचम् अध्याय 'अद्वैत–वेदान्त दर्शन में उपमान प्रमाण का स्वरूप' है। इस अध्याय में प्रथमतः उपमान को ज्ञान के स्वतन्त्र प्रमाण के स्थापित करने के लिए उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में अस्वीकार करने एवं उपमान का अन्तर्भाव स्व–सम्प्रदाय स्वीकृत प्रमाण के अन्तर्गत करने वाली चार्वाक, बौद्ध, वैशेषिक एवं सांख्य

दार्शनिकों की चेष्टाओं का निराकरण किया है। साथ ही न्याय एवं मीमांसा दर्शन में विवेचित उपमान प्रमाण के लक्षण से अद्वैत–वेदान्त दर्शन में विवेचित उपमान प्रमाण की विलक्षणता प्रकट की करते हुए उपमान प्रमाण का स्वरूप, लक्षण एवं उपमान प्रमाण के महत्व का विवेचन है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के षष्ठम् अध्याय का शीर्षक 'अद्वैत–वेदान्त दर्शन में शब्द प्रमाण का स्वरूप' है। इस अध्याय के प्रारम्भ में शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव स्व–सम्प्रदाय स्वीकृत प्रमाण के अन्तर्गत करने वाली चार्वाक, बौद्ध एवं वैशेषिक दार्शनिकों की चेष्टाओं एवं ज्ञान के स्वतन्त्र साधन के रूप में अस्वीकार करने वाले आक्षेपों का निराकरण किया गया है। न्याय, मीमांसादि दर्शनों से विलक्षणता का उल्लेख करते हुए अद्वैत–वेदान्त दर्शन सम्मत् शब्द प्रमाण के स्वरूप एवं लक्षण का निरूपण है। जिसके अन्तर्गत शाब्दज्ञान के चार कारण आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति एवं तात्पर्य का विवेचन है। साथ ही लौकिक एवं श्रुति वाक्यों पर बलबलाधिकरण के आधार पर विचार, श्रुति का प्राबल्य, पदार्थ का स्वरूप एवं भेद, शक्य पदार्थ, लक्ष्य पदार्थ, पद, पद की शक्ति, लक्षणा एवं लक्षणा का प्रकार, लक्षित लक्षणा, गौणी लक्षणा, प्रकारान्तर से लक्षणा के तीन प्रकार, जहत् लक्षणा का स्वरूप और उदाहरण, अजहत् लक्षणा का स्वरूप और उदाहरण, जहतजह लक्षणा का स्वरूप और उदाहरण, सिद्धार्थ प्रतिपादक वाक्यों की प्रमाणिकता, वेदवाक्यों की उत्पत्तिमत्ता (अनित्यता) एवं उनके आपौरूषेयत्व का प्रतिपादित हैं।

मीमांसा एवं अद्वैत मत स्वीकृत 'अर्थापत्ति' प्रमाण का विवेचन प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के सप्तम् अध्याय में किया है। प्रथमतः इस अध्याय में अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में अस्वीकार करने एवं 'अर्थापत्ति' का अन्तर्भाव स्व–सम्प्रदाय स्वीकृत प्रमाण के अन्तर्गत करने वाली सांख्य एवं न्यायादि दार्शनिकों की चेष्टाओं का निराकरण कर, अर्थापत्ति की स्थापना प्रमा के स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में की गई है। इस अध्याय के अन्तर्गत मीमांसा दर्शन से विलक्षण अद्वैत–वेदान्त दर्शन स्वीकृत अर्थापत्ति प्रमा एवं प्रमाण का स्वरूप एवं लक्षण, व्यतिरेक–व्याप्ति अनुमान का निराकरण, अर्थापत्ति के दो प्रकार, दृष्टार्थापत्ति का स्वरूप एवं उदाहरण, श्रुतार्थापत्ति का स्वरूप एवं उदाहरण, श्रुतार्थापत्ति के दो प्रकार, अभिधनानुपपत्ति रूप श्रुतार्थापत्ति का लक्षण एवं उदाहरण, अभिहितानुपपत्ति रूप श्रुतार्थापत्ति का लक्षण एवं उदाहरण और अर्थापत्ति प्रमाण के महत्व का विवेचन है।

कुमारिल भट्ट और अद्वैत–वेदान्त दर्शन में प्रमा के स्वतन्त्र साधन के रूप में स्वीकृत 'अनुपलब्धि प्रमाण' का विवेचन, प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के अन्तिम (अष्टम्) अध्याय में किया है। 'अद्वैत–वेदान्त दर्शन में अनुपलब्धि प्रमाण का स्वरूप' नामक अष्टम् अध्याय के प्रारम्भ में 'अनुपलब्धि' प्रमाण का अन्तर्भाव स्व–सम्प्रदाय स्वीकृत प्रमाण के अन्तर्गत करने वाली चार्वाक, बौद्ध, वैशेषिक, सांख्य, न्याय एवं प्रभाकर मीमांसक आदि दार्शनिकों की चेष्टाओं एवं ज्ञान के स्वतन्त्र साधन के रूप में अस्वीकार करने वाले आक्षेपों का निराकरण किया है। इस अध्याय के अन्तर्गत पूर्ववत् अन्य प्रमाणों के स्वरूप एवं लक्षण की भाँति, अनुपलब्धि प्रमाण के स्वरूप एवं लक्षण, विशेष प्रकार की योग्यानुपलब्धि का स्वरूप, उसकी योग्यता का स्वरूप, अनुपलब्धि का विषय अभाव, अभाव का स्वरूप एवं प्रकार, प्रागभाग, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव एवं अन्योन्याभाव का विवेचन है।

प्रथम अध्याय

अद्वैत–वेदान्त परम्परा एवं वेदान्त परिभाषा

1.1 अद्वैत–वेदान्त परम्परा एवं उनके प्रमुख्य आचार्य

1.2 वेदान्त परिभाषाकार का संक्षिप्त परिचय

1.3 वेदान्त–परिभाषा का सक्षिप्त परिचय

1.4 वेदान्त–परिभाषा की विषयवस्तु का संक्षिप्त विवरण

प्रथम अध्याय

अद्वैत–वेदान्त परम्परा एवं वेदान्त परिभाषा

1.1 अद्वैत–वेदान्त परम्परा एवं उनके प्रमुख्य आचार्य–

सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक दृष्टि से वेद–सम्मत् विचारों का सुव्यवस्थित प्रतिपादन के कारण उपनिषद को 'वेदान्त' कहा जाता है। परन्तु कालान्तर में 'वेदान्त' शब्द का प्रयोग उपनिषदों के व्याख्यान के लिए होने लगा तथा औपनिषदिक् विद्वानों का 'वेदान्ती' कहा जाने लगा।

उपनिषद के सिद्धान्तों में आपातिक विरोधों के परिहार तथा वाक्यबोध के उद्देश्य से सूत्रकार बादरायण व्यास ने 'ब्रह्मसूत्र' की रचना की। जिसमें आपाततः विरोधी वाक्यों का समन्वय एकमात्र अद्वितीय 'ब्रह्म' में होता है।[1] ब्रह्मसूत्र उपनिषद्मूलक होने के कारण 'वेदान्त–सूत्र' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कालान्तर 'ब्रह्मसूत्र' को लक्ष्य–दृष्टि में रखकर अनेक आचार्यों द्वारा स्व–साम्प्रदायिक सिद्धान्त वर्धन के लिए परस्पर विविधता को उभारकर अनेक भाष्यों, वृत्तियों तथा टीकाओं का रचना हुई। इस सन्दर्भ में 'ब्रह्मसूत्र के 10 प्रसिद्ध भाष्य'[2] निम्नलिखित हैं –

क्रम	भाष्यकार	समय	भाष्य का नाम	सिद्धान्त
1.	शंकराचार्य	788–820ई॰	शारीरकभाष्य	अद्वैतवाद
2.	भास्कराचार्य	850ई॰	भास्करभाष्य	भेदाभेदवाद
3.	रामानुजाचार्य	1040ई॰	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैतवाद
4.	मध्वाचार्य	1238ई॰	पूर्णप्रज्ञभाष्य	द्वैतवाद
5.	निम्बार्काचार्य	1250ई॰	वेदान्तपरिजातभाष्य	द्वैताद्वैतवाद
6.	श्रीकण्ठ	1270ई॰	शैवभाष्य	शैवविशिष्टाद्वैतवाद
7.	श्रीपति	1400ई॰	श्रीकरभाष्य	वीरशैववाद
8.	वल्लाभाचार्य	1544ई॰	अणुभाष्य	शुद्धाद्वैतवाद
9.	विज्ञानभिक्षु	1600ई॰	विज्ञानामृतभाष्य	अविभागाद्वैतवाद
10.	बलदेवविद्याभूषण	1725ई॰	गोविन्दभाष्य	अचिन्त्यभेदाभेदवाद

[1] सरस्वती, स्वामी सत्यानन्द, 2016. ब्रह्मसूत्रशोकरभाष्यम्, चौखम्बा प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 03.

[2] पाण्डेय, संगमलाल, 2002. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, हेल्सियन प्रेस, प्रयागराज, पृ॰ 281–282.

अन्य सम्प्रदायों की भाँति ही वेदान्त दर्शन का प्रभेदक विविध–विचित्र रचना सम्पन्न जगत् के मूलान्वेषण में आरम्भवाद, संघातवाद, परिणामवाद, विवर्तवाद इत्यादि तत्व है। आचार्य शंकर के 'शारीरकभाष्य' पर आचार्य वाचस्पति मिश्र की 'भामती' के नाम से 'भामती–प्रस्थान', आचार्य पद्मपाद की 'पंचपादिका टीका' के व्याख्याकार आचार्य प्रकाशात्मन की 'पंचपादिका–विवरण–टीका' के नाम से 'विवरण–प्रस्थान', ब्रह्मसिद्धि की परम्परा से 'वार्तिक–प्रस्थान' तथा खण्डन–विधि द्वारा अद्वैत–स्थापन से 'वाद–प्रस्थान' का विकास हुआ। इसके अतिरिक्त 'पारम्भिक–प्रस्थान' भी माना जाता है, जिसमें 'प्रकरण–ग्रन्थों' की रचना हुई।

अद्वैत–वेदान्त के प्रस्थानिक विकास एवं उनके आचार्यों के विवरण को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से अधोलिखित रूप में रेखांकित कर सकतें हैं–

शंकर–पूर्व–वेदान्त– शंकर–पूर्व–वेदान्त की समृद्ध परंपरा दृष्टिगत होती है। जैन दार्शनिक समन्तभद्र जो शंकर पूर्व थे, वह अपने ग्रन्थ 'आप्तमीमांसा' में अद्वैतवाद का उल्लेख करते हैं।[3] बौद्ध दार्शनिक कमलशील ने भी 'तत्त्वसंग्रह' की टीका में अद्वैत दर्शनावल्मिनश्च औपनिषदिकाः' कहकर अद्वैत–वेदान्त का उल्लेख किया है।

बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में कई वेदान्तियों का उल्लेख उनके नाम से किया है। कदाचित् इनमें से प्रत्येक ने अपने–अपने ब्रह्मसूत्र लिखे थे। किंतु बादरायण के ब्रह्मसूत्र को छोड़कर अन्य सभी अनुपलब्ध हैं। जिनमें आत्रेय[4], आश्मरथ्य[5] औडुलोमि[6] बादरि[7] जैमिनी[8] कार्ष्णाजनि[9], और काशकृत्स्न[10] आदि प्रमुख्य है। शंकराचार्य ने अपने पूर्ववर्ती वेदान्तियों में सुंदरपांड्य, द्रविडाचार्य, उपवर्ष, भर्तृप्रपंच, गौडपाद तथा ब्रह्मदत्त के मतों का उल्लेख किया है, मण्डनमिश्र उनके वरिष्ठ समकालीन माने जाते हैं।[11]

---

[3] अद्वैतकान्तपक्षे दृष्टो भेदो विरूध्यते।
कारकाणां क्रिययोश्च नैकं स्वस्मात् प्रजायते।। (आप्तमीमांसा– 24)

[4] स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः। (ब्रहसूत्र– 3/4/44)

[5] प्रतिज्ञासिद्धेर्लिंगमाश्मरथ्यः। (ब्रहसूत्र– 1/4/20)

[6] चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः। (ब्रहसूत्र– 4/4/6)

[7] अनुस्मृतेर्बादरिः। (ब्रहसूत्र– 1/2/30)

[8] शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः। (ब्रहसूत्र– 3/4/2)

[9] चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः। (ब्रहसूत्र– 3/1/9)

[10] अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः। (ब्रहसूत्र– 1/4/22)

[11] उपाध्याय, बलदेव (प्र.सम्पा. वेदान्तखण्ड), 1996. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, पृ॰ 01.

उपवर्ष– वृत्तिकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। उपवर्ष ने ब्रह्मसूत्र एवं मीमांसासूत्र दोनों पर ही वृत्ति लिखी है।[12] शंकराचार्य ने उन्हें स्फोटवाद का विरोधी और वर्णवाद का समर्थक माना है।

भर्तृप्रपंच– यह प्रख्यात 'वेदान्ती' थे। भर्तृप्रपंच सत् की आठ अवस्थाओं को मानते थे।[13] यथा– अंतर्यामी, साक्षी, अव्याकृत, सूत्र, आत्मा, विराट, देवता, जाति और पिण्ड। इन्होंने कठोपनिषद् एवं बृहदारण्यक उपनिषद पर भाष्य लिखा था।[14] जो वर्तमान में अनुपलब्ध है। शंकर, सुरेश्वर और आनंदगिरि ने क्रमशः बृहदारण्यक उपनिषद के भाष्य, वार्तिक और टीका में इनके मतों का उल्लेख तथा खण्डन–मण्डन किया है।

भर्तृमित्र– भर्तृमित्र ने बादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' पर एक वृत्ति लिखी थी। मण्डनमिश्र ने ब्रह्मसिद्धि के चतुर्थकाण्ड में उनकी आलोचना की है, कुमारिलभट्ट ने भर्तृमित्र को मीमांसा में 'लोकायती कृतकृर्ता' कहा है।[15]

ब्रह्मदत्त– शंकर के पूर्व ब्रह्मदत्त 'वेदान्ती' थे, जो जीव को अनित्य एवं एकमात्र ब्रह्म को नित्य पदार्थ मानते थे।[16] इनके मत को 'भावाद्वैतवाद' कहा जाता है। ये प्रपंचविलय के समर्थक और नियोगवादी थे। जिनका खण्डन शंकर, मण्डनमिश्र, तथा सुरेश्वराचार्य ने भी किया है।

गौड़पाद– गौडपाद निर्विवाद रूप से 'अद्वैतवादी' थे। जर्मन विद्वान मैक्समूलर के सन्देह का आधुनिक विद्वानों के निराकरण किया है। इनकी रचना माण्डूक्यकारिका है। जिसमें 4 प्रकरण है– आगम, वैतथ्य, अद्वैत एवं आलात्शान्ति प्रकरण।[17] गौडपाद के जिन सिद्धांतों का प्रभाव अद्वैत के परवर्ती चिन्तन पर विशेष रूप से पड़ा उनमें आत्मवाद, अजातिवाद, मायावाद, अद्वैताविरोधवाद इत्यादि हैं। इन्होंने सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद दोनों का खंडन

[12] शर्मा, राममूर्ति, 1998. अद्वैत–वेदान्तः इतिहास तथा सिद्धान्त, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, पृ॰ 130.
[13] उपाध्याय, बलदेव (प्र.सम्पा. वेदान्तखण्ड), 1996. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, पृ॰ 02.
[14] मिश्र, जगदीशचन्द्र, 2016. भारतीय दर्शन, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, पृ॰ 523.
[15] उपाध्याय, बलदेव (प्र.सम्पा. वेदान्तखण्ड), 1996. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, पृ॰ 03.
[16] शर्मा, राममूर्ति, 1998. अद्वैत–वेदान्तः इतिहास तथा सिद्धान्त, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, पृ॰ 133.
[17] शर्मा, चन्द्रधर, 2013. भरतीय दर्शन (आलोचन एवं अनुशीलन), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 213.

करते हुए अजातिवाद को स्थापित किया।[18] इनके अनुसार द्वयाभास 'मायिक' है, जिसका कारण 'मन' को माना है।[19]

मण्डनमिश्र– मण्डनमिश्र तथा सुरेश्वर इनकी भिन्नता–अभिन्नता सर्वसम्मत् नहीं है, तथापि इनकी अद्वैतवादिता सर्वसम्मत् है।[20] मण्डनमिश्र के तीनग्रन्थ अद्वैतवाद से सम्बन्धित है– ब्रह्मसिद्धि, स्फोटसिद्धि और भ्रमविवेक। ब्रह्मसिद्धि पर चित्सुखाचार्य की अभिप्राय प्रकाशिका, शंखपाणि की ब्रह्मसिद्धि व्याख्या और आनन्दपूर्ण की भावसिद्धि नामक टीकाएं हैं। ब्रह्मसिद्धि में 4भाग है– ब्रह्म, तर्क, नियोग तथा सिद्धि। मण्डनमिश्र ने विशेष रूप से भेद का निराकरण, और प्रत्यक्ष विश्लेषण, मोक्षवाद, प्रपंचविलयवाद को स्थापित किया है।

मण्डनमिश्र ने 'ब्रह्मसिद्धि' के तर्क प्रकरण में सिद्धि किया है कि 'भेद न तो प्रत्यक्षगोचर है और न अनुमानगम्य, वह न तो उपमान से जाना जाता है और न अर्थापत्ति से'। तत्वतः वह किसी वस्तु का गुण भी नहीं है। भेद अभाव भी नहीं है, क्योंकि बिना आश्रय के अभाव की प्रतीत नहीं होती है।[21]

आचार्य शंकर– 7वीं शताब्दी में केरल के कालडीनामक ग्राम में नम्बूदरीपाद ब्राह्मण कुल में विलक्षण प्रतिभा का आविर्भाव हुआ।[22] शंकराचार्य ने 8 वर्ष की आयु में चारों वेदों का अध्ययन, 12 वर्ष की आयु में सर्ववित् सर्वज्ञ तथा 16 वर्ष की आयु में बादरायण के ब्रह्मसूत्र पर शारीरकभाष्य से लिखा। 32 वर्ष की अवस्था में अपनी इहलीला का पटाक्षेप करने वाले महान दार्शनिक आचार्य शंकर को ईश्वर का एक विशेष अवतार समझ लेना सहज स्वाभाविक है।[23] माधव का 'शंकरदिग्विजय' और आनन्दगिरि का 'शंकरविजय' इनकी जीवन–चरित्र के प्रकाशक ग्रंथ हैं। किंतु इन सभी ग्रंथों में ऐतिहासिक सामग्री और प्रशंसात्मक काव्य का इतना मिश्रण है, कि शंकर का प्रमाणिक जीवनी लिखना टेढ़ी खीर हो गई है।

संगठनशक्ति से बढ़कर चिन्तनशक्ति और लेखनशक्ति में अग्रणी शंकर के अनेक ग्रंथ प्रचलित हैं। प्रमाणिक रूप से प्रमुख्य ग्रन्थों शारीरकभाष्य, 10 उपनिषदभाष्य, भगवद्गीताभाष्य

---

[18] भूतं न जायते किचिंद् अभूतं नैव जायते।
विवदन्तो द्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति ते।। (माण्डूक्यकारिका– 4/4)

[19] यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः।
तथा जाग्रद् द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः।। (माण्डूक्यकारिका– 3/29)

[20] उपाध्याय, बलदेव (प्र.सम्पा. वेदान्तखण्ड), 1996. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, पृ॰ 16.

[21] न भेदो वस्तुनो रूपं तदभावप्रसंगतः।
अरूपेण च भिन्नत्वं वस्तुनो नावकल्पते। (ब्रह्मसिद्धि– 2/5)

[22] पाण्डेय, संगमलाल, 2002. मूल शांकरवेदान्त, हेल्सियन प्रेस, प्रयागराज, पृ॰ 01.

[23] अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्।।

तथा उपदेशसाहस्त्री ही प्रायः मान्य है।[24] शंकराचार्य की समग्र रचना सृष्टि को 3 खंडों में विभक्त कर अध्ययन कर सकते हैं। भाष्य, स्त्रोत और प्रकीर्णग्रन्थ समूह विवेकचूड़ामणि, दशश्लोकी, दृग्दृश्यविवेक, अपरोक्षानुभूति, सौंदर्यलहरी, दक्षिणामूर्तिस्त्रोत, कनकधारास्त्रोत, योगतारावली, पंचीकरण इत्यादि ग्रन्थ शंकर विरचित माने जाते हैं, संभवतः ये ग्रन्थ जगद्गुरु शंकराचार्य की रचनाएं है, जो शंकराचार्य द्वारा स्थापित मठों के मठाधीश थे।

शंकराचार्य के चार प्रमुख शिष्यों में पद्मपाद, सुरेश्वर, त्रोटक और हस्तामलक माने जाते हैं।[25] हस्तामलक के नाम से केवल उनका 'हस्तामलकस्त्रोत' प्रसिद्ध है। जिसमें 14 श्लोक हैं। इस पर शंकराचार्य की एक टीका भी है। इसमें 'गुरु–शिष्य–संवाद' के माध्यम से अद्वैत–वेदान्त की स्थापना की गई है। आचार्य त्रोटक के नाम से 'श्रुतिसारसमुद्धरण' प्रसिद्ध है, जिसमें 179 पद त्रोटक छन्द में बद्ध है। इस पर सच्चिदानन्दयोगिद्र की 'तत्वदीपिका' नामक 'त्रोटकवृत्ति' है।

शंकराचार्य रचित शारीरकभाष्य पर अनेक टीकाएं लिखी गई है, जिनमें शंकर प्रवर्द्धित, निर्गुण–ब्रह्मवाद, आत्मवाद, मायावाद, सृष्टि–विद्या, ईश्वर, जीव, मोक्ष तथा मोक्षमार्ग सदृश्य सिद्धांतों को ही प्रस्तुत किया गया है। शारीरकभाष्य पर प्रमुख्य टीकाएं[26] निम्नवत् हैं–

क्रम	टीकाकार	टीका
1.	पद्मपाद	पंचपादिका
2.	वाचस्पतिमिश्र	भामती
3.	सर्वज्ञात्ममुनि	संक्षेपशारीरक
4.	आनन्दगिरि	न्यायमकरन्द
5.	गोविन्दानन्द	रत्नप्रभा
6.	चित्सुखाचार्य	भाष्यभाव–प्रकाशिका
7.	अप्पयदीक्षित	शारीरक न्यायरक्षामणि
8.	अद्वैतानन्द	ब्रह्मविद्याभरण

[24] पाण्डेय, संगमलाल, 2002. मूल शांकरवेदान्त, हेल्सियन प्रेस, प्रयागराज, पृ॰ 03.

[25] नरायणं पद्मभवं वशिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च,
व्यासं शुकं गौडपादं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम्।
श्रीशंकराचार्यमथास्य पद्मपादं हस्तामलकं न शिष्यम्,
तं त्रोटकं वार्तिकारमन्यास्मद्गुरून सन्ततमानतोऽस्मि।

[26] उपाध्याय, बलदेव (प्र.सम्पा. वेदान्तखण्ड), 1996. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, पृ॰ 33.

इन सभी भाष्य ग्रन्थों में प्रमुख्यतया आचार्य शंकर की 'लक्ष्यदृष्टि' को ही लक्षित किया गया है।

विवरण–प्रस्थान– आचार्यपद्मपाद शंकराचार्य के साक्षात् और अन्यतम शिष्य थे। इनका पूर्व नाम सनन्दन और इनका जन्म दक्षिण के चोल देश में हुआ था। 'भारतीय दर्शन का इतिहास' में डॉ दासगुप्त ने इनको शंकर का समकालीन माना है।[27] शंकराचार्य के ब्रह्मलीन के बाद आचार्यपद्मपाद गोवर्धनमठ पुरी के शंकराचार्य पद पर अभिषिक्त हुए थे। 'शंकराचार्य के निर्देशानुसार पद्मपाद ने उनके शारीरकभाष्य पर 'पंचपादिका' नामक टीका लिखी थी। वर्तमान में यह ग्रन्थ केवल चतुःसूत्री तक ही प्राप्त होता है, लेकिन शंकरदिग्विजय के अनुसार इसका शेष भाग भी था, जिसे 'वृत्ति' कहा जाता था'।[28]

शंकर दिग्विजय में वर्णित कथा के अनुसार पंचपादिका का नाम 'वेदान्तडिण्डिम' था। इस ग्रन्थ में पद्मपाद ने शांकरभाष्य के तात्पर्य का तार्किक और अभूतपूर्व विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ के ऊपर आचार्य प्रकाशात्मनयति की 'विवरणटीका' है।[29] जिसके नाम से 'विवरण–प्रस्थान' प्रसिद्ध हुआ है। पंचपादिका पर विवरण के अतिरिक्त स्वामीअमलानन्द की पंचपादिका–दर्पण, नृसिंहाश्रम की वेदान्तरत्नकोष, आत्मस्वरूप की प्रबोधशोधनी तथा विज्ञानात्मा की तात्पर्यबोधनी, टीका उपलब्ध है। पद्मपाद के अन्य ग्रन्थो में शंकराचार्यकृत प्रपंचसारतन्त्र पर 'विवरणनामक टीका' शिवपंचाक्षरीभाष्य तथा विज्ञानदीपिका है।

पंचपादिका शारीरकभाष्य की एक टीका है। इसलिए 'विवरण–प्रस्थान' को 'टीका प्रस्थान' भी कहा जाता है। विवरण–टीका परवर्ती काल मे इतनी प्रख्यात हुई कि इसके ऊपर भी अनेक उप–टीकाएं लिखी गई, जिसमें 'ऋजुविवरण' सर्वज्ञविष्णुभट्ट की, 'तत्वदीपन' अखण्डानन्द की, 'तात्पर्यदीपिका' चित्सुखाचार्य की तथा 'भावप्रकाशिका' नृसिंहाश्रम की प्रमुख है।[30] इनग्रन्थो से सुसज्जित विवरण–प्रस्थान एक सुप्रतिष्ठित प्रस्थान बना। विवरणटीका के बिना पंचपादिक की संक्षिप्त और सारगर्भित उक्तियों को हृदयंगम करना कठिन है। 'पंचपादिका' में जो वेदान्त–सिद्धान्त बीजत्वेन वर्णित है, वही 'विवरण' में बहुशाखामय, सुदृढ़

---

[27] गुप्त, सुरेन्द्रनाथ दास, 1978. भारतीय दर्शन का इतिहास(1), राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ॰ 423.

[28] उपाध्याय, बलदेव (प्र.सम्पा. वेदान्तखण्ड), 1996. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, पृ॰ 51.

[29] शर्मा, राममूर्ति, 1998. अद्वैत–वेदान्तः इतिहास तथा सिद्धान्त, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, पृ॰ 169.

[30] उपाध्याय, बलदेव (प्र.सम्पा. वेदान्तखण्ड), 1996. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, पृ॰ 52.

एवं विशाल वृक्षत्वेन विकसित हुआ है। विवरण प्रस्थान के आचार्यों ने प्रमुख्य रूप से आभास, तमस्–भावरूपत्व, अविद्या का स्वरूप तथा भावरूपत्व, ब्रह्म का स्वरूप और लक्षण, ब्रह्म की जगत् कारणता, जीव का स्वरूप, जगन्मिथ्या शब्दापरोक्षवाद और अविद्यानिवृत्ति को ही उद्भाषित किया है।

भामती–प्रस्थान– भामती–प्रस्थान के उद्भावक आचार्य के रूप में वाचस्पति मिश्र माने जाते हैं, जिन्होंने शारीरकभाष्य पर एक विशद और मौलिक टीका के रूप में 'भामती' की रचना की है। 10वीं शताब्दी के श्रेष्ठ सर्वतन्त्र स्वतन्त्र दार्शनिक के रूप में प्रख्यात हैं। कल्पतरूकर के नाम से प्रख्यात अमलानन्द सरस्वती ने भामती पर वेदान्त–कल्पतरू नामक टीका लिखी है।[31] जिसने भामती–प्रस्थान को अद्वैत–वेदान्त के प्रतिष्ठित प्रस्थान के रूप में प्रतिष्ठा प्रदान की है, अमलानन्द सरस्वती भामती–प्रस्थान के संस्थापक आचार्य माने जाते हैं।[32] अमलानन्द के वेदान्त–कल्पतरू पर अप्पयदीक्षित की 'परिमल', लक्ष्मी नृसिंह कृत 'अभोग', वैद्यनाथ पायुगुण्डे कृत 'मंजरी' प्रसिद्ध है। वेदान्त–कल्पतरू के अतिरिक्त भामती पर वल्लालसूरी कृत 'भामती–तिलक', अखण्डानन्द कृत 'ऋजु–प्रकाशिका', अच्युत कृष्णतीर्थ कृत 'भामती–भावदीपिका', सुब्रह्मण्यम् शास्त्री कृत 'भामती–विवरण' इत्यादि टीकाएं है। वाचस्पति मिश्र ने पद्मपाद की पंचपादिका और शंकर के सिद्धान्तों का आपातिक विरोध प्रकट करते हैं, जिनका स्वरूप अमलानन्द ने और पुष्ट किया है। शंकर के अनुसार स्वशक्ति से ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है, किन्तु वाचस्पति मिश्र ने माना कि जगत् का कारण 'ब्रह्म' है तथा वह जीव के भ्रम का विषय है।

वार्तिक–प्रस्थान– वार्तिक–प्रस्थान के संस्थापक आचार्य शंकर के साक्षात् शिष्य सुरेश्वराचार्य हैं।[33] इनका आधारग्रन्थ 'बृहदारण्यकोपनिषद भाष्यवार्तिक' है, जिस पर आनन्दगिरि तथा विद्यारण्य स्वामी की टीका है। सुरेश्वराचार्य के अन्य ग्रन्थ भी इस प्रस्थान में आते हैं, जिनमें पंचीकरणवार्तिक, नैष्कर्म्यसिद्धि, मानसोल्लास प्रमुख है। नैष्कर्म्यसिद्धि आचार्यसुरेश्वर की मौलिक कृति है जिन पर ज्ञानोत्तमा कृत 'चंद्रिका' चित्सुख की भावतत्वप्रकाशिका, ज्ञानामृत की 'विद्यासुरभि' ,अखिलात्मा की 'नैष्कर्म्यसिद्धि' विवरण तथा रामदत्त कृत 'सारार्थ' प्रमुख है।[34] वार्तिक–प्रस्थान का एक अन्य प्रधान ग्रन्थ सर्वज्ञात्मुनि रचित

---

[31] शर्मा, राममूर्ति, 1998. अद्वैत–वेदान्तः इतिहास तथा सिद्धान्त, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, पृ॰ 176.

[32] उपाध्याय, बलदेव (प्र.सम्पा. वेदान्तखण्ड), 1996. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, पृ॰ 86.

[33] शर्मा, राममूर्ति, 1998. अद्वैत–वेदान्तः इतिहास तथा सिद्धान्त, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, पृ॰ 167.

[34] उपाध्याय, बलदेव (प्र.सम्पा. वेदान्तखण्ड), 1996. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, पृ॰ 103.

'संक्षेपशारीरक' है। जिसको 'शारीरकभाष्यवार्तिक' भी कहा जाता है। इस पद्यमय ग्रन्थ पर मधुसूदन सरस्वती कृत 'संक्षेपशारीरकसारसंग्रह', नृसिंहाश्रम कृत तत्त्वबोधनी, रामतीर्थ कृत अन्वर्थ प्रकाशिका इत्यादि प्रमुख है।

आचार्य सुरेश्वर का अद्वैत विषयक सिद्धान्त शंकर के सिद्धान्तो को सर्वत्र पुष्ट करता है तथा कतिपय स्थलों पर वैषम्य भी स्थापित करता है। औपाधिक भेद व्यवस्था में जहाँ पद्मपाद 'प्रतिबिम्बवाद' का समर्थन करते हैं, वाचस्पतिमिश्र 'अवच्छेदवाद' का, वहीं सुरेश्वराचार्य आभासवाद का। भामती–प्रस्थान में 'त्रिवृतकरण' की मान्यता है, जबकि वार्तिक–प्रस्थान में 'पंचीकरण' मान्य है।

वाद–प्रस्थान– भामती–प्रस्थान, विवरण–प्रस्थान तथा वार्तिक–प्रस्थान को मिलाकर अधिकरण–प्रस्थान कहा जाता है, क्योंकि इनमें मुख्यतः अद्वैत–वेदान्त के सिद्धान्तों की व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। इसके विपरीत वाद–प्रस्थान में जहाँ एक ओर अद्वैत के सभी पूर्ववर्ती प्रस्थानों का समन्वय किया गया है, वहीं दूसरी ओर वाद–नियम के बल पर परमत शोधन भी किया गया है। अतः इस प्रस्थान को 'वाद–प्रस्थान' भी कहा जाता है। इस प्रस्थान के मुख्य ग्रन्थ श्रीहर्ष का 'खण्डनखण्डखाद्य', चित्सुख की 'तत्त्वप्रदीपिका' और मधुसूदनसरस्वती की 'अद्वैतसिद्धि' है। जिसे भाषा शैली और विचार की दृष्टि से कठिन होने के कारण 'कठिनत्रयी' भी कहा जाता है, इन प्रास्थानिक ग्रन्थों पर नव्यन्याय–भाषा–शैली का प्रभाव होने के कारण इसे 'नव्य–वेदान्त' भी कहा जाता है।[35]

श्रीहर्ष रचित खण्डनखण्डखाद्य की दार्शनिकता की यशोगाथा उन पर लिखित टीका से ही विदित है, जिनमें परमानन्दकृत 'खण्डन–मण्डन', भवानाथकृत 'खण्डन–मण्डन', रघुनाथ शिरोमणिकृत 'दीधित', वर्धमानकृत 'प्रकाश', विद्याभरणकृत 'विद्याभरणी', शंकरमिश्रकृत 'आनन्दवर्धन'(शांकरी), पद्मनामकृत' शिष्यहितैषणी', चित्सुख की 'भावदीपिका', रघुनाथ भट्टाचार्यकृत 'खण्डनभूषणमरिग' इत्यादि प्रमुख है। खण्डनखण्डखाद्य पर उपलब्ध सभी टीकाओं को मुख्यतया त्रिधा विभक्त कर सकते हैं, जिनमें खण्डनखण्डखाद्य का खण्डनकर न्यायदर्शन का मण्डन, खण्डनखण्डखाद्य के युक्तियों का विकास एवं न्यायदर्शन का अद्वैत–वेदान्त की ओर विकास। इसके अर्न्तगत आनन्दबोध कृत 'न्यायमकरन्द', अप्पयदीक्षितकृत 'मध्वमुखमर्दन', नृसिंहाश्रमकृत 'भेदधिक्कार', अनन्तकृष्णशास्त्री कृत 'शतभूषणी' इत्यादि हैं।

[35] उपाध्याय, बलदेव (प्र.सम्पा. वेदान्तखण्ड), 1996. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, पृ॰ 120.

प्रारम्भिक–प्रस्थान– तुलसीदास का अद्वैत–वेदान्त के सन्दर्भ में अभिमत है कि ज्ञानमार्ग समझने, साधने और कहने में कठिन है।[36] इस कठिनाई को दूर करने के लिए अनेक अद्वैत–वेदान्तियों ने सारसंग्रह भूत अनेक प्रकरण ग्रन्थो की रचना की। जिनके अध्ययन के अनन्तर शारीरकभाष्य, बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अद्वैतसिद्धि, चित्सुखी आदि ग्रन्थों को पढ़ने की परम्परा है। इन प्रकरण ग्रन्थों पर दो दृष्टियों से विचार कर सकते हैं।

प्रथम मुमुक्षु की दृष्टि से– जिनमें स्वामी विद्यारण्य तथा उनके गुरू भारतीतीर्थ कृत 'पंचदशी' तथा महादेव सरस्वती कृत 'तत्त्वानुसन्धान' है।

द्वितीय जिज्ञासु की दृष्टि से– जिनमें सदानन्द कृत 'वेदान्तसार' तथा धर्मराजाध्वरीन्द्र कृत 'वेदान्त–परिभाषा' इत्यादि प्रमुख हैं।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का मुख्य ग्रन्थ अद्वैत–वेदान्त के प्रारम्भिक–प्रस्थान से सम्बिन्धित है। इस शोध–प्रबन्ध का मुख्य विषय वेदान्त–परिभाषा के विशेष सन्दर्भ में 'अद्वैत–वेदान्त की प्रमाणमीमांसा का समीक्षात्मक अध्ययन है। इसलिए वेदान्त परिभाषाकार एवं वेदान्त–परिभाषा का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है।

1.2 वेदान्त परिभाषाकार का संक्षिप्त परिचय–

'वेदान्त–परिभाषा' ग्रन्थ अद्वैत–वेदान्त की प्रमाणमीमांसा से सम्बन्धित महत्वपूर्ण प्रकरण ग्रन्थ है। वेदान्तपरिभाषा के रचयिता धर्मराजाध्वरीन्द्र है। प्रो. राम लाल सिंह धर्मराजाध्वरीन्द्र को विश्लेषणवादी दार्शनिक की संज्ञा देते हैं। इनका स्थितिकाल 17वीं शताब्दी का आरम्भ माना गया है।[37] अद्वैत वेदान्त(इतिहास तथा सिद्धान्त) के लेखक राममूर्ति शर्मा, भारतीय दर्श के लेखक मैसूर हिरियन्ना एवं डॉ. राधाकृष्णन आदि विद्वानों ने भी इनका समय 17वीं शताब्दी के आस–पास ही माना है।

धर्मराजाध्वरीन्द्र तमिलनाडु में तंजोर जनपद के कण्डूमणिक्कम ग्राम के निवासी थे।[38] वेदान्त परिभाषा के मंगलाचरण में परिभाषाकार ने अपने गुरूओं का और अपनी अन्य कृतियों का नामोल्लेख मात्र किया है। इनके परम गुरु का नाम नृसिंह और गुरु का नाम वेंकटनाथ था।[39] संस्कृत वांग्मय का बृहद इतिहास में वेदान्तपरिभाषा नामक शीर्षक से उदृधृत लेख में

---

[36] कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन विवेक। होत घुनाच्छार न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक।। (रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड– 8 ख)
[37] शास्त्री, राकेश (हि॰व्या॰), 2004. वेदान्तसारः, परिमल पब्लिकेशन, शक्तिनगर, नई दिल्ली– 110007 पृ॰
[38] उपाध्याय, बलदेव (प्र.सम्पा.), 1996. संस्कृत–वाङ्मय का बृहद इतिहास (दशम–खण्ड), उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, पृ॰ 174.
[39] शर्मा, राममूर्ति, 1998. अद्वैत–वेदान्तः इतिहास तथा सिद्धान्त, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, पृ॰ 182.

प्रो. रामलाल सिंह ने धर्मराजाध्वरीन्द्र को वेंकटनाथ का पुत्र माना है। ये न्याय–वैशेषिक एवं वेदान्त में नितान्त निष्णात थे। न्याय दर्शन पर उनकी उल्लेखनीय कृतियों में गंगेश के तत्वचिंतामणि पर तर्कचूड़ामणि, मुक्तिसंग्रह एवं शशधर के न्याय सिद्धान्तदीप पर प्रकाशिका टीका है और वेदान्त पर उनके दो ग्रन्थ है। वेदान्त–परिभाषा तथा पदमोजनिका।[40]

1.3 वेदान्त–परिभाषा का सक्षिप्त परिचय–

अद्वैत–वेदान्त के प्रमेय पदार्थों का वेदादि शास्त्रों में सम्यक् विवेचन किया गया है, फिर भी प्रमा, प्रमाण–प्रक्रिया, परिभाषा आदि का स्पष्ट विवेचन वहाँ अनुपलब्ध है। अद्वैत–वेदान्त के कतिपय विद्वानों ने प्रमाण आदि प्रक्रियाओं का विवेचन भी किया है। फिर भी धर्मराजाध्वरीन्द्रकृत 'वेदान्त–परिभाषा' प्रमाण के दृष्टिकोण से 'नव्य न्याय की भाषाशैली' में रचित, 'प्रमाणमीमांसा' से सम्बन्धित महत्वपूर्ण प्रकरण ग्रन्थ है। भारतीय ज्ञानमीमांसा के प्राक्कथन में नीलिमा सिन्हा लिखती हैं कि 'तर्कनिष्ठ ज्ञानमीमांसा के काल में अद्वैत–वेदान्त परम्परा में धर्मराजाध्वरीन्द्र के साथ नव्य–वेदान्त का उदय भी हुआ। धर्मराजाध्वरीन्द्र कृत वेदान्त–परिभाषा में तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों के साथ ज्ञानमीमांसीय प्रश्नों की भी समुचित विवेचना मिलती है'।[41] इस प्रकार धर्मराजाध्वरीन्द्र ने 'वेदान्त–परिभाषा' में प्रमा, प्रमाणों आदि का सुस्पष्ट विवेचन प्रस्तुत करके अद्वैत–वेदान्त दर्शन की प्रमाणमीमांसा को ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

वेदान्त–परिभाषा कई प्रकाशनों से संस्कृत, हिन्दी एवं अंग्रजी अनुवाद सहित प्रकाशित है। इस पर संस्कृत, हिन्दी एवं अंग्रजी में अनेक टीकाएं मिलती है। वेदान्तप–रिभाषा पर सबसे प्रमुख टीका शिखामणि है, जिसके लेखक रामकृष्ण थे।[42] वेदान्त–परिभाषा की आशुबोधिनी व्याख्या, पदार्थ–मंजूसाव्याख्या तथा पंचानन भट्टाचार्य कृत परिभाषासंग्रह व्याख्या आदि व्याख्याएं संस्कृत में हैं।[43] नारायण भट्ट द्वसास लिखी हुई 'भूषण टीका' भी उल्लेखनीय है एवं इसके अतिरिक्त शिवदत्त की 'अर्थदीपिका' टीका सर्वमान्य है।[44] अर्थदीपिका की इसलिए विशेष उल्लेखनीय है कि इसमें शिवदत्त ने धर्मराजाध्वरीन्द्र के सिद्धान्तों का पूर्णतया समर्थन किया गया है तथा उनके पुत्र द्वारा लिखी गई टीका का यथास्थल खण्डन करके

---

[40] उपाध्याय, बलदेव (प्र.सम्पा.), 1996. संस्कृत–वाङ्मय का बृहद इतिहास (दशम–खण्ड), उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, पृ॰ 174.
[41] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ xvii.
[42] उपाध्याय, बलदेव (प्र.सम्पा.), 1996. संस्कृत–वाङ्मय का बृहद इतिहास (दशम–खण्ड), उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, पृ॰ 174.
[43] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 9. प्राक्कथन से
[44] उपाध्याय, बलदेव (प्र.सम्पा.), 1996. संस्कृत–वाङ्मय का बृहद इतिहास (दशम–खण्ड), उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, पृ॰ 174.

वेदान्तपरिभाषा के तात्पर्य को अभिव्यक्त किया गया है। सूर्यनारायण शास्त्री ने मद्रास से इसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित किया है।[45] अनन्तकृष्णशास्त्रीकृत 'परिभाषाप्रकाशिका' कोचिन नरेश श्रीराम वर्माकृत परिभाषासंग्रह है और आनन्द झा कृत भगवती वेदान्तपरिभाषा की अन्य प्रकाशित टीकाएँ हैं।[46]

1.4 वेदान्त–परिभाषा की विषयवस्तु का संक्षिप्त विवरण–

धर्मराजाध्वरीन्द्र ने 'वेदान्तपरिभाषा' ग्रन्थ आठ परिच्छेदों में विभाजित किया है। जिसके प्रथम छः परिच्छेदों में वेदान्त सम्मत छः प्रमाणों का विवेचन किया है। अन्तिम दो परिच्छेद सातवें परिच्छेद तथा आठवें परिच्छेद में क्रमशः वेदान्त के विषय एवं वेदान्त से सिद्ध होने वाले प्रयोजन की व्याख्या की है। प्रो. राम लाल सिंह के अनुसार वेदान्त–परिभाषा का विषय विश्वोत्पत्ति से सम्बन्धित सृष्टि विज्ञान नहीं है, धर्म मीमांसा भी नहीं है, इन्द्रियानुभवविषयक विज्ञान भी नहीं है, बल्कि वेदान्त–परिभाषा दर्शनशास्त्र का एक ऐसा ग्रन्थ है जो ज्ञानमीमांसीय पदों का तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत करने का सक्षम प्रयास करता है। अतएव इसे वेदान्त–ज्ञानमीमांसा का ही नहीं, अपितु ज्ञान का दर्शनशास्त्र कहना अधिक उपयुक्त होगा। वेदान्तपरिभाषा वस्तुतः तर्कशास्त्र का दर्शन है। इस सन्दर्भ में डॉ. राधाकृष्णन का मत है कि 'चूंकि शंकर के प्रत्यक्ष तथा अनुमान विषयक मनोविज्ञान के विषय में विचारविमार्श नहीं किया है, हम उसके मत के विषय में कुछ नहीं कह सकते 'वेदान्त–परिभाषा' में दिए वर्णन से ही हमें सन्तोष करना पड़ेगा'।[47] आशय यह कि अद्वैत–वेदान्त के प्रमाण विषयक चिन्तन के लिए हमें 'वेदान्त–परिभाषा' ग्रन्थ से ही सन्तुष्ट होना पड़ेगा।

धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्त–परिभाषा में प्रायः वैसी ही वैध युक्तियों तथा प्रामाणिक तकनीकों का प्रयोग किया है, जैसी दार्शनिक युक्तियों तथा तकनीकों का प्रयोग आज समसामयिक दार्शनिक करते हैं और उन्होंने वेदान्त के पदों, प्रत्ययों का विश्लेषण लोकसिद्ध व्यवहार परम्परा तथा संस्कार के आधार पर किया है।[48] धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्त–परिभाषा में सामान्य दृष्टिकोण को विशिष्ट उदाहरणों के निष्कर्ष पर परखने की विधा का भी प्रयोग किया है, जिसे समसामसिक समय दार्शनिक 'अप्रमाणन की प्रणाली' की संज्ञा देते है।

---

[45] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 9. प्राक्कथन से

[46] उपाध्याय, बलदेव (प्र.सम्पा.), 1996. संस्कृत–वाङ्मय का बृहद इतिहास (दशम–खण्ड), उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, पृ॰ 174.

[47] राधाकृष्णन, 2016. भारतीय दर्शन भाग–2, राजपाल एण्ड सन्ज, नई दिल्ली, पृ॰ 421.

[48] उपाध्याय, बलदेव (प्र.सम्पा.), 1996. संस्कृत–वाङ्मय का बृहद इतिहास (दशम–खण्ड), उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, पृ॰ 175.

वेदान्त–परिभाषा में धर्मराजाध्वरीन्द्र ने सादृश्यानुमानों एवं रूपकों का बहुत प्रयोग किया है। इनका प्रयोग युक्तियों के स्थान पर नहीं अपितु युक्तियों को और अधिक बलवान् बनाने हेतु किया गया है। प्रो. राम लाल सिंह के अनुसार इस विधा का प्रयोग प्राचीन काल में प्लेटो ने तथा समसामयिक पाश्चात्य दर्शन में विटगेन्स्टाइन ने किया है, अतः वेदान्त–परिभाषा में धर्मराजाध्वरीन्द्र एक विश्लेषणवादी दार्शनिक के रूप में उभर कर आते हैं। परन्तु धर्मराजाध्वरीन्द्र का विश्लेषण समकालीन पाश्चात्य दर्शन के विश्लेषण जैसा आंशिक विश्लेषण नहीं है। काल, मन, ज्ञान आदि प्रत्ययों का उनका विश्लेषण दार्शनिक सम्प्रत्ययों के परिवार का वर्णनात्मक विश्लेषण भी नहीं है, जैसा कि भाववादी दार्शनिक 'ज्ञान' के अन्तर्गत रखकर उनका विश्लेषण करते हैं। वेदान्त परिभाषाकार का विश्लेषण दार्शनिक सम्प्रत्ययों का सामान्य भाषायी विश्लेषण भी नहीं है। वह ईश्वर, द्रव्य आदि दार्शनिक सम्प्रत्ययों का चिकित्सीय विश्लेषण भी नहीं है, जिसे समकालीन दर्शन में कतिपय पश्चिमी दार्शनिक करते हैं। वेदान्त–परिभाषा वास्तव में वर्णनात्मक तत्वमीमांसा का ग्रन्थ है। इसमें वर्णनात्मक तत्वमीमांसा की सभी सम्भावनाओं की खोज के प्रयास के साथ–साथ मात्र चिन्तन मूलक (ऊहात्मक) मीमांसा की सम्भावना को ध्वस्त करने का भी प्रयास किया गया है। ऊहात्मक तत्ववाद कपोलकल्पना है जबकि वेदान्त तत्ववाद यथार्थ ज्ञान है।

'प्रोफेसर एस.एन. दास गुप्त इसको वेदान्त के प्रमुख विषयों तथा ज्ञानमीमांसा का नितान्त मौलिक एवं उच्चकोटि का ग्रन्थ मानते हुए भी कालान्तर में यह मानते हैं कि धर्मराज रामाद्वय तथा उनके ग्रन्थ 'वेदान्तकौमुदी' के प्रति नितान्त ऋणी हैं। उनके अनुसार वेदान्तपरिभाषा में विवेचित सम्पूर्ण प्रतिपाद्य रामाद्वय के पिष्टपेषण मात्र हैं। प्रो. राम लाल सिंह के अनुसार डॉ. दासगुप्त का यह मत क्षोदक्षम है। रामाद्वय नव्यन्याय में उतने कुशल नहीं थे जितने धर्मराज। इस कारण उनके ग्रन्थ का अपना वैशिष्ट्य है।'[49]

वेदान्तपरिभाषा को एक स्वतःपूर्ण प्रकरण ग्रन्थ है, स्वयं धर्मराजाध्वरीन्द्र ने भी वेदान्त–परिभाषा को वेदान्तार्थावलम्बिनी कहा है।[50] वेदान्त–परिभाषा में चैतन्य, अन्तःकरण, वृत्ति, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, जीव–साक्षी, व्याप्ति, संस्कार, अनुभूति आदि सम्प्रत्ययों का तार्किक विवेचन एवं विश्लेषण प्राप्त होता है। इसी प्रकार वेदान्त–परिभाषा में आत्मा, ब्रह्म,

[49] उपाध्याय, बलदेव (प्र.सम्पा.), 1996. संस्कृत–वाङ्मय का बृहद इतिहास (दशम–खण्ड), उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, पृ॰ 175.
[50] ब्रह्म–बोधाय मन्दानां वेदान्तार्थावलम्बिनी। धर्मराजाध्वरीन्द्रेण परिभाषा वितन्यते।। (वेदान्त–परिभाषा मंगलाचरण– 5)

अधिष्ठान, अध्यास, अविद्या, माया एवं मोक्ष आदि के भी धर्मराजाध्वरीन्द्र ने दार्शनिक विश्लेषण दिये हैं।

वेदान्त–परिभाषा की प्रमा–प्रमाण–प्रमेय–प्रतिपादन की शैली अनोखी है। वेदान्त–परिभाषा के उल्लेखनीय मत हैं– मन का अतीन्द्रियत्व, वह्निमान् पर्वत में पर्वतांश की प्रत्यक्षत्वव्यवस्था, ज्ञानगत प्रत्यक्ष एवं विषयगत प्रत्यक्ष के पृथक्–पृथक् प्रयोजक शब्द से भी प्रत्यक्षज्ञान की उत्पत्ति, जातिशक्तिवाद, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि का पृथक् प्रमाणत्व, स्वतःप्रामाण्यवाद, महावाक्य में लक्षणा का खण्डन, एक अविद्यावाद की स्वीकृति आदि।

धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्त–परिभाषा में ज्ञान का प्रयोजन, प्रमा के लक्षण एवं छह प्रमाणों वर्णन किया है। ये छह प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि हैं। प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में वेदान्त–परिभाषा के आलोक में अद्वैत सम्मत् प्रमाणों का विवेचन किया गया है।

द्वितीय अध्याय

अद्वैत–वेदान्त दर्शन में ज्ञान एवं उसके साधन

2.1– ज्ञान एवं उसका स्वरूप

2.1.1 – भारतीय दर्शन में ज्ञान की अवधारणा

2.1.2 – भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों में ज्ञान का स्वरूप

2.1.2.1 द्रव्य के रूप में ज्ञान

2.1.2.2 क्रिया के रूप में ज्ञान

2.1.2.3 गुण के रूप में ज्ञान

2.1.2.4 शून्यता के रूप में ज्ञान

2.2 – भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों में प्रमा

2.2.1 वेदान्त–परिभाषा में प्रमा का स्वरूप

2.2.2 भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों में प्रमाणों का स्वरूप

2.2.3 भारतीय दर्शन में प्रमाण व्यवस्था

2.2.2.4 भारतीय दर्शन के विभिन्न समप्रदायों में प्रमाणों की संख्या

2.3 भारतीय दर्शन में ख्यातिवाद

2.4 भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद

द्वितीय अध्याय

अद्वैत–वेदान्त दर्शन में ज्ञान एवं उसके साधन

2.1– ज्ञान एवं उसका स्वरूप

'ज्ञान, ज्ञा धातु में ल्युट् प्रत्यय लगाने से बनता है। इसके शाब्दिक अर्थ है– जानना, सम्यक् बोध, शास्त्रानुशीलन, पदार्थ का ग्रहण करने वाली मन की वृत्ति, आत्मसाक्षात्कार आदि।'[1] इस प्रकार व्यूत्पत्तिमूलक दृष्टि से भारतीय परम्परा में ज्ञान का अर्थ बहुधा 'सम्यक् बोध, जानना' आदि के रूप में किया जाता है। 'साधारणतः ज्ञाता की चेतना में विषय जिस रूप में उपस्थित होता है उसे बोध की संज्ञा दी जाती है।'[2] भारतीय परम्परा में बहुधा 'बोध और ज्ञान' का प्रयोग समानार्थक रूप में किया जाता है। बोध(ज्ञान) के लिए तीन तत्व की आवश्यकता होती है–

1. बोध की विषय वस्तु (ज्ञान का विषय)
2. बोध की क्रिया (ज्ञान का साधन)
3. बोध को धारण करने वाला (ज्ञाता)

यही ज्ञान के तीन संघटक तत्व हैं। ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान का साधन के सम्मिलित रूप को ज्ञान कहा जाता है। यथा कठोपनिषद् में कहा गया है कि 'यदा पञ्चावतिष्ठनते ज्ञानानि मनसा सह'[3] अर्थात्– जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ के स्थिर हो जाती हैं तब ज्ञान होता है।

इस प्रकार व्यूत्पत्तिमूलक दृष्टि से ज्ञान शब्द का प्रयोग पाँचों ज्ञानेन्द्रियों एवं मन के माध्यम से जानने के अर्थ में किया जाता है। लक्ष्यमूलक दृष्टि से 'तैत्तरीय उपनिषद्' में कहा गया है कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'[4] अर्थात्– 'ब्रह्म को जानने वाला परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, वह ब्रह्म सत्यस्वरूप वाला, ज्ञानमय–चित्स्वरूप,

---

[1] कुमार, शशिप्रभा, शुक्ल, संतोष कुमार, झा, रामनाथ (सम्पा.), 2014. दार्शनिक सम्प्रत्यय–कोष, डी॰के॰ प्रिन्टवर्ल्ड प्रा॰लि॰, नई दिल्ली, पृ॰ 71.

[2] सिन्हा, नीलिमा, 2005. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 3.

[3] कठ उपनिषद्– 6/10.

[4] तैत्तरीय उपनिषद्– 2/1/1.

अनन्त–सर्वव्यापक, आदि अन्त से रहित है'। इस प्रकार भारतीय परम्परा में ज्ञान को व्यूत्पत्ति की दृष्टि 'जानने के अर्थ में' एवं लक्ष्य की दृष्टि से 'तत्व साक्षात्कार' की संज्ञा दी गई है।

2.1.1 – भारतीय दर्शन में ज्ञान की अवधारणा

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में ज्ञान की अवधारणा पर अलग से विमर्श नहीं किया गया है। बल्कि ज्ञान के सन्दर्भ को लेकर जो भी विमर्श प्राप्त होता है, उसी से ज्ञान की अवधारणा का निरूपण किया जाता है। साधारणतया जानना, समझना, अनुभुव करना आदि ज्ञान कहलाता है, जो मानने या विश्वास करने से भिन्न होता है। जैसे– जब कोई व्यक्ति यह दावा करता है कि वह अमुक वस्तु को जानता है। तो उससे यह पूछा जा सकता है कि वह अमुक वस्तु को कैसे जानता है। देखकर, सूंघकर या किसी अन्य प्रकार से...। वहीं जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि वह किसी वस्तु को मानता है। तो उपरोक्त प्रश्न सार्थक नहीं लगता कि वह उसे किस प्रकार मानता है। इन उदाहरणों से जानने एवं मानने स्पष्ट अन्तर प्रतीत होता है, परन्तु कुछ स्थलों में यह भेद करना मुश्किल हो जाता है। जैसे– कोई व्यक्ति यह कहे कि वह अपने माता–पिता को जानता है तो यहाँ व्यक्ति के जानने एवं मानने में भेद करना कठिन हो जाता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ज्ञान वह न्यूनतम अवबोध है जिसकी पारिभाषिक पदों में व्याख्या सम्भव है, किन्तु निश्चायक पदों में परिभाषा सम्भव नहीं है।

भारतीय ज्ञानमीमांसा में नीलिमा सिन्हा लिखती हैं कि 'ज्ञान एक सरल प्रत्यय है जिसकी यत्किंच व्याख्या सम्भव है किन्तु परिभाषा नहीं'।[5] भारतीय दर्शन में साधारणतः लौकिक एवं पारलौकिक ज्ञान में भेद किया जाता है। लौकिक ज्ञान के लिए ही बोध, अवबोध या जानना शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह लौकिक ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ भी हो सकता है। भारतीय दर्शन में यथार्थ ज्ञान को प्रमा और अयथार्थ ज्ञान को अप्रमा कहा जाता है।

[5] सिन्हा, नीलिमा, 2005. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली पृ॰ 21.

2.1.2 – भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों में ज्ञान का स्वरूप

प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय ने अपनी–अपनी तत्वमीमांसा के अनुरूप ही ज्ञान के स्वरूप का निरूपण किया है क्योंकि 'भारतीय दर्शन में प्रत्येक तर्कशास्त्रीय पद्धति एवं ज्ञानमीमांसीय पद्धति का किसी न किसी तत्वदर्शन या तत्वमीमांसा से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है'।[6] इसीलिए भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों में ज्ञान के स्वरूप पर विचार करने पर कई प्रकार के मत प्राप्त होते हैं–

2.1.2.1 द्रव्य के रूप में ज्ञान–

अद्वैत–वेदान्त और सांख्य मत में ज्ञान को द्रव्य के रूप में माना जाता है।[7] इनके मतानुसार ज्ञान को द्रव्य कहने का आशय है कि आत्मा, पुरूष या ब्रह्म ज्ञान स्वरूप ही है। 'इन दार्शनिकों की दृष्टि में पारमार्थिक ज्ञान एवं तत्व में कोई अन्तर नहीं है। ऐसा ज्ञान आत्मसाक्षात्कार का विषय बनता है और व्यावहारिक जीवन का सम्पादन करने वाला ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं है, वह केवल व्यावहाकि दृष्टि से ही ज्ञान है'।[8]

2.1.2.2 क्रिया के रूप में ज्ञान–

भाट्ट मीमांसक ज्ञान को क्रिया के रूप में मानते हैं। 'इनके अनुसार ज्ञान न द्रव्य है, न गुण है बल्कि ज्ञान क्रिया है। जिसका कर्त्ता आत्मा है। 'मै जानता हूँ' जैसे वाक्यों से स्पष्ट है कि ज्ञान क्रिया है।

2.1.2.3 गुण के रूप में ज्ञान–

न्याय–वैशेषिक, चार्वाक, जैन, रामानुज एवं प्रभाकर मीमांसा दर्शन में ज्ञान को आत्मा का गुण माना जाता है। आत्मा एक द्रव्य है और ज्ञान उसका गुण है। इस बात को लेकर मतभेद है कि 'ज्ञान आत्मा का आगन्तुक गुण है या स्वरूप गुण है। इनमें से न्याय–वैशेषिक, चार्वाक और प्रभाकर ज्ञान को आगन्तुक गुण मानते हैं जबकि जैन एवं रामानुज ज्ञान को आत्मा का स्वरूप गुण मानते है'।[9]

---

[6] मिश्र, ह्रदयनारायण, 2013. भारतीय दर्शन, शेखर प्रकाशन, प्रयागराज, पृ॰ 22।

[7] सिन्हा, नीलिमा, 2005. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 21.

[8] अग्रवाल, गीतारानी, 2006. भारतीय एवं पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा, भारतीय विद्या संस्थान, वाराणसी, पृ॰ 13.

[9] सिन्हा, नीलिमा, 2005. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 22.

2.1.2.4 शून्यता के रूप में ज्ञान–

ज्ञान के विषय में शून्यतावादी बौद्धों का मत सर्वथा विलक्षण है। इनके मत में शून्यता का अर्थ 'अभाव' नहीं है किन्तु शून्यता को 'भाव' के अर्थ में व्याख्यायित नहीं किया जा सकता।[10] आशय यह कि शून्यतारूप ज्ञान द्रव्य, गुण, कर्म एवं सम्बन्ध से परे 'निषेध रूप' है।

2.2 – भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों में प्रमा

प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों ने प्रमा एवं प्रमाण का सम्यक् विवेचन किया है। 'नहिं लक्षण प्रमाणाभ्यां बिना वस्तुसिद्धिः'[11] अर्थात्– लक्षण और प्रमाण के बिना वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए समस्त भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों ने लक्षण एवं प्रमाण के संबंध में अपनी–अपनी प्रणालियाँ उपस्थित की हैं। किन्तु इसमें अद्वैत वेदान्त की प्रमाण विचार प्रणाली विशेष महत्व रखती है। 'प्रमाण का सम्बन्ध प्रमा से है। इसलिए प्रमा के स्वरूप को जाने बिना प्रमाण की चर्चा का कोई अर्थ नहीं है। प्रमा एक प्रकार का ज्ञान है।'[12]

प्रायः सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने प्रमा का विवेचन किया है तथापि अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से उसमें कुछ न्यूनताएं हैं, अद्वैत वेदान्त उन्ही का निराकरण करता है। अद्वैत वेदान्त के विषय में यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि 'अद्वैत वेदान्त तो जगत मिथ्यात्ववादी दर्शन है और प्रमा यथार्थ जगत् से सम्बन्धित है, अतः इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण किये बिना क्या अद्वैत–वेदान्त दर्शन प्रमा विषयक कोई सन्तोषजनक समाधान प्रस्तुत कर सकता है? अब यदि विश्व असत् है तो उसका प्रमात्व असत् ही होगा? इस सन्दर्भ में अद्वैत वेदान्त की मान्यता है कि जैसे पारमार्थिक अर्थ में वह विश्व मिथ्यात्ववादी है, वैसे ही व्यावहारिक अर्थ में विश्व यथार्थवादी भी है और इसके सभी पक्ष को समान महत्व देता है। अतः अद्वैत वेदान्त के सम्बन्ध में यह प्रश्न स्वाभविक तो

---

[10] सिन्हा, नीलिमा, 2005. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 23.

[11] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 9.

[12] देवराज, नन्द किशोर (सम्पा.), 2002. भारतीय दर्शन, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ॰ 256.

है किन्तु विचारणीय नहीं है। यही अभिमत वेदान्त परिभाषा पर भी लागू होता है।

प्रायः प्रमा के स्वरुप को लेकर भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में मतैक्य नहीं है। प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय की अपनी–अपनी तत्वमीमांसा के अनुरूप ही प्रमा के स्वरूप का निरूपण किया है। यह ध्यातव्य होकि 'प्रत्येक तर्कशास्त्रीय पद्धति एवं ज्ञानमीमांसीय पद्धति का किसी न किसी तत्वदर्शन या तत्वमीमांसा से घनिष्ठ सम्बन्ध है।'[13] 'प्रमाण, प्रमा, प्रमाण्य आदि को लेकर भारतीय दार्शनिक ने बहुत सूक्ष्म चिन्तन प्रस्तुत किया है। प्रमा पद पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है– लक्ष्य की दृष्टि से तथा व्युत्पत्ति की दृष्टि से। यथा लक्षितिमूलक दृष्टि से 'वेदान्त–कौमुदीकार के शब्दों में 'तत्वानुभूतिः प्रमा'[14] अर्थात 'तत्व की अनुभूति ही प्रमा है' या तत्व साक्षात्कार ही प्रमा है। व्यूत्पत्तिमूलक दृष्टि से 'प्र पूर्वक मा धातु से निष्पन्न प्रमा पद का अर्थ होता है – प्रकृष्ट ज्ञान अर्थात् यथार्थ ज्ञान।'[15] केशव मिश्र अपने 'तर्कभाषा' नामक ग्रन्थ में प्रमा को यथार्थ अनुभव के रूप में परिभाषित किया है ''यथार्थानुभवः प्रमा''[16]। प्रमा का शाब्दिक अर्थ है– प्रमाणों से उत्पन्न अर्थात् सही ज्ञान।[17] इस प्रकार भारतीय दर्शन में प्रमा को व्यूत्पत्ति की दृष्टि 'यथार्थ ज्ञान' एवं लक्ष्य की दृष्टि से 'तत्व साक्षात्कार' की संज्ञा दी गई है। सामान्यतः भारतीय दर्शन में लक्ष्य की दृष्टि ज्ञान एवं प्रमा दोनों प्रयोग एक ही अर्थ किया जाता है। वेदान्त परिभाषा में भी एक प्रकार से ब्रह्मज्ञान ही प्रमा है तो व्यावहारिक दृष्टि से प्रमा को उसके व्यापक अर्थ स्मृतिव्यावृत्तं एवं स्मृतिसाधारणं के अर्थ में किया गया है।[18] कारण यह कि 'अद्वैत वेदान्त में एक प्रकार

---

[13] मिश्र, हृदयनारायण, 2013. भारतीय दर्शन, शेखर प्रकाशन, प्रयागराज(इलाहाबाद), पृ॰ 22.

[14] शास्त्री, सुब्रह्मण्यम (सम्पा.) 1955. रामाद्वयाचार्यप्रणीत वेदान्तकौमुदी, मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास, पृ॰ 244.

[15] झा, किशोर नाथ (अनु.), शर्मा, अम्बिकादत्त एवं मिश्रा, सच्चिदानन्द (सम्पा.) 2015. न्यायदर्शनम्, भारतीय दर्शन अनुसंधान पाषिद्, दिल्ली, पृ॰ 142.

[16] शुक्ल, बदरीनाथ (हिन्दीव्याख्याकार), 2014. केशवमिश्र प्रणीत तर्कभाषा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 16.

[17] देवराज, नन्द किशोर (सम्पा.), 2002. भारतीय दर्शन, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ॰ 533.

[18] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 09.

से ब्रह्म का ज्ञान ही प्रमा है। किन्तु दूसरी दृष्टि से व्यावहारिक सत्य में प्रमा और अप्रमा का भेद किया जाता है। प्रमा के असाधारण कारण को प्रमाण कहते है।'[19]

2.2.1 – वेदान्त–परिभाषा में प्रमा का स्वरूप

वेदान्त परिभाषाकार ने वेदान्त परिभाषा के प्रत्यक्ष परिच्छेद के अर्न्तगत प्रमाणों की विवेचना के पूर्व 'प्रमा' के लक्षणों की स्थापना की है। प्रमा का सामान्य लक्षण है– तत्र प्रमाकरणं प्रमाणम्।[20] अर्थात् 'तत्र'– ब्रह्म, ब्रह्मज्ञान और उसमें प्रमाण इनमें प्रमा का जो करण (साधन) वह प्रमाण है। यहाँ 'प्रमाण' यह लक्ष्य है और 'प्रमाकरणं' यह उसका लक्षण है। यह प्रश्न उठता है कि प्रमा का क्या अर्थ है? वेदान्त परिभाषाकार के मत में प्रमा का अर्थ है– 'यथार्थ ज्ञान'। समान्यतः सभी दार्शनिक निकायों में ज्ञान के दो प्रकार को माना गया है– प्रमा एवं अप्रमा के रूप में। यहाँ वेदान्त परिभाषाकार के मत में एक तरफ प्रमा का अर्थ स्पष्ट होता है तो दूसरी ओर अप्रमा के अर्थ भी संकेत मिलता है कि अप्रमा का अर्थ है– अयथार्थ ज्ञान। इस शोध–पत्र का विषय प्रमा है इसलिए यहाँ पर अप्रमा का विचार करना उचित नहीं है। 'यथार्थ ज्ञान, 'स्मृति और अनुभव' के भेद से दो प्रकार का होता है, परन्तु कुछ लोग प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उत्पन्न होने वाला जो अनुभव रूप ज्ञान है उसी को प्रमाण मानते हैं।'[21] माध्व–वैशेषिक दार्शनिक स्मृति में प्रमाण स्वीकार करते हैं, परन्तु न्याय दार्शनिक स्मृति में प्रमाणत्व स्वीकार नहीं करते हैं। यही कारण है कि वेदान्त परिभाषाकार ने 'प्रमा शब्द के पूर्व स्मृतिव्यावृत्त पद का प्रयोग किया है क्योंकि स्मृति साक्षात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उत्पन्न नहीं होती है, किन्तु प्रत्यक्षादि अनुभव से संस्कार उत्पन्न होता है और संस्कार से स्मृति उत्पन्न होती है और संस्कारो में प्रमाणत्व न होने से स्मृति को भी प्रमा नहीं माना जाता'। इसलिए वेदान्त परिभाषाकार 'प्रमा' का प्रथम लक्षण स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि 'तत्र स्मृतिव्यावृत्तिं प्रमात्वं, 'अनधिगताबाधित–विषयज्ञानत्वम्'।[22] अर्थात्– प्रथमतः स्मृति में न जाने वाला प्रमा का लक्षण अनाधिगत और अबाधित विषय का ज्ञान ही प्रमा है। 'यहाँ

---

[19] देवराज, नन्द किशोर (सम्पा.), 2002. भारतीय दर्शन, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ॰ 533.

[20] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 09.

[21] शर्मा, अम्बिकादत्त, पाण्डेय, श्रीप्रकाश, शुक्ल, संजय कुमार, मैत्रेय, सुशील (सम्पादक), 2013. वेदान्त दर्शन के आयाम, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, नई दिल्ली, पृ॰ 263.

[22] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 9.

पर स्मृति को छोड़कर केवल अनुभवात्मक प्रमा का 'अनाधिगताबाधित विषयज्ञानत्वं प्रमात्वम्' यह लक्षण किया गया है। इसमें 'प्रमात्व' यह लक्ष्य है और 'अनधिगत–अबाधित–विषयज्ञानत्वम्' यह लक्षण है।'[23]

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि 'अनधिगत–अबाधित–विषयज्ञानत्वम्' का अर्थ क्या है? वेदान्त परिभाषाकार के मत में 'अनिधगत' का अर्थ है– पूर्व ज्ञात न हुआ। अर्थात्– जिसका ज्ञान पहले न हुआ हो या नवीन है। पुनश्च अबाधित का अर्थ है– जो दूसरे प्रमाण से मिथ्या न सिद्ध होने वाला जो विषय है, उसका ज्ञान ही प्रमा है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि वेदान्त परिभाषा में प्रथमतः प्रमा का लक्षण है– नवीन एवं उत्तर ज्ञान से बाधित न होने वाला विषय ज्ञान ही प्रमा है। वेदान्त परिभाषाकार का स्पष्टीकरण है कि 'प्रमा' लक्षण में 'अनधिगत' विशेषण लगाने से स्मृति के विषय का निराकरण हो जाता है। इसी प्रकार 'अबाधित' विशेषण लगाने से बाधित विषय का निराकरण भी हो जाता है। जैसे – 'शुक्तौ इदं रजतम्' शुक्ति(सीप) में रजत(चाँदी) का ज्ञान होता है कि इस विषय का ज्ञान रजत है, परन्तु उसका प्रमाण के द्वारा विवेचन किये जाने पर बाध होता है, अतः शुक्ति में होने वाला रजत ज्ञान प्रमा नहीं है। यहाँ से हमें अप्रमा का लक्षण भी स्पष्ट हो जाता है कि 'अधिगत एवं बाधित विषय का ज्ञान ही अप्रमा है'। इस प्रकार वेदान्त परिभाषा में 'अनाधिगत और अबाधित विषय का जो ज्ञान है, वही प्रमा है' यह लक्षण स्मृति में घटित न होने से केवल अनुभवात्मक प्रमा का निर्दोष लक्षण है। पुनश्च परिभाषाकार के मत 'विषयज्ञानत्वम्' इस शब्द में जो 'ज्ञान' शब्द है, वह 'प्रमा' का स्वरूप बताने के लिए प्रयुक्त है क्योंकि इच्छादि अन्तःकरण–वृत्तिरूप नहीं है। इच्छा भी एक प्रकार का अन्तःकरण–वृत्तिरूप ज्ञान ही है, परन्तु 'अनधिगत' इस विशेषण से इच्छादि का निराकरण हो जाता है क्योंकि ज्ञात हुए विषय में ही इच्छादि उत्पन्न होती है।

वेदान्त परिभाषा की विशेषता यह कि 'वह अबाधित स्मृति प्रमा की कोटि में लाने का प्रयास करता हैं'। इसलिए परिभाषाकार प्रमा का दूसरा लक्षण करते हुए लिखते हैं कि 'स्मृतिसाधारणं तु 'अबाधित–विषयज्ञानत्वम्'।'[24] अर्थात् स्मृति तथा अनुभव इन दोनों

---

[23] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 10.

[24] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 09.

ज्ञानों में जो साधारण अबाधित विषय का ज्ञान ही प्रमा है, यही स्मृति साधारण प्रमा है। इसलिए जिस स्मृति का विषय यथार्थ होता है एवं उत्तरज्ञान से बाधित नहीं होता ऐसी स्मृति को कुछ लोग प्रमाण मानते है। जैसे– माध्व और वैशेषिक स्मृति को प्रमा मानते है। प्रमा के इस परिभाषा में परिभाषाकार 'अबाधित–विषयज्ञानत्वं प्रमाणत्वम्' यह लक्षण किया है और 'स्मृतिसाधारणं' यह लक्ष्य है। यहाँ पर साधारण का अर्थ 'अनेक में रहने वाला' है, 'उत्तर ज्ञान में बाधित न होने वाले विषय का ज्ञान ही प्रमा है'। यह लक्षण स्मृति एवं अनुभव दोनो ज्ञानों समान रूप से घटित होता है। इसलिए प्रमा का यह लक्षण स्मृति–साधारण है। जैसे– प्रथमतः यह घट है ऐसा ज्ञान होता है और उसका किसी उत्तरज्ञान से बाध नहीं होता है। इस ज्ञान से अन्तःकरण में सूक्ष्म संस्कार उत्पन्न होते है, इसी संस्कार से आगे चलकर कुछ समय के बाद उसी घट का स्मरण होता है। इस स्मृति का विषय अबाधित घट होने से यह स्मृति प्रमा है। इसलिए अबाधित घट ज्ञान भी प्रमा है। इसके विपरीत रज्जु–सर्प का ज्ञान होने पर उसके समीप जाकर यह देखा जा सकता है कि यह सर्प है या नहीं? इस प्रकार प्रमाण के द्वारा यह ज्ञात होता है कि यह रज्जु है सर्प नहीं। इस उत्तर ज्ञान से पहले उत्पन्न सर्प ज्ञान का बाध हो जाता है। यहाँ पर सर्प रूपी विषय का बाध होता है प्रमा का नहीं। ऐसे बाधित विषय की बाद में होने वाली स्मृति भी प्रमा नहीं होती है। इसलिए स्मृति और अनुभव दोनों 'प्रमा' का 'अबाधित–विषयज्ञानत्वम्' यह साधारण लक्षण है। यहाँ पर ज्ञान शब्द का प्रयोग इच्छादि की व्यावृत्ति के प्रयुक्त हुआ है। वेदान्त परिभाषाकार के मत में 'अनुभव एवं स्मृति ये दोनों ज्ञान यथार्थ तथा अयथार्थ भेद से दो प्रकार के होते हैं। परिभाषाकार के मत में प्रमा के दो लक्षण स्पष्ट होते हैं–

प्रथम – अनधिगत(नवीन)।

द्वितीय – अबाधित विषय ज्ञानत्वम्।

प्रमा के इन दोनों लक्षणों की व्याख्या प्रसंगानुसार ऊपर किया गया है, यहाँ पर प्रमा के लक्षण को लेकर नैयायिक और मीमांसकों द्वारा किए गये आक्षेपों का निराकरण किया है। प्रमा के प्रथम लक्षण के सन्दर्भ में आक्षेप है कि धारावाहिक ज्ञान में अनधिगत की अव्याप्तता है। जैसे– अयं घटः, अयं घट इस धारावाहिक आनुभविक ज्ञान में 'यह घट है' इस प्रथम ज्ञान का विषय 'घट' क्रमशः दूसरे, तीसरे, चौथे आदि सभी ज्ञानों का

विषय एक ही है, इस तरह द्वितीयादि ज्ञान का विषय अधिगत हो जाता है। यही कारण है कि परिभाषाकार के मत का प्रथम लक्षण धारावाहिक प्रमा ज्ञान में अव्याप्त हो जा रहा है।

वेदान्त परिभाषाकार ने इस आक्षेप का निराकरण दो प्रकार से किया है। प्रथम– तार्किकों ने जिस सिद्धान्त का प्रयोग कर इस आक्षेप का दिखाया, उस सिद्धान्त के अर्न्तगत ही इस आक्षेप का निराकाण किया। यथा– नीरूपस्यापि कालस्येन्द्रियवेद्यत्वाभ्युपगमेन धारावाहिक–बुद्धरेपि पूर्वपूर्वज्ञानविषयतत्तत्क्षणविशेष विषयकत्वेन न तत्राव्याप्तिः।[25] अर्थात् रूपरहित काल को तार्किक इन्द्रियविषयत्व मानते है, तात्पर्य यह कि चक्षु इन्द्रिय से काल का प्रत्यक्ष होता है। इसलिए धारावाहिक बुद्धि को भी पूर्व–पूर्व ज्ञान का विषय न होने वाला जो उत्तर–उत्तर द्वितीय, तृतीयदि क्षण तद्विषयकत्व है, अतः धारावाहिकबुद्धि में भी प्रथम लक्षण की अव्याप्ति नहीं है। तार्किकों का सिद्धान्त है कि जिस द्रव्य में महत्त्व परिणम और उद्भूत रूप रहता है, वही द्रव्य चक्षुरिन्द्रिय का विषय होता है। परन्तु 'अयं घटः' यह सामान्य अनुभव सभी को होता है। अयं घटः इस वाक्य में अयं शब्द वर्तमानकालिक है। या तत्क्षण या काल का बोध करा रहा है। अर्थात् काल का प्रत्यक्ष होता है। इसके विपरीत जिसमें महत्त्व और उद्भूत रूप नहीं होते उसका चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता है। परिभाषाकार का मत है कि यदि मान लिया जाए तो तार्किकों को यह मानना पडेगा कि रूपरहित रूप का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है। परन्तु यह अनुभव साधारण है कि रूप तो प्रत्यक्ष दिखायी देता है किन्तु उसमें उद्भूत रूप तथा महत्त्व नहीं होता है।

परिभाषाकार के अनुसार किंच सिद्धान्ते धारावाहिकबुद्धिस्थले न ज्ञानभेदः, किन्तु यावद्घटस्फुरणं तावत् घटाकारान्तःकरणवृत्तिरेकैव, न तु नाना। वृत्तेः स्वविरोधिवृत्त्युत्पत्तिपर्यन्तं स्थायित्वाभ्युपगमात्। तथा च तत्प्रतिफलितचैतन्यरूपं घटादिज्ञानमपि तत्र तत्कालीनमेकमेवेति नाव्याप्तिशंकाऽपि।[26] अर्थात्– वेदान्तसिद्धान्त में धारावाहिक ज्ञानस्थल में ज्ञान यानी विषयाकार वृत्ति का भेद माना ही नहीं जाता। परन्तु 'यह घट', 'यह घट'– इस तरह जब तक घट का स्फुरण–अनुभव–होता रहता है, तब

[25] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 11–12.

[26] शास्त्री, केशवलाल वि॰(हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 08.

तक की घटाकार अन्तःकरण वृत्ति एक ही मानी गई है, अलग–अलग नहीं। वह वृत्ति तब तक स्थायी रहेगी, जब तक उसकी विरोधी वृत्ति का उदय न हो जाय। उस एकाकार वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य को घटज्ञान कहते हैं। और वह भी उतने ही समय तक बना रहता है। इस तरह ज्ञान का भेद न होने के कारण धारावाहिक ज्ञान के स्थल में ''अनधिगत–अबाधित–विषय–ज्ञानत्वं प्रमात्वम्'' – इस प्रमाणलक्षण में अव्याप्ति की शंका तक नहीं हो सकती। इसलिए प्रमा का वह लक्षण सर्वथा दोषरहित ही है।

यदि कोई यह कहे कि स्वयं शंकराचार्य ने ही ब्रह्मसूत्र के अध्यासभाष्य में आकाश की प्रत्यक्षता को अध्यास–भ्रम ही बताया है वैसे नीरूप काल के प्रत्यक्ष को भी घटांश में प्रत्यक्ष और कलांश में परोक्ष ज्ञान ही मानना चाहिए तो इसके उत्तर में यहाँ कहा गया है कि पहले जो कहा गया वह तो एक अभ्युपगमवाद ही था। पहले रूपहित काल को भी इन्द्रियग्राह्य मानकर समाधान किया गया था। इसमें अपने सिद्धान्त की ओर ध्यान नहीं दिया गया है। अब यहाँ अपने सिद्धान्त की बात कहकर समाधान दिया जाता है।

वेदान्तसिद्धान्त में क्षणों का भेद वृत्ति के सातत्य को भग्न नहीं कर सकता। इसलिए जहाँ तक 'यह घड़ा है', 'यह घड़ा है',– ऐसा भाव रहता रहेगा, वहाँ तक एक ही वृत्ति का सातत्य बना ही रहेगा। वृत्ति के बिना तो भीतर बाहर का कोई भी ज्ञान हो ही नहीं सकता। अतः वृत्ति को बिना माने काम नहीं चल सकता और जब तक घट का स्फुरण–घट का भान नहीं होता रहता है, तब तक घटाकारान्तःकरण की वृत्ति एक सी ही बनी रहती है। कोई वृत्तिभेद होता ही नहीं। वह वृत्ति तभी मिट सकती है, जब उसके विरोध में किसी दूसरी वृत्ति का उदय हो। एक ही स्थिर वृत्ति में प्रत्येक चेतन–अन्तरात्मा–का प्रतिबिम्बि पड़ता है, उसी को घटादि ज्ञान कहा जाता है। वृत्ति स्वयं तो ज्ञान नहीं है, परन्तु वृत्ति में प्रतिफलित–प्रतिबिम्बित चैतन्य का नाम ही ज्ञान है, किन्तु कहीं–कहीं औपचारिक दृष्टि से वृत्ति को ही ज्ञान कह दिया जाता है। वृत्ति एक होने से तज्जन्य ज्ञान पूर्वाधिगत न होकर 'अनाधिगत' ही होगा। तो पुनः पुनः अधिगत होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अतः अव्याप्ति की शंका नहीं की जा सकती। घटाकारवृत्ति के पूर्व 'अनधिगत' घट ज्ञान को ही घटाकारवृत्ति प्रकाशित करती है।

परिभाषाकार के अनुसार 'ननु सिद्धान्ते घटादेर्मिथ्यात्वेन बाधित्वात् कथं तज्ज्ञानं प्रमाण्? उच्चते। ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरं हि घटादीनां बाधः, 'यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्?' इति श्रुतिः। न तु संसारदशायां बाधः, 'यत्र हि द्वैतमिव भवति, तदतिर इतरं पश्यति' इतिश्रुतेः तथा च 'अबाधित'–पदेन संसारदशायामबाधितत्वं विवक्षितम्, इति न घटादिप्रमायामव्याप्तिः। तदुक्तम्–

देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः।

लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणन्त्वाऽऽत्मनिश्चयात्।। 1।।

इति। आत्मनिश्चयात् ब्रह्मसाक्षात्कारपर्यन्तमित्यर्थः। 'लौकिकिम्' इति घटादि ज्ञानमित्यर्थः।।[27] अर्थात्– (पूर्वपक्ष) सिद्धान्त में तो घटादि मिथ्या होने से उसे 'बाधित' ही कहा गया है, तो फिर घटादि ज्ञान को प्रमाण कैसे माना जा सकता है? इसके उत्तर में कहा जाता है कि घटादि का बाध तो ब्रह्मसाक्षात्कार के बाद ही होता है। ''जहाँ इस ज्ञानी की दृष्टि में सब आत्मा ही आत्मा हो गया हो, वहाँ पर तो कौन किसको किस साधन से देखेगा?'' – ऐसी श्रुति है। संसारदशा में तो घटादि का बाध नहीं होता है। ''जहाँ पर द्वैत जैसा होता है, यहाँ पर एक दूसरे को देखता है'', ऐसी श्रुति है। कहना यह चाहते हैं कि प्रमा के लक्षण में जो 'अबाधित' पद आया है वह संसारदशा में अबाधित' है। अतः घटादि प्रमा के लक्षण की अव्याप्ति नहीं है (लक्षण का लक्ष्य में अपूर्णत्व नहीं है।) इस विषय में पूर्वाचार्यों की सम्मति कही गई है–

''आत्मसाक्षात्कार से पहले देह में आत्मज्ञान जिस प्रकार प्रमाण माना गया है, वैसे ही आत्मसाक्षात्कार के पूर्व तक घटादि व्यावहारिक पदार्थों का ज्ञान भी प्रमारूप ही मानना चाहिए। अतः लौकिक घटादि ज्ञान को भी व्यावहारिक दृष्टि से प्रमाण मानना उचित ही है।''

यदि कहा जाए कि पूर्वोक्त रूप से आपने घटादि ज्ञान को किसी न किसी तरह प्रमारूप तो सिद्ध कर दिया, पर अद्वैतवेदान्त का मूलभूत सिद्धान्त तो 'ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या' ही है ब्रह्मातिरिक्त सब कुछ अगर मिथ्या ही हो तो घटादिज्ञान भला कैसे प्रमारूप हो सकता है? वह कभी 'अबाधित' कहा ही नहीं जा सकता। अतः आपका

[27] शास्त्री, केशवलाल वि॰(हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 10.

'अबाधित्व' लक्षण में नहीं आया, लक्षण अपर्याप्त है, पूर्ववत् ही अव्याप्ति आ गई। तो यहाँ इसका समाधान दिया जा रहा है–

यह ठीक है कि केवलाद्वैत के सिद्धान्तानुसार तो घटादि मिथ्या ही हैं, और उनका बाध भी होता है। पर वह बाध ब्रह्मसाक्षात्कार के बाद ही होता है व्यावहारिक दशा में जैसा शुक्ति में रजत का बाध होता है ऐसा वह बाध नहीं होता, व्यावहारिक दशा में तो घट की सत्ता श्रुति भी मान्य करती है। इसलिए, ''यत्र द्वैतमिव भवति, तदितर इतरं पश्यति'' यह श्रुतिवाक्य अज्ञान की दशा में– व्यावहारिक सत्ता में स्प्ष्टरूप में घटादिज्ञान का उल्लेख करते हैं। वास्तव में तो द्वैत नहीं है, पर ब्रह्मानुभूति अपरोक्षतया न होने से अज्ञान के कारण अज्ञान से जहाँ द्वैत खड़ा हो गया, वहाँ परस्पर देखना – सुनना आदि भेदजनित व्यवहार हुआ करते हैं। सांसारिक दशा में व्यावहारिक भेद श्रुतिमान्य है।

'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' – इत्यादि श्रुति ज्ञानी की दृष्टि बताती है। वहाँ तो अद्वैत ही है। यहाँ प्रमाणादि चर्चा व्यावहारिक भूमिका पर रहकर ही की गई है। अगर व्यावहारिक सत्ता के स्तर पर घटादिक की प्रमा का स्वीकार न किया जायगा तब तो बड़ी भारी उथल–पुथल मच जायगी।

पूर्वोक्त आचार्य के कथन में 'आआत्मनिश्चयात्'पद आया है, इसका अर्थ ''जब तक आत्मनिश्चय हो जाय तब तक''का निश्चय सभी को सही रूप से नहीं होता। 'आत्मनिश्चय' का अर्थ, 'आत्मभाव की अपरोक्षानुभूति' लेनी चाहिए। और 'लौकिक' पद का अर्थ 'ब्रह्मभिन्न सभी वस्तुओं का ज्ञान' ऐसा करना चाहिए। स्वर्गादि सभी लोकों का इसी में समावेश हो जाता है।

वेदान्त परिभाषा में प्रतिपादित प्रमा का स्वरूप अन्य सभी मत से अधिक व्यावहारिक एवं व्यापक है। वेदान्त परिभाषा में 'प्रमा' की उक्त दो परिभाषा प्राप्त होती है– प्रथम– 'स्मृति में न जाने वाला नवीन एवं उत्तर ज्ञान से बाधित होने वाला विषय ज्ञान ही प्रमा है। तथा द्वितीय– स्मृति तथा अनुभव इन दोनों ज्ञानों में जो साधारण अबाधित विषय का ज्ञान ही प्रमा है, यही स्मृति साधारण प्रमा है। परिभाषाकार का मत इसलिए विलक्षण है कि 'वह स्मृति को भी प्रमा की कोटि में स्थान दिया है।

2.2.2 भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों में प्रमाणों का स्वरूप

प्रमाण, पद 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'मा' धातु से करण अर्थ में ल्युट् (अन) प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। अतः प्रमा ज्ञान का करणत्व प्रमाण का सामान्य लक्षण होता है, जो प्रमाण शब्द से ही ज्ञात होता है।[28] इस प्रकार प्रमाण का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है – प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्। अर्थात् जिसके द्वारा प्रमा की प्राप्ति हो वही प्रमाण है। आशय यह कि प्रमा का साधन ही प्रमाण है। महर्षिगौतम ने न्यायसूत्र के 1.1.15 (बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्) में उपलब्धि को ज्ञान के समानार्थक बतलाया है।[29] महर्षि गौतम ने प्रमाण का समान्य लक्षण नहीं कहा है। प्राचीन काल में अनेक विद्वानों ने न्यायसूत्र की इस न्यूवता का उल्लेख किया है। जिसका परिहार बाद के भाष्यकारों ने किया है। न्यायभाष्य में वात्सायन नें प्रमाण के विषय में बतलाया है कि 'उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानीति समाख्यानिर्वचनसामर्थ्याद् बोद्धव्यम्। प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः' अर्थात् उपलब्धि के साधन प्रमाण हैं तथा जिससे ज्ञान होता है ऐसा करणार्थक कथन ही प्रमाणशब्द है। केशवमिश्र ने तर्कभाषा में 'प्रमाकारणम् प्रमाणम्' अर्थात् प्रमा के करण को प्रमाण माना है।[30] प्रमाण समुच्चय में आचार्य दिङ्नाग ने 'अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणमिति' अर्थात् अज्ञात विषय के ज्ञापक को प्रमाण कहा है।[31] न्यायबिन्दु की टीका में धर्मोत्तर ने स्पष्ट किया कि 'अनधिगतविषयं प्रमाणम्' अर्थात् प्रमाण का विषय अनधिगत् होता है।[32] प्रमाणवार्तिक (1.1) में बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति ने 'प्रमाणमविंसवादिज्ञानम्' अर्थात् अविसांवदक ज्ञान को प्रमाण कहा है।[33] जैन दार्शनिक भी प्रमाण को विषय का प्रकाशक ही कहते हैं।[34] परीक्षामुख (1.1) 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्' में स्पष्ट किया है कि 'अपना और अज्ञात विषय का सम्यक् निश्चय कराने

---

[28] शर्मा, अम्बिकादत्त एवं मिश्र, सच्चिदानन्द, 'न्यायदर्शन (न्यायसूत्र–न्यायभाष्य), 2015. भारतीय दर्शन अनुसंधान पषिद् एवं डी॰ के॰ प्रिंटवर्ल्ड (प्रा॰) लि॰, नई दिल्ली, पृ॰ 142.

[29] शर्मा, अम्बिकादत्त एवं मिश्र, सच्चिदानन्द, 'न्यायदर्शन (न्यायसूत्र–न्यायभाष्य), 2015. भारतीय दर्शन अनुसंधान पषिद् एवं डी॰ के॰ प्रिंटवर्ल्ड (प्रा॰) लि॰, नई दिल्ली, पृ॰ 268.

[30] शुक्ल, बदरीनाथ (हिन्दीव्याख्याकार), 2014. 'केशवमिश्र प्रणीत तर्कभाषा', मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 16–17.

[31] सिन्हा, नीलिमा, 2005. 'भारतीय ज्ञानमीमांसा', मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 38.

[32] स्वामियोगीन्द्रानन्दः (हिन्दीव्याख्याकारः), 2013. 'नारायणद्वयीप्रणीतः मानमेयोदयः', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 03.

[33] राहुल सांकृत्यायन (सम्पादक), 1953. 'धर्मकीर्ति प्रणीत प्रमाणवार्तिक', जायसवाल अनुशीलन संस्था, पाटिलपुत्रम्.

[34] सिन्हा, नीलिमा, 2005. 'भारतीय ज्ञानमीमांसा', मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 39.

वाला ज्ञान ही प्रमाण है। सांख्यकारिका में सांख्याचार्य ईश्वरकृष्ण के अनुसार 'त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धि प्रमाणाद्धि' अर्थात् ज्ञेय पदार्थों की सिद्धि प्रमाण से होती है।[35] सांख्यतत्वकौमुदी में वाचस्पति मिश्र ने 'बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा, तत्साधनं प्रमाणमिति' में प्रमाण को प्रमा के साधन के रूप में ही स्वीकार किया है।[36] कुमारिल भट्ट ने 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' अर्थात् अज्ञात विषय के ज्ञापक को प्रमाण कहा है।[37] अन्यत्र प्रमाण का लक्षण करते हुए कुमारिल भट्ट ने कहा कि 'तत्रपूर्वार्थविनं निश्चितं बाधवजितम्' अर्थात् जो विज्ञान विषय का बोधक, निश्चित, बाधरहित एवं लोकसम्मत् हो, वह प्रमाण है। 'अनुभूतिः प्रमाणम्, स्मृतिव्यतिरिक्ता च संविदनुभूतिरिति प्राभाकराः' अर्थात् प्रभाकर मीमांसकों ने भी प्रमाण को अज्ञात विषय को बोधक कहा है, इसी गुण के अभाव में स्मृति को प्रमाण की कोटि में नहीं रखा है।[38] श्री घर्मराज ने वेदान्त परिभाषा में 'तत्र प्रमाकरणं प्रमाणम्' अर्थात् प्रमा के करण को ही प्रमाण कहा है।[39] वेदान्त मत में भी प्रमाण, प्रमा का साधन है।[40] सभी भारतीय दार्शनिक मतों की प्रमाण सम्बन्धी परिभाषाओं पर विचाार करें तो पातें हैं कि प्रमाण शब्द का प्रयोग मूलतः तीन अर्थों में किया गया है। यथा –

प्रथम – प्रमा या सम्यक् ज्ञान के रूप में।

द्वितीय – प्रमा के साधन या करण के रूप में।

तृतीय – प्रमा के कारण या अनावरण के रूप में।

भारतीय प्रमाणमीमांसा में इन तीनों अर्थों के आधार पर प्रमाण सम्बन्धी तीन परम्पराएं प्राप्त होती हैं। जैसे –

प्रथम परम्परा – जो प्रमाण को मुख्यतः सम्यक् ज्ञान के रूप में स्वीकार करती है, उसके अन्तर्गत जैन और बौद्ध हैं। इस मत के अनुसार सम्यक् ज्ञान ही गौण रूप

---

[35] शास्त्री, गुरुप्रसाद (संस्कृतव्याख्याकारः), 2018. 'साख्यकारिका', चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, पृ॰ 16.

[36] मिश्र, आद्याप्रसाद, 2015. 'साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी–प्रभा', अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ॰ 115.

[37] सिन्हा, नीलिमा, 2005. 'भारतीय ज्ञानमीमांसा', मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 38.

[38] स्वामियोगीन्द्रानन्दः (हिन्दीव्याख्याकारः), 2013. 'नारायणद्वयीप्रणीतः मानमेयोदयः', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 09.

[39] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर(हिन्दीव्याख्याकारः), 2013. 'धर्मराज प्रणीत वेदान्त परिभाषा', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 09.

[40] सिन्हा, नीलिमा, 2005. 'भारतीय ज्ञानमीमांसा', मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 39.

से करण या साधन के रूप में प्रस्फुटित होने लगता है। सम्यक् दृष्टि से विचार करें तो पातें है कि प्रमाण को सम्यक् ज्ञान के रूप में स्वीकार करने वालें दार्शनिकों का ध्यान मुख्य रूप से इसके लक्ष्यमूलक अर्थ पर रहा।

द्वितीय परम्परा – जिन दार्शनिकों ने प्रमाण को मुख्यतः करण या साधन के रूप में स्वीकार किया है। उनका ध्यान विशेष रूप से इसके व्युत्पत्तिमूलक अर्थ पर रहा। इन मतों के अन्तर्गत मुख्य रूप से न्याय, मीमांसा, अद्वैत–वेदान्त एवं सांख्य दर्शन का उल्लेख किया जा सकता है। इस मत के अनुसार प्रमाण मुख्यतः प्रमा का साधन है।

तृतीय परम्परा – जिसमें प्रमाण को अनावरक या कारण के रूप में स्वीकार किया गया है। इनके अनुसार प्रमाण का कार्य मोह या अज्ञान का अपसारणमात्र है।[41] इसके अन्तर्गत शैव व शाक्त दर्शनों का उल्लेख किया जा सकता है। यहाँ पर प्रमाण करण रूप है, कारक रूप में इसका प्रयोग नहीं है बल्कि गौण अर्थ है। यहाँ पर करण का निषेधात्मक रूप में प्रयुक्त है।[42] सम्यक् दृष्टि से विचार करें तो पातें है कि प्रमाण को अनावरक या कारण के रूप में स्वीकार करने वालें दार्शनिकों का ध्यान मुख्य रूप से लक्ष्यमूलक या व्युत्पत्तिमूलक अर्थ पर न होकर इसके निषेधमूलक अर्थ पर रहा।

उपर्युक्त परम्परा विभाजन के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक दर्शन की यही विशिष्ट परम्परा है। जैसे – जैन या बौद्ध जिन्होने सम्यक् ज्ञान को ही प्रमाण कहा है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे प्रमाण को करण के रूप में नहीं स्वीकार करते हैं। यही विचार अन्य परम्पराओं पर भी लागू होती है। इन परम्पराओं में प्रमाण के अर्थ को लेकर अन्तर का आधार क्रमशः व्युत्पत्तिमूलक एवं लक्ष्यमूलक अर्थ के स्वीकार्यता की गौणता या मुख्यत्व है। सामान्यतः सभी दार्शनिक इस बात पर सहमत हैं कि 'जो विषय बोधक हो, निश्चित हो, बाधरहित एवं लोकसम्मत् हो, वह प्रमाण है। प्रस्तुत शोध पत्र में प्रमाण यथार्थ ज्ञान का करण(साधन) या कारण है। वस्तुतः प्रमाण करण अर्थ में ही प्रयुक्त है।

---

[41] यादव, माधवराम, 2006. 'तान्त्रिक ज्ञान–मीमांसा', प्रतीभा प्रकाशन, दिल्ली, पृ॰ 139–140.

[42] यादव, माधवराम, 2006. 'तान्त्रिक ज्ञान–मीमांसा', प्रतीभा प्रकाशन, दिल्ली, पृ॰ 139–140.

पुनश्च करण या कारण पद का क्या अर्थ है? महर्षि पाणिनी ने पाणिनीसूत्र के 1.4.42 में करण या कारण पद की व्याख्या 'साधकतम् करणम्' के रूप में की है।[43] अर्थात् क्रिया की सिद्धि में जो सबसे अधिक उपकारक(सहायक) हो, उसकी 'करण' संज्ञा होती है। दूसरे शब्दों में क्रिया की सिद्धि में जो सर्वाधिक प्रकृष्ट रूप से प्रवृत्त हो वहीं साधन है। इस प्रकार करण रूप में प्रमाण प्रमा का साधन है। प्रश्न उठता है कि प्रमाण को प्रमा का साधन कहने का तात्पर्य क्या है? इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। जैसे – पर्वत पर अग्नि है – यह एक ज्ञान है। अब यहाँ प्रश्न होगा कि पर्वत पर अग्नि है इस विषय का ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ? सम्भव है कि हमें पर्वत पर अग्नि देखकर यह ज्ञान प्राप्त हुआ हो कि पर्वत पर अग्नि है परन्तु पर्वत पर अग्नि ता हमने स्वयं देखा नहीं, किन्तु पर्वत पर धूम को देखकर अनुमान के द्वारा हमें यह ज्ञात हुआ कि पर्वत पर अग्नि है। कहने का आशय यह कि 'इस ज्ञान की प्राप्ति का कोई न कोई साधन हमारे पास होता है।'[44] ज्ञान प्राप्ति के इसी साधन को प्रमाण कहा जाता है। प्रमाण के इस अर्थ के अनुसार 'प्रमाण के अभाव में प्रमा की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।'

सामान्यतः करण एवं कारण में कोई मौलिक भेद नहीं है। भारतीय दर्शन में तीन प्रकार के कारण पर विचार किया गया है। यथा – उपादान कारण, निमित्त कारण एवं प्रयोजन कारण। वस्तुतः कारण का संप्रत्यय करण से अधिक व्यापक है। करण कारण का अंश है।' प्रमाण के स्वरूप व्याखा करते हुए वार्तिककार ने कहा है कि 'उपलब्धि हेतुः प्रमाणम्, उपलब्धि हेतुत्वं प्रमाणत्वम्' यहाँ हेतु पद से करणरूप हेतु ही विवक्षित है।[45] नैयायिक उद्योतकर का मानना है कि प्रमाण को प्रमा के कारण के रूप में परिभाषित करना 'अतिव्याप्त परिभाषा दोष' है।[46] कारण यह कि 'प्रमास्वरूप उपलब्धि का कर्त्ता प्रमाता होता है और उपलब्धि का विषयरूप कर्म प्रमेय होता है। उपलब्धि का

[43] पं॰ ईश्वरचन्द्र(व्याख्याकार), 2009. 'महर्षिपाणिनिविरिचिता अष्टाध्यायी', चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पृ॰ 125.

[44] सिन्हा, नीलिमा, 2005 'भारतीय ज्ञानमीमांसा', मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 38.

[45] शर्मा, अम्बिकादत्त एवं मिश्र, सच्चिदानन्द, 2015. 'न्यायदर्शन (न्यायसूत्र–न्यायभाष्य), भारतीय दर्शन अनुसंधान पषिद् एवं डी॰ के॰ प्रिंटवर्ल्ड (प्रा॰) लि॰, नई दिल्ली, पृ॰ 143–144.

[46] सिन्हा, नीलिमा, 2005. 'भारतीय ज्ञानमीमांसा', मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 38.

निमित्त या कारण होने पर भी जो करण नहीं होता, वह प्रमाण नहीं होता।'[47] पुनश्च 'मुख्य साधक होने से वह करण होता है। प्रमाता और प्रमेय उपलब्धि का साधकतम् नहीं है। अतः प्रमाण नहीं है।' दूसरे शब्दों में प्रमाण के साथ–साथ प्रमाता और प्रमेय भी प्रमा के कारण होते हैं, परन्तु प्रमाण, प्रमाता और प्रमेय से भिन्न हैं। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर 'भारतीय ज्ञानमीमांसा' में 'नीलिमा सिन्हा' में लिखती हैं कि 'प्रमाण को प्रमा का कारण ही समझा जाना चाहिए क्योंकि प्रमा के निमित्त कारण के रूप में प्रमाण ही उपस्थित होता है।'[48] उद्योतकर ने न्यायवार्तिक के 1.1.1 में प्रमाण को प्रमाता और प्रमेय की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण माना है क्योंकि प्रमाण के अभाव में प्रमाता प्रमेय का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता है।

2.2.3 भारतीय दर्शन में प्रमाण व्यवस्था –

प्रमाण व्यवस्था का सिद्धान्त प्रत्यक्ष और अनुमान की विषय–वस्तु, सीमा और क्षेत्र निर्धारण से सम्बन्धित है। बौद्ध आचार्य दिङ्नाक प्रमाण के विषय में एक विशेष नियम की स्थापना करते हैं, जिसे प्रमाण व्यवस्था कहा जाता है। जिसे कालान्तार में प्रमाण विप्लव के नाम से भी जाना जाता है। बौद्ध आचार्य दिङ्नाक ने सर्वप्रथम यह कहा कि प्रत्येक प्रमाण का अपना एक निश्चित क्षेत्र होता है, जिसमें किसी अन्य प्रमाण का संक्रमण नहीं हो सकता।[49] जिसके अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान दो अलग–अलग प्रमाण है और दोनों के क्षेत्र भिन्न–भिन्न है। अतः प्रत्यक्ष का विषय प्रत्यक्ष का ही विषय होगा, इसी तरह अनुमान का भी.....। प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है, जबकि अनुमान का विषय सामान्य लक्षण है।

प्रमाण व्यवस्था के सन्दर्भ में न्याय और वेदान्त परम्परा का बौद्ध दार्शनिको से भिन्न मत है। जिसे प्रमाण सम्प्लव के नाम से जाना जाता है। इस मत के अनुसार कोई विषय एक से अधिक प्रमाणों से जाना जा सकता है। जैसे – अनुमान से जिस अग्नि का ज्ञान होता है। वह अग्नि तो वही अग्नि है जिसका ज्ञान सविकल्पक प्रत्यक्ष

---

[47] शर्मा, अम्बिकादत्त एवं मिश्र, सच्चिदानन्द, 2015. 'न्यायदर्शन (न्यायसूत्र–न्यायभाष्य), भारतीय दर्शन अनुसंधान पषिद् एवं डी॰ के॰ प्रिंटवर्ल्ड (प्रा॰) लि॰, नई दिल्ली, पृ॰ 143–144.

[48] सिन्हा, नीलिमा, 2005. 'भारतीय ज्ञानमीमांसा', मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 38.

[49] निगम, शोभा, 2008 'भारतीय दर्शन', मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 275.

में होता है, किन्तु प्रत्यक्ष और अनुमान में भेद यह है कि प्रत्यक्ष में अग्नि का साक्षात् ज्ञान होता है जबकि अनुमान में अग्नि का असाक्षात ज्ञान होता है।

प्रमाण व्यवस्था को लेकर मुख्य संवाद बौद्ध और न्याय दार्शनिकों के मध्य रहा है। जिसके मूल में यह प्रश्न है कि – क्या कोई विषय एक से अधिक प्रमाण से जाना जा सकता है अथवा नहीं? जो दर्शन इसे सम्भव मानते हैं, वे प्रमाण सम्प्लववादी है। जबकि प्रमाण विप्लववादी बौद्ध दर्शन इस मत को अस्वीकार करता है। यह भेद इन दर्शनों की तत्वमीमांसीय और ज्ञानमीमांसीय प्रतिस्थपनाओं के मौलिक भेद के कारण उत्पन्न हुआ है।[50] अतएव इस समस्या का समाधान भी तन्त्रान्तर्गत ही खोजा जाना चाहिए।

2.2.2.4 भारतीय दर्शन के विभिन्न समप्रदायों में प्रमाणों की संख्या–

भारतीय दर्शन के विभिन्न समप्रदायों में प्रमाणों की संख्या के विषय में मतैक्य नहीं हैं, अपितु विविधता है। अतः प्रमाणों की संख्या को लेकर अनेक मत हैं। प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों ने प्रमाणों की संख्या के विषय में अपने तर्क प्रस्तुत करते हुए, उनका समर्थन भी किया है। यह भारतीय दर्शन की विशिष्टता है कि 'प्रमाणमीमांसा ने सदैव तत्वमीमांसा का अनुगमन किया है और प्रमाणमीमांसा एवं तत्वमीमांसा एक दूसरे का आवश्यक अंग बनकर रहे हैं।' यही कारण है कि प्रत्येक दर्शन की तत्वमीमांसा के अनुरूप ही प्रमाणमीमांसा में प्रमाणों की संख्या रही है। वरदराज ने तार्किकरक्षा नामक ग्रन्थ में भी आठ प्रमााणों का वर्णन किया है। यथा–

प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणाद–सुगतौ पुनः।

अनुमानं च तच्चाथ सांख्याः शब्दं च ते अपि।।

न्यायैकदेशिनोप्येवमुपमानं च केचन।

अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याह प्रभाकरः।।

अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा।

---

[50] सिन्हा, नीलिमा, 2005. 'भारतीय ज्ञानमीमांसा', मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 41.

सम्भवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जगुः।। [51]

एक प्रमाण को स्वीकार करने वाले – चार्वाक दर्शन केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को ही स्वीकार करता है।[52] लोकायत मत में प्रमेय की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही होती है। प्रत्यक्ष के अतिरक्ति अनुमान आदि प्रमाणों का खण्डन करते हुए, इन्हे मौलिक नहीं स्वीकार करते हैं। 'अनुमान तथा शब्द के उपागम भी चार्वाक प्रत्यक्ष में ही ढूढ़ते हैं तथा उपमान को शब्द और अनुमान का मेल बतलाते हैं। इसी भाँति ज्ञान के अन्य साधनो पर सन्देह व्यक्त करते हैं'।

दो प्रमाण को स्वीकार करने वाले – बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण स्वीकार करते हैं।[53] बौद्ध मत के अनुसार सत्य दो प्रकार का होता है – परमार्थ और व्यवहार सत्य। इन सत्यों को ग्रहण करने वाले प्रमाण भी दो हैं – प्रत्यक्ष और अनुमान।[54] प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण या परमार्थ है तथा अनुमान का विषय व्यवहार या सामान्य लक्षण है।

तीन प्रमाण को स्वीकार करने वाले – सांख्य–योग एवं जैन दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द ये तीन प्रमाण स्वीकार किये गए हैं।[55] जैन, साख्य एवं योग दर्शन में इन्हीं तीन प्रमाण से सभी पदार्थों की सिद्धि होती है। शेष अन्याभिमत प्रमाणों का अर्न्तभाव वे इन्हीं तीन प्रमाण के अर्न्तगत कर लेते हैं।[56] जैसे– सांख्य दर्शन में उपमान प्रमाण का अर्न्तभाव अनुमान में मान लिया जाता है।[57] प्रसिद्ध नैयायिक भासर्वज्ञ भी सांख्य सम्मत् तीन प्रमाण को ही स्वीकार करते हैं।[58]

---

[51] द्विवेदी, पण्डित विन्ध्येश्वरी पसाद(सम्पादक), 1903. 'वरदराज प्रणीत तार्किकरक्षा', मेडिकल् हाल्नामक यन्त्रालये, वाराणसी, पृ॰ 56.

[52] स्वामियोगीन्द्रानन्दः (हिन्दीव्याख्याकारः), 2013. 'नारायणद्वयीप्रणीतः मानमेयोदयः', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 10.

[53] स्वामियोगीन्द्रानन्दः (हिन्दीव्याख्याकारः), 2013. 'नारायणद्वयीप्रणीतः मानमेयोदयः', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 10.

[54] सिन्हा, नीलिमा, 2005. 'भारतीय ज्ञानमीमांसा', मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 39.

[55] गोयन्दका, हरिकृष्णदास(हिन्दीटीकाकार), 2003. 'पातंजलयोगदर्शन', गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ॰ 3.

[56] शर्मा, हरिप्रकाश, 2007. 'भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष', परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, पृ॰ 6–7.

[57] मिश्र, आद्याप्रसाद, 2015 'साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी–प्रभा', अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ॰ 124.

[58] स्वामियोगीन्द्रानन्दः (हिन्दीव्याख्याकारः), 2013. 'नारायणद्वयीप्रणीतः मानमेयोदयः', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 10–11.

चार प्रमाण को स्वीकार करने वाले – प्रमाण को न्याय दर्शन में विचार का मुख्य विषय माना गया है। न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है।[59] ऐतिह्य प्रमाण का अन्तरभाव शब्द प्रमाण में एवं अर्थापत्ति , सम्भव और अभाव का अन्तरभाव अनुमान प्रमाण कर देने से भी इन चारों प्रमाणों का निषेध नहीं हो जाता, अपितु स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है।

पाँच प्रमाण को स्वीकार करने वाले – प्रभाकर मीमांसक पाँच प्रमाण को स्वीकार करते हैं।[60] प्रभाकर मीमांसक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द एवं अर्थापत्ति को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है।

छः प्रमाण को स्वीकार करने वाले – भाट्ट मीमांसक और वेदान्ती छः प्रमाण को स्वीकार करते हैं। 'तानि च प्रमाणानिषट् प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्त्यानुपलब्धि' अर्थात्– अद्वैत मत में छः प्रमाण माने गए हैं।[61] प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि प्रमाण मान्य है।

आठ प्रमाण को स्वीकार करने वाले – पौराणिक आचार्यों के दर्शन में प्रमाणों की संख्या आठ है।[62] पौराणिक आचार्यों ने वेदान्त सम्मत् छः प्रमाणों के अतिरिक्त सम्भव और ऐतिह्य को भी प्रमाण के अर्न्तगत स्वीकार करते है।

नव प्रमाण को स्वीकार करने वाले – पुराण स्वीकृत आठ प्रमाण के अतिरिक्त जिस प्रमाण को तांत्रिक और कला–साहित्यिक मानते हैं। यह चेष्टा नामक नवाँ प्रमाण कहलाता है।[63]

इसके अतिरिक्त काव्य में प्रतिभा एवं धर्म व नीति के विषय में अंतःकरण ही प्रमाणरूप में मान्य है। इस प्रकार भारतीय दर्शन में प्रमाण को किसी ने एक माना है, किसी ने

---

[59] शर्मा, अम्बिकादत्त एवं मिश्र, सच्चिदानन्द, 2015. 'न्यायदर्शन (न्यायसूत्र–न्यायभाष्य), भारतीय दर्शन अनुसंधान पषिद् एवं डी॰ के॰ प्रिंटवर्ल्ड (प्रा॰) लि॰, नई दिल्ली, पृ॰ 141.

[60] स्वामियोगीन्द्रानन्दः (हिन्दीव्याख्याकारः), 2013. 'नारायणद्वयीप्रणीतः मानमेयोदयः', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 10–11.

[61] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर(हिन्दीव्याख्याकारः), 2013. 'धर्मराज प्रणीत वेदान्त परिभाषा', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 30.

[62] द्विवेदी, पण्डित विन्ध्येश्वरी पसाद(सम्पादक), 1903. 'वरदराज प्रणीत तार्किकरक्षा', मेडिकल् हाल्नामक यन्त्रालये, वाराणसी, पृ॰ 56.

[63] शर्मा, उमाशंकर, 2014. 'माधवाचार्यकृतः सर्वदर्शनसंग्रह', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 29.(की पूर्वपीठिका से उद्धृत)

दो माना है, किसी ने तीन माना है.....। इस प्रकार प्रमाण की संख्या 9 होती चली गई।

2.3 भारतीय दर्शन में ख्यातिवाद–

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में ख्यातिवाद का सिद्धांत अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ख्याति शब्द की निष्पत्ति ख्या (प्रकथने) धातु से क्तिन् प्रत्यय होने पर होती है, जिसका अर्थ दर्शन की परिधि में ज्ञान होता है। शुक्ति में रजत एवं रज्जु में सर्प का ज्ञान ख्याति है। उक्त शुक्ति आदि में रजतादि का ज्ञान का समीक्षण विज्ञानवादी एवं शून्यवादी बौद्धों, मीमांसकों तथा नैयायिकों ने पृथक्–पृथक् रीति से किया है। ख्याति के संबन्ध में प्राप्त नीचे उद्धृत श्लोक में पाँच ख्याति संबन्धी सिद्धान्तों का संकेत मिलता है–

आत्मख्याति रसत्ख्यतिरख्याति ख्यातिरन्यथा।

तथानिर्वचनीयख्यातिरित्येतत् ख्यातिपंचकम्।।

उपर्युक्त श्लोक में निर्दिष्ट आत्मख्याति, असत् ख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति और अनिर्वचनीय ख्याति इन पाँच ख्यातियों के अतिरिक्त सत् ख्याति का विवेचन भी वेदान्त के मूल एवं समालोचनात्मक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। इस प्रकार ख्याति के सम्बन्ध में निम्नलिखित छः सिद्धान्त मिलते हैं– 1. आत्मख्यातिवाद 2. असत्ख्यातिवाद 3. अन्यथाख्यातिवाद 4. अख्यातिवाद 5. सत्ख्यातिवाद, तथा 6. अनिर्वचनीय खतिवाद।[64]

उपर्युक्त सिद्धांतों का संक्षिप्त निरूपण करना अनिर्वचनीय ख्यातिवाद के सही मूल्यांकन के लिए उपयुक्त होगा।

2.3.1 आत्मख्यातिवादी का सिद्धांत–

आत्मख्यातिवादी के प्रर्वतक विज्ञानवादी बौद्ध हैं। आत्मख्यातिवादी बौद्ध शुक्ति में हुए रजत ज्ञान को असत् न मानकर बुद्धिगत, मानता है। इस प्रकार आत्मख्यातिवादी के अनुसार शुक्ति आदि में हुए रजतादि के भ्रम का आधार कोई बाह्य विषय न होकर

[64] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 322.

विज्ञान ही है।[65] इस प्रकार आत्मख्यातिवादी की दृष्टि में रजतादि असत् न होकर विज्ञानगत ही है।

2.3.2 असत्ख्यातिवाद का सिद्धांत–

असत्ख्यादिवाद का प्रतिपादन शून्यवादी बौद्ध ने किया है। शून्यवादी बौद्ध मत के अनुसार प्रत्येक ज्ञान में शून्यता ही भासित होती है।[66] उनके अनुसार अधिष्ठान रूप शुक्ति में रजत् के असत् होने के कारण, रजत् शुक्ति में विपरीत धर्म की कल्पना मात्र है।

2.3.3 अन्यथाख्यातिवाद का सिद्धांत–

अन्यथाख्यातिवाद सिद्धांत का प्रतिपादनकर्ता नैयायिक है। अन्यथाख्यातिवाद के अनुसार किसी वस्तु के धर्मों का अन्य वस्तु में आरोप होना ही अन्यथाख्याति है। शुक्ति एवं रजत् के उदाहरण में रजत् के धर्मों का शुक्ति में आरोप होता है। इस आरोप के कारण ही शुक्ति का रजत् रूप सं अन्यथा ज्ञान होता है। इसलिए यह सिद्धांत अन्यथाख्यातिवाद के नाम से प्रचलित हुआ है। अन्यथाख्यातिवादी के मतानुसार पूर्व दृष्ट रजत् का स्मरण ही नेत्रों एवं दूरस्थ रजत् में सम्बन्ध की स्थापना करता है, इस पकार भ्रम से दूरस्थ का संबन्ध पुरोवर्ती 'इदम्' से होने के कारण ही शुक्ति में रजत् का अन्यथा ज्ञान होता है।[67]

2.3.4 अख्यातिवाद का सिद्धांत–

अख्यातिवाद का समर्थक प्रभाकर मीमांसक शुक्ति में हुए रजतादि ज्ञान को भ्रम नहीं स्वीकार करता। अख्यातिवाद का विचार है कि द्रष्टा को शक्ति को देखकर जब यह ज्ञान होता है कि 'इदम् रजतम्' (यह रजत् है) तो इस द्विविध ज्ञान में 'इदम्' संबन्धी ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है। इसके अतिरिक्त संस्कार जन्य सादृश्य के आधार पर ज्ञात 'रजतम्' (रजत सम्बन्धी ज्ञान) स्मृति मात्र है। अख्यातिवाद का तर्क है कि पुरोवर्ती 'इदम्' (यह) रूप यथार्थ ज्ञान और रजत् रूप स्मृति, इन दोनों भिन्न–भिन्न ज्ञानों के

---

[65] शर्मा, चन्द्रधर, 2013. भारतीय दर्शन (आलोचन एवं अनुशीलन), मोतीलाल बनारसीदास, पृ॰ 206.
[66] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 335
[67] शर्मा, चन्द्रधर, 2013. भारतीय दर्शन (आलोचन एवं अनुशीलन), मोतीलाल बनारसीदास, पृ॰ 204.

भिन्न रूप से न ग्रहण होने के कारण ही शुक्ति का रजत् रूप से ज्ञान होता है और इसी सिद्धांत को भेदाग्रह भी कहते हैं।[68]

2.3.5 सत् ख्यातिवाद का सिद्धांत–

विशिष्टद्वैत सम्प्रदाय के संस्थापक रामानुजाचार्य सत्ख्यातिवाद के अनुयायी हैं। सत्ख्यातिवादी शुक्ति में रहते हुए रजतादि या भ्रमज्ञान को मिथ्या न मानकर सत् ही मानते हैं।[69] सत्ख्यातिवाद सिद्धांत का आधार 'सर्व सर्वात्मकम्' का सिद्धांत है। इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक वस्तु में प्रत्येक वस्तु का सात्विक अंश वर्तमान रहता है। इसलिए रज्जु आदि में सर्पादि का ज्ञान सत् ही कहायेगा। सत्ख्यातिवाद का विचार है कि भ्रांतिस्थल का रजत् भले ही मिथ्या हो, परन्तु द्रष्टा द्वारा किया गया पूर्वदृष्ट रजत् का ज्ञान सत्य ही है। अतः रजत् ज्ञान को मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

ख्याति संबन्धी उपर्युक्त सिद्धांतों में अनेक न्यूनताएं देखने में आती है। असत्ख्यातिवादी का रजतादि असत् कहना संगत् नहीं प्रतीत होता। यदि रजतादि असत् हुए होते तो उनका व्यावहारिक ज्ञान संभव न होता। इसलिए शंकराचार्य ने इस सिद्धांत को सर्व प्रमाण विरूद्ध कहा है। आत्मखदिवादी का रजतादि को चित्तगत मानना औचित्यपूर्ण ही है। भ्रमकालिक रजत् का ज्ञान ही रजत की बाह्य सत्ता का सिद्ध करता है।

शंकराचार्य ने आत्मख्यातिवादी बौद्ध मत का निराकरण करते हुए लिखा है कि अर्थ से अतिरिक्त भी विज्ञान स्वयं ही अनुभव में आता है, यह कथन अनुचित है। क्योंकि आत्मा में क्रिया का विरोध है। अतः विज्ञानवाद के अनुकर्ता आत्मख्यातिवाद बौद्ध का रजतादि की बाह्य सत्ता को असत् कहना तर्क प्रतिष्ठित नहीं प्रतीत होता।

अन्यथा ख्यातिवादी का मत भी दोषपूर्ण है। अन्यथाख्यातिवादी का तर्क है कि पूर्वकाल में दृष्ट रजत का स्मरण ही नेत्रों एवं दूरवर्ती रजत में सम्बन्ध की स्थापना करता है। इस प्रकार अन्यथाख्यातिवाद के मतानुसार भ्रमवश दूरवर्ती रजत का सम्बन्ध पूरोवर्ती इदम् (विषय) से हो जाता है। अन्यथाख्यातिवादी का यह मत तर्क समुचित

---

[68] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 324.

[69] शर्मा, चन्द्रधर, 2013. भारतीय दर्शन (आलोचन एवं अनुशीलन), मोतीलाल बनारसीदास, पृ॰ 205.

प्रतीत नहीं होता। क्योंकि भ्रमकालिक रजत–ज्ञान रजत का दूरवर्ती होना सिद्ध नहीं करता। भ्रमकाल में तो इदम् (पूरोवर्ती) विषय ही रजत रूप में भासता है। यही कारण है कि द्रष्टा को शुक्ति का इदम् रूप से ज्ञान होता है और 'इदम्' से सम्बन्धित ही रजत् का ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त भ्रम दूर होने पर किसी दूरवर्ती रजत की कल्पना का तर्क असंगत ही कहा जायेगा। अख्यातिवादी का कथन है कि प्रत्यक्ष काल के विषय–इदम् एवं, स्मरण ज्ञान के विषय रजतम् के भेदाग्रह के कारण ही शुक्ति का रजत रूप में ज्ञान होता है। परन्तु अख्याति का यह तर्क युक्तिपूर्ण नहीं प्रतीत होता। अख्यातिवादी ने जिस 'भेदाग्रह' का प्रतिपादन किया है, वह असंगत है। किसी वस्तु का स्वरूप ज्ञान ही उस वस्तु का भेदक ज्ञान है। यह अनुचित है कि दो भिन्न वस्तुओं का ज्ञान होने पर भी 'भेदाग्रह' बना रहे। अख्यातिवादी मीमांसक के मत में पुरोवर्ती 'इदम्' और स्मृति पर आधारित रजत दोनों ही भिन्न ज्ञान है। इस प्रकार दोनों ज्ञानों के भिन्न होने पर भेदग्रह स्पष्ट ही है। अतः भेदाग्रह का प्रश्न नहीं उपस्थित होता।

सत्ख्यातिवादी ने 'सर्व सर्वात्मकम' के आधार पर जिस सिद्धांत की स्थापना की है, वह भी तर्क सिद्ध नहीं कहा जा सकता। सत्ख्यातिवाद का सिद्धांत पंचीकरण के सिद्धांत पर आधारित है। नृसिंहाश्रम ने उक्त विषय का विवेचन करते हुए कहा है कि पंचीकरण विभिन्न भूतों (क्षित्यादि) का ही होता है, न कि उन भूतों से निर्मित विभिन्न भैतिक पदार्थों का। यदि ऐसा हुआ होता तो स्तम्भ आदि में भी रजत आदि की प्रतीति हुई होती। इसलिए यद्यपि मूल तत्व एक–दूसरे पदार्थों में मिश्रित होते हैं, परन्तु इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि उन तत्वों से निर्मित पदार्थों में पार्थक्य न हो। अतः सतख्यातिवादी का मत भी न्याय संगत नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार आत्मख्यातिवाद असत्ख्यातिवाद, अन्यथाख्यातिवाद, अख्यातिवाद एवं सत्ख्यातिवाद के सिद्धांतों में कुछ न कुछ न्यूनताएँ अवश्य मिलती है। अब यहाँ अनिर्वचनीय ख्यातिवाद का निरूपण किया जायगा।

2.3.6 अनिर्वचनीयख्यातिवाद का सिद्धांत–

अद्वैत वेदांत के आचार्यों ने उपर्युक्त पाँच ख्यातियों को महत्व न देकर अनिर्वचनीय सिद्धांत ख्याति की स्थापना की है। अनिर्वचनीय ख्याति की परिभाषा करते हुए आनन्दबोधाचार्य ने न्यायमकरंद के अन्तर्गत लिखा है–

सविलासाविद्यानिवृत्तिरेव वाधस्तद् गोचरतैवानिर्वाच्यता।

उक्त लक्षण के अन्तर्गत लेखक का तात्पर्य है कि कार्यादि विलास सहित अविद्या की गोचरता अनिर्वाच्यता है और उसी कार्यादिविलास सहित अविद्या की निवृत्ति बाध है। अनिर्वाच्यता की उक्त परिभाषा के अनुसार शुक्ति एवं रजत आदि में अध्यस्त रजत एवं सर्पादि की सत्ता अनिर्वाच्य विषयों के अन्तर्गत आती है। जब रजत एवं सर्पादि की जननी अविद्या एवं अध्यास ही अनिर्वचनीय है तो उनसे उत्पन्न शुक्त्यादि का अनिर्वचनीय होना संगत ही है। अनिर्वचनीयख्यातिवादी के अनुसार शुक्ति रजत के उदाहरण में रजत की सत्ता न आत्मख्यातिवादी के अनुसार चित्तगत है और न असत्ख्यातिवाद माध्यमिक बौद्ध के अनुसार असत्। अनिर्वचनीयख्यातिवादी शुक्ति में अध्यस्त रजत को सत् एवं असत् से विलक्षण मानते हुए, उसकी प्रातिभासिक सत्ता को स्वीकार करता है।

सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण ही रजत अनिर्वचनीय है।[70] अनिर्वचनीय रजत के सदसद्विलक्षणत्व के समर्थन में अनिर्वचनीयख्यातिवादी का कथन है कि यदि रजत पूर्णतया सत् हुआ होता तो अविद्यानिवृत्ति होने पर उसका बाध न होता। अतः रजत को त्रिकालाबाधित सत् नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत अध्यस्त रजत को नितान्त असत् भी नहीं कह सकते। रजत् शशशृंग के समान नितान्त असत् नहीं है। यदि रजत् नितान्त असत् हुआ होता तो भ्रमकाल में भी उसकी प्रतीति सम्भव न होती। इसलिए अद्वैत वेदांत के अनुयायियों शुक्ति आदि में अध्यस्त रजतादि की प्रातिभासिक सत्ता को स्वीकार किया है।

उपर्युक्त विवेचन दृष्टि के अनुरूप सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण, अनिर्वचनीयख्यातिवाद के समर्थक अद्वैतवेदांती का रजत प्रातिभासिक रूप से सत् होने के कारण शून्यवाद के अनुयायी असत्ख्यातिवादी बौद्ध के असत् रजत एवं विज्ञानवाद के समर्थक आत्मख्यातिवादी बौद्ध के चित्तगत रजत से भिन्न है। इसके साथ ही साथ अद्वैत वेदांत के अनुसार शक्ति में अध्यस्त रजत पूर्णतया सत् न होने के कारण सतख्यातिवादी रामानुजाचार्य के सत् रजत से भिन्न है। प्रातिभासिक रूप से सत् होने

[70] शर्मा, चन्द्रधर, 2013. भारतीय दर्शन (आलोचन एवं अनुशीलन), मोतीलाल बनारसीदास, पृ॰ 207.

के कारण ही अनिर्वचनीय का रजत अख्यातिवादी मीमांसक स्मृत रजत एवं अन्यथाख्यातिवादी के देशान्तर एवं कालान्तरवर्ती रजत से भी भिन्न है।

अनिर्वचनीयख्यातिवादी ने शुक्ति एवं रजत के दृष्टांत के आधार पर अविद्या जन्य जगत् की अनिर्वचनीयता सिद्ध की है। अनिर्वचनीय होने के कारण जगत् को न शशशृंग के समान अलीक (असत्) कहा जा सकता है और न पारमार्थिक ब्रह्म के समान सत् ही कहा जा सकता है। इस प्रकार जगत् की सदसद्विलक्षणता के द्वारा जगत् की प्रातीतिक सत्ता का समर्थन करके अनिर्वचनीयख्यातिवादी ने एक ओर अद्वैतवादी सिद्धांत का प्रतिपादन किया है और दूसरी ओर जगत् की व्यावहारिकता का समर्थन करके अद्वैत दर्शन को पलायनवादी होने से बचाया है। वेदान्त परिभाषा सम्मत् अनिर्वचनीयख्यातिवाद के का विवरण शोध–प्रबन्ध के प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत किया गया है।

2.4 – भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद

सामान्यतः प्रमाण के आधार जब किसी ज्ञान की प्रमाणिकता या अप्रमाणिकता की जाँच की जाती है, तब यह सिद्धान्त प्रामाण्यवाद कहलाता है। भारतीय प्रमाणमीमांसा का केन्द्रीय विषय प्रामाण्यवाद है। प्रामाण्यवाद की समस्या मूलतः 'ज्ञान के प्रामाण्य' से सम्बन्धित है। अतः ज्ञान की प्रमाणिकता का प्रश्न ज्ञान की यथार्थता का प्रश्न भी है। भारतीय दर्शन में ज्ञान की प्रमाणिकता अथवा अप्रमाणिकता के प्रश्न पर प्रामाण्यवाद के अर्न्तगत 'उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति' की दृष्टिकोण से विचार किया जाता है। जहाँ उत्पत्ति का अर्थ है– 'स्त्रोत की दृष्टि से' एवं ज्ञप्ति का अर्थ है– 'ज्ञान की दृष्टि से'।

उपर्युक्त दोनों द्ष्टिकोण के आधार पर भारतीय दर्शन में दो प्रकार सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। जिन्हें क्रमशः स्वतः प्रामाण्यवाद एवं परतः प्रामाण्यवाद कहा जाता है। स्वतः प्रामाण्यवाद एवं परतः प्रामाण्यवाद को लेकर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में पर्याप्त मत विभिन्नताएँ हैं। जिसे 'सर्वदर्शन संग्रहकार'[71] के शब्दों में –

प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिता।
नैयायिकास्ते परतः सौगताश्च परमं स्वतः।।

[71] शास्त्री, वासुदेव(सम्पा.) 1951. सायण माधव कृत सर्वदर्शन संग्रह, पूना, पृ॰ 271.

प्रथमं परतः प्राहु स्वतः प्रामाण्य वेदवादिनः।
प्रामाणत्वं स्वतः प्राहु परतश्चाप्रमाणताम्।।

(सर्वदर्शन संग्रह –55)

नैयायिकों के मत में स्वतः प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों ही परतः है।[72] सांख्य मत में प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः हैं। बौद्ध एवं जैन मत में प्रामाण्य स्वतः एवं अप्रामाण्य परतः होता है। मीमांसा मत में प्रामाण्य स्वतः एवं अप्रामाण्य परतः होता है। इस अध्याय में मुख्यतः अद्वैत–वेदान्त के प्रकरण ग्रन्थ 'वेदान्तपरिभाषा' के अनुसार ही प्रामाण्यवाद का विवेचन किया जाएगा।

परिभाषाकार के अनुसार 'एवमुक्तानां प्रमाणानां प्रामाण्यं स्वत एवोत्पद्यते ज्ञायते च। तथा हि स्मृत्यनुभव–साधारणं संवादि– प्रवृत्यनुकूलं तद्वति तत्प्रकारक–ज्ञानत्वं प्रामाण्यम्। तच्च ज्ञानसामान्य–सामग्री–प्रयोज्यं, न त्वधिकं गुणमपेक्षते, प्रमामात्रेऽनुगतगुणाभावात्। नापि प्रत्यक्षप्रमायां भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षः। रूपादिपत्यक्षे आत्मप्रत्यक्षे च तद्भावात्, सत्यपि तस्मिन् पीतः शंख इति प्रत्ययस्य भ्रमत्वाच्च। अत एव न सल्लिंग–परामर्शादिकमप्यनुमित्यादि–प्रमायां गुणः, असल्लिंग–परामर्शादि– स्थलेऽपि विषयाबोधेन अनुमित्यादेः प्रमात्वात्'।[73] अर्थात्– इस प्रकार प्रतिपादित यथार्थ का ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः एव, उस ज्ञान से ही उत्पन्न होता है और जाना जाता है। जो इस प्रकार है– स्मृति एवं अनुभव के लिए साधारण और संवादिप्रवृत्ति के लिए अनुकूल प्रमात्व, अर्थात् तद्वान् पदार्थ में तत्प्रकारक ज्ञान होना है और वह ज्ञानसामान्य की सामग्री का ही कार्य है, उसके लिए अधिक गुण की अपेक्षा नहीं होती। क्योंकि समस्त प्रमाओं में अनुगत रहने वाला कोई गुण नहीं है। यदि कहें कि 'प्रत्यक्ष प्रमा में भूयोवयवेन्द्रिय–सन्निकर्ष गुण है' तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि रूप के प्रत्यक्ष में तथा आत्मा के प्रत्यक्ष में उसका (उस गुण का) अभाव रहता है और उस गुण के रहते हुए भी 'शंखः पीतः' शंख पीला है– ज्ञान भ्रमरूप ही होता है। इसलिए सल्लिंग–परामर्शादिक भी अनुमित्यादि प्रमाओं में गुण नहीं कहे जा सकते, क्योंकि सल्लिंगपरामर्श जहाँ नहीं

[72] मिश्र, जगदीशचन्द्र, 2016. भारतीय दर्शन, चौखम्बा सुराभारती, वाराणसी, 497.
[73] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 154.

रहता वहाँ भी अनुमेय विषय का बाध न होने से अनुमित्यादि ज्ञानों में प्रमात्व ही रहता है।

अद्वैत मत स्वीकृत प्रत्यक्षादि छह प्रमाणों से छह प्रकार के यथार्थ ज्ञान प्राप्त होते हैं। यह ज्ञान प्रमाएँ यथार्थ है या अयथार्थ? ज्ञान की प्रमाणिकता के सन्दर्भ में शास्त्रकारों में मतभेद है। नैयायिक मत में 'प्रमात्वं न स्वातोग्राह्यं संशयानुपपत्तितः' अर्थात्– प्रमात्व (प्रमा का यथार्थत्व=सत्यत्व) स्वतोग्राह्य नहीं है। आशय यह है कि उस ज्ञान की साधन सामग्री से ही उसका ग्रहण नहीं होता। क्योंकि ज्ञान की सत्यता और असत्यता चक्षुरादि से ही ज्ञात होती है कहा जाय तो मन्द प्रकाश में दिखने वाले स्तम्भ आदि के विषय में 'यह स्तम्भ है या पुरूष है' इत्याकारक तो संशय अनुभव सिद्ध है। इसलिए ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः (ज्ञानग्राहक सामग्री से) ही ज्ञात नहीं होता। किन्तु उसका ग्राहक प्रमाण अनुमान है। अतः ज्ञानप्रामाण्य, अनुमानरूप 'परप्रमाण' से ग्राह्य हाने के कारण 'परतोग्राह्य' है। प्रामाण्यग्राहक अनुमान इस प्रकार है– दूर स्थित पदार्थ का 'यह जल है' इत्याकारक जो ज्ञान मुझे हुआ, वह प्रमा है, क्योंकि वह संवादि का (सफल प्रवृत्ति का) जनक है, अर्थात् उस जल की ओर देखकर उसे पीने के लिए जो मेरी प्रवृत्ति हुई वह सफल हुई। वहाँ मुझे पीन के लिए पानी मिलने से पूर्व हुआ ज्ञान, सफल प्रवृत्ति का जनक हुआ, व्यतिरेक से भ्रमज्ञान के समान। अर्थात् इसके पूर्व मुझे शुक्ति की जगह 'यह रजत है' यह ज्ञान हुआ था, वह ऐसा सफल प्रवृत्ति जनक नहीं हुआ था, क्योंकि समीप जाकर देखते ही हाथ में सीप आई, इसलिए वह विफल प्रवृत्ति का जनक तथा अप्रमाणिक भी है।[74] परन्तु यह जल ज्ञान वैसा विफल प्रवृत्तिजनक नहीं है इस कारण यह प्रमारूप होना चाहिए, इस अनुमान प्रमाण से ही ज्ञान की प्रमाणिकता का निश्चय होता है।

इसी प्रकार प्रामाण्य की उत्पत्ति के विषय में भी मतभेद है। नैयायिक कहते हैं कि प्रामाओं, का प्रमाण्य परतः उत्पन्न होता है, 'क्योंकि जिस सामग्री से ज्ञान होता है उसी सामग्री' से उसका प्रमात्व भी उत्पन्न होता है। यह स्वीकार करने पर भ्रमज्ञान में भी प्रामाण्य का प्रसंग उपस्थित होगा।

[74] शास्त्री, श्री गजानन मुसलगांवकर(हि॰ व्या), 2013. श्री धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 315.

ज्ञान की प्रमाणिकता के विषय में इस प्रकार का मतभेद होने से उसकी उत्पत्ति एवं ज्ञान के विषय में परिभाषाकार अभिमत सिद्धान्त 'एव मुक्तानां', इत्यादि वाक्य से स्पष्ट किया गया है। 'प्रमाण' शब्द 'प्रमीयते तत् प्रमाणम्' ऐसी भावव्युत्पत्ति के द्वारा 'प्रमा' अर्थ में प्रयुक्त होना चाहिए। परिभाषाकार के अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः एव अर्थात् ज्ञान की सामग्री से ही उत्पन्न होता है और स्वतः एव ज्ञात होता है। यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि नैयायिक के परतः प्रामाण्य के सिद्धान्त होते हुए, परिभाषाकार प्रामाण्य के स्वतस्त्व का सिद्धान्त कैसे कर सकते हैं ?

परिभाषाकार के अनुसार स्मृति एवं अनुभव दोनों के लिए साधारण अर्थात् स्मृति एवं अनुभव दोनों में व्याप्त रहने वाले प्रामाण्य का लक्षण 'तद्वति तत्प्रकारज्ञानत्वं'[75] है। लक्षण के 'तत्' पद से ज्ञान में विशेषणभूतधर्म का ग्रहण करना चाहिए। जैसे– 'अयं घटः' इत्याकारक ज्ञान हुआ। ज्ञान में 'घट विशेष्य है, और घट का ज्ञान 'घटत्व' धर्म से हो रहा है। इसलिए 'घटत्व' उस ज्ञान में विशेषण है। अतः लक्षण के 'तत्' पद से 'घटत्व' धर्म का ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार लक्षण का अर्थ है कि 'घटत्ववान्' पदार्थ में 'यह घट' इत्याकारक घटत्वप्रकारक ज्ञान होना ही घट प्रमा का प्रामाण्य है। 'यह घट मुझे चाहिए' यह इच्छा भी घटत्ववान घट में घटत्वप्रकारक ही है। उसमें रहने वाले प्रामाण्य में ज्ञान प्रामाण्य की अतिव्याप्ति न हो जाय इसलिए परिभाषाकार ने लक्षण में 'ज्ञानत्व' पद का प्रयोग किया है। इच्छा में इच्छात्व रहता है, ज्ञानत्व नहीं। इसलिए अतिव्याप्ति का निराकरण हो जाता है। यदि 'तत्प्रकारकज्ञानत्व' इतना ही लक्षण किया होता तो भ्रमज्ञान में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि शुक्तिका में होने वाला 'यह रजत' इत्याकारक रजतज्ञान भी रजत्वप्रकारक ही होता है। उसकी निवृत्ति के लिए ही परिभाषाकार ने लक्षण में 'तद्वति' पद का प्रयोग किया है। भ्रमज्ञान रजत्ववान पदार्थ में नहीं होता, इसलिए दोष का निराकरण हो जाता है। ज्ञान में इस प्रकार का प्रामाण्य होने पर उसकी इच्छा से प्रवृत्त हुए पुरूष की प्रवृत्ति संवादि होती है, इसलिए यह प्रमाण्य संवादि प्रवृत्ति के लिए अनुकूल है। अतः अद्वैत मत में यह प्रामाण्य स्वयं ही उत्पन्न होता है।

[75] शास्त्री, श्री गजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या), 2013. श्री धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 316.

यह आक्षेप हो सकता है कि उस प्रामाण्य को अपना ही उत्पादक स्वीकार करने से 'आत्माश्रय' दोष होता है। ऐसी स्थिति में प्रमाण्य 'स्वतः ही उत्पन्न होता है', यह कैसे कहा जा सकता है?

परिभाषाकार के अनुसार यह आक्षेप उचित नहीं है। क्योंकि 'स्वतः प्रामाण्य' में स्वतः का अर्थ 'स्वयं से' न होकर 'जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी सामग्री से' है। इस कारण आत्माश्रय दोष का प्रश्न नहीं उपस्थित हो सकता। जबकि नैयायिक प्रामाण्य की उत्पत्ति में यह स्वीकार करते हैं कि ज्ञानजनक सामग्री से, प्रामाण्यजनक सामग्री भिन्न है। परन्तु यह उचित नहीं है। इस पर नैयायिक कदाचित् कहे कि अद्वैत मत स्वीकृत प्रमाओं के जनक किसी एक गुण के न रहने पर विशेष प्रमा का जनक विशेष गुण है।

उदाहरणार्थ– प्रत्यक्ष में 'भूयोऽवयवेन्द्रिय सन्निकर्ष' रूप गुण है अर्थात् जिस वस्तु का प्रत्यक्ष होता है उसके बहुत से ज्ञापक कतिपय अवयवों के साथ चक्षुरादि इन्द्रियों का सन्निकर्ष होने पर उस प्रत्यक्ष में प्रमात्व उत्पन्न होता है।[76] इसी प्रकार अनुमिति में 'सल्लिंग परामर्श' गुण है। यदि हेतु सत्य हो, और उसका पक्ष पर ज्ञान हो जाय तो अनुमिति में प्रामाण्य होता है। उपमिति के प्रामाण्य के लिए 'सादृश्यज्ञान' की अपेक्षा होती है। शब्द प्रमा का प्रामाण्य, यथार्थ योग्यता ज्ञान या यथार्थ तात्पर्य रूप ज्ञान गुण से सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में प्रामाण्य के लिए ज्ञानसामान्य सामग्री के व्यतिरिक्त गुण की आवश्यकता नहीं होती है। यह कैसे कहा जा सकता हैं?

परिभाषाकार ने 'नापि.' इत्यादि वाक्य से उपर्युक्त आक्षेप का समाधान कर, यह सिद्ध किया है कि नैयायिकों को स्वीकृत गुणों में से किसी भी गुण का होना, यहाँ संभव नहीं है। परिभाषाकार के मतानुसार 'भूयोऽवयवेन्द्रिय सन्निकर्ष' रूप गुण को प्रत्यक्ष प्रमा का जनक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह व्यभिचारी है। यह नैयायिकों को भी मान्य है कि 'रूप में अवयव नहीं होते हैं'। इस कारण यह भी नहीं कहा जा सकता कि निरवय रूप आदि के बहुत से अवयवों के साथ चक्षुरादि इन्द्रियों का सन्निकर्ष है। फिर भी यह सत्य है कि रूप आदि का प्रत्यक्ष तो होता है। इस प्रकार प्रामाण्य ज्ञान भी

[76] शास्त्री, श्री गजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या), 2013. श्री धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 317.

होता है। उसी प्रकार निरवयव आत्मा में भी 'भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्ष' रूप गुण का होना संभव नहीं। फिर भी नैयायिक आत्मा का मानस प्रत्यक्ष तो स्वीकार ही करते हैं। यहाँ पर गुण के न होने पर भी प्रामाण्य होता है इस कारण गुण का व्यतिरेक व्यभिचार होता है। क्योंकि यह भी नहीं कहा जा सकता है कि जहाँ गुण नहीं वहाँ प्रामाण्य का भी नहीं होता।

उदाहरणार्थ– यदि किसी व्यक्ति को पीलिया हो जाए तो उसे सब पदार्थ पीले दिखाई देते हैं। शंख सफेद होता हुआ भी पीलियाग्रस्त व्यक्ति को पीला दिखाई देता है। यहाँ पर शंख का अधिक अवयवों के साथ उस पुरूष के इन्द्रियों का सन्निकर्ष रूप गुण रहता है, परन्तु उस ज्ञान में प्रामाण्य पैदा नहीं होता। इसलिए 'जहाँ गुण हो वहाँ प्रामाण्य होता है' इस अन्वय व्याप्ति का भी व्यभिचार होता है। इा कारण अन्वय व्यतिरेक व्यभिचार के कारण गुण को प्रामाण्य का जनक नहीं स्वीकार किया जा सकता। अतः प्रत्यक्ष प्रमा में 'भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्ष' रूप गुण संभव नहीं है।

परिभाषाकार के अनुसार इसी प्रकार से अनुमित्यादि प्रमाओं में नैयायिक स्वीकृत सल्लिंग परामर्शादि गुण भी उपपन्न नहीं हो सकते। क्योंकि धूलि में भी 'यह धूम' है' इस प्रकार का ज्ञान होता है। यदि वहाँ पर दैवगत्या यदि अग्नि हुआ तो असल्लिंग परामर्श के होते हुए भी अनुमिति प्रमा प्राप्त होती है। इस प्रकार के व्यतिरेक व्यभिचार से अनुमिति के प्रामाण्य में सल्लिंग परामर्श को गुण नहीं स्वीकार किया जा सकता। परिभाषाकार के 'आदि' पद ये साद्श्य ज्ञान और योग्यता ज्ञान रूप गणु को भी उपमिति एवं शाब्द प्रमाओं के प्रामाण्य में भी व्यभिचारी स्वीकार करना चाहिए। कारण यह है कि कभी–कभी सादृश्य भ्रम से यथार्थ उपमिति होती है, और विष्णु के अर्थ में हरि शब्द का उच्चारण होने पर भी भ्रम से उस शब्द का अर्थ 'सिंह' है, इस प्रकार का तात्पर्य भ्रम हो जाता है।[77] इसलिए उरोक्त वर्णित प्रमाओं में अनुगत रहने वाले किसी एक गुण का होना सम्भव ही नहीं, और न ही विशेष प्रमा के विशेष गुण का होना ही संभव है। इसलिए प्रमाणोत्पादन में, गुणादि सामग्री न होकर, ज्ञानजनक सामग्री को ही प्रामाण्य का जनक स्वीकार करना चाहिए। इसलिए अद्वैत मत में प्रामाण्य स्वतः एव उत्पन्न होता है। नैयायिकों के अनुसार ज्ञानजनक सामग्री को ही प्रामाण्य का जनक स्वीकार करने

[77] शास्त्री, श्री गजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या), 2013. श्री धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 318.

पर 'भ्रमज्ञान में भी प्रामाण्य प्राप्त होने का प्रसंग उपस्थित होगा'। परिभाषाकार ने प्रथमतः इस आक्षेप को स्थापित कर उसका समाधान भी किया है।

परिभाषाकार के मतानुसार 'न चैवमप्रमापि प्रमा स्यात्, ज्ञानसामान्य–सामग्र्या अविशेषादिति वाच्यम्। दोषाभावस्यापि हेतुत्वांगीकारात्। न चैवं परस्त्वमिति वाच्यम्। आगन्तुक–भावकारणापेक्षायामेव परस्त्वात्'।[78] अर्थात्– ऐसा (ज्ञानजनक सामग्री को ही प्रामाण्योत्पादक सामग्री) मान लें तो अप्रमा (भ्रमज्ञान) भी प्रमा (यथार्थ) ज्ञान कहलाएगा। क्योंकि (वहाँ भी) ज्ञान सामान्य की सामग्री में विशेष नहीं होता। परन्तु यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि (हमने) दोषाभाव का भी हेतुत्वेन (हेतुरूप से) अंगीकार किया है। 'यह कहने से परतस्त्व प्राप्त होता है' ऐसी शंका यदि कोई करे तो ठीक नहीं है। क्योंकि आगन्तुक भाव कारण ही अपेक्षा रहने पर परतस्त्व प्राप्त होता है।

परिभाषाकार के अनुसार नैयायिकों के आक्षेप का आशय इस प्रकार है कि रजत का रजत रूप से ज्ञान होते समय इन्द्रियादि जो सामग्री ज्ञान की होती है, वही शुक्तिका में रजत भ्रम होते समय भी होती है। इसलिए 'जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी सामग्री से उस ज्ञान में प्रामाण्य होता है' यदि यह स्वीकार करें तो भ्रम में भी प्रमात्व स्वीकार करना होगा। तब तो रज्जु में हुआ सर्पज्ञान भी सत्य होगा। इसलिए उसके प्रामाण्य का कारण ज्ञानजनक सामग्री से भिन्न ही स्वीकार करना चाहिए।

परिभाषाकार के मतानुसार जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी सामग्री से उस ज्ञान में प्रामाण्य होता है। यह स्वीकार करने पर भी में अप्रमा में प्रमात्व नहीं आ सकता, क्योंकि प्रमा में जिस प्रकार अन्य साधन सामग्री की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार इसमें भी दोषाभावरूप सहकारिकारण की भी आवश्यकता होती है। क्योंकि दोष तो सभी कार्यों में प्रतिबन्धक होता है और उस प्रतिबन्धक का अभाव, सभी कार्यों में सहकारिकारण रहता है।[79] जैसे– अग्नि कितना भी प्रज्वलित क्यों न हो, दाह्य वस्तु के साथ चन्द्रकान्त मणि का संयोग यदि हो तो वह जला नहीं पाता। क्योंकि वहाँ मणि प्रतिबन्धक रहता है, इसे नैयायिक भी स्वीकार करते हैं। अतः दोषाभावरूप कारण से युक्त जो ज्ञान की सामग्री, उसके ही कारण प्रमात्मक ज्ञान होता है। सीप में जब रजत

[78] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 158.

[79] शास्त्री, श्री गजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या), 2013. श्री धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 319.

ज्ञान होता है, तब चक्षु में तिमिरादि कोई दोष पैदा हो जाने से समस्त कारणों में से दोषाभावरूप कारण अप्रमा में न होने से प्रमारूप ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए अप्रमा, कभी भी प्रमारूप में भासित नहीं हो सकता।

यह स्वीकार करना अद्वैत मत के लिए अप–सिद्धान्त होगा। क्योंकि ज्ञानजनक सामग्री के अतिरिक्त दोषाभावरूप पर कारण का स्वीकार करने से अद्वैत मत का नैयायिकों के परतस्त्व पक्ष ही स्वीकृत किया सा लगता है।

परिभाषाकार के मतानुसार यह आक्षेप भी उचित नहीं। क्योंकि आगन्तुक भावरूप कारण की, प्रमा में अपेक्षा करने पर ही परतस्त्व की प्राप्ति होगी। नैयायिक भी 'प्रमाया गुणजन्यत्वं उत्पत्तौ परतस्त्वम्' परतस्त्व का लक्षण यही करते हैं कि गुण रूप आगन्तुक भाव कारण की अपेक्षा होने से परतः प्रमात्व उत्पन्न होता है। अतः दोषाभावरूप कारण की आवश्यकता स्वीकार करने पर भी, प्रामाण्य में परतस्त्व, उसके कारण नहीं हो सकता। इसलिए आगन्तुक भावरूप कारण की अपेक्षा न करते हुए ज्ञानसामान्यग्राहक सामग्री से ही उत्पन्न होना प्रामाण्य के स्वतस्त्व का निकृष्ट स्वरूप है। परिभाषाकार ने अदृष्ट आदि की व्यावृत्ति के लिए ही 'आगन्तुक' पद का प्रयोग किया है और दोषाभावरूप कारणपरतस्त्व की प्राप्ति न हो इसलिए 'भाव' पद का भी प्रयोग किया है। इसलिए अभाव रूप अन्य कारणों का स्वीकार करने पर भी परतस्त्व नहीं प्राप्त होता। अतः अद्वैत मतानुसार प्रामाण्य स्वतः एव उत्पन्न होता है। इसके अनन्तर परिभाषाकार ने पामाण्य स्वतोग्राह्य कैसे है? यह सिद्ध करते हुए, नैयायिक के परतोग्राह्यत्व पक्ष का निराकरण करते हैं।

परिभाषाकार के अनुसार 'ज्ञायते च प्रामाण्यं स्वतः। स्वतोग्राह्यत्वं च दोषाभावे सति यावत्स्वाश्रयग्राहक सामग्रीग्राह्यत्वम्। स्वाश्रयो वृत्तिज्ञानं तद्ग्राहकं साक्षिज्ञानं तेनापि वृत्तिज्ञाने गृह्यमाणे तद्गतं प्रामाण्यं गृह्यते'।[80] अर्थात्– प्रामाण्य स्वतः एव जाना जाता है। स्वतोग्राह्यत्व का अर्थ है 'दोष का अभाव रहते हुए यावत् (समस्त) स्वाश्रय का (प्रमा का) ग्रहण करने वाली सामग्री के द्वारा ग्रहण किया जाना (जानना)।' स्वाश्रय का अर्थ

[80] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 158.

है– वृत्तिज्ञान, उसका ग्राहक साक्षी ज्ञान होता है। उसके द्वारा वृत्तिज्ञान के ग्रहण करते समय, वृत्तिज्ञाननिष्ठ प्रामाण्य भी जाना जाता है।

परिभाषाकार के अनुसार जिस प्रकार प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वतः होती है, उसी प्रकार प्रामाण्य का ज्ञान भी स्वतः एव होता है और यही अद्वैत मत में स्वतोग्राह्यत्व है। अद्वैत मत में विविक्षित स्वतोग्राह्यत्व की व्याख्या परिभाषाकार ने इस प्रकार की है– यावत् स्वाश्रयग्राहक सामग्री के द्वारा जानना।[81] अर्थात्– प्रामाण्य या प्रमात्व प्रमा का धर्म है। जिस प्रकार पुस्तक का पुस्तकत्व धर्म पुस्तक में ही रहता है, उसी प्रकार प्रामाण्य भी प्रमानिष्ठ होता है। यह ज्ञान ब्रह्मज्ञान है, किन्तु वृत्तिज्ञान है। इस कारण स्व=प्रामाण्य, उसका आश्रय=आधार वृत्तिज्ञान ही होता है। इसलिए स्वाश्रय शब्द से प्रामाण्य का आश्रय जो घटादि आकार से परिणत हुई वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य रूप वृत्तिज्ञान, उसी का ग्रहण करना चाहिए। अद्वैत मत में इन समस्त वृत्तिज्ञानों का ग्राहक साक्षिज्ञान ही है। इस कारण साक्षिज्ञान ही स्वाश्रयग्राहक सामग्री है। नैयायिक इसी साक्षिज्ञान को अनुव्यवसाय कहते हैं, और यही प्रमातृचैतन्य भी है। इस प्रमातृचैतन्य के द्वारा वृत्तिज्ञानरूप प्रमा का जब ज्ञान होता है, उसी समय तन्निष्ठ प्रमात्व का भी ज्ञान होता है। क्योंकि धर्मपूर्वक ही धर्मी का ज्ञान होता है। इसलिए यह स्वीकार करना चाहिए कि प्रामाण्य का स्वाश्रयवाहक सामग्री से ही स्वतः एव ज्ञान होता है, और अद्वैत मत में यही स्वतोग्राह्यत्व है।

इसके अतिरिक्त परिभाषाकार द्वारा प्रत्यक्षपरिच्छेद में प्रतिपादित अद्वैत अभिमत प्रत्यक्ष प्रक्रिया के अनुसार देखने से भी यही सिद्ध होता है। फिर भी ज्ञानस्थल में वृत्त्युपहितचैतन्य और प्रमातृचैतन्य की एकता आवश्यक है। इसलिए प्रमातृचैतन्य में वृत्त्युपहितचैतन्य का भी एकीभाव हो जाता है। तब प्रमातृचैतन्य के द्वारा यदि वृत्त्युपहितचैतन्य का ज्ञान हो जाता तो उस वृत्तिज्ञान में विद्यमान 'तद्वतितत्प्रकारकत्व' रूप प्रामाण्य का ज्ञान नहीं होता, यह कैसे कहा जा सकता है? इसलिए वृत्त्युपहितचैतन्य का प्रमातृचैतन्य के साथ ऐक्य होने पर तन्निष्ठ प्रामाण्य का भी उसके साथ ऐक्य होना स्वीकार करना होगा, इसलिए अद्वैत मतानुसार प्रामाण्य स्वतोग्राह्य ही है।[82] अतः

[81] शास्त्री, श्री गजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या), 2013. श्री धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 321.
[82] शास्त्री, श्री गजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या), 2013. श्री धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 322.

नैयायिकों का यह स्वीकार करना उचित नहीं है कि प्रमाण्य का ज्ञान परतः (अनुमान से) होता है।

परतः प्रामाण्यवाद को स्वीकार करने वाले नैयायिक अनुमान आदि में ज्ञानग्राहक सामग्री स्वीकार करते हैं। उसी अनुमान आदि की व्यावृत्ति करने के लिए ही परिभाषाकार ने लक्षण में 'यावत्' यह विशेषण स्वाश्रय में दिया है। अनुमान समस्त ज्ञानों का ग्राहक न होने से 'यावत्स्वाश्रय' पद से उसकी निवृत्ति हो जाती है। इसके बाद परिभाषाकार स्वतोग्राह्यत्व की व्याख्या में दिये गये 'दोषाभाव' का पदकृत्य स्पष्ट करते हैं।

परिभाषाकार के अनुसार 'न चैवं प्रामाण्यसंशयानुपत्तिः, तत्र संशयानुरोधेन दोष्यापि सत्वेन दोषभाव–घटितस्वाश्रयग्राहकभावेन तत्र प्रामाण्यस्यैवाग्रहात्। यद्वा– यावत्स्वाश्रय ग्राह्यत्व योग्यत्वं स्वतस्त्वम्। संशयस्थले प्रामाण्यस्योक्तयोग्यता सत्त्वेऽपि दोषवशेनाग्रहात् न संशयानुपपत्तिः'।[83] अर्थात्– इस रीति से प्रामाण्य को स्वतोग्राह्य मानने पर प्रामाण्य विषयक संशय की अनुपपत्ति होगी' यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि वहाँ पर (संशय स्थल में) संशय के अनुरोध से दोष के होने से प्रामाण्य का ही ग्रहण नहीं होता। अथवा यावत् जो स्वाश्रय, उसका ग्राहक जो साक्षिज्ञान, उससे ग्राह्य (ज्ञात होने योग्य) होना ही स्वतोग्राह्य का लक्षण किया जाय। संशय–स्थल के प्रामाण्य के उक्त योग्यता के होने पर भी दोष के कारण उसका ज्ञान नहीं होता। इस कारण संशय की अनुपपत्ति नहीं होती।

परिभाषाकार के अनुसार नैयायिकों कक पूर्वपक्ष–भ्रम और प्रमा दोनों स्थलों में वृत्तिज्ञान रहता है और उसका ग्राहक साक्षिचैतन्य सर्वत्र समान ही है। इसलिए कोई भी ज्ञान, साक्षिज्ञान के द्वारा प्रकाशित होते ही उसके प्रामाण्य का निश्चय होना चाहिए। तब तो 'यह ज्ञान सत्य है या असत्य' इस प्रकार का संशय, ज्ञान प्रामाण्य के विषय में नहीं हो सकता। परन्तु सामान्य अनुभव है कि संशय तो होता है। इस स्थिति में अद्वैत स्वीकृत स्वतः प्रामाण्यवाद का पक्ष अनुपन्न होता है।

परिभाषाकार के मतानुसार अद्वैत मत ने स्वाश्रयग्राहक साक्षिचैतन्य को दोषाभाव में विशेषण किया है। जहाँ पर संशय होता है, वहाँ अभ्यास, अपाटव आदि दोष हुआ

[83] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 158–159.

करते है। इस कारण वह दोषाभावरूप विशेषण से घटित स्वतोग्राह्यत्व का लक्षण उस स्थल में नहीं मान्य हो सकता और 'दोषाभाव से युक्त स्वाश्रयग्राहक सामग्री के द्वारा ग्राह्य होना' यह स्वतोग्राह्यत्व का निष्कृष्ट लक्षण है।[84] या 'दोषाभाव' विशेषण का भी लक्षण में समावेश करने की आवश्यकता नहीं है। 'स्वश्रयग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वयोग्यत्व' ऐसा योग्यत्व घटित लक्षण करने पर संशय उत्पन्न हो सकता है। फिर भी ज्ञानसामग्री के द्वारा प्रामाण्य का ज्ञान हो या न हो परन्तु तादृश प्रामाण्य होने के बोध की योग्यता यदि हो तो वहाँ परिभाषाकार स्वतोग्राह्यत्व स्वीकार करते हैं। संशय स्थल में भी ऐसी स्वतोग्राह्यता होती है। परन्तु अनाभ्यासादि दोषों के कारण प्रामाण्य का निश्चय न होने से ज्ञान के विषय में परिभाषाकार को संशय होता है। जैसे– किसी भी बीज में अंकुरोत्पत्ति की योग्यता होती है, परन्तु उचित परिस्थितियों के अभाव में बीजांकुर उत्पन्न नहीं होता। ठीक इसी पकार संशयस्थल में प्रामाण्यग्राह्य होने की योग्यता तो रहती ही है, परन्तु दोषादि के कारण ज्ञान में प्रतिबंधक होने से उसके प्रामाण्य का निश्चय न होकर संशय उत्पन्न होता है। इस प्रकार परिभाषाकार ने प्रामाण्य का स्वतस्त्व सिद्ध करके, यह ज्ञपष्ट करते है कि अप्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञान परतः होती है।

परिभाषाकार के अनुसार 'अप्रामाण्यं तु न ज्ञानसामान्य–सामग्रीप्रयोज्यम्, प्रमायामप्य प्रामाण्यापत्तेः। किन्तु दोष–प्रयोज्यम्। नाप्यप्रामाण्यं यावत्स्वाश्रयग्राहकग्राह्यम्। अप्रामाण्य घटक तदभाववत्त्वादेर्वृत्ति ज्ञानाऽनुपनीतत्वेन साक्षिणा ग्रहीतुमशक्यत्वात्। किन्तु विसंवादि प्रवृत्यादि ल्लिंगकानुमित्यादि–विषय इति परत एवाप्रामाण्यमुत्पद्यते ज्ञायते चेति'।[85] अर्थात्– अप्रामाण्य, ज्ञानसामान्यसामग्री का कार्य नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर प्रमा में भी अप्रामाण्य प्राप्त होगा। अतः वह दोष प्रयोज्य है। वैसे ही अप्रामाण्य, यावत्स्वाश्रय–ग्राहक–साक्षिज्ञान से भी ग्राह्य नहीं है। क्योंकि अप्रामाण्य लक्षण के अवयवों की वृत्तिज्ञान से उपस्थिति नहीं होती। इस कारण साक्षिज्ञान के द्वारा उसका ग्रहण होना संभव नहीं है। अप्रामाण्य तो विसंवादि आदि हेतुओं से होने वाली अनुमिति आदि ज्ञानों का विषय है। इसलिए अप्रामाण्य परतः ही उत्पन्न होता है और परतः ही ज्ञान होता है।

---

[84] शास्त्री, श्री गजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या), 2013. श्री धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 323.
[85] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 159.

परिभाषाकार के अनुसार ज्ञान के प्रामाण्य के समान उसका अप्रामाण्य स्वतः उत्पन्न नहीं होता। 'ज्ञान की सामान्य सामग्री से ही उस ज्ञान में अप्रामाण्य उत्पन्न होता है' यह स्वीकार करने पर प्रमा में भी अप्रमात्व प्रसंग उपस्थित होगा। कारण यह है कि ज्ञानसामान्य की इन्द्रियादि सामग्री, भ्रम और प्रमा दोनों में समान है। क्योंकि यदि साधन में भेद न हो तो साध्य में भी भेद उत्पन्न नहीं हो सकता। तो यह प्रश्न हो सकता है कि अप्रामाण्य की उत्पत्ति कैसे होती है?

इसके प्रत्युत्तर में परिभाषाकार का मत है कि 'ज्ञानसामान्यसामग्री–व्यतिरिक्त दोष ही अप्रामाण्य में जनक होते हैं'।[86] सामान्यतः यह अनुभव होता है कि इन्द्रियों में मन्द प्रकाश आदि दोष हो तो ज्ञान में अप्रामाण्य उत्पन्न होता है। अतः अद्वैत मत में अप्रामाण्य परतः ही उत्पन्न हो है।

इसी प्राकर अप्रामाण्य स्वतोग्राह्य भी नहीं है। 'तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानत्वम्'[87] अर्थात्– वस्तुतः रजत्वाभाववान् पदार्थ में रजतत्व–प्रकारक–ज्ञान होना ही अप्रामाण्य का लक्षण है। ऐसे अप्रामाण्य का ज्ञान, यावत् स्वाश्रयग्राहक सामग्री से साक्षिज्ञान से नहीं होता। क्योंकि अप्रामाण्य लक्षण के 'तद्भाववत्व' रूप अवयव की वृत्ति के द्वारा ज्ञान न होने से उसे साक्षिभास्यत्व नहीं है। भ्रम स्थल में शुक्तिका आदि में रजताकार वृत्ति होती है। रजतत्वाभावाकार वृत्ति नहीं होती और जिसकी उपस्थिति वृत्त से नहीं होती उसका साक्षी से ज्ञान होना संभव नहीं। परिभाषाकार के अनुसार 'तदभावत्वादि' के 'आदि' पद से 'बाधितार्थविषयज्ञानत्व' रूप अप्रामाण्य लक्षण के बाधित्वं का ग्रहण करना चाहिए। अतः परिभाषाकार के मत अप्रामाण्य का ज्ञान स्वतः नहीं होता है। तब तो यह प्रश्न हो सकता है कि अप्रामाण्य का ज्ञान किस कारण से होता है ?

इसका प्रत्युत्तर परिभाषाकार ने 'विसंवादि.' इत्यादि वाक्य से दिया है। विसंवादि का अर्थ 'विफल प्रवृत्ति' आदि से होने वाली अनुमिति आदि में पूर्व ज्ञान का अप्रामाण्य विषय रहता है। इस कारण अप्रामाण्य, अनुमानादि प्रमाण से ग्राह्य है। यह अनुमान इस

[86] शास्त्री, श्री गजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या), 2013. श्री धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 324.
[87] तद्भाववति तत्प्रकारकं ज्ञानत्वम्। (तर्क संग्रह)

प्रकार है– 'मुझे प्रथमतः हुआ रजत ज्ञान, अप्रमारूप होना चाहिए, क्योंकि वह विसंवादि प्रवृत्ति का जनक हुआ है, रज्जु में हुए पहले सर्प–ज्ञान के समान'।

परिभाषाकार के अनुसार 'प्रवृत्यादि' के आदि पद से स्वप्न में भासित हुए गजादि ज्ञान का मिथ्यात्व सिद्ध करने वाले 'निद्रादोष' आदि हेतुओं का ग्रहण करना चाहिए।[88] 'यह रजत नहीं है' इस प्रकार योग्य व्यक्ति के कहे जाने पर भी रजतादि ज्ञान में मिथ्यात्व ज्ञात हो जाता है, इसलिए 'अनुमित्यादि' में, यहाँ आदि शब्द से ऐसे शाब्द ज्ञान को स्वीकार करना चाहिए। अतः अप्रामाण्य, अनुमानादि परकारणजन्य होने से परतोग्राह्य ही है। स्वतोग्राह्य नहीं है। परिभाषाकार के मत में आप्रामाण्य परतः ही उत्पन्न होता है और परत ही ज्ञात होता है।

[88] शास्त्री, श्री गजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या), 2013. श्री धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 325.

तृतीय अध्याय

अद्वैत–वेदान्त दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूप

3.1 प्रस्तावना

3.2 प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूप एवं लक्षण

3.2.1 अन्तःकरण वृत्ति का स्वरूप

3.2.2 मन के अनिन्द्रियत्व का निरूपण

3.2.3 ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक

3.2.3.1 विषयचैतन्य
3.2.3.2 प्रमाणचैतन्य
3.2.3.3 प्रमातृचैतन्य

3.2.4 अन्तःकरण वृत्ति की बहिर्निगमन प्रक्रिया

3.2.5 सुखादि ज्ञानों में प्रत्यक्ष लक्षण के अतिव्याप्त का निराकरण

3.2.6 वह्न्यादि अनुमिति ज्ञान के पर्वतांश में प्रत्यक्ष

3.3 जाति–उपाधि–समवाय, विषयगत प्रत्यक्षत्व एवं वृत्ति के चार प्रकार

3.3.1 ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का लक्षण

3.3.2 विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक

3.3.3 विषयगत प्रत्यक्षत्व का लक्षण

3.3.4 अन्तःकरण वृत्ति के चार प्रकार

3.3.1.1 मन का स्वरूप
3.3.1.2 बुद्धि का स्वरूप
3.3.1.3 अहंकार का स्वरूप
3.3.1.4 चित्त का स्वरूप

3.4 प्रत्यक्ष प्रमाण का वर्गीकरण

3.4.1 सविकल्पक एवं निर्विकल्पक रूप से प्रत्यक्ष का प्रकार

3.4.1.1 सविकल्पक प्रत्यक्ष का स्वरूप
3.4.1.2 निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का स्वरूप
3.4.1.3 शाब्दज्ञान में निर्विकल्पक प्रत्यक्षत्व का व्यवस्थापन
3.4.1.4 वेदान्तवाक्यों की अखण्डार्थ बोधकता

3.4.2 जीवसाक्षी एवं ईश्वरसाक्षी रूप से प्रत्यक्ष का प्रकार

3.4.2.1 जीवसाक्षी प्रत्यक्ष का स्वरूप
3.4.2.2 ईश्वरसाक्षी का स्वरूप एवं माया की एकता एवं अनादित्व का निरूपण
3.4.2.4 ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का सामान्य लक्षण
3.4.2.5 शुक्तिरजत में प्रत्यक्ष विचार
3.4.2.5.1 पारमार्थिकी सत्ता
3.4.2.5.2 व्यावहारिकी सत्ता
3.4.2.5.3 प्रातिभासिकी सत्ता

3.4.3 इन्द्रियजन्य एवं इन्द्रियाजन्य रूप से प्रत्यक्ष के प्रकार

3.4.3.1 इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का स्वरूप
3.4.3.2 इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष का स्वरूप

तृतीय अध्याय

अद्वैत–वेदान्त दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूप

3.1 प्रस्तावना–

वेदान्त परिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र ने प्रथम प्रमाण के रूप में 'प्रत्यक्षपरिच्छेदः' के अन्तर्गत प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वरूप एवं लक्षण का विवेचन किया है। ज्ञान का सर्वाधिक सुगम साधन प्रत्यक्ष है। भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदायों ने अपनी तत्त्वमीमांसीय अवधारणाओं के अनुरूप प्रत्यक्ष प्रमाण का प्रतिपादन किया है।[1] भारतीय ही नहीं वरन् समस्त प्रकार की प्रमाणमीमांसाओं में 'प्रत्यक्ष' का स्थान प्रमाणों में सर्वोपरि है। अपनी पुस्तक 'भारतीय ज्ञानमीमांसा' में नीलिमा सिन्हा ने इसके दो कारणों का उल्लेख किया है।

प्रथम– प्रत्यक्ष सभी प्रमाणों का मूल है, क्योंकि अन्य सभी प्रमाण प्रत्यक्ष आधारित होते हैं।

द्वितीय– प्रत्यक्ष अन्य सभी प्रमाणों की सत्यता की अन्तिम कसौटी भी है, क्योकि अनुमानादि अन्य प्रमाणों की सत्यता पर जब सन्देह होता है तो इस सन्देह का अन्तिम निराकरण प्रत्यक्ष द्वारा ही सम्भव होता है।

प्रत्येक्षतर अन्य सभी प्रमाणों की प्रमाणिकता का अन्तिम आधार प्रत्यक्ष ही है, जबकि प्रत्यक्ष के विषय में सन्देह होने पर उस सन्देह का निराकरण प्रत्यक्ष के द्वारा ही होता है।[2] इसलिए प्रत्यक्ष के विषय में कहा गया है कि 'प्रत्यक्षं किम् प्रमाणम्' अर्थात्– प्रत्यक्ष को प्रमाण की आवश्यकता होती है। भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदायों ने प्रत्यक्ष को सर्वमान्य प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है।

3.2 प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूप एवं लक्षण–

प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूप एवे लक्षण को लेकर भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदायों में मतैक्य नहीं है। 'प्रत्यक्ष' दो शब्द से मिलकर बना है– 'प्रति' का अर्थ 'समक्ष' है और 'अक्ष' का अर्थ 'चक्षु' है। इस प्रकार इन्द्रियों के समक्ष जो उपस्थित है, वह प्रत्यक्ष है। परन्तु प्रत्यक्ष की यह परिभाषा सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय में स्वीकार नहीं है। सभी सम्प्रदाय

[1] Datta, D. M., 2017. The Six Ways of Knowing, Motilal Banarsidass Publishers Pvt Ltd, Delhi, pp. 27.

[2] Hobhouse, L. T., 1905. Theory of Knowledge, Methuen and Co., London, pp. 15.

अपनी–अपनी तत्त्वमीमांसाओं के अनुरूप ही 'प्रत्यक्ष' का प्रतिपादन किया है। इसलिए भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष की अनेक परिभाषाएं प्राप्त होती हैं। इन सभी परिभाषाओं को डी.एम. दत्त ने तीन वर्गों में[3](नीचे दिए गए वर्गों में से प्रथम तीन) और इन सभी परिभाषाओं को नीलिमा सिन्हा चार वर्गों में[4] रखा है–

1. असाक्षात् ज्ञान (जैन मत)
2. स्वलक्षण का कल्पना रहित ज्ञान (बौद्ध मत)
3. इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्य ज्ञान (लोकप्रिय मत)
4. साक्षात् ज्ञान (वेदान्त और प्रभाकर मत)

जैन दर्शन में ज्ञान दो प्रकार का होता है– प्रत्यक्ष एवं परोक्ष। मन इन्द्रियादि से प्राप्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है। उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में मति और श्रुत को परोक्ष ज्ञान एवं अवधि, मनःपर्याय और केवल ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।[5] माणिक्यनन्द ने प्रत्यक्ष को 'विशदं प्रत्यक्षमिति'[6], वादिदेवसूरि ने प्रत्यक्ष को 'स्पष्टं प्रत्यक्षम्'[7] एवं हेमचन्द्र ने प्रत्यक्ष को 'विशदः प्रत्यक्षम्'[8] कहा है। इस प्रकार जैन दर्शन में प्रत्यक्ष की परिभाषा असाक्षात् ज्ञान से प्रारम्भ होकर साक्षात् ज्ञान के पदों में होती है।

बौद्ध दार्शनिक प्रत्यक्ष को सविकल्प बुद्धि की समस्त कल्पनाओं से रहित, नाम, जाति आदि से अस्पृष्ट, अभ्रान्त और अपरोक्ष ज्ञान मानते हैं।[9] आचार्य दिग्नांक के अनुसार प्रत्यक्ष कल्पनारहित होता है, जिसमें वस्तु के नाम, जाति आदि की योजना नहीं होती है।[10] धर्मकीर्ति के अनुसार प्रत्यक्ष कल्पनारहित अभ्रान्त ज्ञान है।[11] धर्मोत्तर ने प्रत्यक्ष को साक्षात् ज्ञान के रूप में परिभाषित किया है।[12] इस प्रकार देखा जा सकता है कि बौद्ध मत में प्रत्यक्ष की परिभाषा का विकास कल्पनारहित ज्ञान से साक्षात् ज्ञान की तरफ होता है।

चार्वाक मत में अर्थ और इन्द्रिय सन्निकर्ष से ही विश्वासयोग्य ज्ञान प्राप्त होता है।[13] नैयायिक गौतम के अनुसार प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञान है जो अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी

---

[3] Datta, D. M., 2017. The Six Ways of Knowing, Motilal Banarsidass Publishers Pvt Ltd, Delhi, pp. 31.

[4] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 49.

[5] मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम्। तत्प्रमाणे। आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्। (तत्त्वार्थसूत्र– क्रमशः 9वॉ,10वॉ,11वॉ,12वॉ)

[6] विशदं प्रत्यमिति। (परीक्षामुख– 2.3)

[7] स्पष्टं प्रत्यक्षम्। (प्रमाणनयतत्त्वलोक– 2.2)

[8] विशदः प्रत्यक्षम्। (प्रमाणमीमांसा– 1.1.13)

[9] शर्मा, चन्द्रधर, 2013. भारतीय दर्शन (आलोचन एवं अनुशीलन), मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 121.

[10] प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्।
अभ्रान्तमपरोक्षं च प्रत्यक्षेणैव सिध्यति।। (प्रमाण समुच्चय– 1.3)

[11] तत्र कल्पनापोढ़मभ्रान्तं प्रत्यक्षम्।(न्यायबिन्दु– प्रथम परिच्छेद)

[12] तत्श्च यत्किंचिदर्स्थस्य साक्षात्कारिज्ञानं तत्प्रत्यक्षमुच्यते। (न्यायबिन्दु टीका)

[13] Chatterjee, S. & Datta, D., 2017. An Introducation to Indian Philosophy, Rupa Publication, New Delhi, pp. 54.

और व्यवसायात्मक होता है।[14] अन्नभट्ट ने प्रत्यक्ष को इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान कहा है।[15] नव्यनैयायिक गंगेश ने विषय की साक्षात् प्रतीत को प्रत्यक्ष कहा है।[16] इस प्रकार नैयायिक मत में भी प्रत्यक्ष की परिभाषा का विकास इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञान से साक्षात् ज्ञान की तरफ होता है।

वेदान्त और प्रभाकर मत प्रत्यक्ष को साक्षात् ज्ञान पदों में परिभाषित किया गया है। इस अध्याय अद्वैत–वेदान्त सम्मत् मुख्यतः वेदान्त परिभाषा के विशेष सन्दर्भ में प्रत्यक्ष प्रमाण का विवेचन किया जाएगा।

परिभाषाकार के अनुसार 'तत्र प्रत्यक्ष प्रमायाः करणं प्रत्यक्षप्रमाणम्। प्रत्यक्ष प्रमा चात्र चैतन्यमेव। 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इति श्रुतेः। 'अपरोक्षा' दित्यस्य 'अपरोक्ष' मित्यर्थः'।[17] अर्थात्– प्रत्यक्ष प्रमा के करण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। वेदान्त सिद्धान्त में प्रत्यक्ष प्रमा, 'चैतन्य' ही है। क्योंकि 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' जो 'साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म', यह श्रुति है। मूल श्रुतिवाक्य में 'अपरोक्षात्' ऐसा पंचमी होने पर भी उसे 'अपरोक्षम्' ऐसा नपुंसकलिंग प्रथमा स्वीकार करना चाहिए। कारण यह है कि 'साक्षात्' यह शब्द अव्यय होने से वह सदैव एक सा ही रहेगा, परन्तु 'अपरोक्ष' शब्द ब्रह्म का विशेषण होने से 'अपरोक्षम्' यही उसका रूप स्वीकार करना चाहिए।

परिभाषाकार ने प्रथमतः 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' यह प्रमाण का सामान्य लक्षण स्पष्ट किया है। परिभाषाकार के अनुसार 'प्रत्यक्ष प्रमा का जो करण, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है', यह प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण है। इसमें 'प्रत्यक्षप्रमाणं' यह लक्ष्य है और 'प्रत्यक्षप्रमायाः करणम्' यह लक्षण है। यह जिज्ञासा हो सकती है कि प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण में 'प्रत्यक्ष प्रमा का' के स्थान पर परिभाषाकार ने केवल 'प्रमा का' इतना ही लक्षण क्यों नहीं कहा? इसके पत्युत्तर में परिभाषाकार का मत है कि 'प्रमा' का अर्थ है यथार्थ ज्ञान, और अद्वैत मत में यथार्थ ज्ञान छह प्रकार का है, तब 'प्रमा का करण' इतना ही लक्षण करने से पत्यक्ष लक्षण की अनुमान, उपमान इत्यादि अन्य प्रमा–करणों में भी अतिव्याप्ति होती, इस अतिव्याप्ति को दूर करने के लिए ही परिभाषकार ने 'प्रत्यक्ष प्रमा का' इतना लम्बा किया है।[18]

---

[14] इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम् अव्यपदेश्यम् अव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्। (न्यायसूत्र– 1.1.4)

[15] इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। (तर्कसंग्रह)

[16] प्रत्यक्षस्व साक्षात्कारित्वं लक्षणम्। (तत्वचिन्तामणि)

[17] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 10.

[18] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 21.

अर्थापत्ति शब्द की ही तरह प्रमा और प्रमाण इन दोनों अर्थों में एक ही 'प्रत्यक्ष' प्रयोग किया जाता है। जैसे– 'घट' से चक्षुरिन्द्रिय का सनिकर्ष होने पर 'यह घट है' घटाकारक प्रमात्मक ज्ञान होता है। इस प्रमात्मक ज्ञान को 'प्रत्यक्ष प्रमा' कहते हैं और इस प्रमात्मक ज्ञान का करण 'चक्षुरिन्द्रिय' है, उसे भी प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। इसलिए एक ही प्रत्यक्ष शब्द का उपयोग प्रत्यक्ष प्रमा और पत्यक्ष प्रमाण इन दोनों अर्थों में एक–सा किया जाता है।

न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष ज्ञान के छह प्रकार का उल्लेख किया गया है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों से होने वाला पाँच प्रकार का प्रत्यक्ष तथा छठा मनरूप, इन्द्रिय से होने वाला मानस–प्रत्यक्ष।[19] जबकि अद्वैत मत में परिभाषाकार को मन का इन्द्रियत्व मान्य नहीं है। इसलिए परिभाषाकार के मत में ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच ही हैं और उन ज्ञानेन्द्रियों से होने वाला प्रत्यक्ष–ज्ञान भी पाँच ही प्रकार का होता है।

परिभाषाकार के मत में यह आक्षेप हो सकता है कि प्रत्यक्षेतर पाँच प्रमाओं में प्रत्यक्ष करण की अतिव्याप्ति न होने पाये, यदि इसी उद्देश्य से 'प्रमायाः करणम्' न कहकर 'प्रत्यक्ष–प्रमायाः' कहा है तो 'प्रत्यक्षज्ञानकरणं प्रत्यक्ष–प्रमाणम्'[20] इतना ही लक्षण किया जाय। तो प्रत्यक्ष लक्षण में 'प्रमा' शब्द के निवेश करने की आवश्यकता नहीं होती।

परिभाषकार के मतानुसार 'सीप में रजत का भ्रमज्ञान होता है। यह भ्रमज्ञान भी प्रत्यक्ष ज्ञान है और उसका साधन 'साक्षी' है। भ्रमज्ञान में प्रत्यक्ष–प्रमाण के लक्षण की अतिव्याप्ति न हो इसलिए परिभाषाकार ने पत्यक्ष लक्षण में ज्ञान के स्थान पर 'प्रमा' शब्द का प्रयोग किया है'।[21] 'शुक्तिरजत–ज्ञान' यद्यपि कि प्रत्यक्ष–ज्ञान है फिर भी शुक्तिरजत बाधित होने वाला विषय है, इसलिए शुक्तिरजत ज्ञान 'प्रमा' नहीं है क्योंकि अद्वैत मत में 'अबाधितविषयज्ञानत्व' प्रमा का लक्षण है।

परिभाषाकार से यह प्रश्न हो सकता है कि अद्वैत मत में प्रत्यक्ष–प्रमा' शब्द का अर्थ क्या है? यदि परिभाषाकार यह स्वीकार करें कि 'इन्द्रियजन्यज्ञानत्वं प्रत्यक्षप्रमात्वम्'[22] अर्थात् इन्द्रिय से जन्य होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमा है। ध्यातव्य हो कि जब परिभाषाकार को मन का इन्द्रियत्व अस्वीकार है, फिर भी सुख–दुःखादि का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इस स्थिति में 'इन्द्रियजन्यज्ञानत्वं' इस प्रत्यक्ष लक्षण की सुखादि प्रत्यक्ष प्रमा में अव्याप्ति होती है क्योंकि

---

[19] भार्गाव, दयानन्द (व्या॰), 2012. तर्क–सग्रहः, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 103.
[20] 'प्रत्यक्षज्ञानकरणं प्रत्यक्ष–प्रमाणम्' (तर्कसंग्रह)
[21] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 22.
[22] 'इन्द्रियजन्यज्ञानत्वं प्रत्यक्षप्रमात्वम्' (न्याय–सिद्धान्त मुक्तावली)

परिभाषाकार के मत में सुखादि ज्ञान प्रत्यक्ष होने पर भी इन्द्रियजन्य नहीं है। यदि यह स्वीकार करें कि अनुमिति, शाब्द, अनुपलब्धि इन प्रमाओं से क्रमशः व्याप्तिज्ञान, सादृश्यज्ञान, तात्पर्यवत्पदज्ञान, अनुपलब्धिज्ञान इन ज्ञानों से जन्य होती है। अतः परिशेषन्याय से 'ज्ञानाजन्यं ज्ञानं' ज्ञान से उत्पन्न न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष–ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष–प्रमा का लक्षण स्वीकार करें तो अन्य मत से 'सभी प्रत्यक्ष–ज्ञान, ईश्वरज्ञनाजन्य होने से ज्ञानाजन्यं ज्ञानं इस लक्षण में भी अव्याप्ति दोष का प्रसंग प्राप्त होता है।'

अब यदि इस अव्याप्ति दोष का निराकरण करने के लिए 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्'[23] अर्थात्– वह ज्ञान जिसका करण नहीं हो ऐसा ज्ञा नही प्रत्यक्ष प्रमा है। यह लक्षण स्वीकार करें तो अनुभव, संस्कार को उत्पन्न करके क्षीण हो जाता है, अतः अनुभवज्ञान, स्मृतिज्ञान का करण हो नहीं सकता। अनुभव और स्मृति की प्रक्रिया इस प्रकार है–

पूर्व में अनुभूत किए हुए पदार्थ के संस्कार मन में स्थिर रहते हैं। अदृष्टवशात् सन्निकर्षादि निमित्त के कारण संस्कारों के उद्बुद्ध होने पर ही पूर्व में अनुभूत किए हुए पदार्थ की स्मृति होती है। कुछ दार्शनिक सम्प्रदाय अवाधित पुर्वानुभूत पदार्थ की स्मृति को भी प्रमा के रूप में अस्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार 'ज्ञानाकरण ज्ञान' अर्थात्– वह ज्ञान जिसका करण नहीं है, इस प्रकार का ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमा है, इस लक्षण के अनुसार स्मृति भी संस्कारजन्य होने से प्रमा कोटि में आ जाएगी। क्योंकि अनुभवरूप ज्ञान का संस्कार में ही क्षय हो जाने से अनुभवरूप ज्ञान, स्मृति का कारण नहीं हो सकता, इसीलिए 'ज्ञानाकरणक ज्ञानं' इस प्रत्यक्ष प्रमा लक्षण की स्मृति में अतिव्याप्ति होगी और स्मृति के अप्रमा होने पर भी उसके प्रमा होने का प्रसंग उपस्थिति होगा।

इस अतिव्याप्ति दोष का निराकरण करने के लिए यह स्वीकार करना होगा कि 'स्मृति का करण अनुभवज्ञान है, संस्कार तो उसका अवान्तर व्यापार है।[24] इस व्यापार से युक्त अनुभव में स्मृति की कारणता सिद्ध होने से 'व्यापारवत् असाधारणं कारण करणम्'[25] अर्थात्– 'व्यापार से युक्त जो असाधारण कारण वह करण है' यह करण का लक्षण है, अतः अनुभवरूप ज्ञान स्मृति का करण होने से 'ज्ञानाकरणकं' यह लक्षण स्मृति में अतिव्याप्त नहीं होता है, क्योंकि स्मृति, ज्ञानकरणक है। यदि यह स्वीकार करें तो स्मृतिज्ञान जिसमें करण है ऐसे प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष में 'ज्ञानाकरणक ज्ञानम्' इस लक्षण की अव्याप्ति होती है। जैसे– 'सोऽयं

[23] भार्गव, दयानन्द (व्या॰), 2012. तर्क–सग्रहः, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 102.
[24] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 23.
[25] भार्गव, दयानन्द (व्या॰), 2012. तर्क–सग्रहः, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 87.

देवदत्तः' प्रत्यभिज्ञा–प्रत्यक्ष का उदाहरण है। क्योंकि अद्वैत मत में 'प्रत्यभिज्ञा' प्रत्यक्ष प्रमा है और उसका करण स्मृतिज्ञान है। नैयायिक मत में प्रत्यक्ष प्रमा का लक्षण हैं 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानम प्रत्यक्षम्'[26] यह लक्षण प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष में घटित नहीं हो सकता। क्योंकि प्रत्यभिज्ञा तों 'ज्ञान करणक' है, ज्ञान अकरणक नहीं।

परिभाषाकार के मतानुसार उपरोक्त विवेचन से सिद्ध है कि प्रत्यक्ष–प्रमा का उपपादन उपरोक्त किसी भी लक्षण से नहीं हो सकता। इसलिए परिभाषाकार के 'प्रत्यक्ष प्रमा' शब्द से अद्वैत मत का विवक्षित अर्थ है कि 'चैतन्य ही प्रत्यक्ष प्रमा है'।[27] अद्वैत मत में ज्ञान, चैतन्य, ब्रह्म, आत्मा, चिति, संविद्, भान इत्यादि शब्द पर्याय हैं। प्रमा का अर्थ है– यथार्थ ज्ञान। अतः प्रत्यक्ष प्रमा का पर्याय 'चैतन्य' उचित है। इस सन्दर्भ में बृहदारण्यक उपनिषद् की 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म'[28] यह श्रुति प्रमाण है। इस श्रुति के अनुसार 'ब्रह्म' इस विशेष्य के 'साक्षात् और अपरोक्ष' ये दो विशेषण हैं। इन्द्रियादि प्रमाणों से ब्रह्म का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, इसी का निर्देश श्रुति में 'साक्षात' पद से किया है। किसी को यह भ्रम न हो कि अपरोक्ष प्रमाण से ब्रह्म का साक्षात्कार हो सकता है, इसी का निर्देश श्रुति में 'अपरोक्ष' पद से किया है।

परिभाषाकार के अनुसार 'ननु चैतन्यमनादि तत्कथं चक्षुरादेस्तत्करणतवेन प्रमाणमिति? उच्यते। चैतन्यस्यानादित्वेऽपि तदभिवंजकान्तःकरणवृत्तिरिन्द्रियसन्निकर्षादिना जायते, इति वृत्तिविशिष्टं चैतन्यमादिमदित्युच्यते। ज्ञानावच्छेदकत्वाच्च वृत्तौ ज्ञानत्वोपचारः। तदुक्तं विवरणे– 'अन्तःकरणवृत्तौ ज्ञानत्वोपचारात्' इति'।[29] अर्थात्– अनादि चैतन्य में करण बनकर चक्षुरादि इन्द्रियों की प्रमाणता बताई जाती है, चैतन्य अनादि होने पर भी उसे अभिव्यक्त करने वाली अन्तःकरणवृत्ति, इन्द्रियन्निर्षादि निमित्त से ही पैदा होती है। इसी वृत्तिविशिष्ट चैतन्य (चिदाभास) उत्पन्न होने वाला है, ऐसा कहा जाता है। वृत्ति को ज्ञान शब्द से क्यों कहा जाता है ? उत्तर अन्तःकरण वृत्ति को ज्ञानावच्छेदकत्व है। वृत्ति, ज्ञान को भिन्न करती है। इसलिए उसमें ज्ञानत्व का उपचार होता है। उस वृत्ति को ही गौणीवृत्ति से 'ज्ञान' कहते हैं। विवरणकार ने भी इस सम्बन्ध में 'अन्तःकरण की वृत्ति ज्ञानत्व का उपचार होने से' ऐसा कहा है। इसलिए अन्तःकरण–वृत्ति को ही ज्ञान कहते हैं। उसमें ज्ञानत्व का उपचार अर्थात् गौण प्रयोग किया जाता है, अतः यह कथन अनुचित नहीं है।

---

[26] 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' (न्यायबोधिनी)

[27] वेदालंकार, जयदेव, 2010. भारतीय दर्शन (तत्त्व एवं ज्ञानमीमांसा के मौलिक सम्प्रत्यय),न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, दिल्ली, पृ॰ 108.

[28] 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (बृहदारण्यक उपनिषद्– 3.4.1)

[29] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 12.

अनादि का अर्थ है कारण रहित; अतएव उत्पन्न न होने वाला, अकार्य और जो वस्तु नित्य है उसके कारण की संभावना ही नहीं हो सकती। क्योंकि 'कारण' का अर्थ है– विशिष्ट कारण। कार्य को सदैव कारण की अपेक्षा रहती है। नित्यपदार्थ को कारण की अपेक्षा नहीं होती। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष प्रमा रूप चैतन्य में इन्द्रियाँ प्रमाण कैसे हो सकती हैं?

परिभाषाकार के मतानुसार साक्षात् ब्रह्मात्मभूत चैतन्य, अनादि है, इसमें कहीं भी सन्देह नहीं। फिर भी अन्तःकरण–वृत्ति नित्य–चैतन्य को अभिव्यक्त करती है और जब अन्तःकरणवृत्ति में नित्य–चैतन्य का पड़ता है तो उसे 'चिदाभास' कहते हैं।[30] अन्तःकरण की वृत्ति, इन्द्रिय सन्निकर्षादि के कारण प्रतिक्षण उत्पन्न होती रहती है। अन्तःकरण वृत्ति स्वभावतः जन्य है।[31] क्योंकि वह भी वृत्ति के साथ उत्पन्न होता है। इसलिए इन्द्रियों में उस जन्य चैतन्य के प्रति करणत्व प्रतीत होता है। जिसके कारण उन्हें प्रमाण कहा जा सकता है। परिभाषाकार ने इसका समाधान भी किया है। परिभाषाकार के अनुसार इन्द्रियों का अविशिष्ट चैतन्य के प्रति करण नहीं हो सकता, यह अद्वैत मत को स्वीकार है। क्योंकि अविशिष्ट शुद्ध चैतन्य में स्वप्रकाशत्व होता है। इसलिए चैतन्यात्मा को प्रमाणरूपी व्यापार की अपेक्षा नहीं होती या स्वप्रकाश चैतन्यात्मा की सिद्धि में प्रमाण व्यापार की आवश्यकता नहीं होती, जबकि अप्रकाश–पदार्थ को साभास अन्तःकरणवृत्तिरूप प्रमाण की अपेक्षा होती है।[32]

यह प्रश्न हो सकता है कि तब वृत्ति को ही प्रत्यक्ष–प्रमा क्यों न कहा जाय? क्योंकि व्यवहार में वृत्ति को ही ज्ञान का पर्याय कहा जाता है और वृत्ति, स्वरूपतः इन्द्रियों से उत्पन्न होती है। तब वृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमा न स्वीकार कर, चैतन्य ही प्रत्यक्ष–प्रमा है, अद्वैत मत में यह क्यों स्वीकार करते है? परिभाषाकार के मतानुसार 'सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म'[33] इत्यादि श्रुति से चैतन्य में ही मुख्यज्ञानत्व सिद्ध होता है। वृत्ति, जड़ अन्तःकरण का धर्म होने से जड़ है, इसलिए वृत्ति में प्रत्यक्ष–प्रमात्व सम्भव नहीं है। परन्तु वृत्ति में चैतन्य ज्ञान का अवच्छेदकत्व होने से ज्ञानत्व का उपचार किया जाता है।[34]

अद्वैत मतानुयायी चैतन्य में ही प्रत्यक्ष–प्रमात्व स्वीकार करते हैं। परन्तु चैतन्य में नित्यत्व होने से वह अजन्य हैं और अजन्य वस्तु को करण की अपेक्षा नहीं होती। जन्य वस्तु को ही करण की अपेक्षा होती है। क्योंकि करण का अर्थ है– कारण विशेष। 'कारण', भी

---

[30] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 25.
[31] वेदालंकार, जयदेव, 2010. भारतीय दर्शन (तत्त्व एवं ज्ञानमीमांसा के मौलिक सम्प्रत्यय), न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, दिल्ली, पृ॰ 109.
[32] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 26.
[33] 'सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म' (तैत्तरीय उपनिषद्– 2.1.1)
[34] वेदालंकार, जयदेव, 2010. भारतीय दर्शन (तत्त्व एवं ज्ञानमीमांसा के मौलिक सम्प्रत्यय), न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, दिल्ली, पृ॰ 109.

कारक ही है और क्रिया को उत्पन्न कंरने वाले पदार्थ को कारक कहते हैं। इसलिए कारण स्वीकार किए जाने पर यदि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा चैतन्य में कोई विशेषता न उत्पन्न की गयी हो, तो उसे परिभाषातः कारण कहना निरर्थक है।' इस आक्षेप पर परिभाषाकार का मत है कि 'प्रत्यक्ष–प्रमाण के द्वारा अविशिष्ट चैतन्य में कोई विशेषता उत्पन्न न किये जाने पर भी अन्तःकरण–वृत्ति–विशिष्ट चैतन्य में उसके द्वारा अतिशयाधान किया जा सकता है।[35]

परिभाषाकार के इस समाधान पर वादी यह आक्षेप करते है कि अद्वैत–सम्प्रदाय के प्राचीन विद्वानों ने यह कहीं नहीं स्वीकार किया है, अतः यह अप–सिद्धान्त हैं। इसलिए 'तदुक्तम्' इत्यादि वाक्य द्वारा परिभाषाकार ने कहा है कि 'प्रकाशात्मसंज्ञक' आचार्य ने भी अपने विवरण ग्रन्थ में 'अन्तःकरण वृत्ति में ज्ञानत्व का उपचार किया है'। अतः यह अप–सिद्धान्त नहीं है।

3.2.1 अन्तःकरण वृत्ति का स्वरूप–

परिभाषाकार के अनुसार 'ननु निरवयवस्यान्तःकरणस्य परिणामात्मिका वृत्तिः कथम्? इत्थम्। न तावदन्तःकरणं निरवयवं, सादिद्रव्यन्वेन सावयवत्वात्। सादित्वं च 'तन्मनोऽसृजत' इति श्रुतेः। वृत्तिरूपज्ञानस्य मनोधर्मन्वे च 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिरधृतिर्हीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' इतिश्रुतिर्मानम्! धीशब्देन वृत्तिरूप ज्ञानाभिधानात्। अत एव कामादेरपि मनोधर्मत्वम्'।[36] अर्थात्– सावयव पदार्थ का परिणाम होता है। निरवय का नहीं। अतः अन्तःकरण तो निरवयव पदार्थ होने से उसकी परिणात्मक वृत्ति कैसे संभव हो सकती है? इस प्रश्न पर बताते हैं कि वह ऐसे संभव हो सकती है, पहले तो अन्तःकरण निरवयव पदार्थ नहीं है। क्योंकि उसमें सादिद्रव्यत्व होने से सावयत्व है। जो उत्पन्न होने वाला द्रव्य होता है वह सावयव होता है, उसका सादित्व 'तनमनः असृत' उस ब्रह्म में अन्तःकरण को उत्पन्न किया। इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है। और 'अन्तःकरण वृत्ति रूप ज्ञान' अन्तःकरण का धर्म है। इस विषय में 'काम, संकल्प, विचिकित्सा (संशय), श्रद्धा, अश्रद्धा धृति अधृति, लज्जा, धी, इत्यादि सब अन्तःकरण के ही रूप है।' यह श्रुति प्रमाण है। बृहदारण्यक उपनिषद् के श्रुति वचन के 'धी' शब्द से वृत्तिरूप ज्ञान कहा गया है। 'कामादि समस्त म नही है', यह कहने से कामादि भी मनोधर्म ही हैं।

अन्तकरण के विषय में नैयायिकों का अनुमान इस प्रकार है–

---

[35] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 26.
[36] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 13.

प्रतिज्ञा– अन्तःकरण द्रव्य, परिणामी नहीं है।

हेतु– क्योंकि वह निरवयव है।

दृष्टान्त– आकाश के समान।

उपर्युक्त अनुमान करने से अन्तःकरण की परिणामरूप वृत्ति नहीं हो सकती। दूध से दही की तरह किवां मिट्टी से घट की तरह यह वृत्ति, परिणाम न होकर सूर्य प्रकाश के समान विकासरूप है। यह स्वीकार करने पर भी निरवयव वस्तु का आकाश के समान ही विकास रूप परिणाम भी नहीं हो सकता। इसलिए अन्तःकरण–वृत्ति–विशिष्ट चैतन्य को ज्ञान रूप नहीं स्वीकार किया जा सकता। इस कारण ज्ञान, आत्मा से भिन्न ही है और वह इन्द्रियजन्य होने से प्रत्यक्ष है। इसी आशय से नैयायिकों ने उपर्युक्त आक्षेप किया है। नैयायिक 'ज्ञान' को आत्मा का गुण मानते हैं।[37] जबकि अद्वैत मत में वृत्ति विशिष्ट–चैतन्य को जन्य–ज्ञान कहते हैं। यह जन्य–ज्ञान, आत्मा का गुण नहीं है। क्योंकि आत्मा, निर्गुण है। 'ज्ञप्ति–रूप अविशिष्ट ज्ञान,' आत्मा का स्वरूप है। नैयायिकों के मत में अन्तःकरण निरवयव, अणुपरिमाण और नित्य है।[38] जबकि अद्वैत मत में अन्तःकरण सावयव, विरल, सादिद्रव्य है।[39] इसलिए परिभाषाकार स्वमत के आधार पर नैयायिकों के उपर्युक्त आक्षेप का समाधान का अनुमान इस प्रकार हैं।

प्रतिज्ञा– अन्तःकरण निरवयव नहीं है।

हेतु– क्योंकि वह सादि–द्रव्य है।

दृष्टान्त– घट के समान।

परिभाषाकार के इस अनुमान से नैयायिकों के पूर्वोक्त अनुमान में 'निरवयवत्वात्' अर्थात् अन्तःकरण निरवयव है, यह हेतु 'असिद्ध' हो जाता है। इस प्रकार अद्वैत मत में अन्तःकरण के सादित्व से उसके सावयवत्व की सिद्धि होती है और सावयत्व से उसके परिणामित्व की सिद्धि होती है।[40] इस विषय में अनुमान के अवयव इस प्रकार है–

प्रतिज्ञा– अन्तःकरण परिणामी है।

हेतु– कारण वह अन्त्यावयवी (अन्तिम कार्य) न होकर सावयव है।

---

[37] भार्गाव, दयानन्द (व्या॰), 2012. तर्क–सग्रहः, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 47.

[38] सिन्हा, हरेन्द्र प्रसाद, 2016. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 208.

[39] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 27.

[40] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 28.

दृष्टान्त– मृत्तिका के समान।

इस प्रकार उपर्युक्त अनुमान से स्पष्ट है कि अन्तःकरण सादिद्रव्य होने से सावयव है और वह घट की तरह अन्त्यावयविद्रव्य नहीं है। इसलिए अन्तःकरण की परिणामात्मक वत्ति हो सकती हैं। अतः अन्तःकरण वृत्तिविशिष्ट आत्मचैतन्य ही ज्ञान है। उससे भिन्न दूसरा कोई भी ज्ञान नहीं।

परिभाषाकर के मतानुसार यहाँ पर अन्तःकरण का सावयवत्व, अनुमान से सिंद्ध करना है, इसलिए यह साध्य है। उसकी सिद्धि में 'सादिद्रव्यत्व के कारण' यह हेतु दिया है। इसमें 'सादि' विशेषण ओर 'द्रव्यत्व' विशेष्य है। इनके प्रयोजन को स्पष्ट करना ही 'पदकृत्य' कहा जाता हैं। 'द्रव्यत्व के कारण' यदि परिभाषाकार ने इतना ही स्वीकार किया होता तो नैयायिकों के मतानुसार हेतु में व्यभिचार सिद्ध होता क्योंकि 'आत्मा, आकाश, काल इत्यादि द्रव्य तो हैं किन्तु वे सावयव नही है।' इस व्यभिचार के निराकरण के लिए ही परिभाषाकार ने हेतु में 'सादि' विशेषण का प्रयोग किया है। यह आक्षेप हो सकता है कि आकाशादि नित्य द्रव्यों में सादित्व न होने से अन्तःकरण का सावयवत्व सिद्ध करने के लिए 'सादित्वात्' हेतु ही पर्याप्त है। पुनः 'द्रव्यत्वात्' विशेष्यांश क्यों दिया गया? परिभाषाकार के अनुसार सादि शब्द निरवयव गुणों का निराकरण करने के लिए विशेष्यांश में जोड़ा गया है। जैसे– रूपादि गुण सादि हैं पर सावयव नहीं हैं।[41]

वादी इस पर आक्षेप करते हैं कि अन्तःकरण सादि द्रव्य है। इस विषय में कोई प्रमाण न होने से 'सादिद्रव्यत्वात्' हेतु में 'सादि' विशेषण 'असिद्ध' है। यह हेतु विशेषणासिद्ध है। परिभाषाकार के मतानुसार अन्तःकरण के सादित्व में श्रुति प्रमाण है और 'ब्रह्म ने अन्तःकरण को उत्पन्न किया है'। अन्तःकरण के परिणामित्व में पूर्वोक्त अनुमान ही केवल प्रमाण न होकर श्रुति भी प्रमाण है। इस आशय से परिभाषाकार ने बृहदारण्यक उपनिषद के 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिरधृति ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्व मन एव'[42] इत्यादि श्रुति का निर्देश किया है।

उपर्युक्त समाधान में यह प्रश्न हो सकता है कि उद्धृत श्रुति में 'ज्ञान' शब्द तो नहीं है तब उसके अन्तःकरण–धर्मत्व में श्रुति कैसे प्रमाण हो सकती है? परिभाषाकार के अनुसार इस श्रृति में 'धी' शब्द का अर्थ वृत्तिरूप ज्ञान ही विवक्षित है और 'धी' शब्द का अर्थ वृत्तिरूप

[41] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 28.
[42] कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिरधृति ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्व मन एव' (बृहदारण्यक उपनिषद्– 1.5.3)

ज्ञान होने से उसमें मनोधर्मत्व है।[43] परिभाषाकार के उपर्युक्त समाधान पर आक्षेप का अनुमान इस प्रकार है–

प्रतिज्ञा– श्रुतिगत 'धी' शब्दवाच्य ज्ञान, अन्तःकरण उसका उपादान कारण नहीं है।

हेतु– क्योंकि उसमें मानस–प्रत्यक्षत्व है।

दृष्टान्त– कामादि अन्य पदार्थों के समान।

परन्तु यह भी नहीं स्वीकार कर सकते कि 'धी को अन्तःकरणोपादानक न स्वीकार करने पर 'सर्वे मन एव' श्रुति से विरोध होगा। क्योंकि उस 'धी' शब्दवाच्य ज्ञान का मनोजन्यत्व है। इस अर्थ में उस श्रुति की व्यवस्था की जा सकती है।

परिभाषाकार ने इसका भी निराकरण किया है। परिभाषाकार के अनुसार 'सर्व मन एव' कामादि समस्त, अन्तःकरण ही है, इस श्रुति में 'कामादि समस्त' और 'अन्तःकरण' का सामानाधिकरण्य है। इस कारण 'मृद्घटः' मृत्तिका ही घट है इस वाक्य के 'मृत्तिका और घट' इन दो शब्दों के सामानाधिकरण्य से (एक विभक्ति में होने के कारण) मृत्तिका उपादान है और घट उपादेय है, यह जिस प्रकार सिद्ध होता है, उसी प्रकार 'सर्व मन एव' इस वाक्य में भी 'धी' शब्दवाच्य ज्ञान में भी अन्तःकरणोपादानकत्व है, यह निश्चित किया जाता है। 'यह स्वीकार करने में 'सर्वम्' और 'मनः' शब्दों का सामानाधिकरण्य बाधक है कि अन्तःकरण उस ज्ञान का उपादान नहीं है, वह मनोजन्य है। इसके अतिरिक्त वादी ने उपर्युक्त अनुमान में 'कामादि अन्य पदार्थों के समान" दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। परन्तु यह दृष्टान्त साध्यविकल है। 'ज्ञान का अन्तःकरणोपादानकत्व न रहना' साध्य है। उसमें कामादि को तो अन्तःकरणोपादानकत्व ही है, तदनुपादानकत्व नहीं है। इसलिए 'कामादिक' साध्य से विकल हैं। इस आशय से परिभाषाकार का मत है कि 'अत एव' उस कारण ही अर्थात् 'सर्व मन एव' ऐसी समानाधिकरणय श्रुति होने से ही श्रुत्युक्त कामादि समस्त वृत्तियों में मनोधर्मत्व है। अतः से सब वृत्तियाँ अन्तःकरणोपादानक हैं।[44]

परिभाषाकार के अनुसार 'ननु कामादेरन्तःकरणधर्मत्वे, 'अहमिच्छामि' 'अहं जानामि' 'अहं बिभेमि' इत्याद्यनुभव आत्मधर्मत्वमवागाहमानः कथमुपपद्यते? उच्यते। अयःपिण्डस्य दग्धृत्वाभावेऽपि दग्धृत्वाश्रयवह्नितादात्म्याध्यासात् यथा 'अयो दहति' इति व्यवहारः तथा

[43] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 29.
[44] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 29.

'सुखाद्याकारपरिणाम्यन्तःकरणैक्याध्यासात्' 'अहं सुखी' 'अहं दुःखी' इत्यादिव्यवहारः'।[45] अर्थात्– 'काम, संकल्प, संशय आदि अन्तःकरण के धर्म हैं – कहने पर 'मैं इच्छा करता हूँ, मैं जानता हूँ, मैं डरता हूँ, इत्यादि आत्मधर्मत्व को विषय करने वाला (इच्छा, ज्ञान, भय, ये सब अहं शब्द–वाच्य आत्मा के धर्म हैं इस प्रतीति का विषय होने वाला) अनुभव कैसे उपपन्न होता है ? कामादिकों को किस प्रकार मनोधर्मत्व है उसे बताते हैं लोहे के गोले में दग्धृत्व न होने पर भी दग्धृत्व धर्म से युक्त हुए अग्नि के तादात्म्य का अभ्यास होने से 'यह गोला जल रहा है' ऐसा व्यवहार जिस तरह होता है, उसी तरह सुखादि आकारों में परिणत हुए अन्तःकरण से आत्मा के ऐक्य का अध्यास होने पर 'मैं सुखी, मैं दुःखी' इत्यादि व्यवहार होता है।

'मैं इच्छा करता हूँ, मैं जानता हूँ, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होने से यह सिद्ध होता है कि काम, संकल्प, ज्ञान इत्यादि सब आत्मा के घर्म हैं[46], अन्तःकरण के नहीं। क्योंकि 'अहम्' मैं अर्थात् आत्मा। कारण यह है कि अहंकार को विषय किये बिना आत्मा का अनुभव कभी नहीं होता। जैसे– सोकर जागने पर 'मै सुखपूर्वक सोया' यह स्मरण होने से, यह स्वीकार करना पड़ता है कि सुषुप्ति में भी अहंकार का ज्ञान होता है। जबकि कामादि को अन्तःकरण का धर्म स्वीकार करने पर मैं इच्छा करता हूँ इस प्रत्यक्ष अनुभव से विरोध होता है। प्रत्यक्ष अनुभव, श्रुति से भी प्रबल है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण सब प्रमाणों से पूर्व उपस्थित होने वाला, सब ज्ञान और ज्ञानकरणों का कारण भी है। इसलिए 'मैं इच्छा करता हूँ', 'मैं जानता हूँ इस प्रत्यक्ष अनुभव से विरोध न हो, इस कारण कामादि को आत्मधर्म ही स्वीकार करना चाहिए, उन्हें अन्तःकरणधर्मं स्वीकार करना उचित नहीं। अतः अन्तःकरण, कामादिकों में निमित्त है, उपादान नहीं। परिभाषाकार ने पूर्वोक्त आक्षेप की स्थापना कर अग्रिम समाधान भी किया है।

परिभाषाकार के अनुसार यदि कामादि, अन्तःकरण के ही धर्म हैं तो 'मैं इच्छा करता हूँ' इत्यादि शब्द–व्यवहार कैसे होता है? 'सुखादि विषयों के आकार में परिणत हुए अन्तःकरण के साथ आत्मा का तादात्म्य हो जाने से वैसा व्यवहार होता है अर्थात् सब प्रमाणों में प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रथमता होने से ही वह श्रुति से प्रबल नहीं हो सकता'।[47] क्योंकि 'यह रजत है' ऐसा भ्रमज्ञान यद्यपि प्रथमतः होता है, फिर भी 'यह रजत नहीं, शुक्तिका है' आगे होने वाले इस सम्यक् ज्ञान से प्रथमतः होने वाला प्रत्यक्षज्ञान बाधित होता है। उसी तरह प्रत्यक्ष, अन्य प्रमाणों का उपजीव्य होने से प्रबल है, यह सत्य है फिर भी वह प्रत्यक्ष, जिस व्यावहारिक

[45] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी– 221001, पृ॰ 15.
[46] शर्मा, चन्द्रधर, 2013. भारतीय दर्शन (आलोचन एवं अनुशीलन), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 166.
[47] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 30–31.

प्रामाण्य से श्रुति का उपजीव्य होता है तो श्रुति उसके व्यावहारिक प्रामाण्य को बाधित नहीं करती। श्रृत्ति तो केवल उसके तात्त्विक प्रामाण्य को ही बाधित करती है। कामादि वृत्तियों का अन्तःकरणधर्मत्व–बोधन कराना ही प्रकृत श्रुति का तात्पर्य है। इसलिए यह स्वीकार करना चाहिए कि 'मैं इच्छा करता हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभव का बाध करके ही कामादिक मनोधर्म हैं।

व्यवहारतः प्रत्यक्ष प्रमाण, श्रुति की अपेक्षा प्रबल है, परन्तु परीक्षित प्रत्यक्ष का प्राबल्य है। मैं इच्छा करता हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष–अनुभव के प्रमाणों से निरूपण कर कामादि का आत्मधर्मत्व सिद्ध नहीं होआ है। क्योंकि नैयायिक जैसा स्वीकार कर रहे हैं उस प्रकार 'आत्मा' अहं पदवाच्य नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति में 'अहम्' इत्याकारक अनुभव नहीं होता है। किन्तु 'मैं सुखपूर्वक सोया था' यह चैतन्य–अंश की स्मृति है, और अन्तःकरणांश में अनुभव है। इस कारण अन्तःकरण और चैतन्य का परस्पर विवेक न होने से 'मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं चाहता हूँ' इत्यादि अनुभव, स्वरूप–चैतन्य के अज्ञान से अन्तःकरण में होने वाला 'तादात्म्य–भ्रम' है।[48] जैसे– लोहा पार्थिव पदार्थ होने से उसका स्पर्श अनुष्णाशीत है, परन्तु यदि उसे अग्नि में तप्त करने पर स्पर्श किया जाय तो वह हाथ जलाता है, जबकि 'हाथ जलाना रूप दग्धृत्व' वस्तुतः लोहे का धर्म न होकर, अग्नि का धर्म है। फिर भी 'इस लोहे से मेरा हाथ जल गया' यह वाक्य व्यवहार में प्रयुक्त होता है। क्योंकि अनुष्णाशीत लोहे का गोला और दाहक अग्नि का तादात्म्य होने से लोहे से ही हाथ जला' यह भ्रम होता है। इसी तरह 'मैं इच्छा करता हूँ इत्यादि शब्द–व्यवहार कामसुखादि विषयाकार से परिणत होने वाले अन्तःकरण का चैतन्यरूप आत्मा से तादात्म्य हो जाने से होता है, परन्तु अद्वैत मतानुसार यह तदात्म्य भ्रम है। इस कारण "मैं इच्छा करता हूं' इस अपरीक्षित प्रत्यक्ष–प्रमाण से पूर्वोक्त श्रुति का बाध नहीं होता। इसलिए 'कामादि सब अन्तःकरण के व्यापार है' बृहदारण्यक उपनिषद् की यह श्रुति कामादि के मनोधर्म होने में प्रमाण है।[49] परन्तु यह आक्षेप हो सकता है कि लोहा और अग्नि की तरह आत्मा और अन्तःकरण के तादात्म्याध्यास का सम्भव ही नहीं होता है।

3.2.2 मन के अनिन्द्रियत्व का निरूपण–

परिभाषाकार के अनुसार 'नन्वन्तःकरणस्येन्द्रियतयाऽतीन्द्रियत्वात् कथं प्रत्यक्षविषयतेति? उच्यते। न तावदन्तःकरणमिन्द्रियमित्यत्र मानमस्ति। 'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि' इति

[48] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 31.
[49] कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिरधृति र्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्व मन एव' (बृहदारण्यक उपनिषद्– 1.5.3)

भगवदगीतावचनं मानमिति चेत्, न,। अनिन्द्रियेणाऽपि मनसा षट्त्वसंख्यापूरणाविरोधात्। नहीदिन्द्रयगत संख्यापूरणमिन्द्रियेणैवेति नियमः। 'यजमानपंचमा इडां भक्षयन्ती' त्यत्र ऋत्विग्गतपंचसख्याया अनृतिवजा अपि यजमानेन पूरणदर्शनात् वेदानध्यापयामास महाभारतपंचमान्'– इत्यत्र वेदगतपंचत्वसंख्यायाः अवेदेनापि महाभारतेन पूरणदर्शनात्। 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः' इतित्यादिश्रुत्या मनसोऽनिन्द्रियित्वावगमाच्च। न चैवं मनसोऽनिन्द्रियत्वे सुखादिप्रत्यक्षस्य साक्षात्त्वं न स्यादिन्द्रियाजन्यत्वादिनि वाच्यम्। न हीन्द्रियजन्यत्वेन ज्ञानस्य साक्षात्त्वम्, अनुमित्यादेरपि मनोजन्यतया साक्षात्त्वापत्तेः। ईश्वरज्ञानस्या–निन्द्रियजनस्य साक्षात्त्वाऽनापत्तेश्च'।[50] अर्थात्– अन्तःकरण इन्द्रिय होने से वह अतिन्द्रिय है, कोई भी इन्द्रिय, प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देती तब उसे 'अहम्' इस प्रकार इन्द्रिय विषयत्व कैसे?। उपर्युक्त शंका का समाधान कहते हैं– 'अन्तःकरण इन्द्रिय है' तुम्हारे इस कथन में पहले तो कोई प्रमाण नहीं है। 'जीव, मृत्यु के समय मन जिनमें छठवाँ है ऐसी इन्द्रियों का आकर्षण करता है'– गीता के पन्द्रहवें अध्याय का भगवान् का यह वच नही मन के इन्द्रियत्व में प्रमाण है, यह कहो तो ठीक नहीं हैं। क्योंकि इन्द्रिय न होकर भी मन से इन्द्रियों की छठी संख्या की पूर्ति करने में कोई विरोध नहीं है। क्योंकि इन्द्रियों की संख्या पूर्ति इन्द्रिय से ही करने का कोई नियम नहीं है। इसी कारण 'यजमान जिनमें पाँचवाँ है ऐसे ऋत्विज, इडा का भक्षण करते हैं।' इस श्रौत वचन में ऋत्विजों की पाँचवीं संख्या ऋत्विजों से भिन्न यजमान के द्वारा भी पूर्ण हुई दिखाई देती है। इसी तरह 'महाभारत जिसमें पाँचवाँ है ऐसे वेदों को पढ़ाया' इस स्मृतिवाक्य में भी वेदों की पाँचवीं संख्या वेद से भिन्न महाभारत के द्वारा पूर्ण की हुई दिखाई देती है। इसी तरह 'इन्द्रियों से वासनात्मक अर्थ परे है, उस वासनात्मक अर्थ से मन परे' है। इत्यादि श्रुति से भी मन का इन्द्रिय न होना ज्ञात होता है। मन की इन्द्रियता को न स्वीकार करने पर सुखादिकों के प्रत्यक्ष अनुभव की प्रत्यक्षता नहीं बन सकेगी, क्योंकि वह इन्द्रियों से जन्य नहीं है। परन्तु यह कहना उचित नहीं है, कारण ज्ञान को इन्द्रिय–जन्यत्व होने से उसका साक्षात्व है, यह नहीं कहा जा सकता। इन्द्रियजन्य होने से ज्ञान का साक्षात्व यदि स्वीकार किया जाय तो अनुमिति ज्ञान, उपमितिज्ञान इत्यादि अन्य ज्ञान भी मन से ही उत्पन्न होने से उन्हें भी साक्षात्व (प्रत्यक्षज्ञान) कहना होगा। और ईश्वर का ज्ञान इन्द्रियजन्य न होने से उसे साक्षात्व नहीं है यह कहना होगा। ईश्वर का ज्ञान इन्द्रियों से पैदा न होने से उसे साक्षात्व की अनापत्ति होगी।

[50] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 16.

यह भ्रामक व्यवहार हो सकता है कि अग्नि और लोहे का गोला दोनों के प्रत्यक्ष होने से उनका परस्पर तादात्म्याध्यास होकर लोहा 'जलाता है'। परन्तु आत्मा और अन्तः करण में से आत्मा, प्रत्यक्षविषय और अन्तःकरण, अतीन्द्रिय है। तब प्रत्यक्ष विषय आत्मा और अतीन्द्रिय अन्तःकरण का तादात्म्याध्यास कैसे हो सकेगा? और जब तादात्म्याध्यास का ही संभव नहीं तब 'मैं इच्छा करता हूँ' यह व्यवहार भ्रामक कैसे हो सकता है? 'अहं' शब्द का अर्थ 'अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य' होना संभव नहीं । क्योंकि अन्तःकरण 'इन्द्रिय है, और इन्द्रिय, अतीन्द्रिय होती है। इसलिए वह अन्तःकरण, प्रत्यक्ष प्रमा का विषय नहीं बन सकता। इस सन्दर्भ में अनुमान के अवयव इस प्रकार है–

प्रतिज्ञा– अन्तःकरण अतीन्द्रिय है।

हेतु– क्योंकि वह इन्द्रिय है।

दृष्टान्त– चक्षुश्रोत्रादि इन्द्रियों के समान।

परिभाषाकार के मतानुसार 'अन्तःकरण, इन्द्रिय होने से वह प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं है'। उपर्युक्त आक्षेप का समाधान इस प्रकार है, अन्तःकरण के अन्तरिन्द्रिय होने में कोई प्रमाण नहीं है। जब अन्तःकरण इन्द्रिय ही नहीं तब उसका अतीन्द्रियत्व कैसे सिद्ध हो सकता है। अतः यह मत अनुचित है कि अन्तःकरण प्रत्यक्ष–विषय नहीं होता। परिभाषाकार ने इसी बात को 'न तावद्' इत्यादि वाक्य से सन्दर्भित किया है। नैयायिकों पुनः आक्षेप करते है कि 'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि.'[51] मन जिनमें छठा है ऐसी इन्द्रियों का जीव आकर्षण करता है। इत्यादि भगवद्गीता के वाक्य मन के इन्द्रिय होने में प्रमाण है।

परिभाषाकार के मतानुसार इन्द्रियों की षष्ठ–संख्यापूर्ति अनिन्द्रिय 'मन' से भी की जा सकती है, अतः नैयायिको के द्वारा प्रदर्शित भगवद्गीता के वाक्य से कोई विरोध नहीं है क्योंकि भगवद्गीता के वाक्य का तात्पर्य 'मन के इन्द्रियत्व' को सिद्ध करने में ही नहीं है।[52] मन को इन्द्रिय सिद्ध करने वाली कोई श्रुति भी नहीं है। 'मेरा मन' इस अनुभव से भी मन का अनिन्द्रियत्व सिद्ध होता है। इस पर भी मन का इन्द्रियत्व सिद्ध करने के लिए यदि नैयायिक इस प्रकार का अनुमान उपस्थित करते हैं।

प्रतिज्ञा– मन इन्द्रिय है।

---

[51] ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थान कर्षति।। (भगवद्गीता– 15.7)

[52] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 33.

हेतु– इन्द्रियो की संख्या का पूरक होने से, तो इसमें हेतु प्रयोजक है।

क्योंकि अनिन्द्रिय मन से भी इन्द्रियों की संख्यापूर्ति की जा सकती है।

उपर्युक्त अनुमान के अतिरिक्त 'जो इन्द्रियगत संख्यापूरक हो इन्द्रिय है' यह विशेष व्याप्ति, अनुमान का मूल हैं, अथवा 'जो जिसका संख्यापूरक हो वह उसकी जाति का होता है, यह सामान्य व्याप्ति, अनुमान का मूल है, ऐसा विकल्प करते हैं, जबकि यहाँ पर दोनों पक्ष सम्भव नहीं हैं, इसी आशय से परिभाषाकार का मत है कि इन्द्रियगत संख्या की पूर्ति इन्द्रिय से ही की जाय' यह नियम न होने से विशेष व्याप्ति का होना, यहाँ सम्भव नहीं है क्योंकि यह दृष्टान्त कहीं से भी प्राप्त नहीं होता।

इसी तरह पूर्वोक्त सामान्य व्याप्ति भी उपर्युक्त अनुमान में मूल नहीं है क्योंकि 'यजमान जिसमें पाँचवाँ है ऐसे ऋत्विज इडा भक्षण करते हैं, इस उदाहरण में 'ऋत्विजों की पञ्च–संख्या का पूरक यजमान है, परन्तु वह ऋत्विक् नहीं है। इस कारण 'जो जिनकी संख्या का पूरक होता है वह उनकी जाति का होता है' यह सामान्य व्याप्ति भी यहाँ घटित नहीं होती । इस प्रकार श्रौत उदाहरणों में व्याप्ति का भंग सिद्धकर परिभाषाकार स्मार्त उदाहरण में भी उसका भंग दिखाता है– 'महाभारत जिसमें पाँचवाँ है' ऐसे वेद को अध्यापक ने पढ़ाया' उदाहरण में वेदगत पंचत्व संख्या जिस महाभारत के योग से पूर्ण होती है वह इतिहास नाम से प्रसिद्ध महाभारत पौरुषेय (व्यास रचित) होने से अपौरुषेय वेद की कोटि में नहीं है। जिस प्रकार 'मैं नक्षत्रों में चन्द्र हूँ' यह वचन चन्द्र के नक्षत्र होने में प्रमाण नहीं, उसी प्रकार 'इन्द्रियों में मन मै हूँ' यह वचन भी मन के इन्द्रिय होने में प्रमाण नहीं है ।[53]

नैयायिकों द्वारा यह आक्षेप हो सकता है कि मन के इन्द्रिय होने में बाधक प्रमाण तो कोई है नहीं। इसके प्रत्युत्तर में परिभाषाकार का मत है कि 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यार्था अर्थेभ्यश्व परं मनः'[54] यह श्रुति 'इन्द्रियों से पर विषय (सूक्ष्म), व्यापक और नित्य विषयों से मन पर है' सिद्धकर मन के अनिन्द्रयत्व का बोध कराती है। अतः नैयायिको का मत अनुचित है कि मन के इन्द्रिय होने में बाधक प्रमाण नहीं है। मन के इन्द्रियत्व में बाधक प्रत्यक्ष श्रुति ही प्रमाण है। पुनश्च यह आक्षेप हो सकता है कि 'इन्द्रियेभ्यः पराः' इस श्रुति का अर्थ इस प्रकार भी संभव हो सकता है कि मन इन्द्रिय को छोड़कर अन्य सब इन्द्रियों से अर्थ पर है, और

[53] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 34.
[54] 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यार्था अर्थेभ्यश्व परं मनः'(कठोपनिषद्– 1.3.10)

मन–इन्द्रिय उन अर्थों से भी पर है । अतः 'मन विषयों से पर है'। यह स्वीकार कर लेने मात्र से यह सिद्ध नहीं होता कि मन इन्द्रिय नहीं है।

परिभाषाकार के मतानुसार उपर्युक्त 'इत्यादिश्रुत्या' इस वाक्य के आदि शब्द से 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियणि च'[55] इस पुरुष से प्राण, मन, सब इन्द्रियाँ, आकाश इत्यादि उत्पन्न होते हैं। इस श्रुति का ग्रहण किया गया है। इसलिए आदि शब्द से गृहीत इस श्रुति से एक वाक्यता को प्राप्त होकर 'इन्द्रियों से पर रहने वाले विषयों से मन पर है' यह श्रुति मन के अनिन्द्रियत्व का बोध कराती है। इसलिए अद्वैत–वेदान्त में अन्तःकरण में इन्द्रियत्व नहीं है। अर्थात् मन इन्द्रिय नहीं है। यह कहा जा सकता है कि मन की इन्द्रियता मुख्य न होकर गौणरूप से स्वीकार की जा सकती है, इससे मन की प्रत्यक्ष प्रतीति का भी बाघ नहीं होगा। 'वेदानध्यापयामास' इस वाक्य में महाभारत भी सकल वेदार्थ प्रतिपादक होने से गौणरूप से वेद है, यह स्वीकार करना चाहिए। परिभाषाकार ने तार्किकों के आक्षेप को स्थापित कर इसका समाधान भी किया है।

इन्द्रियजन्य ज्ञान का तो प्रत्यक्षत्व है परन्तु मन में इन्द्रियत्व नही है' यह स्वीकार करने से सिद्ध होगा कि सुखदुःखादि का प्रत्यक्षत्व नहीं है। क्योंकि मन तो इन्द्रिय नहीं है और सुख–दुःखादि का ज्ञान मन से ही होता है तब अनिन्द्रियमनोजन्य सुख–दुःखादिकों के अनुभव की प्रत्यक्षता कैसे हो सकेगी। परन्तु सुखादि की तो प्रत्यक्ष–रूपेण उपलब्धि होती है अतः उनके प्रत्यक्षत्व की सिद्धि के लिये मन का इन्द्रियत्व अवश्य स्वीकार करना चाहिए। यह आक्षेप 'इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम'[56] अर्थात्– इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं, प्रत्यक्ष ज्ञान का इस प्रकार लक्षण करने वाले नैयायिकों का है।

परिभाषाकार के मतानुसार ज्ञान की प्रत्यक्षता में इन्द्रिजन्यत्व प्रयोजक नहीं है। अतः यह स्वीकार करना उचित नहीं है कि 'सुखादिकों के साक्षात् अनुभव में इन्द्रियजन्यत्व न होने से उसमें साक्षात्त्व नहीं है।[57] इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि प्रत्वक्षत्व में इन्द्रियजन्यत्व को प्रयोजक मानने में क्या बाधक है?

इसके प्रत्युत्तर में परिभाषाकार का मत है कि नैयायिक मन को अन्तरिन्द्रिय कहते है[58] और ज्ञान की प्रत्यक्षता में 'इन्द्रियजन्यत्व' को प्रयोजक स्वीकार करते हैं। परन्तु सुखादि

---

[55] 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियणि च' (मुण्डकोपनिषद् 2.1.3)

[56] 'इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम' (न्याय–सिद्धान्त मुक्तावली)

[57] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 36.

[58] शर्मा, चन्द्रधर, 2013. भारतीय दर्शन (आलोचन एवं अनुशीलन), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 166.

ज्ञानों की प्रत्यक्षता सिद्ध करने के लिए उपर्युक्त प्रयोजक के अनुसार मन में इन्द्रित्व हैं तो यह स्वीकार करने का प्रसंग उपस्थित होगा कि मनोजन्य अनुमिति, उपमिति इत्यादि अन्य ज्ञान भी प्रत्यक्ष हैं। यही प्रत्यक्षत्व में इन्द्रियजन्यत्व को प्रयोजक स्वीकार करने में बाधक है।

परिभाषाकार के अनुसार इन्द्रियत्वरूप से इन्द्रियजन्यत्व, प्रत्यक्षता में प्रयोजक है और अनुमिति, उपमिति आदि ज्ञानों में मनस्त्वेन रूप से इन्द्रियजन्यत्व है, इस कारण यह अतिव्याप्ति नहीं हो सकती।[59] यदि नैयायिक यह स्वीकार करे तो 'ईश्वर का ज्ञान' इन्द्रियजन्य न होने से उसे साक्षात्त्व नहीं है, यह स्वीकार करने का प्रसंग उपस्थित होगा, अर्थात् नैयायिकों को स्वीकार 'प्रत्यक्षत्वप्रयोजक' ईश्वरज्ञान में अव्याप्त होगा। अथवा 'इन्द्रियजन्यत्व' का अर्थ 'इन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्व' विवक्षित करें तो अनुमिति आदि प्रमाएँ इन्द्रियसन्निकर्षजन्य न होने से उसमें प्रत्यक्षप्रयोजक का लक्षण अतिव्याप्त नहीं हो सकता। यह मत सर्वसम्मत नहीं है कि 'ईश्वर का ज्ञान अजन्य और प्रत्यक्षरूप है'। अद्वैती इसे मायाजन्य स्वीकार करते हैं। फिर भी यह सर्व सम्मत् है कि 'वह इन्द्रियजन्य नहीं' यह सर्वसम्मत है। इस प्रकार मन के इन्द्रियत्व में कोई प्रमाण नहीं है, बल्कि बाधक प्रमाण हैं। इसलिए 'मन' इन्द्रिय नहीं है, इसी कारण 'मैं इच्छा करता हूँ' इत्यादि अनुभव में अन्तःकरण का प्रत्यक्ष संभव होता है। इस प्रकार परिभाषाकार के द्वारा नैयायिकों के अभिमत प्रत्यक्षत्वप्रयोजक का निराकरण किए जाने पर सिद्धान्त पक्ष में भी दूसरा प्रत्यक्षत्वप्रयोजक नहीं हो सकता, यह तार्किक का आक्षेप है।

3.2.3 ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक–

परिभाषाकार के अनुसार 'सिद्धान्ते 'प्रत्यक्षत्वप्रयोजकं किमिति चेत्, किं ज्ञानगतस्य प्रत्यक्षस्य प्रयोजकं पृच्छसि किं वा विषयगतस्य? आद्ये प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्याभेद इति ब्रूमः। तथाहि त्रिविधं चैतन्यं विषयचैतन्यं प्रमाणचैतन्यं प्रमातृचैतन्यं चेति। तत्र घटाद्यवच्छिन्नं चैतन्यं विषयचैतन्यम्, अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्य प्रमाणचैतन्यम्, अन्तःकरणावच्छिन्नं प्रमातृचैतन्यं'।[60] अर्थात्– इन्द्रियजन्यत्व यदि प्रत्यक्षता में प्रयोजक नहीं है तो आप के सिद्धान्त में भी प्रत्यक्षत्व का क्या प्रयोजक है? इस प्रकार तार्किक के द्वारा पूछे जाने पर सिद्धान्ती प्रश्न को स्पष्ट कराने के लिए तार्किकों से ही प्रश्न करता है सिद्धान्ती तुमसे पूछते हैं कि तुम ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक पूछ रहे हो, या विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक पूछ रहे हो ? ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक यदि पूछो तो प्रमाण चैतन्य का विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभेद होना, ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है। परन्तु एक ही

[59] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 36.
[60] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी– 221001, पृ॰ 19.

अद्वितीय चैतन्य का भेद कैसे संभव होता है? उत्तर – वास्तव में चैतन्य के एक होने पर भी उसका उपाधि के कारण इस प्रकार भेद होता है। तथाहि चैतन्य त्रिविध है– एक विषय चैतन्य, दूसरा प्रमाण चैतन्य व तीसरा प्रमातृचैतन्य। इन तीन प्राकर के चैतन्यों में से घटादि विषयों से अविच्छन्न हुआ चैतन्य–विषयचैतन्य, अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य प्रमाणचैतन्य और अन्तःकरणवच्छिन्न हुआ चैतन्य प्रमातृचैतन्य है।

अद्वैत मत में प्रत्यक्ष प्रमा का प्रयोजक कोई तो अवश्य ही होगा। यह तार्किक स्वीकार करते हैं कि इन्द्रिय–जन्यत्व ही उसका प्रयोजक है।[61] जबकि अद्वैत मत में मन के इन्द्रियत्व का निराकरण करते हैं। परन्तु यह स्वीकार करना अनुभव विरूद्ध है कि 'मैं सुखी हूं' इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाले साधारण ज्ञानों में व्यापक होने वाला दूसरा प्रयोजक उपलब्ध न होने से सुखादि ज्ञानों में प्रत्यक्षत्व नहीं है। इस आशय से 'अद्वैत मत में प्रत्यक्षता का प्रयोजक क्या है? कुछ भी नहीं है' इस प्रकार तार्किक के आक्षेप पर परिभाषाकार के मतानुसार 'हमारे सिद्धान्त में प्रत्यक्षता का प्रयोजक है' कहने के उद्देश्य से तार्किकों के उपयुक्त आक्षेप का निराकरण करने के लिए तार्किकों से प्रश्न करता है कि 'तार्किक ज्ञान की प्रत्यक्षता का कारण पूछ रहे हो या ज्ञेय की प्रत्यक्षता का प्रयोजक पूछ रहे हो? परिभाषाकार के इस प्रश्न पर तार्किकों का मत है कि 'ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक पूछ रहा हूँ।' इस पर परिभाषाकार का मत है कि 'प्रमाणचैतन्य और प्रमेयचैतन्य इन दोनों का ऐक्य ही ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है'।[62]

तार्किक का मत है कि अद्वैत मत में चैतन्य का प्रमाणचैतन्य और प्रमेय–चैतन्य आदि भेद ही कैसे संभव हो सकता है? और यदि यह भेद असंभव है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि 'प्रमाण–चैतन्य और प्रमेयचैतन्यों का अभेद' ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक होता है? परिभाषाकार के मतानुसार अद्धैत मत में केवल एक अद्वितीय चैतन्य का वास्तविक भेद नहीं है, फिर भी आकाश के घट–मठाकाशादि भेदों की तरह चैतन्य का भी औपाधिक भेद होना संभव है। चैतन्य का औपाधिक भेद त्रिविध है– विषयचैतन्य, प्रमाणचैतन्य और प्रमातृचैतन्य।[63]

3.2.3.1 विषयचैतन्य– घटादि विधियों से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य ही विषयचैतन्य है।

3.2.3.2 प्रमाणचैतन्य– अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य ही प्रमाणचैतन्य है।

3.2.3.3 प्रमातृचैतन्य– अन्तःकरण से अवच्छिन्न हुआ चैतत्य ही प्रमातृचैतन्य है।

---

[61] भार्गाव, दयानन्द (व्या॰), 2012. तर्क–सग्रहः, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 102.

[62] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 38.

[63] अग्रवाल, गीतारानी, 2006. भारतीय एवं पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा, भारतीय विद्या संस्थान, वाराणसी, पृ. 79.

इस प्रकार अद्वैत मत में आकाश के घटाकाश मठाकाशादि औपाधिक भेदों की तरह चैतन्य का भी विषय, अन्तःकरणवृत्ति, और अन्तःकरण इन तीन उपाधियों के कारण त्रिविधि भेद होता है। इस पर तार्किकों का प्रश्न हो सकता है कि अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य प्रमाणचैतन्य होता है, यह अद्वैत मत में कैसे कहते हैं? क्योंकि अन्तःकरण अणु परिमाणी है। अतः अणु परिमाण वाले अन्तःकरण में वृति का होना सम्भव नहीं। अन्तःकरण के 'महत्' परिमाण भी नहीं कहा जा सकता, कारण यह है कि प्राणशक्ति के आश्रयभूत अन्तःकरण की हो उत्करान्ति, गति आदि स्वीकार की जाती है। जबकि महत् परिमाण से युक्त आकाश, काल आदि पदार्थों की उत्करान्ति, गति आदि नहीं होती। अन्तःकरण को "मध्यम–परिमाण" वाला भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शरीर की तरह अन्तःकरण का 'मध्यम परिमाण' स्वीकार करने पर शरीर की तरह उसकी गति भी मन्द स्वीकार करनी होगी। जिसके कारण अन्तःकरण विषय को एक क्षण' में प्रकाशित नहीं कर सकता। जबकि अन्तःकरण तो हजारों किमी. दूर पर स्थित 'ध्रुव' को भी एक क्षण में प्रकाशित कर देता है। इसके अतिरिक्त उसका मध्यमपरिमाण स्वीकार करने पर शरीर के भीतर रहने से बाहर निकलना नहीं हो सकता है। अतः यही स्वीकार करना चाहिए कि अन्तःकरण का अणु परिमाण है। तब अणुपरिमाणयुक्त पदार्थ में वृत्ति का होना संभव नहीं। अतः अद्वैत मत का यह स्वीकार करना अनुचित है कि 'अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य–प्रमाणचैतन्य है'। तार्किकों के इस आक्षेप का समाधान परिभाषाकार ने इस प्रकार किया है।

परिभाषाकार के मतानुसार 'अन्तःकरण को अणुपरिमाणयुक्त स्वीकार करने पर देहगत सुखादि का जो अनुभव होता है, उसकी उपपत्ति नहीं हो सकती। इसलिए मन को 'अणु' स्वीकार करना उचित नहीं, इसके अतिरिक्त प्राणशक्ति का आश्रयभूत 'मन' सुदूर स्थित 'ध्रुव' तक जब जाएगा तो उसके साथ उससे अवच्छिन्न हुआ जीव भी जाएगा, जिससे देह निर्जीव होने का प्रसंग उपस्थित होगा। इसलिये अन्तःकरण को मध्यम परिमाणवाला 'मध्यम' ही स्वीकार करना चाहिये'।[64] परिभाषाकार ने अन्तःकरण 'मध्यमपरिमाणता' सिद्ध करके उसकी वृत्ति संभावना को भी दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं।

3.2.4 अन्तःकरण वृत्ति की बहिर्निगमन प्रक्रिया–

परिभाषाकार के अनुसार 'तत्र यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान्प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकारं भवति तथा तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादिना घटादिविषयदेशं गत्वा

[64] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 39.

घटादिविषयाकारेण परिणमते। स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्चते। अनुमित्यादिस्थले तु नान्तःकरणस्य वह्न्यादिदेशगमनं वह्न्यादेश्चक्षुराद्यसन्निकर्षात्। तथा चायं घट इत्यादि प्रत्यक्षस्थले घटादेस्तदाकारवृत्तेश्च बहिरेकत्रदेशे समवधानात् तदुभयावच्छिन्नंचैतन्यमेकमेव। विभाजकयोरप्यन्तःकरणवृत्ति घटादिविषययोकदेशस्थत्वेन भेदाऽजनकत्वात्। अत एव मठान्तर्वर्ति घटावच्छिान्नाकाशो न मठावच्छिन्नाकाशाद् भिद्यते। तथा च 'अयं घट' इति घट प्रत्यक्षस्थले घटाकारवृत्तेर्घटसंयोगितया घटावच्छिन्नचैतन्यस्य तद्वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यस्य चाभिन्नतया तत्र घटज्ञानस्य घटांशे प्रत्यक्षत्वम्। सुखाद्यवच्छिन्न–चैतन्यस्य तद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य च नियतेनैकदेशस्थितोपाधिद्वयावच्छिन्नन्वान् 'अहं सुखी' इत्यादिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम्'।[65] अर्थात्– 'जैसे तालाब का जल छेद से निकलकर नाली के रास्ते से होता हुआ खेतों में प्रविष्ट होता है और उसी के आकार का तिकोना, चौकोना या वर्तुलाकार बन जाता है; वैसे ही पूर्वोक्त तीन उपाधियों में से 'तेजस अन्तःकरण' भी चक्षुश्रोत्रादि इन्द्रियों के द्वारा शरीर से बाहर निकलकर घटादि विषय तक जाता है और घटादि विषयों के आकार में परिणत होता है। उस परिणाम को ही वृत्ति कहते हैं। परन्तु अनुमित्यादि प्रमास्थलों में 'अन्तःकरण' अग्नि के देश में नहीं जाता, क्योंकि उस समय अग्नि आदि विषयों का चक्षुरादि इन्द्रियों से सन्निकर्ष नहीं हुआ रहता। इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष के समय 'अन्तःकरण' शरीर से बाहर निकलता है। तब 'यह घट है' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमा में घटादिविषय और तदाकार वृत्ति का शरीर के बाहर एक स्थान में अवस्थान होने से उन दोनों से अवच्छिन्न हुआ 'चैतन्य' एक ही है। क्योंकि अन्तःकरण वृत्ति और घटादिविषय, ये उपाधियाँ उपहित में भेद करने वाली होने पर भी उनकी एक स्थान में स्थिति होने से वे भेद नहीं कर सकतीं। इसी कारण गृहस्थित घट से अवच्छिन्न हुआ आकाश, उस गृह से अवच्छिन्न हुए आकाश से भिन्न नहीं है। इस प्रकार दो उपाधियों के एकदेशस्थित होने से उपाधेयों में भेद उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं रहता। ऐसा निर्णित होने पर 'यह घट है' इस प्रत्यक्ष ज्ञान में घटाकारवृत्ति में घटसंयोगित्व होता है। इस कारण 'घटावच्छिन्न चैतन्य' और घटाकारवृत्यवच्छिन्न चैतन्य' का अभेद (ऐक्य) होता है और इन दो चैतन्यों का ऐक्य होने से 'यह घट है' इस प्रत्यक्ष स्थल में घटज्ञान 'घट' अंश में प्रत्यक्षत्व है।

परिभाषाकार के मतानुसार 'जिस प्रकार किसी तालाब या नदी जल किसी प्रकार से बहकर खेत में प्रविष्ट होकर उस विशिष्ट आकार को धारण कर लेता है। उसी प्रकार अन्तःकरण के परिणाम होने के विषय में परिभाषाकार ने 'तडागोदकन्याय' का दृष्टान्त दिया

[65] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 20.

है कि इस जल के परिमाण की तरह ही 'तैजस अन्तःकरण' का भी परिणाम होता है और 'अन्तःकरण' सत्त्वगुण का कार्य है और सत्त्व को ही 'तेज' कहते हैं क्योंकि वह प्रकाशक है'।[66] इस प्रकार 'तैजस' विशेषण से यह ज्ञात होता है कि अन्तःकरण अत्यन्त स्वच्छ, विरल, तेजोद्रव्य है। इसलिये सूर्यकिरण की तरह अन्तःकरण शीघ्र ही फैल जाता है। शीघ्र गमन करना अन्तःकरण का स्वभाव है। अतः 'मध्यमपरिमाण वाला अन्तःकरण' शरीर के बाहर कैसे जा सकता? यह आक्षेप भी नहीं हो सकता। उद्धृत दृष्टान्त से स्पष्ट है कि जल की तरह ही 'तैजस मन इन्द्रिय–छिद्रों में से बाहर निकल कर जहाँ विषय हो वहीं जाता है और उसके आकार का हो जाता है, इन आकारों में होने वाले अन्तःकरण के परिणाम को ही 'अन्तःकरण की वृत्ति' कही जाती है'।[67] जिस प्रकार खेत के आकार में परिणत हुआ जल, तालाव के जल से पृथक् नहीं, उसी प्रकार विषयाकार हुआ अन्तःकरण भी 'मूल अन्तःकरण' से पृथक नहीं है। इसलिए स्वतः विकसित हुआ 'अन्तःकरण ही' ही वृत्ति शब्द से स्वीकार किया जाता है। जबकि 'वृत्ति' अन्तःकरण का वास्तविक परिणाम नहीं है।

यह आक्षेप हो सकता है कि अनुमिति आदि प्रमाओं में भी 'अन्तःकरण' अग्नि आदि के देश में जाकर 'वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य' का अग्नि आदि 'विषयावच्छिन्न चैतन्य' के साथ अभेद होने से अद्वैत स्वीकृत 'ज्ञानगत प्रत्यक्ष का प्रयोजक अनुमिति आदि में अतिव्याप्त होता है।

परिभाषाकार के मतानुसार 'अद्वैत स्वीकृत ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक अनुमिति आदि स्थलों में अतिव्याप्ति नहीं है, क्योंकि अनुमिति आदि स्थलों में 'अन्तःकरण' अग्नि आदि देश में नहीं जाता, कारण यह है कि अनुमिति आदि प्रमाओं में अनुमित अग्नि आदि विषयों के साथ इन्द्रियों का सन्तिकर्ष नहीं रहता, बल्कि इन्द्रियों का उसके धूमादि लिंगों से सन्निकर्ष रहता है।[68] इसलिये ज्ञानगत 'स्वरूपचैतन्य' से भिन्न 'विषयगत प्रत्यक्ष' का प्रयोजक, अनुमिति आदि प्रमाओं में अतिव्याप्त नहीं होता।

फिर भी यदि प्रत्यक्ष ज्ञान, में भी वृत्ति और घट इनका भेद होने से उन भिन्न उपाधियों से युक्त 'प्रमाण–प्रमेय चैतन्यों' का भी भेद अवश्य ही रहेगा। इसलिए पूर्वोक्त प्रयोजक यहाँ पर अव्याप्त है। यह आक्षेप होने पर अद्वैतमतानुयायी 'यह घट है' इत्यादि प्रत्यक्षप्रमा में प्रत्यक्षलक्षण का समन्वय करके, इस आक्षेप का निराकरण करते हैं।

---

[66] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 40.
[67] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 40.
[68] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 40.

परिभाषाकार के मतानुसार 'चैतन्य' के एक होने पर भी वह 'उपाधि' के भेद के कारण भिन्न–भिन्न होता है।[69] जैसे– 'घटाकाश' 'मठाकाश' से भिन्न है। इसी प्रकार 'प्रमाणचैतन्य' की 'वृत्ति' उपाधि हैं और 'विषयचैतन्य' की 'विषय' उपाधि है। इसलिये एक स्थान पर स्थित होते हुए भी दो विशेषणों की तरह उन दो उपाधियों में भेद–जनकत्व है, तो उन उपाधियों अभेद कैसे सम्भव हो सकता है? इस आक्षेप पर परिभाषाकार का मत है कि 'यह घट है' इत्याकारक ज्ञान 'घट' अंश में प्रत्यक्ष है। 'घट' और 'घट के सम्बन्ध से घटाकार हुई वृत्ति' और इन दो उपाधियों से अवच्छिन्न हुआ 'द्विविध चैतन्य', शरीर के बाहर एक ही स्थान में स्थित हुईं उन दो उपाधियों से अवच्छिन्न हुआ है। अतः उनमें भेद की प्रतीति नहीं हो सकती। कारण यह है कि भिन्न–भिन्न स्थानों में स्थित उपाधियाँ ही उपाधेयों में भिन्नत्व प्रतीति करा सकती हैं। जबकि विशेषणों की तरह उपाधियों में स्वरूपतः भी भेदजनकत्व नहीं है। भिन्न देशों में स्थित उपाधियों में भेद–जनकत्व होने पर भी एकदेशस्थित्त उपाधियों में भेदजनकत्व नहीं है।

'भिन्नदेशस्थ उपाधियों' को, भेदजनकत्व है और 'एकदेशस्थ उपाधियों' में भेद–जनकत्व नहीं हैं' यह कल्पना करने की अपेक्षा 'विशेषण' की तरह 'उपाधियों' में भी स्वरूप से ही भेदजनकत्व स्वीकार करने में कल्पनालाधव होगा' यह आक्षेप आशंका होने पर परिभाषाकार के अनुसार 'एक देश में स्थित होने से ही उन दो उपाधियों का भेदजनकत्व नहीं है, यह अनुभव होने से मठ में स्थित घट से अवच्छिन्न हुआ आकाश, मठावच्छिन्न–आकाश से भिन्न नहीं है'।[70] मठरूप उपाधि के भाग में 'घट' रहता है। इसलिए मठाकाश ओर घटावच्छिन्नाकाश दोनों एक स्थान में स्थित हुई उपाधियों से अवच्छिन्न हैं, फिर भी आकाश परस्पर भिन्न नहीं हैं। घट के प्रत्यक्ष ज्ञान के समय घट देश के साथ अन्तःकरण का संयोग होता है। अन्तःकरण के 'एक भाग' को ही वृत्ति कहते हैं। इस कारण 'घटावच्छिन्न–चैतन्य', ओर घट को–'अभिव्यक्त करनेवाला चैतन्य' दोनों एक ही हैं। अतः फलमुख गौरव दोषावह नहीं होता।

परिभाषाकार के मतानुसार घटाकारवृत्ति घट से संयुक्त होती हैं। यहाँ संयोग शब्द का अर्थ भी घट को चूना लगाने पर घट और सफेंद रंग का जिस प्रकार संयोग होता है उसी प्रकार 'परिणामपदवाच्य' घटनिष्ठ 'सम्बन्ध–विशेष' है। अतः संयोग, नियमेन अव्याप्यवृत्ति होने से अन्तःकरण का संयोग भी पूरे घट को नहीं व्याप्त कर सकता है। तब 'सर्वाश से घट

[69] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 41.
[70] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 42.

प्रत्यक्ष है' यह व्यवहार कैसे सम्भव हो सकेगा। अर्थात् घटाकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का अर्थ घट से संयुक्त हुए मन के भाग से अवच्छिन्न चैतन्य है और घटज्ञान का 'घट' अंश में घटावच्छिन्नत्वेन प्रत्यक्ष है।

सुख–दुःखादि पदार्थों से इन्द्रियों का सन्निकर्ष नहीं रहने से अन्तःकरण की सुखाद्याकार वृत्ति भी उत्पन्न नहीं हो सकती। तब सुखादि अंश में प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? यह आक्षेप कर सुखादि का 'आन्तर–विषयत्व' है, घटादि की तरह 'बाह्य विषयत्व' नहीं है। उससे उनकी 'प्रत्यक्ष प्रमा' में चक्षुरादि–सन्निकर्ष की अपेक्षा नहीं होती।

3.2.5 सुखादि ज्ञानों में प्रत्यक्ष लक्षण के अतिव्याप्त का निराकरण–

परिभाषाकार के अनुसार 'नन्वेवं स्ववृत्तिसुखादिस्मरणस्यापि सुखाद्यंशे प्रत्यक्षत्वापत्तिरिति चेत् न, तत्र स्मर्यमाणसुखस्यातीतत्वेन स्मृतिरूपान्तःकरणवृत्तेर्वर्तमानत्वेन तत्रोपाध्योर्भिन्नकालीनतया तत्तदवच्छिन्नचैतन्ययोर्भेदात्। उपाध्योरेकदेशस्थत्वे सति एककालीनत्वस्यैवोपधेयाभेद प्रयोजकत्वात्। यदि चैकदेशस्थत्वमात्रमुपधेयाभेदप्रयोजकं तदा 'अहं पूर्वं सुखी' इत्यादिस्मृतावतिव्याप्तिवारणाय वर्तमानत्वं विषयविशेणं देयम्'।[71] अर्थात्– सुखादिकों से अवच्छिन्न हुआ 'चैतन्य' और सुखादि के आकार से परिणत हुई 'अन्तःकरण वृत्ति' से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य ये दोनों, नियम से एक ही स्थान में स्थित उपाधिद्वय से अवच्छिन्न होने से नियमन 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि ज्ञान को प्रत्यक्षत्व है। 'दो उपाधियों को एकदेशस्थत्व होने पर भेदजनकत्व नहीं रहता' यह कहने पर अन्तःकरणस्थित सुखादिस्मरण को भी सुखादि अंश में प्रत्यक्षत्व प्राप्त होगा। यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि अन्तःकरणवृत्ति सुख' भूतकालीन है और 'स्मृतिरूप अन्तःकरणवृत्ति' इन दोनों उपाधियों में भिन्नकालत्व है। उनका काल भिन्न होने से सुख और स्मृतिवृत्ति से अवच्छिन्न हुए दोनों चैतन्य भी भिन्न हैं। इस कारण अप्रत्यक्ष स्मृतिज्ञान में, प्रत्यक्ष सुखादिज्ञान के प्रयोजक की अतिव्याप्ति नहीं होती क्योंकि दोनों उपाधियों को एकदेशस्थत्व होकर एककालीनत्व भी जब हो, तभी वह उपाधेय के अभेद में प्रयोजक हो सकता है। और दो उपाधियों का एकदेशस्थत्व ही उपाधेय के अभेद में प्रयोजक मानना है तो 'मैं पहले सुखी था' इत्यादि स्मृति में उसकी अतिव्याप्ति न होने देने के लिए 'विषय' में 'वर्तमानत्व' विशेषण देना चाहिए।

परिभाषाकार के मतानुसार यदि सुख–दुःखादि, घटादि की तरह बाह्यस्थ होते तो उसके प्रत्यक्ष–ज्ञान के लिए बाह्य इन्द्रियसन्निकर्ष की आवश्यकता होती, परन्तु सुखादि–विषय

[71] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी– 221001, पृ॰ 22–23.

तो आन्तर हैं और इसलिए सुखादि ज्ञान के लिए सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं होती है।[72] अद्वैत मतानुसार सुख, दुःख, काम, संकल्प इत्यादि भाव, अन्तःकरण के धर्म हैं।[73] इस कारण वे अन्तःकरण में ही रहते हैं। सुखादि के अनुभवकाल में सुखाद्याकार–वृत्ति भी अन्तःकरण में ही रहती है। अतः सुखादिविषयावच्छिन्न–चैतन्य और सुखाद्याकारबृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का पूर्वोक्त प्रकार से एकत्व होने के कारण सुखादि अंश में ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व है। जबकि बाह्यविषयाकार–वृत्ति को इन्द्रियसन्निकर्ष की अपेक्षा होती है। परन्तु आन्तरिक विषयाकारवृत्ति स्वयंमेव ही उत्पन्न होती है। यही बाह्य एवं आन्तर विषयों में विशेषता है। अब परिभाषाकार दो उपाधियों को एकदेश में स्थित होने से उनमें भेदजनकत्व नहीं होता' इस मत पर अतिव्याप्ति दोष की स्थापना कर उसका समाधन भी करते हैं।

यदि एक प्रदेश में स्थित होने पर भी यदि भिन्नकालित्व दो उपाधियाँ हो तो उनमें उपधेय का भेदकत्व ही रहता है, अभेदकत्व नहीं। इसलिए 'मैं सुखी हूँ' इस प्रत्यक्ष के समय जिस प्रदेश में सुखाकार अन्तःकरणपरिणाम था उसी प्रदेश में सुखरूप विषय भी था। इस कारण 'सुखाच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न, सुखाकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य होता है। परन्तु 'मैं इस सुखस्मरण के समय 'सुख' भूतविषय, और तदाकारक वर्तमान वृत्ति इन दोनों के अन्तःकरण रूप एकदेश में स्थित होने पर भी 'सुख' भूतकालीन और 'वृत्ति' वर्तमानकालीन होने से 'सुखावच्छिन्न–तद्वृत्यवच्छिन्न चैतन्य न हो सकने के कारण प्रत्यक्षत्व–प्रयोजकत्व की सुखस्मरण में अतिव्याप्ति नहीं होती'।[74] परिभाषाकार उपरोक्त समाधान के अतिरिक्त दूसरा समाधान भी प्रस्तुत करते हैं।

परिभाषाकार यह स्पष्ट करते है कि 'तुष्यतु दुर्जनन्याय' से तार्किक यह स्वीकार करे कि दो उपाधियों के एकदेशस्थत्व को ही उपधेय भेद में प्रयोजकत्व–नियामकत्व है तो उस प्रयोजकत्व के लक्षण पर भी अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि 'प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्याभेदः' इस पूर्वोक्त लक्षण के 'विषय' पद में 'वर्तमानत्व' विशेषण का प्रयोग करने पर 'वर्तमान विषयावच्छिन्न चैतन्याभिन्नवृत्त्यावच्छिन्नचैतन्य ही' ज्ञानप्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है, यह लक्षण निष्पन्न होने से सुखादि के स्मृतिज्ञान में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। कारण यह है कि सुखादि स्मृति में सुखादि विषय, वर्तमानकालीन विषय न होकर भूतकालीन विषय हैं। इसलिए स्मृति में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। अविद्यमान पदार्थ की उपाधि

---

[72] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 43.
[73] कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिरधृति र्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्व मन एव' (बृहदारण्यक उपनिषद्– 1.5.3)
[74] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 44.

नहीं होती है। इसलिये 'विषयावच्छिन्न' इतने से ही पूर्वोक्त अतिव्याप्ति का निराकरण हो जाता है। इसके लिये 'वर्तमानत्व' इस विषय विशेषण की आवश्यकता न रहने पर भी 'विषय शब्द को उपलक्षण मानकर भूत, भविष्यत्, अविषय इत्यादि अन्य प्रश्नों का भी ग्रहण किया जाए। यदि कोई ऐसा कहे तो उसके लिये विषयत्व के उपलक्षणत्व का भी निराकरण कर तद्द्वारा पूर्वोक्त अतिव्याप्ति का भी निराकरण करने के लिये 'वर्तमानत्व' इस विषय–विशेषण की नितान्त अपेक्षा है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अद्वैत मत में 'प्रमाणचैतन्य का वर्तमानकालीन विषयावच्छिन्न चैतन्याभेद' ही प्रत्यक्ष प्रयोजक है।[75]

परिभाषाकार के अनुसार 'नन्वेवमपि स्वकीयधर्माधर्मौ वर्तमानौ सदा शब्दादिना ज्ञायेते नदा तदादृश्यशाब्दज्ञानादावतिव्याप्तिः। तत्र धर्माद्यवच्छिन्नतद्वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्ययोरेकत्वादिति चेत्, न, योग्यत्वस्यापि विषयविशेषणत्वात्। अन्तःकरणधर्मत्वाविशेषेवि किंचिदयोग्यं किंचिद्योग्यमित्यत्र फलबलकल्प्यः स्वभाव एव शरणम्। अन्यथा न्यायमतेऽप्यात्म धर्मत्त्वाविशेषात्, सुखादिवद्धर्मादेरपि प्रत्यक्षत्वापत्तिर्दुर्वारा'।[76] अर्थात्– ऐसा मानने पर भी जिस समय अपने वर्तमान धर्माधर्म, शब्दादिप्रमाणों के द्वारा जाने जाते हैं, तब उस तरह के शाब्द ज्ञान में अतिव्याप्ति होती है। क्योंकि वहाँ पर धर्मादिकों से अवच्छिन्न हुए चैतन्य और तदाकार वृत्यवच्छिन्न हुए चैतन्य दोनों का एकत्व रहता है। ('विषय' में 'वर्तमान' विशेषण के देने पर भी वर्तमान धर्माधर्म के शब्दजन्य ज्ञान में लक्षण की अतिव्याप्ति होती है) ऐसा यदि कहें तो ठीक नहीं है। क्योंकि योग्यत्व को भी विषयविशेषणत्व है। (प्रत्यक्ष प्रयोजक के लक्षण में 'विषय' शब्द के साथ 'वर्तमान' विशेषण की तरह 'योग्य' विशेषण भी जोड़ना चाहिए। तब धर्मा–धर्मादिकों के शाब्द–ज्ञान में प्रत्यक्षत्वप्रयोजक लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि सुखादिकों की तरह धर्मादिकों में अन्तःकरणधर्मत्व होने पर भी उनमें से कुछ प्रत्यक्षयोग्य और कुछ प्रत्यक्ष के अयोग्य हुआ करते हैं, इस विषय में फलबल से कल्पनीय स्वभाव ही शरण (आधार) है। ऐसा मानने पर न्याय मत पर भी यही दोष आता है। न्याय मत में भी सुखादिकों की तरह धर्मादिकों में भी आत्मर्धत्व समान होने से प्रत्यक्षत्व की प्राप्ति होना दुर्वार (अपरिहार्य) है। अर्थात् नैयायिक सुख – दुःख के समान अधर्म को भी आत्मा के धर्म जानते हैं। इस कारण फलबलकल्प्य स्वभाव का शरण न मानने पर उन्हें भी सुखादि की तरह धर्माधर्म का प्रत्यक्ष होना स्वीकार करना होगा।

---

[75] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 45.
[76] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 24.

'विषय' में 'वर्तमानत्व' विशेषण को प्रयोग करने पर भी धर्माधर्मविषयकशाब्दज्ञान में उस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। कारण यह है कि धर्माधर्म में 'वर्तमानत्व' है। धर्म और अधर्म, अन्तःकरण के धर्म होने पर भी वे स्वभावचैचित्र्य के कारण परोक्ष ही हैं। फिर भी 'वह धार्मिक हैं' 'तू अधार्मिक है' इत्यादि वाक्यरूप शब्द सुनकर 'मैं धार्मिक हूँ' आदि ज्ञान होता है। यह ज्ञान शब्दजन्य होने से शाब्दप्रमा है। इस शाब्दज्ञान में धर्माधर्म रूप विषय और अन्तःकरणपरिणाम ये दोनों उपाधियाँ एकदेश में स्थित होने से, दोनों उपाधियों से अवच्छिन्न हुए चैतन्य का भी अभेद है। इस कारण विषयावच्छिन्न से वृत्यवच्छिन्न चैतन्य के अभेदरूप प्रत्यक्ष का प्रयोजकत्व, धर्माधर्मादि के शाब्द ज्ञान में भी है। यह अनुभुवसिद्ध है कि सुखादि आन्तर पदार्थों का अन्तःकरण के साथ बिना बाहर गये ही परिणाम होता है। यही अनुभव धर्माधर्मादि में भी है। परिभाषाकार ने 'शब्दादिना' पद से 'मैं सुकृतादृष्ट से युक्त हूँ, क्योंकि मैं सुखी हूँ। मैं दुष्कृतादृष्ट से युक्त हूँ, क्योंकि मैं दुःखी हूँ' इत्याकारक अनुमानादि का ग्रहण करना चाहिये। शाब्द ज्ञानादि में उन घर्मादि के जो शब्दादि प्रमाण हैं, उनसे अवच्छिन्न–चैतन्य का और वर्तमान धर्मादिविषयावच्छिन्न–चैतन्य का तदात्म्य है। इसीलिए धर्माधर्मादि के शाब्दज्ञान में पुनः प्रत्यक्षत्व–प्रयोजक के लक्षण की अतिव्याप्ति हुई। इसलिए परिभाषाकार ने 'स्वकीयधर्माधर्मौ' कहा है। यहाँ पर परिभाषाकार ने 'स्वकीय' शब्द से प्रमाण और विषय का एकदेशस्थत्व को संकेत किया है।

परिभाषाकार के मत में 'प्रमाणचैतन्य और वर्तमानविषयावच्छिन्न–चैतन्य का अभेद' प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है। इसलिए यहाँ पर 'विषय' को 'वर्तमान' विशेषण की तरह 'योग्यत्व' (प्रत्यक्षयोग्यत्व) विशेषण का भी प्रयोग करना चाहिये और इस विशेषण का प्रयोग करने पर यह लक्षण सिद्ध होता है कि 'वर्तमान और प्रत्यक्ष ज्ञान के योग्य होना, विषयावचच्छिन्न चैतन्य का वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य के साथ अभेद होना ही प्रत्यक्षत्व में प्रयोजक है।[77] धर्म और अधर्म प्रत्यक्षयोग्य नहीं हैं, किन्तु परोक्ष हैं, और परिभाषाकार ने प्रस्तुत लक्षण में 'विषय' को 'प्रत्यक्षयोग्य' विशेषण दिया है। इस कारण उक्त लक्षण की धर्माधर्म में अति–व्याप्ति नहीं होती है। इस पर आक्षेप यह है कि सुखादि और धर्मादि दोनों यदि अन्तःकरण के ही धर्म हैं, तो उनमें यह स्वीकार करने का क्या नियामक है कि कुछ धर्मों में प्रत्यक्ष योग्यता है और कुछ में नहीं?

[77] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 47.

परिभाषाकार के मतानुसार 'सुखादि और धर्मादि दोनों यद्यपि एक ही अन्तःकरण के धर्म हैं फिर भी यह स्वीकार करने में उनका भिन्न स्वभाव ही कारण है कि तद्वृत्ति–सुखादि, प्रत्यक्ष ज्ञान के योग्य हैं और धर्मादि, प्रत्यक्ष योग्य नहीं हैं और अनुद्भूतत्व, धर्मादि का स्वभाव है। इस कारण धर्मादि, प्रत्यक्ष के योग्य नहीं हैं और उद्भूतत्व, सुखादि का स्वभाव है, इस कारण सुखादि, प्रत्यक्ष के योग्य हैं'।[78] आशय यह है कि अन्तःकरण के धर्मों में से कुछ प्रत्यक्ष के योग्य हैं और कुछ नहीं है। इस विषय में फलरूप कार्य से अनुमान किया जाने वाला पूर्वोक्त उद्भूतत्व और अनुद्भूतत्वरूप स्वभाव ही अगत्या स्वीकार करना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं। नैयायिकों को भी इस 'फलबलकल्प्य स्वभाव को स्वीकार करना पड़ता है । अन्यथा नैयायिकों के मत में भी धर्मादि का प्रत्यक्ष होना स्वीकार करना होगा। क्योंकि वे सुखादि को तो प्रत्यक्षयोग्य और धर्मादि को प्रत्यक्षायोग्य स्वीकार करते हैं। परन्तु इसकी उत्पत्ति को नैयायिक भी फलबलकल्य–स्वभाव की सहायता के बिना सिद्ध नहीं कर सकते। इसलिए परिभाषाकार के मत में 'एक ही वस्तु के अनेक धर्मों में प्रत्यक्ष योग्यता है और कुछ में नहीं, इसमें स्वभावविशेष ही उनका नियामक है'।[79] इस प्रकार परिभाषाकार प्रत्यक्षत्वप्रयोजक लक्षण की धर्माधर्म के शब्द ज्ञान में आक्षेप की अतिव्याप्ति का निराकरण करके अग्रिम आक्षेप की स्थापना करके, उसका समाधान करते हैं।

परिभाषाकार के अनुसार 'न चैवं सुखस्य वर्तमानदशायां त्वं सुखीत्यादि वाक्यजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षता स्यादिति वाच्यम्। इष्टत्वात्। 'दशमस्त्वमसि' इत्यदौ सन्निकृष्ट विषये शब्दादप्यपरोक्षज्ञानाभ्युपगमात्। अत एव 'पर्वतो वह्निमानित्यादिज्ञानमपि वह्न्यंशे परोक्षं, पर्वतांशेऽपरोक्षम् पर्वताद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य बहिर्निसृतान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य च परस्परं भेदाभावात्। वह्न्यंशे त्वन्तःकरणवृत्तिनिर्गमनासंभवेन वह्न्यवच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमाणचैतन्यस्य च परस्परं भेदान्त। तथा चानुभवः 'पर्वतं पश्यामि' 'वह्निमनुमिनोमि' इति। न्यायमते तु 'पर्वतमनुमनोमी त्यनुव्यवसायापत्तिः'।[80] अर्थात्–शंका की जाती है कि सुख की वर्तमान दशा में ''तुम सुखी हो'' – इस प्रकार के वाक्य के श्रवण से भी वाक्यजन्य सुख का अनुभव होता है। आपके प्रत्यक्ष का लक्षण तब तो उस वाक्यजन्य ज्ञान में भी चला गया। तो उसमें अतिव्याप्ति हो गई। समाधान यह है कि अच्छी बात है, हम भी यह मानते हैं कि वर्तमान सुख का 'त्वम् सुखी' इस वाक्यजन्य ज्ञान का प्रत्यक्ष होता ही है। 'दशमस्त्वमसि' 'तू दसवाँ है' इस वाक्य जन्य प्रत्यक्ष का ज्ञान होता ही है। 'दशमस्त्वमसि' 'तू दसवाँ है' इस स्थल पर

[78] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 47.
[79] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 48.
[80] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 25–26.

आप्त वाक्य से सन्निहित विषय 'दशम' का शब्द से भी अपरोक्ष ज्ञान माना ही गया है। 'सन्निहित नजदीक में रही हुई वस्तु का प्रकारान्तर से भी अपरोक्षज्ञान होता है' इस सिद्धान्त के अनुसार ''पर्वतो वह्निमान्'' 'पर्वत वह्नि वाला है' यह अनुमिति ज्ञान भी वह्नि के अंश में परोक्ष है, पर पर्वत के अंश में अपरोक्ष है। क्योंकि पर्वत आदि से अवछिन्न चैतन्य एवं बाहर निकली हुई पर्वतादि आकार वाली वृत्ति से अवछिन्न चैतन्य का अभेद होता ही है। वह्नि के अंश में तो अन्तःकरण की वृत्ति का निकलना संभव नहीं है। अतः वह्न्यवच्छिन्न चैतन्य और वह्न्याकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का यहाँ परस्पर भेद है। इसलिए तो, 'पर्वत को देखता हूँ' और 'अग्नि का अनुमान करता हूँ' ऐसा अनुभव होता है। न्यायमत में तो 'पर्वतमनुमिनोमि'। पर्वत का अनुमान करता है इस प्रकार अनुव्यवसाय होना चाहिए। अर्थात् उन्हें तो पर्वतांश में भी अनुमिति का स्वीकार करना चाहिए।

प्रत्यक्षत्वप्रयोजक–लक्षण के 'विषय' पद में 'वर्तमानत्व' और 'योग्यत्व' इन दो विशेषणों के लगाने पर भी सुख की वर्तमानावस्था में किसी व्यक्ति से तुम सुखी हो' कहने पर 'मैं सुखी हूँ इत्याकारक ज्ञान का प्रत्यक्षत्व प्राप्त होगा । क्योंकि सुखासमय 'सुख', वर्तमान तथा प्रत्यक्ष के योग्य भी होता है। इसलिए उस सुखज्ञान में 'योग्य और वर्तमान विषय' से अवच्छिन्न चैतन्य के साथ अभिन्न–वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य होता है। परन्तु 'त्वं सुखी' वाक्य से प्राप्त होने वाला ज्ञान, पूर्वोक्तलक्षण का लक्ष्य ही नहीं बन सकता। कारण यह है कि वाक्यजन्य–ज्ञान, नियमेन 'परोक्ष' रहता है। इस कारण वाक्य–जन्य–ज्ञान में लक्षण की अतिव्याप्ति होती है।

परिभाषाकार के मतानुसार 'वाक्यजन्य सुखादि–ज्ञान का प्रत्यक्ष होना' अद्वैत मत को इष्ट ही है।[81] इसलिये अतिव्याप्ति नहीं है। इस पर तार्किकों का आक्षेप है कि 'अनुमान–प्रमाण' से वाक्यजन्य ज्ञान का नियमेन परोक्षत्व होता है। ऐसी स्थिति में अद्वैती यह कैसे कह सकते हैं कि 'तू सुखी है' इस वाक्य से होने वाले ज्ञान में अपरोक्षत्व अद्वैत मत को इष्ट ही है?

परिभाषाकार के मतानुसार 'तू दसवां है' इस वाक्य से 'मैं दसवां हूँ। इत्याकारक ज्ञान का विषयसन्निकृष्ट प्रत्यक्ष होने से उससे होने वाला ज्ञान भी 'प्रत्यक्ष' है। इसलिए तार्किकों के 'वाक्यजन्य ज्ञान में नियमेन परोक्षत्व ही रहता है' इस नियम का सन्निकृष्ट विषयक वाक्यार्थज्ञान में व्यभिचार होता है। उपर्युक्त अनुमानों में तार्किकों ने क्रमशः 'वाक्यत्वात्' और 'वाक्यजन्यत्वात्' दिए हुए दोनों हेतु. सोपाधिक हैं, उनमें ,'सन्निकृष्टविषयत्व' उपाधि है। इसके अतिरिक्त हेतुओं में सत्प्रतिपक्षत्व भी है। इनका अनुमान इस प्रकार है–

[81] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 49.

1. 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यजन्य–ज्ञान, अपरोक्ष है।

2. क्योंकि उसका विषय अपरोक्ष है।

3. चाक्षुष प्रत्यक्ष के तुल्य।

इस प्रत्यनुमान में हेतु के परोक्षत्व का अभाव सिद्ध करने वाला है। इस कारण तार्किकों के दोनों हेतु सत्यप्रतिपक्षित हैं ।

इस वाक्य को सुनकर कि 'तू दसवाँ है' यह जो ज्ञान होता है कि 'मैं ही दसवाँ हूँ', इस ज्ञान को इन्द्रियजन्य नहीं कह सकते। क्योंकि पूर्वोक्त वाक्य को सुनने से पूर्व, इन्द्रियसन्निकर्ष के रहने पर भी 'मैं ही दसवाँ हूँ' यह ज्ञान किसी को भी नहीं हुआ था। यह किसी को भी स्वीकार नहीं है कि 'प्रत्यक्ष–ज्ञान' को उत्पन्न करते समय इन्द्रियों का, शब्द के सहकारित्व रहता है। जिस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि 'तू दसवाँ है' इस ज्ञान के 'शब्दसहकृत–इन्द्रियजन्यत्व होने पर अपरोक्षत्व है' उसी प्रकार यह भी नहीं कहा जा सकता कि इन्द्रियजन्यत्व न होने से वह ज्ञान परोक्ष ही है और यदि उसे परोक्ष कहें तो 'दसवाँ है' यह परोक्ष ज्ञान, 'दसवाँ नहीं' इस अपरोक्ष अध्यास की निवृत्ति नहीं कर सकता।[82] इसलिए यह स्वीकार करना पड़ता है कि 'तू दसवाँ है' अथवा 'तू वह ब्रह्म है' इत्यादि अपरोक्ष–विषयक वाक्य से हुआ ज्ञान, अपरोक्ष ही है।

इस पर यह आक्षेप हो सकता है कि अपरोक्ष–विषयक वाक्य से हुआ ज्ञान अपरोक्ष ही होता है' यह स्वीकार करने पर पर्वत वह्निमान है' इत्यादि अनुमिति–ज्ञान को भी प्रत्यक्ष स्वीकार करना पड़ेगा, यह आक्षेप करते हैं कि अनुमिति ज्ञान में प्रत्यक्षत्व की प्राप्ति 'पर्वत' अंश में होगी या 'वह्नि' अंश में होगी? यदि पर्वतांश में प्रत्यक्षत्व स्वीकार करे तो यह परिभाषाकार को मान्य ही है।

3.2.6 वह्न्यादि अनुमिति ज्ञान के पर्वतांश में प्रत्यक्ष–

परिभाषाकार ने 'प्रमाणचैतन्य और प्रमेयचैतन्य के अभेद' को प्रत्यक्ष का प्रयोजक स्वीकार किया है। इसलिये 'पर्वत वह्निमान् है' इत्यादि ज्ञान भी सन्निकृष्ट–स्थित 'पर्वत' अंश में अपरोक्ष है और चक्षु से सन्निकृष्ट न हुए 'वह्नि' अंश में परोक्ष है, 'पर्वत' अंश में अपरोक्ष कैसे होता है? यदि यह प्रश्न करे तो परिभाषाकार का मत है कि 'पर्वतविशिष्ट चैतन्य और तदाकार–अन्तःकरणवृत्ति विशिष्ट चैतन्य का तदात्म्य होता है और 'प्रमाणचैतन्य और

[82] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 50.

विषयचैतन्य का तदात्म्य ही प्रत्यक्ष का प्रयोजक है' यह अद्वैत मत होने से 'पर्वत वह्निमान् है' यह ज्ञान, पर्वत रूप विषय–अंश में अपरोक्ष है।[83] परन्तु उपर्युक्त वाक्य से जिस अग्नि का ज्ञान होता है उस अग्नि से अन्तःकरणवृत्ति का साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता। इस कारण अग्निविशिष्ट चैतन्य और अन्तःकरणवृत्ति रूप प्रमाणचैयन्य का परस्पर भेद है, अभेद नहीं। इसलिए वह्नि अंश में पूर्वोक्त ज्ञान को प्रत्यक्षत्व न होकर परोक्षत्व है। परन्तु श्लोकवार्तिक में भट्ट ने लिखा है कि 'परीक्षकों को लोक–प्रसिद्धि का अनुसरण करना ही योग्य है। लोकप्रसिद्धि को छोड़कर केवल लक्षण से सर्वलोकप्रसिद्ध वस्तु का निवर्तन करना कभी भी उचित नहीं है'।[84] इसलिए 'पर्वत वह्निमान् है' इस प्रसिद्ध अनुमिति को केवल लक्षण के द्वारा हटाना योग्य नहीं है। इस आक्षेप का समाधान परिभाषाकार ने 'तथा च' वाक्य से किया है। परिभाषाकार का मत भी लोकप्रसिद्धि से सम्मत् है। सभी लोक 'मैं पर्वत को प्रत्यक्ष देखता हूँ' परन्तु उस पर स्थित अग्नि को प्रत्यक्ष नहीं देख रहा हूँ, किन्तु 'घूम' लिंग से उसका अनुमान करता हूँ' यही कहते हैं। अर्थात् परिभाषाकार का मत है कि लोकप्रसिद्धि का अनुसरण कर ही 'पर्वतो वह्निमान' यह ज्ञान 'पर्वत अंश' में अपरोक्ष है और 'वह्नि अंश' में परोक्ष है। इस प्रकार परिभाषाकार लोकप्रसिद्धि का अपलाप नहीं करते हैं।

इस प्रकार अद्वैत पक्ष में लोकप्रसिद्धि का अनुसरण किस प्रकार होता है यह स्पष्टकर परिभाषाकार ने नैयायिक पक्ष में लोकप्रसिद्धि का अतिक्रमण कैसे होता है, इसे 'न्यायमते तु' इत्यादि वाक्य से संकेत किया है। न्यायमत में ही मैं 'पर्वत का अनुमान करता हूँ' यह अनुव्यवसाय होता है। क्योंकि नैयायिक पर्वत को और उस पर स्थित धूम को भी प्रत्यक्ष देखने पश्चात् 'यह पर्वत वह्निमान् है' ऐसा अनुमान करता है। इस कारण 'यह घट है' इस प्रकार पहले प्रत्यक्ष देखने के पश्चात् 'मैं घट को जानता हूँ' इस मानस–अनुव्यवसाय के समान उस अनुमितिज्ञान में भी अनुव्यवसायत्व है, व्यवसायत्व नहीं। परिभाषाकार ने 'न्यायमते तु' वाक्य में, यहाँ 'तु' शब्द का प्रयोग अद्वैत मत से न्यायमत में वैलक्षण्य प्रदर्शित करने के लिए है। परिभाषाकार यह स्पष्ट करते है कि किस अनुममिति में 'ज्ञान' सर्वाश में परोक्ष होता है? यह भी सिद्ध करते हैं कि 'सुरभिचन्दनम्' ज्ञान में भी पूर्वोक्त न्याय ही लगता है।

परिभाषाकार के अनुसार 'असन्निकृष्टपक्षकानुमितौ तु सर्वांशेऽपि ज्ञानं परोक्षम्। 'सुरभिचन्दन' मित्यादिज्ञानमपि चन्दनखण्डांशे अपरोक्षम् सौरभांशे तु परोक्षं, सौरभ्यस्य

[83] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 51.
[84] सिद्धानुगह मात्रं हि कतृयुक्तं परीक्षकैः। न सर्वलोकसिद्धस्थलक्षणेन निवर्तनम्।। (शलोकवार्तिक सूत्र– 4, श्लोक– 133)

चक्षुरिन्द्रियायोग्यतया योग्यत्वघटितस्य निरुक्तलक्षणस्याभावात्'।[85] अर्थात्– जिस अनुमान में जहाँ पर पक्ष सन्निकृष्ट नहीं होता, ऐसे अनुमान स्थल पर पक्ष, साध्य और उन दोनों का सम्बन्ध– इन तीनों अंशों में ज्ञान परोक्ष ही होता है। यह बात सर्वमान्य हो सकती है। 'सुरभि चन्दनम्' 'चन्दन का टुकड़ा सुरभित है' यह ज्ञान भी 'चन्दनखण्ड' के अंश में अपरोक्ष है, और सुरभित अंश में नेत्रेन्द्रिय जन्य प्रत्यक्षता की योग्यता नहीं है। और प्रत्यक्ष लक्षण में हमने योग्यता का भी संनिवेश तो कर ही दिया है। योग्यता–पद–घटित–प्रत्यक्षलक्षण का अभाव होने से सुगन्ध अंश में हम प्रत्यक्ष नहीं मानते।

1– पृथ्वी के परमाणु गंधवान् हैं।

2–क्योंकि उनमें पृथ्वीत्व है।

3–घटादिकों के समान'।

इस अनुमान में पृथ्वी के परमाणु–पक्ष हैं। परन्तु वे असन्निकृष्ट हैं। क्योंकि उनमें प्रत्यक्ष होने की योग्यता नहीं है। इस प्रकार जिस अनुमिति–ज्ञान में 'पक्ष' अप्रत्यक्ष होता है उस अनुमान में पक्ष और साध्य रूप दोनों अंशों में ज्ञान 'परोक्ष' होता है और जिस अनुमिति में पक्ष, प्रत्यक्ष रहता है वहाँ पक्ष रूप अंश में ज्ञान प्रत्यक्ष रहता है और साध्य अप्रत्यक्ष रहता है।[86] अतः जिस अनुमिति में पक्ष तथा साध्य भी अप्रत्यक्ष हो वहाँ पक्ष और साध्य रूप दोनों अंशों में ज्ञान परोक्ष ही रहता है। इस नियम के अनुसार ही 'सुरभिचन्दनम्' ज्ञान की विशेषता के सम्बन्ध में अधोलिखित प्रकार का आक्षेप करते हैं। जैसे– चन्दन का मूठा; देखने वाले व्यक्ति से दूर है, और उस व्यक्ति को 'यह चन्दन का मूठा सुगन्धी है' इत्याकारक ज्ञान उस मूठे को देखकर ही हुआ है। ऐसी अवस्था में यह ज्ञान 'सौरभ' अंश में परोक्ष है या अपरोक्ष? उस ज्ञान में परोक्ष की सामग्री न होने से उसे परोक्ष नहीं कह सकते। 'जहाँ–जहाँ चन्दन का टुकड़ा होता है, वहाँ वहाँ सुरभित्व होता है' इत्यादि व्याप्तिज्ञानादि, 'परोक्ष ज्ञान' की सामग्री है, परन्तु वह सामग्री 'चन्दन सुरभि है' जो इस ज्ञान के पूर्व सम्भव नहीं होती। इसके अतिरिक्त उस ज्ञान का विषय जो 'सौरभ', वह प्रत्यक्ष–योग्य भी है। इसलिए उस विषय में भी अनुमान करना व्यर्थ है। अतः 'सुरभि चन्दनम्' यहाँ 'सौरभ' अंश में ज्ञान को परोक्ष नहीं कहा जा सकता, और अपरोक्ष भी नहीं कहा सकता। क्योंकि वहाँ सुगन्धाकार वृत्ति, उत्पन्न

[85]शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 27.

[86] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 53.

नहीं हुई है और विषयाकार वृत्ति जब तक उत्पन्न नहीं होती तब तक अपरोक्ष ज्ञान का होना सम्भव नहीं।

परिभाषाकार के मतानुसार 'चन्दन सुगन्धित है' यहाँ सौरभ अंश में ज्ञान परोक्ष ही करते हैं। परिभाषाकार ने 'इत्यादि ज्ञानम्' के आदि शब्द से 'मधुर आम्रफल' इत्यादि दूसरे ज्ञानों का भी ग्रहण करने का निर्देश किया है। जैसे– किसी व्यक्ति ने दूर से ही चन्दन का मूठा चक्षु से देखा और उसे वह मूठा देखकर ही 'चन्दन सुगन्धित है' यह ज्ञान हुआ। उस स्थिति में उसे गन्ध का जो ज्ञान हो रहा है, वह परोक्ष है या अपरोक्ष? कारण यह है कि व्यक्ति ने चन्दन को स्वयं सूंघा नहीं, किन्तु दूर से ही उन पदार्थों को चक्षु से केवल देखा है। अतः उस ज्ञान में संशय होता है।

परिभाषाकार के मत है कि ऐसे प्रसंग में यह स्वीकार करना चाहिए कि 'गंध–रसादि का ज्ञान 'परोक्ष' और चन्दन का टुकड़ा तथा आम्रफल का ज्ञान 'अपरोक्ष' होता है, क्योंकि यदि उस व्यक्ति ने पहले उसी चन्दन का गन्ध लिया होता तो मूठे को केवल देखकर ही 'वह सुगन्धित है' यह उत्पन्न हुआ ज्ञान 'स्मृति' होगा और यदि उसने पहले बिना सूंघे ही 'वह सुगंधित है' यह ज्ञान उसे हो रहा हो तो 'चन्दन–खण्डत्व' रूप लिंग से होने वाला सौरभज्ञान 'अनुमितिज्ञान' होगा'।[87] इस प्रकार के अन्य विषय में भी इसीप्रकार स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि पूर्वोक्त 'पर्वत अग्निमान् है' इस अनुमितिज्ञान में पर्वत की तरह प्रस्तुत उदाहरण में सौरभ व माधुर्य का आश्रयभूत मूठा और आम्रफल प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं । इस कारण तत्तद् अंश में उनका ज्ञान अपरोक्ष ही है।

यह आक्षेप हो सकता है कि सौरभ में भी योग्यविषयता है। वह घ्राणेन्द्रिय का विषय हो सकता है। तब सौरभ अंश में भी ज्ञान अपरोक्ष क्यों नहीं? परिभाषाकार के मतानुसार सौरभ में चक्षुरिन्द्रिय–विषय होने की योग्यता नहीं है तथापि घ्राणेन्द्रिय के विषय होने की योग्यता है, क्योंकि सुगन्ध घ्राणेन्द्रिय का विषय है, वह चक्षुरिन्द्रिय का विषय नहीं।[88] इसलिए परिभाषाकार ने प्रत्यक्ष–प्रयोजक का प्रथमतः जो 'तत्दिन्द्रिययोग्यत्वघटित' लक्षण स्वीकार किया है, उसका इस सौरभ में अभाव है । केवल चक्षु से देखकर सौरभ का अपरोक्ष ज्ञान होना सम्भव नहीं। इसलिये उपर्युक्त आक्षेप नहीं हो सकता।

[87] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 53–'54.
[88] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 54.

3.3 जाति–उपाधि–समवाय का निराकरण–

जिस अनुमितिज्ञान में पक्ष परोक्ष रहता है उस अनुमिति में पक्ष की अपरोक्षता का परोक्षत्व, जिस प्रकार बाधक बनता है उसी प्रकार जिस अनुमिति में पक्ष अपरोक्ष है ऐसे 'चन्दन सुरभि है' ज्ञान में 'पक्षांश' का ज्ञान अपरोक्ष तथा 'साध्यांश' का ज्ञान परोक्ष होता हैं। यह स्वीकार करने पर प्रसिद्ध जातिवाधक 'सांकर्य' की प्राप्ति बाधक होती है। इस कारण 'ज्ञान, पक्ष के अंश में अपरोक्ष और साध्य के अंश में परोक्ष होता है' यह अद्वैत मत अनुचित है। परिभाषाकार ने इस आक्षेप को प्रस्तुत कर अग्रिम से उसका समाधान भी किया है।

परिभाषाकार के अनुसार 'न चैवमेकत्र ज्ञाने परोक्षत्वापरोक्षत्वयोरभ्युपगमे तर्योजातित्वं न स्यादिति वाच्यम्। इष्टत्वात्। जातित्वोपाधित्वपरिभाषायाः सकल प्रमाणोगोचरतया अप्रामाणिकत्वात्। घटोऽयमित्यादि प्रत्यक्षं हि घटत्वादिसद्भावे मानं , न तु तस्य जातित्वेऽपि। जातित्वरूपसाध्यासिद्धौ तत्साधकानुमानस्याप्यनवकाशात्। समवायासिद्ध्या ब्रह्मभिन्न निखिलप्रपंचस्यानित्यतया च नित्यत्वसमवेतत्वघटित जातित्वस्य घटत्वादावसिद्धेश्च। एवमेवोपाधित्वमपि निरसनीयम्'।[89] अर्थात्– 'पूर्वोक्त प्रकार से एक ज्ञान में आंशिक परोक्षत्व और आंशिक अपरोक्षत्व इन दो धर्मों का स्वीकार करने से उन दोनों को भी जातित्व नहीं है' यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि परोक्षत्व और अपरोक्षत्व का जातित्व न होना हमें इष्ट ही है। क्योंकि जातित्व और उपाधित्व की परिभाषा किसी प्रमाण का विषय न होने अप्रामाणिक है। 'यह घट है' इत्यादि प्रत्यक्ष–प्रमाण घटत्वादिकों के अस्तित्व में ही प्रमाण है, उनके जातित्व में प्रमाण नहीं हो सकता। इस प्रकार जातित्वरूप साध्य की अप्रसिद्धि होने से तत्साधक अनुमान की भी प्रवृत्ति हो नहीं सकती और समवाय की प्रमाण से सिद्धि न होने से तथा ब्रह्मभिन्न समस्त प्रपंच की अनित्यता होने से नित्यत्व और समवेतत्व से युक्त जातित्व की घटत्वादिकों में असिद्धि होती है। इस कारण 'यह घट है' इत्याकारक प्रत्यक्ष, घटत्वादिकों के जातित्व में प्रमाण नहीं हो सकता। इसी न्याय से नैयायिकों के परिभाषिक उपाधित्व का भी निरसन कर देना चाहिए।

यह अद्वैत मत को मान्य है कि 'पर्वत वह्निमान् है' इस एक ही ज्ञान में 'परोक्षत्व' भी है और 'अपरोक्षत्व' भी है। परन्तु 'पर्वत वह्निमान् है' यह वह्निप्रकारक–पर्वतविशेष्यक और संयोगसंसर्गक विशिष्ट ज्ञान एक ही है, किन्तु उसे पर्वतरूप विशेष्यांश में प्रत्यक्ष और अग्निरूप .विशेषणांश में परोक्ष स्वीकार करने पर अपरोक्षत्व और परोक्षत्व धर्मों में जातित्व सिद्ध नहीं

[89] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 30.

हो सकता क्योंकि वह विशिष्ट ज्ञान, सांकर्य रूप जातिबाधक–कारण से युक्त है।[90] परस्पर समानाधिकरण न होने वाले दो धर्मों का एक अधिःकरण में रहना संकर कहलाता है। 'संकर', जाति का बाधक दोष है। उपर्युक्त दो धर्मों का 'पर्वतों वह्निमान् है' इस स्थल में संकर होता है। इस कारण वह संकर, परोक्षत्व और अपरोक्षत्व के जातित्व का बाध करता है।

तार्किकों की इस आक्षेप पर परिभाषाकार का मत है कि 'पर्वतो वह्निमान है' इस विशिष्ट ज्ञान में जाति और उपाधि से विलक्षण, परोक्षत्व और अपरोक्षत्व धर्म स्वीकार करने पर परोक्षत्व–अपरोक्षत्व में नैयायिकों को स्वीकार जातित्व सिद्ध नहीं हो सकता। अतः नैयायिकों यह आक्षेप व्यर्थ है। क्योंकि परोक्षत्व और अपरोक्षत्व में जातित्व का न होना, अद्वैत मत को मान्य ही है। अतः अद्वैत मत में 'अपरोक्षत्व और परोक्षत्व' जाति तथा उपाधि से भिन्न धर्म मात्र हैं।[91] इस पर यह आक्षेप हो सकता है कि घटत्वादि अन्य जातियों की तरह परोक्षत्व और अपरोक्षत्व दो जातियाँ भी प्रमाणसिद्ध हैं। तब उनके प्रमाणसिद्ध जातित्व का स्वीकार न करने पर अतिप्रसंग उपस्थित होगा।

अद्वैत मतानुसार जातित्व और उपाधित्व नैयायिकों के संकेत हैं। जाति और उपाधि, प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होती है।[92] अद्वैत मत के इस समाधान पर नैयायिक का आक्षेप है कि नील–घटत्वादि में जैसा उपाधित्व प्रमाणसिद्ध है, उसी तरह घटत्वादि में जातित्व भी प्रमाणसिद्ध हो है। तब अद्वैती यह कैसे कह सकते हैं कि घटत्व–जाति में कोई प्रमाण नहीं ?

परिभाषाकार के मतानुसार नैयायिकों के पारिभाषिक 'जाति' के विषय में जिस प्रकार प्रमाण नहीं, उसी प्रकार 'उपाधि' के विषय में भी प्रमाण नहीं है, इसी कारण परिभाषाकार ने जातित्व के साथ उपाधित्व का भी ग्रहण किया है।[93] अर्थात् 'घटत्वादि में जातित्व रहता है' और 'नील–घटत्व में उपाधित्व रहता है' नैयायिकों की ये दोनों परिभाषाएँ प्रत्यक्षादि किसी प्रमाण का विषय न होने से अप्रामाणिक हैं।

नैयायिक परिभाषाकार के उपर्युक्त समाधान पर आक्षेप करते हैं कि जिस वस्तु का जिस इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है, उसी इन्द्रिय से तन्निष्ठ जाति और उस वस्तु के अभाव का भी ग्रहण होता है' इस न्याय से 'यह घट है' इत्यादि प्रत्यक्षज्ञान से घटत्वजाति का चाक्षुष

---

[90] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 55.
[91] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 56.
[92] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 56.
[93] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 56.

प्रत्यक्ष होता है' तब अद्वैत मतानुयायी यह कैसे कह सकते हैं कि 'जाति और उपाधि' के विषय में कोई प्रमाण नहीं है? परिभाषाकार ने इस आक्षेप का समाधान 'घटोऽयम्.' इत्यादि वाक्य से किया है। जिसका आशय इस प्रकार है– 'यह घट' इत्यादि प्रत्यक्षज्ञान घटत्वादि के अस्तित्व में ही प्रमाण है। उसके जातित्व में प्रमाण नहीं है क्योंकि घटत्व के अस्तित्व का ज्ञान कराकर ही वह कृतकार्य हो जाते हैं।[94] घटत्वादि का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए ही उस प्रत्यक्ष के प्रवृत्त होने से उसका अस्तित्व सिद्ध करते ही वह कृतार्थ हो जाता है और उसके जातित्व की सिद्धि के लिए अप्रवृत्त होने से वह जातित्व की सिद्धि में उदासीन रहता है।

उपर्युक्त समाधान पर आक्षेप करते हैं कि घटत्वजाति में प्रत्यक्ष प्रमाण के न होने पर भी अनुमान प्रमाण है। 'घटत्व जाति है, क्योंकि 'नित्य और अनेकसमवेत होने से', सत्ता की तरह अनुमान से 'घटत्व–जति' की सिद्धि की जा सकती है।[95] परिभाषाकार ने 'जातित्वरूप' इत्यादि वाक्य से इस आक्षेप का समाधान करते हैं। परिभाषाकार के अनुसार 'अनुमान में नित्य ओर अनेकसमवेत रूप लक्षण से युक्त जातित्व रूप साध्य की अप्रसिद्धि होने से उसके अधीन रहनेवाले व्याप्ति ज्ञानादि का भी अभाव होता है। अतः इस जातिसाधक–अनुमान को अवसर ही नहीं मिल पाता'।[96]

इस पर नैयायिक यह आक्षेप करते है कि ऐसे जातित्व की अप्रसिद्धि होने पर भी उस जातित्व के घटक नित्यत्व, एकत्व और अनेकसमवेतत्व, इनकी क्रम से आत्मा, आकाश ओर घटादि में प्रसिद्धि है। क्योंकि 'नित्यमेकमनेकानुगतंसमवेतं सामान्यम्'[97] यह 'सामान्याख्य' जाति का लक्षण किया है। उसमें से नित्यत्व 'आत्मा' में, एकत्व आकाश में, और अनेक–समवेतत्व 'घटादि' में प्रसिद्ध है इस प्रकार प्रसिद्ध नित्यत्वादि का ग्रहण करके उनसे युक्त हुए जातित्व की घटत्वादि में सिद्धि होती है। परिभाषाकार ने 'समवायासिद्धया' इत्यादि वाक्य से आक्षेप का निराकरण किया है। अद्वैत मत में 'समवाय' नाम का कोई पदार्थ ही सिद्ध नहीं है।[98]

फिर भी नैयायिकों के मतानुसार 'यह घट रूपवान् है' मृत्तिका में अर्थात् मृत्तिका रूप अवयवों में घट अवयवी है। यहाँ रूप और घट अथवा मृत्तिका–घट में संयोग की प्रतीति तो होती नहीं, और सम्बन्ध तो रूप–घट, और मृत्तिका–घट में है, अतः परिशेषन्याय से

---

[94] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 57.
[95] मिश्र, जगदीशचन्द्र, 2016. भारतीय दर्शन, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, पृ॰ 414.
[96] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 57.
[97] 'नित्यमेकमनेकानुगतंसमवेतं सामान्यम्' (तर्कसंग्रह)
[98] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 57.

युतसिद्ध–पदार्थों में प्रतीत होने वाले संयोग से भिन्न, अयुतसिद्ध–पदार्थों के 'समवाय' सम्बन्ध की सिद्धि होती।

परिभाषाकार के अनुसार नैयायिकों का यह मत उचित नहीं है। कारण, 'रूपादि' गुण और 'वस्त्रादि' गुणों अथवा 'परमाणु' आदि अवयव और 'द्वयणुक आदि' अवयवी इनमें भेद स्पष्ट है, तथा उनका सम्बन्ध जो समवाय है वह भी अत्यन्त भिन्न है, यह स्वीकार करने पर 'दण्ड' पुरुष' में जिस प्रकार समानाधिकरण का प्रत्यय संभव नहीं होता उसी प्रकार ही 'शुक्ल–घट मृद्घट' इनमें भी समानाधिकरण का प्रत्यय नहीं हो सकता। क्योंकि यह कभी नहीं कहा जा सकता 'दण्डः पुरुषः' दण्ड ही पुरुष है। क्योंकि दण्ड और पुरूष में अत्यन्त भेद है। उसी प्रकार गुण–गुणी, अवयव–अवयवी, और द्रव्य तथा समवाय संबंध के भी अत्यन्त भिन्न होने से शुक्ल–घट, मृद्घट, द्रव्यसमवेत–गुण, आदि में समानाधिकरण प्रत्यय की संभावना भी नहीं की जा सकती। परन्तु 'शुक्लघट, मृत्तिका में घट' ऐसा समानाधिकरणप्रत्यय तो होता है। अतः इस समानाधिकरण्य की प्रीतति से 'शुक्ल–घट' आदि में अभेद ही स्वीकार करना चाहिये। परिभाषाकार के मत में उपर्यक्त 'दण्डः पुरुषः' उदाहरण व्यतिरेकी है। अन्वयी नहीं है।

इसके अतिरिक्त दो समवायी पदार्थों का समवाय, अपने समवायी पदार्थों से संबद्ध होकर विशिष्ट–प्रत्यय का नियामक होता है या उनसे असम्बद्ध रहकर ही वह विशिष्ट–प्रत्यय का नियामक होता है? घट 'द्रव्य' है और रूप 'गुण' है। ये दोनों पदार्थ पृथक् सिद्ध नहीं हैं, अपितु अपृथक् सिद्ध हैं। इसलिए उनमें संयोग–सम्बन्ध नहीं होता, समवाय सम्बन्ध ही सम्भव होता है। इस कारण 'जिसमें समवाय हो वह समवायी', इस व्युत्पत्ति से घट और रूप ये दोनों पदार्थ समवायी हैं। 'समवाय' उन समवायी पदार्थों से सम्बद्ध होकर 'ये दो पदार्थ समवेत हैं' तथा 'घट रूपवान है' इस विशिष्ट प्रत्यय का नियामक होता है या समवाय समवायी पदार्थों से सम्बद्ध न होकर ही उक्त विशिष्ट प्रत्यय का नियामक होता है? परिभाषाकार ने यह प्रश्न 'समवाय संबंध' को पृथक पदार्थ स्वीकार करने वाले नैयायिकों से किया है। इस प्रकार के उभयकोटिक प्रश्न को विकल्प कहते हैं। 'दण्डी पुरुषः' यह विशिष्ट प्रत्यय है। क्योंकि इसमें 'दण्ड' विशेषण और 'पुरुष' विशेष्य है। 'यह पुरुष दण्डवान् है' इस प्रत्यय का विषय 'विशेषणयुक्त पुरूष' है। अतः यह विशिष्ट प्रत्यय है। इसी तरह 'रूपवान् घटः' इसमें भी 'रूप' विशेषण से युक्त विशेषित समवेत घट, विषय है। अतः यह भी विशिष्ट प्रत्यय है। ऐसे विशिष्ट प्रत्यय का नियामक कौन है? सम्बद्ध–समवाय या असम्बद्ध–समवाय है?

परिभाषाकार के मतानुसार 'समवाय, समवायी पदार्थों से सम्बद्ध होकर विशिष्ट प्रत्यय का नियामक होता है' इस प्रथम पक्ष को स्वीकार करने पर अनवस्था दोष उपस्थित होगा।[99] जैसे– नैयायिक को यह स्वीकार है कि 'रूपवान् घटः' इस प्रत्यय में 'रूप और घट' दोनों पदार्थ अत्यन्त भिन्न हैं, फिर भी परस्पर संबद्ध हैं। इन दो अयुतसिद्ध पदार्थों में संयोग सम्बन्ध की सम्भावना तो बन ही नहीं संकती। अतः नित्यसम्बद्ध समवाय की सिद्धि हो जाती है।

परिभाषाकार का मत है कि 'समवाय' भी तो सम्बन्ध ही है। इसीलिए यह रूप और घट इन दो पदार्थों के मध्य में रहता है। यह रूपात्मक या घटात्मक न होकर रूप और घट से अत्यन्त भिन्न है। तब उनका सम्बद्ध सिद्ध करने के लिए एक और सम्बन्ध की आवश्यकता होगी । अन्यथा असम्बद्ध और अतद्रूप समवाय उन दो पदार्थों में किसी प्रकार के अतिशय नहीं उत्पन्न कर सकता। इस कारण रूप और समवाय का कल्पित सम्बन्ध भी परस्पर सम्बद्ध होकर ही सम्बन्धी पदार्थों में अतिशय को उत्पन्न कर सकता है। इस प्रकार समवाय और समवायी का सम्बन्ध होने के लिये दूसरा समवाय, उसके सम्बन्ध के लिये तीसरा, उसके सम्बन्ध के लिए चौथा, इस प्रकार अविच्छिन्न समवाय परम्परा प्राप्त होगी । भारतीय दर्शन में इस प्रकार होने वाली अनन्त प्रक्रिया को अनवस्था दोष कहा जाता है। रूप और घट में समवाय की स्वरूप से ही स्थिति स्वीकार करने पर 'घट और पट' के संयोग की भी स्वरूप से ही स्थिति स्वीकार करनी होगी। आशय यह है कि घट पटादि पदार्थों पर संयोग की समवाय से स्थिति की कल्पना करना अनुचित है । इसलिये रूप और घट का तादात्म्य स्वीकार करना ही सर्वथा युक्तियुक्त है।

यदि यह स्वीकार करें कि समवाय, समवायी पदार्थों से नित्यसम्बद्ध हुआ ही प्रतीत होता है, जिसमें पूर्वोक्त अनवस्था दोष नहीं हो सकता। तो संयोग भी संयोगी पदार्थों से नित्य–सम्बद्ध हुआ ही प्रतीत होता है, ऐसी स्थिति में संयोग से सम्बन्धित होने के लिए एक दूसरे समवाय सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती। यदि यह स्वीकार करें कि दो द्रव्यों का संयोग होने से 'संयोग' एक पृथक् पदार्थ है, जिसे 'गुण' कहते हैं। अतः स्व–स्वरूप से भिन्न स्वरूप वाले द्रव्य से सम्बन्धित होते समय इसे 'समवाय' की अपेक्षा नहीं रहती। तो समवाय भी अर्थान्तर से पृथक् पदार्थ है। दूसरे शब्दों में समवाय भी द्रव्य, गुण और कर्म पदार्थों से वह भिन्न पदार्थ है। तो वह द्रव्य, गुण और कर्म से सम्बन्धित होते समय दूसरे 'समवाय' की अपेक्षा कैसे नहीं कर सकता? अवश्य ही करता है। यदि इस पर यह स्वीकार करे कि 'संयोग'

[99] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 59.

यह गुण पदार्थ होने से द्रव्यों से सम्बन्धित होते समय 'समवाय' की अपेक्षा करता है। 'संयोग' की तरह समवाय स्वयं गुण नहीं है, अपितु सप्त पदार्थों में से छठा पदार्थ संयोग है।[100] अतः संयोग को दूसरे 'सयवाय' की अपेक्षा नहीं होती है। तो 'संयोग' का गुणत्व नैयायिक मत में है, शास्त्रीय नहीं। इसके अतिरिक्त अपेक्षा में निमित्त 'पदार्थान्तरत्व' का होना दोनों में समान है। जिस प्रकार 'संयोग' संयोगी से पृथक् पदार्थ है, उसी प्रकार 'समवाय' भी 'समवायी' से पृथक् पदार्थ है। अतः जिस प्रकार संयोग, संयोगी के साथ सम्बद्ध होने के लिए समवाय की अपेक्षा रखता है उसी प्रकार समवाय को समवायी से सम्बद्ध होने के लिए दूसरे समवाय की अपेक्षा होनी ही चाहिए। दूसरे समवाय के बिना वह समवायी से कैसे सम्बन्धित हो सकता है?

इस अनवस्था दोष के निराकरण को यदि परिभाषाकार पूर्वोक्त विकल्पों में से समवायी से बिना सम्बन्धित हुए ही समवाय विशिष्ट प्रंत्यय का नियामक होता है। इस द्वितीय पक्ष को स्वीकार करें तो 'अतिप्रसंग' दोष होगा।[101] क्योंकि फिर तो कोई भी असम्बद्ध पदार्थ, विशिष्ट प्रत्यय का नियामक हो सकता। असम्बद्ध पट से भी 'रूपवान् घटः' प्रत्यय प्राप्त होने का प्रसंग उपस्थित होगा। इसके अतिरिक्त अद्वैत मतानुयायी तार्किकों से यह प्रश्न काते हैं कि समवाय' अनेक हैं या एक? नैयायिक समवाय को अनेक नहीं सिद्ध कर सकते। क्योंकि यह नैयायिकों की परिभाषा है कि 'समवायस्तु एक एव'[102] 'विशेष' पदार्थ के अनन्त होने पर भी 'समवाय' एक ही है। इसलिए समवाय को अनेक स्वीकार करने पर 'अपसिद्धांत' और 'अतिदोष' उपस्थित होगा । अब यदि 'समवाय' को एक स्वीकार करें तो रूप, ज्ञान आदि का समवाय वायु, घट आदि पर स्थित समवाय से पृथक् न होने से वायु रूपवान् है और घट विलक्षण गतिमान् है,' प्रतीति होने का प्रसंग उपस्थित हो सकता। इस पर यदि नैयायिक यह स्वीकार करें कि वायु में रूप का, और घट में विलक्षण गति का अभाव होने से उपर्युक्त प्रतीति का प्रसंग कैसे उपस्थित होगा? इसका प्रत्युत्तर है कि वायु में रूप को स्थिति का प्रयोजक रूपसमवाय के रहने पर भी रूप का अभाव स्वीकार करें तो 'व्याघात' दोष प्राप्त होगा।

इस प्रकार समवाय के सिद्ध न होने पर प्रत्यक्षगम्य कार्यत्व और ब्रह्मभिन्नत्व लिंग अनुमान से तथा 'हे सोम्य, यह समस्त कार्यरूप जगत् उत्पत्ति से पूर्व सत् ही था'[103] इस

---

[100] 'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्त पदार्थाः' (तर्कसंग्रह)

[101] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 60.

[102] 'समवायस्तु एक एव' (तर्कसंग्रह)

[103] 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' (छांदोग्य उपनिषद्– 6.2.1)

श्रुति से सिद्ध 'ब्रह्म से भिन्न सकल प्रपंच अनित्य है' इस न्याय से नित्यत्व व समवेतत्व विशेषणों से युक्त जातित्व की घटत्वादि में असिद्धि है।

नैयायिकों को स्वीकृत जाति की उपरोक्त प्रकार से अप्रामाणिकता सिद्ध होने से ही परिभाषाकार 'परोक्षत्व और अपरोक्षत्व' को जातिरूप नहीं स्वीकार करते। इसी प्रकार घटत्वादि के जातिरूप होने में भी कोई प्रमाण नहीं है। जाति की अप्रामाणिकता में तीन हेत[104]ु हैं–

1– प्रत्यक्ष तो घटत्व की सत्ता में प्रमाण है।

2– जातित्वरूपसाध्य की अप्रसिद्धि होने से अनुमान प्रमाण को अवसर ही नहीं प्राप्त होता।

3–जातिलक्षण घटित नित्यत्व, समवेतत्व, आदि की असिद्धि होने से भी जाति की सिद्धि नहीं हो पाती।

इस पर नैयायिकों का मत है कि परिभाषाकार ने तो जाति की तरह उपाधि को भी अप्रामाणिक स्वीकार किया था, परन्तु उपरोक्त तीन हेतुओं से मात्र जाति की परिभाषा अप्रामाणिक सिद्ध होती है, उपाधि की नहीं। इस आक्षेप का निराकरण परिभाषाकार 'एवमेव' इत्यादि वाक्य से करते हैं। परिभाषाकार के मतानुसार जातित्व की परिभाषा में अप्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए उपर्युक्त जो तीन हेतु दिये हैं, उन्हीं से उपाधित्व का भी निराकरण हो जाता है।[105] जैसे– 'नीलघटत्व' आदि में उपाधित्व सिद्ध करने के लिए नैयायिकों के द्वारा दी गई नीलघटत्व की परिभाषा अप्रामाणिक है। क्योंकि प्रथमतः 'यह नीलघट है' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण नीलघटत्व के अस्तित्व में प्रमाण है, न कि नील–घटत्व के उपाधि होने में। द्वितीय उपाधित्व रूप साध्य के अप्रसिद्ध होने से तत्साधक अनुमान भी नहीं हो सकता। तृतीय समवाय आदि की सिद्धि न होने से उपाधित्व की भी सिद्धि नहीं होती। यह आक्षेप उठ सकता है कि यद्यपि जाति और उपाधि दोनों अप्रमाणिक हैं, फिर भी एक ही चैतन्य में परोक्षत्व और अपरोक्षत्व रूप दो विरुद्ध धर्मों का रहना कहाँ तक उचित है?

3.3.1 ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का लक्षण–

परिभाषाकार के अनुसार 'पर्वतो वह्निमानि' त्यादौ च पर्वतांशे चान्तःकरणवृत्तिभेदांगीकारेण तत्तद्वृत्त्यवच्छेकभेदेन परोक्षोत्वापरौक्षत्वयोरेकत्र चैतन्ये वृत्तौ न विरोधः। तथा च तत्तदिन्द्रिय योग्य वर्तमान विषयावच्छिन्न चैतन्याभिन्नत्वं

[104] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 60.
[105] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 61.

तत्तदाकारवृत्त्यवच्छिन्नज्ञानस्य तत्तदशे प्रत्यक्षत्वम्'।[106] अर्थात्– 'पर्वत वह्निमान् है' इत्यादि अनुमिति ज्ञान में हम 'पर्वत' अंश में और 'वह्नि' अक्ष में अन्तःकरण वृत्ति का भेद मानते हैं। 'पर्वत' अंश में और 'वह्नि' अंश में भिन्न–भिन्न अन्तःकरण वृत्तियाँ है, यह हमारा सिद्धान्त होने से उन भिन्न वृत्तियों का अवच्छेदक भी भिन्न है। इसलिए एक ही प्रमात्मक चैतन्य में परोक्षत्व और अपरोक्षत्वरूप परस्पर विरूद्ध दो धर्मों के रहने में कोई विरोध नहीं है। अर्थात् वे दोनों धर्म, एक ही चैतन्य में रह सकते हैं। तस्मात् उन इन्द्रियों के योग्य, वर्तमान विवषय से अवच्छिन्न हुए चैतन्य के साथ, तत्तद्विषयाकार हुई इन्द्रियवृत्ति से अवच्छिन्न हुए चैतन्य का अभेद होना ही उस अंश में ज्ञान का प्रत्यक्षत्व है।

परिभाषाकार के पूर्वोक्त घटावच्छिन्न आकाश, मठावच्छिन्न आकाश से भिन्न नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार 'घट' और 'मठ' दोनों विभाजक पदार्थ एक ही देश में स्थित रहते हैं, उसी प्रकार अन्तःकरण वृत्ति और घट का एकदेशस्थ होने से उनमें उपधेय–भेदकत्व नहीं है।[107] इसी तरह 'पर्वत वह्निमान् है' इस ज्ञान में 'पर्वत' और 'वह्नि' इन दो उपाधियों का भी एक–देशस्थत्व है अतः उनमें भी उपधेयभेदकत्व नहीं है। तो एक ही चैतन्य में परोक्षत्व और अपरोक्षत्व कैसे सम्भव है? परिभाषाकार इस आक्षेप का भी समाधान करते हैं– 'यह घट है' इस प्रत्यक्ष ज्ञान में घटावच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरण–वृत्यवच्छिन्न चैतन्य एक ही है। परन्तु 'पर्वत वह्निमान् है' इस अनुमितिज्ञान में, चक्षुरिन्द्रिय का बाह्य पर्वत से सन्निकर्ष होकर पर्वताकार वृत्ति होती है, उस वृत्ति से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य, पर्वत के देश में रहता है अर्थात्, उस वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का देश, बाह्य पर्वत है। परन्तु वह्न्याकारवृत्ति, व्याप्तिज्ञान सें पैदा होती हुई हृदयस्थ चैतन्य की अवच्छेदिका है। इसलिए जिस अनुमिति ज्ञान में 'पक्ष' का प्रत्यक्ष होता है, उस 'पक्ष' के अंश में अपरोक्षत्व और परोक्ष वह्नि के अंश में परोक्षत्व के होने में कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार प्रत्येक विषयाकार वृत्ति से अवच्छिन्न हुए चैतन्य का प्रत्येक इन्द्रिय योग्य, वर्तमान और अबाधित विषय से अवच्छिन्न हुए चैतन्य से अभेद होना ही ज्ञानांश में प्रत्यक्षत्व कार्य प्रयोजक है।[108] यही पूर्वोक्त ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का 'प्रमाण चैतन्य का विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभेद' प्रयोजक शब्द से विवक्षित अर्थ है। इस प्रकार ज्ञानगत–प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक स्पष्टकर आगे विषयगतप्रत्यक्षत्व का प्रयोजक स्पष्ट करते हैं।

---

[106] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 31.

[107] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 62.

[108] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 62.

3.3.2 विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक–

परिभाषाकार के अनुसार 'घटादेर्विषयस्य प्रत्यक्षत्वं तु प्रमात्रभिन्नत्वम्। ननु कथं घटादेरन्तःकरणविच्छिन्न चैतन्याभेद? 'अहमिमं पश्यामि' इति भेदानुभवविरोधादिति चेत्, उच्यते। प्रमात्रभेदो नाम न तदैक्यम्। किन्तु प्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावः। तथा च घटादेः स्वावच्छिन्न चैतन्येऽध्यस्ततया विषयचैतन्यसत्तैव घटादिसत्ता। अधिष्ठानसत्तातिरिक्ताया आरोपितसत्ताया अनंगीकारात्। विषयचैतन्यं च पूर्वोक्तप्रकारेण प्रमातृचैतन्यमेवेति प्रमातृचैतन्यस्यैव घटाद्यधिष्ठानतया प्रमातृसत्तैव घटादिसत्ता, नान्येति सिद्धं घटादेरपरोक्षत्वम्'।[109] अर्थात्– प्रमाता से घटादि विषय का अभिन्नत्व ही विषयगत प्रत्यक्षत्व में प्रयोजक है। घटादि विषयों का अन्तःकरणवच्छिन्न–चैतन्य से अभेद कैसे संभव है? क्योंकि विषय का प्रमाता से अभेद यदि मान लिया जाय तो मैं इस घट को देखता हूँ इस भेदानुभव से विरोध होगा। 'विषय का प्रमात्रभेद से कैसे' यदि पूछो तो कहते हैं– 'प्रमात्रभेद' का अर्थ प्रमात्रैक्य नहीं। किन्तु 'अन्तकरणावच्छिन्न चैतन्य रूप प्रमाता की सत्ता से भिन्न, घटादिविषय की सत्ता का अभाव' ही यहाँ 'प्रमातृभेद' शब्द से विवक्षित है। अतः घटादिविषयों से अवच्छिन्न हुए चैतन्य में घटादि विषयों का अध्यारोप हुआ होने से वैषयचैतन्य–सत्ता ही घटादिविषयों की सत्ता है। क्योंकि वेदान्ती अधिष्ठान की सत्ता से, आरोपित की सत्ता को भिन्न नहीं मानते। पूर्वोक्त प्रकार से प्रमातृचैतन्य ही विषयचैतन्य है। प्रमातृचैतन्य में घटादिविषयों की अधिष्ठानता होने से प्रमातृसत्ता ही घटादिसत्ता है, उससे भिन्न नहीं। इससे घटादिकों का अपरोक्षत्व सिद्ध हुआ।

परिभाषाकार के अनुसार 'यह घट है' यह ज्ञान भी प्रत्यक्ष है और उस ज्ञान का विषय जो 'घट' वह भी प्रत्यक्ष है। इसी का दो प्रकार से निर्देश किया जा सकता है।

प्रथम– 'घट का ज्ञान प्रत्यक्ष है'।

द्वितीय– 'घट प्रत्यक्ष है'।

परिभाषाकार के अनुसार घटादि विषय का प्रमाता से अभिन्न होना ही विषयगत–प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है।[110] नैयायिक का मत में 'इन्द्रिजन्यज्ञानविषयत्व विषय–प्रत्यक्षत्वम्' इन्द्रियों से उत्पन्न हुए ज्ञान का विषय होना ही विषय का प्रत्यक्षत्व है। परन्तु विषयप्रत्यक्ष का लक्षण मनोरूप इन्द्रिय से होने वाले अनुमितिज्ञान में अतिव्याप्त होता

[109]शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 32.

[110] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 63.

है। इसलिए परिभाषाकार ने नैयायिक को स्वीकार 'विषयप्रत्यक्षत्व' का निराकरण करके 'घटादि विषय से प्रमाता का अभेद' को ही विषयप्रत्यक्षत्व का प्रयोजक स्वीकार किया है। नैयायिक इस पर अधोलिखित आक्षेप करते हैं।

नैयायिकों के मतानुसार अद्वैत मत में प्रमेय का प्रमाता से अभिन्नत्व ही घटादि प्रमेय का प्रत्यक्षत्व है। परन्तु 'प्रमात्रभिन्नत्व' से क्या तात्पर्य है? 'घटादि विषयों का प्रमाता से अभेद' या. 'घटादिविषयावच्छिन्न चैतन्य का प्रमाता से अभेद'।

नैयायिकों के अनुसार इन दोनों विकल्पों में प्रथम विकल्प उचित नहीं, क्योंकि विषय स्वयं जड होने से उसका चेतन–प्रमाता से अभेद नहीं हो सकता और द्वितीय विकल्प भी उचित नहीं, क्योंकि 'मैं मनुष्य हूँ इस प्रतीति के समान 'मैं घट हूँ' यह प्रतीति होनी चाहिए। परन्तु 'मैं घट हूँ' यह प्रतीति किसी को भी न होकर 'मैं इस घट को देखता हूँ' इस प्रकार तद्विरुद्ध भेद की प्रतीति होती है। ऐसी स्थिति में 'प्रमात्रभिन्नत्व' कैसे सम्भव हो सकता है?

परिभाषाकार के अनुसार यदि प्रमातृभेद का अर्थ यह होता कि 'घटादि विषय और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य का ऐक्य' तो विरोध हुआ होता' परन्तु यहाँ 'विषय और चैतन्य का ऐक्य' रूप अर्थ विवक्षित नहीं। क्योंकि यहाँ 'अभेद' का अर्थ 'ऐक्य' न होकर 'प्रमातृलक्षण की जो सत्ता, वही प्रमेय सत्ता है, अर्थात् 'प्रमातृसत्ता से विषय की सत्ता का पृथक न रहना' यही प्रमातृ–भेद शब्द का अर्थ है।[111] परिभाषाकार के मत में 'सत्ता' शब्द का अर्थ 'प्रमाता में रहने वाली सत्तारूप जाति' नहीं है। क्योंकि प्रमाता और प्रमेय में रहने वाली जो 'सत्ता' जाति उसके एक ही होने से प्रमातृनिष्ठ सत्ता से अतिरिक्त प्रमातृत्व व प्रमेयत्व की सत्ता असिद्ध है। इत्याकारक सत्तैक्यरूप प्रमात्रभेद के होने का तात्पर्य है कि घटादि–विषय, घटाद्यवच्छिन्न–चैतन्य में आरोपित हैं। अतः विषय–चैतन्य की जो सत्ता है, वही घटादि–विषयों की सत्ता है। आशय यह है कि आरोपित घटादि–विषयों की सत्ता, अधिष्ठानरूप विषयावच्छिन्न–चैतन्य की सत्ता से पृथक् नहीं है। क्योंकि अद्वैत मत में 'अधिष्ठान की सत्ता से आरोपित की सत्ता को पृथक नहीं स्वीकार करते'। शुक्ति रूप अधिष्ठान की सत्ता से आरोपित रजत की सत्ता पृथक नहीं है। शुक्ति की सत्ता से ही शुक्तिरजत के 'सत्तावान' होने की प्रतीत होता है।

पूर्वोक्त 'तडागोदकन्याय' के अनुसार प्रमातृ–चैतन्य ही प्रमेयचैतन्य है। उस कारण प्रमातृचैतन्य ही घटादि–विषयों का अधिष्ठान है। 'आरोपित घटादि का अधिष्ठान प्रमातृचैतन्य

[111] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 64.

होने से प्रमातृचैतन्य की सत्ता ही घटादि की सत्ता है और प्रमातृचैतन्य की सत्ता से घटादि विषयों की सत्ता पृथक् नहीं है। इसलिये प्रमातृ की सत्ता मे घटादि–विषयों की सत्ता का भिन्न न होना ही घटादि को अपरोक्षत्व है'।[112] चैतन्य के नित्य होने से उसकी सत्ता भी नित्य है। किन्तु प्रमातृचैतन्य, प्रमाण–चैतन्य और प्रमेयचैतन्य इस भेद के औपाधिक होने से उनकी सत्ता अनित्य है। घट, पट आदि विषयों का प्रत्यक्ष करते समय तत्तद् विषय से सम्बद्ध तत्तद् त्रिपुटीरूप चैतन्य भी नवीन उत्पन्न हो रहा है, यह ज्ञात होता है। इसलिए परिभाषाकार के उपर्युक्त प्रमातृसत्ता का अर्थ प्रमातृलक्षणसत्ता है, तन्निष्ठ सत्ताजाति नहीं। इसका तात्पर्य है कि विषय के प्रमाता की जो सत्ता, वही उस उस प्रमेय की सत्ता है। इस प्रकार घटादि–विषय के 'प्रमात्रभेद' का अर्थ प्रमातृचैतन्याभेद नहीं है, और अभेद का अर्थ ऐक्य भी नहीं, किन्तु प्रमाता की सत्ता ही घट की सत्ता है। अग्रिम में परिभाषाकार न यह स्पष्ट किया हे कि 'प्रमातृचैतन्य' न कहकर 'प्रमातृ' ही क्यों कहा है?

परिभाषाकार के अनुसार 'अनुमित्यादिस्थले अन्तःकरणस्य वह्न्यादिदेशनिर्गमनाभावे वह्न्यवच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमातृचैतन्यात्मकतया वह्न्यादिसत्ता प्रमातृसत्तातो भिन्नेति नातिव्याप्तिः'।[113] अर्थात्– परन्तु अनुमिति आदि ज्ञानों में अन्तःकरण, वृत्ति के द्वारा अनुमेय वह्नि आदि के देश में नहीं जाता। उस कारण वह्न्यवच्छिन्न–चैतन्य को प्रमातृचैतन्यरूपता नहीं है। इसी से वह्नि आदि की सत्ता, प्रमातृसत्ता से भिन्न है। इस कारण पूर्वोक्त घटादिविषय के प्रत्यक्ष लक्षण की अनुमेय वह्नि आदि परोक्ष–विषयों अतिव्याप्ति नहीं होती।

परिभाषाकार के अनुसार यदि घटादि–विषयों के प्रत्यक्ष में प्रयोजक 'प्रमात्र भिन्नत्व' को स्वीकार करें तो इसकी अनुमिति के विषयों में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'प्रमात्र–भिन्नत्व' का अर्थ 'प्रमातृचैतन्याभिन्नत्व' करने से यह आक्षेप हो सकता है कि अनुमेय वह्नि आदि की सत्ता, चैतन्य की सत्ता से पृथक नहीं है। परन्तु अनुमेय विषय की सत्ता, चैतन्य की सत्ता से पृथक् न होने पर भी अनुमेय विषय प्रमातृरूप नहीं होता, इसलिये अतिव्याप्ति नहीं होती है। घटादि के प्रत्यक्ष–ज्ञानों में अन्तःकरण–वृत्ति, घटादि–विषयों के प्रदेश में जाकर विषय के आकार को धारण करती है। इसलिये वहाँ घटादि विषयों का प्रमाता के साथ अभेद सम्भव होता है। परन्तु अनुमिति आदि ज्ञानों में अन्तःकरण–वृत्ति, विषय के प्रदेश में नहीं जाती। इसलिये वहाँ वह्न्यावच्छिन्न–चैतन्य और प्रमातृचैतन्य इन दोनों का अभेद नहीं होता। अतः अनुमिति विषय की सत्ता, प्रमातृसत्ता से भिन्न है। इसी कारण विषयगत–प्रत्यक्षत्व के

[112] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 65.
[113] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 34.

प्रयोजक–लक्षण की अनुमेय विषय में अतिव्याप्ति नहीं होती। इसीलिए परिभाषाकार ने लक्षण में इसीलिये 'चैतन्य' पद का प्रयोग न कर 'प्रमात्रभेद' शब्द का प्रयोग किया है। इस पर पुनः वादी अन्य प्रकार से अतिव्याप्ति का आक्षेप करते हैं और परिभाषाकार इसका भी निराकरण करते हैं।

परिभाषाकार के अनुसार 'नन्वेवमपि धर्माधर्मादिगोचरानुमित्यादि स्थले धर्माधर्मयो प्रत्यक्षत्वापत्तिः। धर्माद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमातृचैतन्याभिन्नतया धर्मादिसत्तायाः प्रमातृसत्तानतिरेकादिति चेत्,। योग्यत्वस्यापि विषयविशेषणत्वात्'।[114] अर्थात्– शंकाः यद्यपि धर्म–अधर्म आदि विषयों का जहाँ अनुमितिज्ञान होता है, वहाँ धर्माधर्म आदि में प्रत्यक्षत्व की प्राप्ति हो ही जाएगी। क्योंकि धर्मादि (विषय) से अवच्छिन्न चैतन्य, प्रमातृचैतन्य से वहाँ अभिन्न है। अतः प्रमाता की सत्ता से अभिन्न सत्ता वाला धर्मादि (विषय) हो ही गया है। ऐसी शंका ठीक नहीं। इस शंका के निवारणार्थ विषय में 'योग्यता' का विशेषण जोड़ देना चाहिए। धर्मादि (विषय) में प्रत्यक्ष की योग्यता ही नहीं है। अतः उसकी अनुमिति में धर्मादि में प्रत्यक्षत्व की आपत्ति नहीं होगी।

परिभाषाकार के अनुसार 'प्रमाता की प्रमातृलक्षणसत्ता से प्रमेय की सत्ता का पृथक् न होना' इस लक्षण की पूर्वोक्त प्रकार से अतिव्याप्ति, अनुमेय वह्नि आदि विषयों में अन्तःकरण के न जाने से न होने पर भी धर्म आदि परोक्षविषयक अनुमितिज्ञान में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि धर्मादि विषयों से अवच्छिन्न अन्तःकरणस्थ–चैतन्य और प्रमातृचैतन्य का अभेद होने से धर्मादि की सत्ता प्रमातृचैतन्य से भिन्न नहीं है'।[115] इस अतिव्याप्ति के निराकरण के लिए लक्षणगत 'विषय' में 'योग्य' विशेषण के देने से धर्मादि के प्रत्यक्ष होने का प्रसंग प्राप्त नहीं होता है। यह समाधान पूर्व में दिया गया है। किसी भी वादी के मत में 'धर्माधर्म पदार्थ' प्रत्यक्ष के योग्य नहीं है। सभी दार्शनिक धर्माधर्म को परोक्ष ही स्वीकार करते हैं। इससे धर्माधर्मादिपरोक्ष–विषय में अतिव्याप्ति नहीं हो सकती।

परिभाषाकार के अनुसार 'नन्वेवं 'रूपी घटः' इति प्रत्यक्षस्थले घटगतपरिमाणादौ प्रत्यक्षत्वापत्तिः। रूपावच्छिन्न चैतन्यस्य परिमाणाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य चैकतया रूपावच्छिन्न चैतन्यस्य प्रमातृ चैतन्याभेदे परिमाणाद्यवच्छिन्न चैतन्यस्यापि प्रमात्रभिन्नतया परिमाणादि सत्तायाः प्रमातृ सत्तातिरिक्तत्वाभावादिति चेत, न। तत्तदाकार वृत्त्युपहितत्वस्यापि प्रमातृ विशेषणत्वात्। रूपाकार वृत्तिदशायां परिमाणाद्याकारवृत्त्यभावेन परिमाणाद्याकारवृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्याभिन्न

[114] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 34.
[115] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 66.

सत्ताकत्वाभावेनाति व्याप्त्यभावात्' ।[116] अर्थात्– शंका होती है कि आपका कहना तो ठीक है, परन्तु, 'रूपी घटः' इस प्रत्यक्ष स्थल में घटगत परिमाण आदि का भी प्रत्यक्ष हो जाना चाहिए। क्योंकि रूपादि से अवच्छिन्न चैतन्य और परिमाण द्यवच्छिन्न चैतन्य तो एक है और इसलिए रूपावच्छिन्न चैतन्य जैसे प्रमातृचैतन्य से अभिन्न है, वैसे ही परिमाणावच्छिन्न चैतन्य भी प्रमातृ चैतन्य से अभिन्न ही है। अतः परिमाण आदि की सत्ता प्रमाता की सत्ता से अभिन्न हो ही गई। तो विषय के प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति हुई। इसका समाधान यह है कि, हाँ, इस स्थल में अतिव्याप्ति को दूर करने के लिए प्रमाता में 'तत्तद्विषयाकारवृत्ति उपहितत्व' ऐसा विशेषण देना जरूरी है। मतलब कि उस उस विषय के आकार वाली वृत्ति से वह प्रमाता उपहित होना चाहिए। अतः रूपाकारवृत्ति दशा में प्रमाता में परिणामाद्याकार वृत्ति न होने से, परिणामाद्याकार वृत्ति अपहित प्रमातृचैतन्य से परिमाण आदि की अभिन्न सत्ता तो नहीं हुई है। अतः अतिव्यप्ति न हुई।

जिस क्षण में घट के रूप का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसी क्षण में घटगत परिमाण का भी प्रत्यक्ष होता है, अतः उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। रूप का प्रत्यक्ष होने के समय घट–परिमाण का भी प्रत्यक्ष होता है। कारण यह है कि रूपावच्छिन्न चैतन्य ही परिमाणावच्छिन्न चैतन्य है इसलिए परिमाणादिकों की सत्ता प्रमातृसत्ता से भिन्न नहीं है, क्योंकि परिमााणादि के कल्पित होने से उनके अधिष्ठानभूत चैतन्य की सत्ता ही परिमाणादि की सत्ता है और स्वाधिष्ठानभूत चैतन्य के प्रमातृरूप होने से पूर्वोक्त लक्षण की परिमाण आदि में अतिव्याप्ति होती है।

परिभाषाकार के अनुसार घटगत–परिमाण की सत्ता प्रमातृसत्ता, से पृथक् न होने पर भी जिस समय घट का प्रमाता विद्यमान है उसी समय घट में घटगत–रूप से भिन्न गुणों के रहने पर भी तत्तदाकारवृत्ति से युक्त प्रमातृचैतन्य की सत्ता से परिमाणादि विषयों की सत्ता भिन्न होने से पूर्वोक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं।[117]

इस प्रकार विषयगत–प्रत्यक्षत्व–प्रयोजक का लक्षण 'प्रमात्रभेद' सिद्धकर लक्षणगत 'अभेद' का अर्थ 'ऐक्य' 'नहीं, किन्तु प्रमातृसत्ता से प्रमेयसत्ता का अभिन्न होना है अर्थात् प्रमाता की जो सत्ता, वही प्रमेय की सत्ता है। इस प्रकार 'अभेद' का अर्थ स्पष्टकर, इस लक्षण की अनुमिति आदि में अतिव्याप्ति का न होने को स्पष्ट करते हैं। परिभाषाकार ने धर्माधर्मादि परोक्ष स्थलों में अतिव्याप्ति को दूर करने के लिए 'विषय' में 'प्रत्यक्ष–योग्य' विशेषण का प्रयोग करने

[116] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 35.
[117] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 68.

का निर्देश किया है। 'रूपवान घटः' प्रत्यक्ष के समय घटगत परिमाणादि गुणों में अतिव्याप्ति नहीं होती, यह भी स्पष्ट किया है।

परिभाषाकार के अनुसार 'नन्वेवं वृत्तावव्याप्तिः। वृत्तिगोचरवृत्त्यनंगीकारेण तत्र स्वाकार वृत्त्युपहितत्वघटितोक्त लक्षणाभवादिति चेन्न, अनवस्थाभियावृत्तेर्वृत्त्यन्तराविषयत्वेऽपि स्वविषयत्वाभ्युपगमेन स्वविषय वृत्युपहित प्रमातृचैतन्याभिन्न सत्ताकत्वस्य तत्रापि भावात्। एवंचन्तकरणतद्धर्मादीनां केवलसाक्षि विषयन्वेऽपि तत्तदाकार वृत्त्यभ्युपगमेन उक्तलक्षणस्य तत्रापि सत्त्वान्नव्याप्ति'।[118] अर्थात्– यहाँ ऐसी शंका होती है कि 'रूपी घट' में रूप का ही प्रत्यक्ष हुआ है। परिमाणादि की वृत्ति के अभाव में परिमाण का प्रत्यक्ष नहीं हुआ, ठीक है। प्रमाता में 'तत्तद्विषयाकारवृत्ति से उपहितत्व'इतना विशेषण जोड़ देने पर भी) वृत्ति के प्रत्यक्ष में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाएगी। क्योंकि अनवस्था दोष के भय से जैसे आप एक वृत्ति को विषय करने वाली किसी अन्य वृत्ति को तो मान नहीं सकते हैं। अर्थात् जैसे आप घटाकार वृत्ति मानते हैं, वैसे वृत्याकार वृत्ति मान नहीं सकते हैं – ऐसा करने से अनवस्था दोष होती है। ऐसा होने पर वृत्ति के प्रत्यक्ष में आपका पूर्वोक्त लक्षण न जाने से अतिव्याप्ति होगी – आपका लक्षण छोटा पड़ जायेगा। क्योंकि वृत्ति को प्रत्यक्ष करने वाली दूसरी वृत्ति तो हैं नहीं। क्योंकि ठीक है, विषय के प्रत्यक्ष के लिए विषयकार वृत्ति होती है, वैसे वृत्ति के प्रत्यक्ष के लिए वृत्याकारवृत्ति तो अनवस्था के डर से नहीं मानी जा सकती। पर वृत्ति के प्रत्यक्ष के लिए दूसरी वृत्ति की आवश्यकता ही नहीं। उसी विषयकार वृत्ति से उसका स्वयं वृत्ति का प्रत्यक्ष हो जाता है, ऐसा हमारा सिद्धान्त है। अतः स्व–विषय–वृत्ति–उपहित–प्रमातृ चैतन्य के साथ अभिन्न हो जाने से चैतन्य की सत्ता से अभिन्न सत्ता, वृत्ति की हो ही जाती है। इस प्रकार अन्तःकरण और अन्तःकरण को सुख–दुःखादि धर्म केवल साक्षी के विष माने जाने पर भी तत्तदाकार वृत्ति भी सिद्धान्त में मानी जाती है। अतः विषयगत प्रत्यक्षत्व के लक्षण में, वृत्ति का प्रत्यक्ष समीचीन रूप से लागू हो जाता है इसलिए अव्याप्ति नहीं है।

'जिस प्रकार घटादि पदार्थ जड़ है उसी प्रकार अन्तःकरणवृति भी जड़ है। सभी जड पदार्थ अज्ञान से आवृत होने से स्वतः प्रकाशमान नहीं होते, परन्तु उस पदार्थविषयक–वृत्ति के द्वारा आवरण का भंग होने पर ही पदार्थ प्रकाशित होते हैं'।[119] अतः घटादिविषय जिस प्रकार की वृत्ति से प्रकाशित होते हैं उसी प्रकार वृत्ति भी दूसरे अन्तःकरणवृत्ति से ही प्रकाशित होने के योग्य होती है। कारण यह है कि वृत्ति के जड़ होने से घट की तरह उसका स्वयंमेव

[118] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 36.
[119] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 69.

ज्ञान होना भी सम्भव नहीं। अतः उस वृत्ति के आवरणभंग के हेतु, वृत्ति–विषयक दूसरी वृत्ति की आवश्यकता होती है। परन्तु एक वृत्ति के आवरण भंगार्थ दूसरी वृत्ति के स्वीकार करने पर उसके आवरण भंग के लिए तीसरी, उसके आवरण भंग के लिए चौथी इस प्रकार यह प्रक्रिया अनवस्थादोष को प्राप्त होती है। और यदि वृत्ति को ही न स्वीकार किया जाये, तो वृत्ति के अभाव में जड़ वस्तु का ज्ञान होना सम्भव नहीं। यह 'उभयतःपाशा रज्जु' अद्वैत मत में मान्य होती है।

अनवस्थादोष के भय से वृत्तिविषयक–वृत्ति को अस्वीकार कर सकने के कारण विषयाकारवृत्युपहित प्रमातृचैतन्य की सत्ता ही विषयावंच्छिन्नचैतन्य की और घटादिविषय की सत्ता है। यह पूर्वोक्त विषयगत–प्रत्यक्षत्व–प्रयोजक का लक्षण, वृत्ति में नहीं है। परन्तु वृत्ति का प्रत्यक्ष होता है। इसलिए 'लक्ष्य के एक देश में लक्षण का न रहना' यही अव्याप्ति है। परिभाषाकार ने इस आक्षेप की व्यवस्थित स्थापनाकर उसका निराकरण भी किया है।

परिभाषाकार के मतानुसार यद्यपि यह सत्य है कि ब्रह्म–भिन्न सभी पदार्थ जड़ है, फिर भी उन जड़ पदार्थों में भी स्वभाव की विविधता है क्योंकि सभी जड़ पदार्थ एक से स्वभाव के नहीं होते।[120] जैसे– घट और दीप दोनों पदार्थ ब्रह्मभिन्न होने से जड़ हैं। फिर भी घट को प्रकाश और चक्षुरिन्द्रिय के सन्निकर्षादि–सम्बन्ध की स्वाभाविक अपेक्षा रहती है। जबकि दीप को प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती । दीप, घट को प्रकाशित करते हुए स्वयं को भी प्रकाशित करता है। इसी प्रकार अन्तःकरणवृत्ति भी जिस विषय को प्रकाशित करने के लिए पैदा हुई हो, उसे प्रकाशित करती हुई ही, दूसरी वृत्ति की अपेक्षा किए बिना स्वयं को भी प्रकाशित करती है। क्योंकि जड़ पदार्थों के विचित्र अनुभव के आधार से कुछ जड़ पदार्थों में भी कतिपय स्वभाव विशेषों को अगत्या स्वीकार करना पड़ता है।

एक वृत्ति को विषय करने वाली वृत्ति–विषयक वृत्ति को स्वीकार करने पर अनवस्था दोष के प्रसंग का भय होने से ही अद्वैत मत में वृत्तिविषयक वृत्ति नहीं स्वीकार की जाती, तथापि परिभाषाकार का अभ्युपगम है कि 'मैं इस घट को जानता हूँ' इस वृत्ति में स्वविषयत्व होने से अव्याप्ति नहीं होती। क्योंकि 'कोई भी वृत्ति अपने से भिन्न वृत्ति के द्वारा अवच्छिन्न हुए चैतन्य से प्रकाशित नहीं होती अर्थात् वह अपने ही से अवच्छिन्न हुए चैतन्य से प्रकाशित होती है'।[121]

---

[120] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 70.
[121] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 71.

इसी प्रकार अन्तःकरण और उसके कामादि धर्मों को केवल साक्षिविषयत्व के होते हुए भी वृत्तिविषयत्व का भी स्वीकार करने से उक्त स्थल में भी अव्याप्ति नहीं होती। परिभाषाकार के मत में 'कामादि' यहाँ आदि शब्द से प्रातिभासिक रजतादि के ग्रहण भी का संकेत है। यह प्रश्न हो सकता है कि जब परिभाषाकार ने 'केवल–साक्षिविषयत्व' में 'केवल' शब्द वृत्त्यादि की व्यावृत्ति करने के लिए प्रयोग किया है, तो परिभाषाकार उसके विरूद्ध अन्तःकरणादि में वृत्ति–विषयत्व कैसे सिद्धकर रहे हैं?

परिभाषाकार के अनुसार 'न चान्तःकरणतद्धर्मादीनां वृत्तिविषयत्वाभ्युपगमे केवलसाक्षि विषयत्वाभ्युपग विरोधः इति वाच्यम्। न हि वृत्तिं बिना साक्षिविषयत्वं केवलसाक्षि वेद्यतवम्। किन्त्विन्द्रियानुमानादि प्रमाण व्यापारमन्तरेण साक्षिविषयत्वम्। अत एवांहकारटीकायामाचार्यैहमाकार वृत्तिरंगीकृता। तथा चान्तःकरण तद्धर्मादिषु केवलसाक्षिवेद्येषु वृत्त्युपहितत्व घटित लक्षणस्य सत्त्वान्नाव्याप्तिः'।[122] अर्थात्– यहाँ आपको (पूर्वपक्षी को) ऐसा नहीं कहना चाहिए कि 'अन्तःकरण और उसके धर्मों को वृत्ति का विषय जब आप मानेंगे, तब तो आपके 'केवलसाक्षिवेद्यत्व' के सिद्धान्त का विरोध स्पष्ट हो गया।' क्योंकि हम केवल साक्षित्व का अर्थ वृत्ति के बिना साक्षिविषयत्व ऐसा नहीं करते परन्तु इन्द्रियाँ और अनुमानादि प्रमार्गों के व्यापार के बिना ही जो साक्षी का विषय हो उसे 'केवलसाक्षिवेद्य' कहते हैं। इसलिए ही अहंकार की टीका में पद्मपादाचार्य ने अहमाकार अन्तःकरण की वृत्ति मानी है। और इसलिए प्रातिभासिक रजताकार अविद्या की वृत्ति साम्प्रदायिकों ने मानी है। अतः अन्तःकरण और उसके धर्म सुखदुःखादि केवलसाक्षिवेद्य विषय में भी 'वृत्ति–उपहितत्व' से घटित लक्षण विद्यमान होने से किसी प्रकार अतिव्याप्ति नहीं हो सकती।

परिभाषाकार के मतानुसार 'केवल–साक्षिविषयत्व' में 'केवल' शब्द वृत्त्यादि की व्यावृत्ति के लिए है। इस अन्यथा कल्पना के कारण ही नैयायिकों ने आक्षेप किया था। परन्तु परिभाषाकार के मत में यहाँ 'केवल' शब्द, वृत्ति आदि का व्यावर्तक न होकर प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों के इन्द्रिय सन्निकर्षादि व्यापारों की व्यावृत्ति के लिए है, इसलिये कोई विरोध नहीं है। क्योंकि 'वृत्ति के अभाव में साक्षिविषयत्व' यह केवल साक्षिविषयत्व, न होकर 'प्रत्यक्षादि–प्रमाणों के व्यापार के बिना साक्षिविषयत्व' है। अद्वैत मत में इसे ही केवल साक्षिविषयत्व कहा जाता है।

[122] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 37.

ब्रह्मसूत्र के 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'[123] सूत्र के शांकारभाष्य पर आचार्य पद्मपाद की 'पच्चपादिका' नाम की टीका पर श्री प्रकाशाचार्य का विवरण[124] है, उसी का अन्य नाम 'अहंकार टीका' भी है। उसके प्रथम वर्णक में 'अहं वृत्यवच्छिन्नमेव अन्तःकरणं चैतन्यस्या विषयभावमापद्यते' अर्थात्– अहं वृत्ति से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य ही विषयनाव को प्राप्त होता है–कहा है। प्रकाशाचार्य ने अन्तःकरण को विषय को करने वाली वृत्ति को अहम्–इत्याकारक स्वीकार किया है। इसलिए 'केवल साक्षिभास्यत्व' के 'केवल' शब्द से 'वृत्ति' की व्यावृत्ति न होकर प्रत्यक्षादि प्रमाणों के इन्द्रिय–सन्निकर्षादि व्यापारों की व्यावृत्ति होती है।[125] अतः 'अन्तःकरण और उसके कामादि धर्मों में वृत्तिविषयत्व को स्वीकार करने पर भी 'केवल–साक्षि–विषयत्व' के मत से विरोध नहीं होता। प्रकाशाचार्य द्वारा अहमाकार–अन्तःकरणवृत्ति को स्वीकार किए होने से संक्षेपशारीरकाचार्य सर्वज्ञमुनि ने भी प्रातिभासिक शुक्तिरजत–स्थल में रजताकार–अविद्यावृत्ति को स्वीकार किया है। इस प्रकार अन्तःकरण और उसके कामादि धर्मों को वृत्तिविषयत्व सिद्ध होने से पूर्वोक्त अव्याप्ति का निराकरण स्वयंमेव हो जाता है। जैसे– विषयाकार–वृत्त्युपहित–प्रमातृचैतन्य की सत्ता से विषय की सत्ता का पृथक् न होना' ही विषयगत–प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है और यही लक्षण, केवल साक्षिवेद्य हुए अन्तःकरण और उसके कामादि धर्मों में भी है। कारण यह है कि अद्वैत मतनुयायियों ने अन्तःकरणादि विषयक 'अहमाकार' वृत्ति स्वीकार की है। इसलिए 'वृत्युपहितत्व' विशेषण से युक्त लक्षण अन्तःकरणादि प्रत्यक्ष में भी है। अतः लक्षण की अव्याप्ति नहीं हो सकती है।

इस प्रकार परिभाषाकार ज्ञानगत और विषयगत–प्रत्यक्षत्व के प्रयोजक के सभी दोषों का निराकरण कर, उसे सामान्यजनों के लिए सरलता से बोधार्थ उपर्युक्त विशेषणों से प्राप्त हुए लक्षण को संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं।

3.3.3 विषयगत प्रत्यक्षत्व का लक्षण–

परिभाषाकार के अनुसार 'तदयं निर्गलितोऽर्थः। स्वाकारवृत्त्युपहित प्रमातृ सत्तातिरिक्तसत्ताकत्वशून्यत्वे सति योग्यत्वं विषयस्य प्रत्यक्षम्। तत्र संयोगसंयुक्ततादात्म्यादीनां सन्निकर्षाणां चैतन्याभिव्यंजकवृत्तिजनने विनियोगः'।[126] अर्थात्– पूर्वोक्त विषयगत प्रत्यक्ष का निकृष्ट लक्षण इस प्रकार होता है कि – ''घटादि विषयाकार वृत्ति से उपहित प्रमातृचैतन्य

---

[123] 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' (शारीरकभाष्य– 1.1.1)

[124] मिश्र, जगदीशचन्द्र, 2016. भारतीय दर्शन, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, पृ॰ 591.

[125] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 72.

[126] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 38.

की सत्ता से भिन्न सत्ता न हो, और योग्यत्व हो तो विषय का प्रत्यक्षत्व हो जाता है। और वहाँ पर संयोग, संयुक्त, वादात्म्य आदि सम्बन्धों का चैतन्य की अभिव्यंजक वृत्ति को उत्पन्न करने में विनियोग है, ऐसा मानना चाहिए।

परिभाषाकार के मतानुसार प्रमातृ–चैतन्य की सत्ता और विषय की सत्ता के एक होने पर 'यह घट प्रत्यक्ष है' यह व्यवहार होता है क्योंकि विषयाकारवृत्ति में उपहित हुए प्रमातृ–चैतन्य की सत्ता से, प्रत्यक्षयोग्य विषय की सत्ता का अपृथक् होना ही विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है।[127] इस प्रकार अद्वैत मत में ज्ञानगतप्रत्यक्षत्व और विषयगत–प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक स्पष्ट किया है। प्रत्यक्षयोग्य–विषयाकार वृत्ति से अवच्छिन्न हुए चैतन्य का प्रत्यक्षविषयावच्छिन्न चैतन्य की अपृथक् सत्ता का होना ही ज्ञानगत–प्रत्यक्षत्व' में प्रयोजक है। 'विषयज्ञान प्रत्यक्ष है' इसी आकार में ज्ञानगत–प्रत्यक्षत्व का व्यवहार होता है। इसी प्रकार प्रत्यक्षयोग्य विषय का पूर्वोक्त प्रकार से प्रमातृ–चैतन्य के साथ अभेद, विषयगत–प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है। जैसे– 'घटः प्रत्यक्षः' घट प्रत्यक्ष है इस आकार में उसका व्यवहार होता है।

परिभाषाकार के मत में चैतन्य ही प्रत्यक्ष–विषय का ज्ञान है एवं चैतन्य अनादि है। जब चैतन्य ही प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय हो तो प्रत्यक्ष में संयोगादि सन्निकर्षों का क्या उपयोग है? परिभाषाकार ने इस आक्षेप का समाधान भी किया है कि 'उपरोक्त प्रकार से द्विविध प्रयोजकों के सिद्ध होने पर संयोग, संयुक्ततादात्म्य, संयुक्त भिन्न तादात्म्य, तादात्म्य, अभिन्नतादात्म्य आदि सन्निकर्षों का घट, घटगतरूप, रूपगत रूपत्व, शब्द और शब्दत्व से अवच्छिन्न हुए चैतन्य को अभिव्यक्त करने वाली वृत्ति को उत्पन्न करने में विनियोग होता है और ये संयोगादि–सन्निकर्ष तत्तदृविषयावच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यंजकवृत्ति को उत्पन्न करते हैं'।[128] जैसे– संयोग से घटाकारवृत्ति, संयुक्त–तादात्म्य से घटगतरूपाकारवृत्ति, संयुक्ताभिन्नतादात्म्य से घट–रूपगत रूपत्वाकार वृत्ति, तादात्म्य से शब्दाकार वृत्ति और अभिन्नतादात्म्य से शब्दगत–शब्दत्वाकार वृत्ति उत्पन्न होती है और प्रत्येक वृत्ति, चैतन्य की ही अभिव्यंजक है। अब इन संनिकर्षों से उत्पन्न होने वाली अन्तःकरण वृत्ति कितनी प्रकार की है?

[127] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 73.
[128] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 73.

3.3.4 अन्तःकरण वृत्ति के चार प्रकार–

परिभाषाकार के अनुसार 'सा च वृत्तिश्चतुर्विधा। संशयो, निश्चयो गर्वः स्मरणामिति। एवंविधवृत्तिभेदेन एकमप्यन्तःकरणं मन इत्ति बुद्धिरिति अहंकार इति चित्तमिति व्याख्यायते'।[129] तदुक्तम्–

मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम्।

संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे।।

अर्थात्– पूर्वोक्त रीति से सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाली वृत्ति चार प्रकार की होती हैः संशय, निश्चय, गर्व, और स्मरण। अन्तःकरण तो एक ही है, फिर संशय आदि वृत्ति के भेद से उसके चार नाम पड़ गये हैं। मन, बुद्धि, अहंकार, और चित्त। इसी को पूर्वाचार्यों ने बताया है कि मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त रूप से अन्तःकरण चार प्रकार का है और संशय, निश्चय, गर्व और स्मरणादि उनके विषय है।

परिभाषाकार के मतानुसार उपरोक्त सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाली 'वृत्ति' से अवच्छिन्न हुआ 'चैतन्य' ही प्रत्यक्ष और 'वृत्ति', अन्तःकरण का परिणाम है। अतः अन्तःकरण की घटक भूत–वृत्ति से युक्त अन्तःकरण का निरूपण करना प्रकृत में असंगत नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण का निरूपण चैतन्य की प्रकृत है और अन्तःकरण का निरूपण चैतन्य का उपकारक है एवं अन्तःकरण 'संशयाकार, निश्चयाकार, गर्वाकार और स्मरणाकार' इन चार प्रकार के आकारों में परिणत होने से अन्तःकरण वृत्ति भी चार प्रकार की होती है।[130] इन चार प्रकार के अन्तःकरण की वृत्तियों को क्रमशः मन, बुद्धि, अहंकार एवं चित्त कहा जाता है। वस्तुतः एक वृत्ति के होते हुए भी अन्तःकरण, संशयादि विषयाकार से परिणत हुई विविध वृत्तियों के भेद से विविधता को प्राप्त होता है। मन, बुद्धि अंहकार एवं चित्त ये सभी अन्तःकरण की कार्य–पद्धित का एक अंश मात्र हैं।

3.3.4.1 मन का स्वरूप– संशयाकार वृत्ति में परिणत हुए अन्तःकरण को 'मन' कहते हैं। मन का विषय संशय होता है। अद्वैत–मत में मन की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। 'मन अन्तःकरण की उस स्थिति को प्रदर्शित करता है, जिसमें अन्तःकरण को विषय की अवगति होती है परन्तु विषय से सम्बन्धित कोई निश्चित ज्ञान अन्तःकरण में नहीं होता है'।[131]

---

[129] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 39.

[130] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 75.

[131] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भरतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 74.

3.3.4.2 बुद्धि का स्वरूप– निश्चयाकार वृत्ति में परिणत हुए अन्तःकरण को 'बुद्धि' कहते हैं। बुद्धि का विषय निश्चय होता है। बुद्धि अन्तःकरण की उस स्थिति को प्रदर्शित करता है, जिसमें अन्तःकरण को विषय की अवगति होने के साथ ही विषय से सम्बन्धित कोई निश्चित निर्णय की स्थिति में होता है।[132] जैसे– यह किताब है, वह मेज है आदि।

3.3.4.3 अहंकार का स्वरूप– गर्वाकार वृत्ति में परिणत हुए अन्तःकरण को 'अहंकार' कहते हैं। अंहकार का विषय गर्व होता है। अहंकार अन्तःकरण के उस पक्ष को प्रस्तुत करता है, तब अन्तःकरण 'अहम्' अर्थात् 'मैं' से सम्बन्धित निर्णयों से जुड़ता है यथा 'मैं प्रसन्न हूँ'।[133] अर्थात् अंहकार में अन्तःकरण को विषय की अवगति, विषय से सम्बन्धित कोई निश्चित निर्णय का ज्ञान होने के साथ उस निश्चित निर्णय से अन्तःकरण के सम्बन्धित होने की अवस्था को अंहकार कहा जाता है। जैसे– मैं घड़े को जानता हूँ, मै पुस्तक पढ़ता हूँ आदि।

3.3.4.4 चित्त का स्वरूप– स्मरणाकार वृत्ति में परिणत हुए अन्तःकरण को 'चित्त' कहते हैं। चित्त का विषय स्मरण होता है। चित्त अन्तःकरण की स्मरण करने की स्थिति को प्रकट करता है।[134] जैसे– भूतकाल की घटनाओं की स्मृति।

परिभाषाकार कृत 'अन्तःकरण' का उपर्युक्त विभाग स्वकपोलकल्पित न होकर उसमें पूर्वाचार्यों की 'मनों बुद्धिः' से सम्मति भी प्रदर्शित की है। वृत्तिभेद से वृत्तिमान् का भेद होने से, एक ही अन्तःकरण, मन आदि भेद से चार प्रकार का होता है और उसके क्रमशः विषय–संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण होते हैं।[135] अतः तदाकार हुई वृत्तियों को भी संशय, निश्चय इत्यादि संज्ञायें प्राप्त हुई हैं। इस प्रकार परिभाषाकार ने प्रत्यक्ष–प्रमा के घटक 'वृत्ति' के स्वरूप को स्पष्टकर विषयाच्छिन्न–चैतन्याभिन्न–वृत्त्यच्छिन्न–चैतन्यरूप प्रत्यक्ष प्रमा के प्रकार को स्पष्ट करते हैं।

3.4 प्रत्यक्ष प्रमाण का वर्गीकरण–

वेदान्त–परिभाषा में परिभाषाकार ने अद्वैत–मत सम्मत् प्रत्यक्ष के तीन प्रकार का वर्गीकरण किया है–

प्रथम– सविकल्पक एवं निर्विकल्पक प्रत्यक्ष–

---

[132] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भरतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 74.
[133] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भरतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 75.
[134] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भरतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 75.
[135] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 75.

द्वितीय– जीवसाक्षी एवं ईश्वरसाक्षी प्रत्यक्ष–

तृतीय– इन्द्रियजन्य एवं इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष–

3.4.1 सविकल्पक एवं निर्विकल्पक रूप से प्रत्यक्ष का प्रकार–

परिभाषाकार के अनुसार 'तच्च प्रत्यक्षं द्विविधम्। सविकल्पनिर्विकल्पभेदात्। तत्र सविकल्पं वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानम्। यथा घटमहं जानामीतिज्ञानम्। निर्विकल्पं तु संसर्गानवगाहि ज्ञानम्। यथा सोऽयं देवदत्तः तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यज्ञानम्'।[136] अर्थात्– यह प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। एक है अविकल्पक और दूसरा है निर्विकल्पक। इन दोनों में विशेषण, विशेष्य और उन दोनों का सम्बन्ध बताने वाला ज्ञान सविकल्पक कहलाता है। जैसे– 'घटमहं जानामि' 'मै घोड़े को जानता हूँ।' और जो ज्ञान विशेषण–विशेष्य और उनका सम्बन्ध न बताता हो वह निर्विकल्पक कहा जाता है। जैसे– 'यह वह देवदत्त है' या 'तू वह है' ऐसे वाक्यों से उत्पन्न होने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। परिभाषाकार के मत में 'विषयावच्छिन्न चैतन्यात्मक, जो वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य है, वही प्रत्यक्ष–ज्ञान है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है– सविकल्पक और निर्विकल्पक।

3.4.1.1 सविकल्पक प्रत्यक्ष का स्वरूप–

सभी को समस्त है और समस्त व्यवहार में उसके प्रयोजक होने से 'तत्र' वाक्य से परिभाषाकार ने प्रथमतः सविकल्पक ज्ञान का लक्षण स्पष्ट किया है। विषय–विषयी सम्बन्ध का ज्ञान सविकल्पक प्रत्यक्ष है।[137] विकल्प का अर्थ है– वैशिष्टय। अद्वैत मतानुसार जो ज्ञान विकल्प से युक्त रहता है, वह सविकल्पक प्रत्यक्ष कहलाता है। अर्थात् जिस ज्ञान का विषय 'वैशिष्ट्य' होता है, वह सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान है। परिभाषाकार ने 'वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं सविकल्पकम्'[138] इस प्रकार सविकल्पक ज्ञान का लक्षण करके 'मैं घट को जानता हूँ' यह उदाहरण दिया है। इसमें 'वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानम्' इतना लक्षण है और 'सविकल्पकम्' यह लक्ष्य है। यदि परिभाषाकार ने केवल 'वैशिष्ट्यवगाहि' इतना ही लक्षण किया होता तो वह 'इच्छा आदि' में अतिव्याप्त होता, क्योंकि इच्छादि भी वैशिष्ट्य–विषयक होती हैं। अतः इस अतिव्याप्ति का निराकरण करने के लिए ही परिभाषाकार ने लक्षण में 'ज्ञान' पद का प्रयोग किया है, और यदि परिभाषाकार ने केवल 'ज्ञानम्' इतना ही लक्षण किया होता तो वह

---

[136] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 39.

[137] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भरतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 87.

[138] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 77.

निर्विकल्पक ज्ञान में अतिव्याप्त होता। इसीलिए परिभाषाकार ने वैशिष्ट्यावगाहि' इस विशेषण पद का भी प्रयोग किया है। यह सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान का उदाहरण है कि 'मैं घट को जानता हूँ'। क्योंकि यह घटरूप विशेषण से विशिष्ट घटज्ञान को विषय कर रहा है। अतः 'मैं घट को जानता हूँ' यह ज्ञान वैशिष्ट्यावगाहि है।

3.4.1.2 निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का स्वरूप–

परिभाषाकार ने 'निर्विकल्पकं तु संसर्गानवगाहि ज्ञानम्' वाक्य से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान के लक्षण को स्पश्ट किया है। विषय–विषयी सम्बन्ध से रहित ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है।[139] परिभाषाकार के अनुसार जिससे विकल्प या वैशिष्टय निवृत्त होता हो, वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान है। इस वाक्य में 'निर्विकल्पकम्' लक्ष्य है और 'संसर्गावगाहि ज्ञानम्' लक्षण है। जहाँ संसर्ग का अर्थ है– विशेषण–विशेष्य–सम्बन्ध, इसी को 'वैशिष्टय' कहा जाता है और संसर्ग या वैशिष्टय को विषय न करने वाले ज्ञान को 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान' कहते हैं।[140] जैसे– 'सोऽयं देवदत्तः', 'तत्त्वमसि'[141] आदि वाक्यों से उत्पन्न हुआ ज्ञान, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान के उदाहरण है। 'सोऽयं देवदत्तः' इस ऐक्य प्रत्यभिज्ञा से ही 'सोऽयं देवदत्तः' ऐसे वाक्य का प्रयोग होता है। इसलिए देश और काल से उपलक्षित देवदत्त रूप अभेद को विषय करने वाला इन्द्रियजन्य ज्ञान भी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। यह प्रश्न उठ सकता है कि परिभाषाकार ने इन्द्रियजन्य निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को उदाहरण से स्पष्ट न करके शाब्दज्ञान को ही उदाहरण रूप से क्यों स्पष्ट किया है?

इसके प्रत्युत्तर में परिभाषाकार का मत है कि देश और काल से उपलक्षित जो देवदत्त तद्रूप अभेद को विषय करने वाले 'वह यह देवदत है' इस इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षज्ञान में सन्निकर्ष के बल से, 'उपलक्षक देश–काल' का भी ज्ञान होता है, परन्तु शाब्दज्ञान में नियमेन 'तात्पर्य–विषय' का ही ज्ञान होता है।[142] अतः शाब्दज्ञान को अभेदमात्र विषयत्व होने से ही परिभाषाकार ने यहाँ पर शाब्दज्ञान का उदाहरण दिया है। परिभाषाकार के मतानुसार 'तत्त्वमसि' इत्यादि के शब्द से 'प्रकृष्ट प्रकाश–चन्द्रः', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'[143] आदि अवान्तर वाक्यों को भी स्वीकार करना चाहिए।

---

[139] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भरतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 87.

[140] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 78.

[141] 'तत्त्वमसि' (छान्दोग्य उपनिषद्– 6.7.8)

[142] ाास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 78.

[143] 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्तरीय उपनिषद्– 2.1.1)

निर्विकल्पक ज्ञान के उदाहरण में 'शाब्दज्ञान' के उदाहरण को देखकर यह आक्षेप सकता है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का तो लक्षण और उसका लक्ष्य वाक्य–जन्य ज्ञान हो, यह अत्यन्त असंगत है और 'वह यह देवदत्त' इस वाक्य से होने वाला ज्ञान, शाब्दज्ञान है, प्रत्यक्षज्ञान नहीं है। क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञान को ही प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं। तब वाक्यजन्य ज्ञान को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कैसे कहा जा सकता है?

3.4.1.3 शाब्दज्ञान में निर्विकल्पक प्रत्यक्षत्व का व्यवस्थापन–

परिभाषाकार के अनुसार 'ननु शाब्दमिदं ज्ञानं न प्रत्यक्षमिन्द्रियाजन्यत्वादिति चेत्, न। न हि इन्द्रियजन्यत्वं प्रत्यक्षत्वे तन्त्रम्, दूषितत्वात्। किन्तु योग्यवर्तमानविषयेसति प्रमाणचैतन्यस्य विषय चैतन्यभिन्नत्वमित्युक्तम्।तथा च 'सोऽयं देवदत्तः' इति वाक्यजन्यज्ञानस्य सन्निकृष्टविषयतया बहिर्निः सृतान्तःकरणवृत्त्यभ्युपगमेन देवदत्तावच्छिन्नवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्ययोभेदेन 'सोऽयं देवदत्तः' इति वाक्यजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम्। एवं 'तत्त्वमसि' इतयादिवाक्यजन्यज्ञानस्यापि। तत्र प्रमातुरेव विषयतया तदुभयोरभेदस्य सत्वात्'।[144] अर्थात्– शंका है कि ''सोऽयं देवदत्तः'' इत्यादि वाक्य से उत्पन्न ज्ञान तो शब्द ज्ञान है, प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष तो इन्द्रियजन्य ज्ञान को कहते हैं। सोऽयं देवदत्तः – यह तो किसी इन्द्रिय से जन्य ज्ञान नहीं है तो फिर आप इस शब्दज्ञान को निर्विकल्प प्रत्यक्ष क्यों कहते हैं? इसलिए सोऽयं देवदत्तः यह वाक्यजन्य ज्ञान भी सन्निकृष्ट–अव्यवहित–वस्तु को ही विषय कर रहा है। इसलिए अन्तःकरण की वृत्ति का बाहर निकलना यहाँ माना गया है। और वृत्ति का बाहर निर्गमन जब स्वीकार कर लिया गया, तब देवदत्त से अवच्छिन्न चैतन्य और देवदत्ताकार वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य का अभेद होने से 'सोऽयं देवदत्तः' यह वाक्यजन्य ज्ञान तथा 'तत्वमसि' इत्यादि वाक्यजन्य ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही है। क्योंकि इस ज्ञान में प्रमाता का ही विषय होने से दोनों का अभेद है ही। अतः कोई दोष नहीं है।

परिभाषाकार प्रथमतः उपर्युक्त आक्षेप को पूर्व पक्ष के रूप में स्थापित करते हैं, तत्पश्चात् उसका समाधान भी करते हैं। 'वह यह देवदत्त' इत्यादि वाक्यजन्य–ज्ञान शब्दजन्य होने से निर्विकल्पक–प्रत्यक्ष ज्ञान का उदाहरण हो नहीं सकता, यह स्वीकार करना उचित नहीं। परिभाषाकार के अनुसार 'शाब्दज्ञान इन्द्रियजन्यत्व न होने पर भी उपयुक्त प्रत्यक्षत्व–प्रयोजकत्व 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्यजन्य ज्ञान में है। इसीलिए यहाँ लक्षण और

[144] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 41.

लक्ष्य की असंगति नहीं होती'।[145] नैयायिक 'इन्द्रियजन्य' ज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं, परन्तु वह अतिव्याप्त होता है, क्योंकि इन्द्रियजन्यत्व को प्रत्यक्षत्व में प्रयोजक स्वीकार करने पर नैयायिक मत में 'मन भी इन्द्रिय होने से मन से होनेवाला अनुमितिज्ञान भी प्रत्यक्ष कहा जा सकेगा'। परिभाषाकार ने यह स्पष्टकर उसका निराकरण भी किया। अतः परिभाषाकार के मत इन्द्रियजन्यत्व, प्रत्यक्ष में प्रयोजक हो नहीं सकता।

यह आक्षेप हो सकता है कि इससे पूर्व परिभाषाकार ने 'प्रमाणचैतन्य का, योग्य वर्तमान–विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभिनत्व' प्रत्यक्षत्व में प्रयोजक सिद्ध किया, और अब योग्य वर्तमान विषयकत्व होते हुए प्रमाणचैतन्य का विषय–चैतन्य से अभिन्नत्व, प्रत्यक्षत्व में प्रयोजक कह रहे हैं। अतः इन दोनों प्रयोजक में संगति कैसे हो सकती है?

परिभाषाकार के मतानुसार दोनों लक्षणों का अर्थ एक ही है। 'वृत्तिरूप प्रमाण से अवच्छिन्न चैतन्य' और 'योग्य, वर्तमान, अबाधित विषय से अवच्छिन्न चैतन्य दोनों का अभेद' यह अर्थ दोनों लक्षणों से समानरूप से प्राप्त होता है, अतः प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक इन्द्रियजन्यत्व न होकर, उपरोक्त दोनों प्रकार के चैतन्य का अभेद ही प्रत्यक्ष में प्रयोजक होने से 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य से उत्पन्न ज्ञान को 'प्रत्यक्ष' कहा जा सकता है'।[146] क्योंकि परिभाषाकार के मत में इस वाक्यजन्य ज्ञान का विषय 'देवदत्त' समीप है और विषय के सन्निकृष्ट होने से अन्तःकरण की वृत्ति, इन्द्रिय के द्वारा बर्हिगत होकर 'देवदत्त' रूप विषयाकार हो जाती है। इसलिए 'देवदत्त' इस विषय से अवच्छिन्न चैतन्य और विषयाकार वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य, इन दोनों का अभेद होकर 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्यजन्य–ज्ञान में प्रत्यक्षत्व सिद्ध होता है।

इस समाधान पर भी आक्षेप है कि वाक्यजन्य ज्ञान में प्रत्यक्षत्व है। इस विषय में लौकिक उदाहरण के होने पर भी वैदिक उदाहरण का होना असम्भव ज्ञात होता है। क्योंकि 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'[147] हे मेत्रेयि'! विज्ञाता को किस साधन से जानना चाहिए? इत्यादि श्रुति से प्रमाता के विषयत्व का निराकरण किया गया है। इस कारण तत्पदार्थाभिन्न त्वंपदार्थ प्रमातृ–चैतन्य को विषयावच्छिन्न–चैतन्यत्व का अभाव होने से 'तत्त्वमसि' इस वाक्यजन्यज्ञान में उपरोक्त प्रयोजक का अभाव है।

परिभाषाकार के अनुसार 'तत्वमसि' वह ब्रह्म तू है; इस वैदिक वाक्यजन्य ज्ञान में भी उपयुक्त प्रत्यक्षत्व प्रयोजक है। जैसे– 'तत्त्वमसि' इस वाक्यजन्य ज्ञान का विषय सन्निकृष्ट

---

[145] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 79.
[146] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 80.
[147] 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (बृहदाहण्यक– 4.5.15)

है। अद्वैत मतानुसार 'तत्' और त्वम्' पदों का लक्ष्य अर्थ 'चैतन्य', इस ज्ञान का विषय है। इस वाक्य से अन्तःकरण–वृत्ति उत्पन्न होती है। इसलिए लक्ष्य–चैतन्य और वृत्यवच्छिन्न चैतन्य का अभेद होता है। इसी अभेद के कारण ही 'तत्त्वमसि' इस वाक्यजन्य ज्ञान में प्रत्यक्षत्त्व है। 'तत्वमसि' वाक्य का श्रवण करने पर यह ज्ञान नहीं होता है कि सर्वज्ञत्व, किंचिज्ज्ञत्व–अकर्तृत्व, कर्तृत्व इत्यादि से विशिष्ट वस्तु का अभेद है। परन्तु 'तत्' और त्वम्' इन दो पदों के लक्ष्य स्वरूप के ऐक्य का ही ज्ञान होता है। क्योंकि जिस प्रकार विरूद्ध धर्म के दो पदार्थों की एकता होना असम्भव है, उसी प्रकार सर्वज्ञत्व–अकर्तृत्व आदि धर्मों से युक्त 'तत्पदार्थ' और किंचिज्ज्ञत्व–कर्तृंत्व आदि धर्मों से युक्त 'त्वं पदार्थ' में ऐक्यता का होना असम्भव है। परन्तु परिभाषाकार के अनुसार इस 'तत्' और 'त्वम' पदों के लक्ष्य (चैतन्य) तो सन्निकृष्ट ही हैं। इस कारण 'तत्त्वमसि' वाक्य से उत्पन्न हुई अन्तःकरण वृत्ति के स्वीकार करने में कोई बाधक नहीं हैं। इसलिए लक्ष्य चैतन्य और वृत्त्यावच्छिन्न चैतत्य का एकदेश स्थित दो उपाधियों से अवच्छिन्नत्व है। इस प्रकार इन दो चैतन्यों का अभेद होने से 'तत्त्वमसि' इस वाक्यजन्य ज्ञान में भी प्रत्यक्षत्व है, इस ज्ञान में प्रमाता ही विषय होने से विषय चैतन्य और वृत्ति चैतन्य का तदात्म्य हो जाता है।[148]

परिभाषाकार के उपर्युक्त समाधान पर आक्षेप हो सकता है कि 'तत्त्वम्' पद से लक्ष्यभूत 'ब्रह्म' शास्त्रजन्यज्ञान का विषय है। यह स्वीकार करने पर 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' आदि श्रुतियों की क्या गति होगी? परिभाषाकार के अनुसार 'यह श्रुति विज्ञाता के 'फलव्याप्यत्व' का निराकरण करती है और वह उसके 'वृत्तिव्याप्यत्व' का निराकरण नहीं करती'।[149] इस सन्दर्भ में पंचदशी का मत उल्लेखनीय है।

इन्द्रियसन्निकर्ष के होने से अन्तःकरण में घटादिविषयाकार वृत्ति के उत्पन्न होने पर उसमें जो चैतन्य प्रतिबिम्बित 'चैतन्य' को 'फल' कहा जाता है। चैतन्य–प्रतिबिम्बित वृत्ति, विषय को व्याप्त करने के साथ फलरूप चैतन्य की व्याप्ति भी सिद्ध ही है। यह सिद्ध होने से घटादि जड़ विषयों में फल–व्याप्यत्व है। परन्तु यह फलव्याप्यत्व 'ब्रह्म' में नहीं हो सकता। क्योंकि ब्रह्म, साक्षात् चैतन्यात्मक है। इसलिए वृत्ति के साथ रहने वाला चैतन्य भी चैतन्यरूप ब्रह्म में किसी प्रकार का अतिशय उत्पन्न नहीं कर सकता। ब्रह्म में फलव्याप्ति को स्वीकार करने पर यह ब्रह्म जड़वत् हो जाएगा। जड़ में ही फलव्याप्ति का होना सम्भव होता है और जड़ के साक्षात्कार के लिए चैतन्य की आवश्यकता भी होती है। इसलिए 'तत्त्वमसि' वाक्य

[148] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 81.
[149] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 81.

का श्रवण करने पर उत्पन्न हुई वृत्ति के द्वारा ब्रह्म के व्याप्त होने में किसी प्रकार का दोष नहीं है। अपितु, किसी पदार्थ के अज्ञान की निवृत्ति हुए बिना उसका ज्ञान नहीं होता और अज्ञान की निवृत्ति, अन्तःकरण वृत्ति के द्वारा ही हो सकती है। इसलिये ब्रह्मविषयक अज्ञान की निवृत्ति के लिए अन्तःकरण–वृत्ति को स्वीकार करना ही चाहिये। यही पंचदशीकार की कारिका का आशय है।[150]

3.4.1.4 वेदान्तवाक्यों की अखण्डार्थ बोधकता–

परिभाषाकार के अनुसार 'ननु वाक्यजन्यज्ञानस्य पदार्थसंसर्गावगाहिज्ञानतया कथं निर्विकल्पतवम्? उच्यते। वाक्यजन्यज्ञानविषयत्वे हि न पदार्थसंसर्गत्वं तन्त्रम्। अनभिमतसंसर्गस्यापि वाक्यजन्यज्ञानविषयत्वापत्तेः। किन्तु तात्पर्यविषयत्वम्'।[151] अर्थात्– शंका की जाती है कि वाक्यजन्य ज्ञान तो उस वाक्य में रहे हुए प्रत्येक पद के अर्थ के संसर्ग को विषय बनाता है। फिर तो पदार्थ संसर्गावगाही हो जाने के कारण सविकल्पक हो जायगा, उसे आप निर्विकल्पक कैसे कहते हैं। उत्तर यह है कि– वाक्यजन्य ज्ञान पदार्थ संसर्ग को विषय करता है तो ऐसा कोई नियम नहीं है। ऐसा होने पर तो अवभिमत संसर्ग भी वाक्यजन्यज्ञान का विषय हो जायगा। इसलिए वाक्यजन्यज्ञान के विषत्व में तात्पर्य विषयत्व को ही नियामक स्वीकार करना चाहिए।

परिभाषाकार के समाधान पर आक्षेप का अनुमान इस प्रकार है–

1. 'वह यह देवदत्त' आदि वाक्यजन्यज्ञान संसर्गावगाहि है।
2. क्योंकि उसमें वाक्यजन्यज्ञानत्व है।
3. 'गै को लाओ' इत्यादि वाक्यजन्य ज्ञान की तरह।

इस आशय से यहाँ पर किसी भी वाक्य से होने वाला ज्ञान उस वाक्यगत प्रत्येक पद का जो अर्थ है, उस अर्थ के परस्पर सम्बन्ध को विषय करता है। जैसे– 'गौ को लाओ' इस वाक्य में 'तू' पद 'लाओ' किया के साथ 'कर्तृत्व' रूप से सम्बन्धित है और 'गौ' पद, उस क्रिया के साथ 'कर्मत्व' रूप से सम्बन्धित है। इससे 'त्वत्कर्तृक–गोकर्मक–आनयन' इत्याकारक शाब्द बोध होता है। इसलिये यह संसृष्ट वाक्यार्थ है। वाक्यजन्य सभी ज्ञान, प्रत्येक पद के अर्थ में स्थित परस्पर कर्तृत्वादि संसर्ग को विषय करते हैं। इसलिए इसे निर्विकल्पकज्ञान कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि जो ज्ञान, विशिष्ट का ग्रहण करे तो वह परिभाषतः 'सविकल्पक'

---

[150] 'फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम्। ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता।। (पंचदशी)

[151] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 42.

होता है, जैसे– यह डित्थ है, यह ब्राह्मण है, यह श्याम है, यह पाचक है आदि–आदि। जो ज्ञान इस आकार का नहीं है, उसे 'निर्विकल्पक' ज्ञान कहा जाता है। वाक्यजन्यज्ञान को संसर्गावगाहि होने से उसमें निर्विकल्पकत्व कैसे हो सकता है?

परिभाषाकार के मतानुसार यदि वाक्यजन्यज्ञान के विषय–निर्धारण में पदार्थसंसर्ग निमित्त हो तो वाक्यजन्यज्ञान को निर्विकल्पक नहीं कहा जाता। वस्तुतः पदार्थ संसर्गविषयत्व, वाक्यजन्यज्ञान में प्रयोजक नहीं है। कारण यह है कि 'पदार्थसंसर्ग को ही यदि वाक्यजन्यज्ञान में प्रयोजक स्वीकार करें तो वक्ता को अनभिमत ऐसे अश्वादिसंसर्ग में भी वाक्यजन्यज्ञानविषयत्व प्राप्त होगा और यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भोजन के समय 'सैन्धवमानय' वाक्य में वक्ता को असंगत अश्वादि पदार्थसंसर्ग भी वाक्यज्ञान का विषय है'।[152] जैसे– 'सैन्धव' का अर्थ है– सेंधा नमक और सिंधु देश का घोड़ा। भोजन करते समय 'सैन्धव लाओ' कहने वाले वक्ता का तात्पर्य 'सेंधा नमक' रूप अर्थ में होता है, इसलिये उसके वाक्य का तात्पर्य विषय 'सेंधा नमक' है। उस समय 'सैन्धव लाओ' इस वाक्य में 'अश्वकर्मक आनयन क्रिया' रूप संसर्ग, वक्ता को अभिमत नहीं होता है। इस कारण वह संसर्ग वाक्यज्ञान के विषय–निर्धारण में प्रयोजक नहीं हो सकता। इसलिये केवल पदार्थसंसर्ग को वाक्यज्ञान का विषय नहीं स्वीकार किया जा सकता। तो फिर प्रश्न उठ सकता है कि वाक्यजन्यज्ञान–विषयत्त्व में क्या निमित्त है? परिभाषाकार के अनुसार वक्ता के तात्पर्य का जो विषय हो वही वाक्यजन्यज्ञान का विषय होता है तो फिर यह विचार आवश्यक नहीं है कि वह तात्पर्य–विषय पदार्थों का संसर्ग है या नहीं।[153] अब प्रकृत के 'सोऽय देवदत्तः' इस लौकिक वाक्य में वक्ता का तात्पर्य देवदत्त के देह में होने से तात्पर्य का विषय न बने हुए पदार्थसंसर्ग की वाक्यजन्यज्ञान–विषय में प्रयोजकता नहीं हो सकती।

इसीलिए 'तत्त्वमसि' वैदिक वाक्य का तात्पर्य, अद्वितीय विशुद्ध ब्रह्म में है। इसका निश्चय 'उपक्रमोपसंहारादि' तात्पर्य–लिंगों से होता है। इसलिए तात्पर्य–विषय न हुआ वाक्यगत पदार्थों का संसर्ग, तात्पर्य का अविषय है। क्योंकि ऐसे वाक्यों में पदार्थों का असंसर्ग ही तात्पर्य का विषय है, इस दृष्टि को परिभाषाकार ने आगे स्पष्ट किया है।

परिभाषाकार के अनुसार 'प्रकृते च 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इत्युपक्रम्या 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इत्युपसंहारे विशुद्धे ब्रह्मणि वेदान्तानां तात्पर्यमवसितमिति कथं

[152] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 82.
[153] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 83.

तात्पर्याविषयं संसर्गमबोधयेत्'?[154] अर्थात्– तो इस प्रसंग में 'सदेव सौभ्येदमग्र आसीत्' 'हे सौम्य! सृष्टि के महले यह नामरूपतामक जगत् केवल अद्वितीय 'सत्' ही था– ऐसा प्रारम्भ करके, 'तत्सत्यं स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो' वह सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेतकेतु! वह तुम हो' इस उपसंहारवाक्य से वेदान्त का तात्पर्य विशुद्ध चैतन्य ब्रह्म में ही निश्चित हुआ है। तो भला तात्पर्य के अविषय संसर्ग को महावाक्य कैसे बतला सकेगा?

जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि 'पहले यह सब सत् ही था'[155] इस उपक्रम और 'वह सत्य है, वही आत्मा है, वह तू है'[156] इस उपसंहार से सिद्ध होता है कि 'तत्त्वमसि' वाक्य का तात्पर्य अद्वितीय विशुद्ध ब्रह्म में है। इसके वाक्यगत–पदार्थों के 'संसर्ग' में तात्पर्यविषयता व 'असंसर्ग' में ही तात्पर्य–विषयत्व है।[157] इसलिये 'सोऽयं देवदत्तः', 'तत्त्वमसि' ऐसे वाक्यों के तात्पर्य का विषय न होने वाले का संसर्गविषयत्व बाधित होता है। इस पर आक्षेप हो सकता है कि तत्त्वमस्यादि वाक्यों के प्रसिद्ध अखण्डार्थत्व का त्यागकर वाक्यों में संसर्ग के विषय न होने वाले ज्ञान का विषयत्व किस तरह स्वीकार किया जा सकता है? इसमें कुछ नवीनत्व है कि संसर्ग का विषय न होने वाले ज्ञान का जनकत्व उन वाक्यों में है।

परिभाषाकार के अनुसार 'इदमेव तत्त्वमस्यादिवाक्यानामखण्डार्थत्वम् यत्संसर्गानवगाहि यथार्थज्ञानजनकत्वमिति। तदुक्तम्–

संसर्गासंगिसम्यग्धीहेतुता या गिरामियम्।

उक्ताऽखण्डार्थता यद्वा तत्प्रातिपादिकार्थता।।

प्रातिपदिकार्थमात्रपरत्वं वाऽखण्डार्थत्वमिति चतुर्थपदार्थः'।[158] अर्थात्– 'तत्वमस्यादि' वाक्यों में अखण्डार्थता यही है कि जो संसर्ग का ग्रहण नहीं करने वाले यथार्थज्ञान को उत्पन्न करता है। इसमें पूर्वाचार्यों की भी सम्पत्ति है कि, 'तत्वमस्यादि' महावाक्यों में संसर्गानवगाही यथार्थ ज्ञान की जनकता को अखण्डार्थत्व कहते हैं। इस दूसरे लक्षण में अनिव्याप्ति को दूर करने के लिए 'मात्र' पद जोड़ देना चाहिए। अर्थात् श्लोक में चतुर्थपाद में जो 'प्रातिपादिकार्थता'

[154] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 43.
[155] 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' (छान्दोग्य उपनिषद्– 6.2.1)
[156] 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छान्दोग्य उपनिषद्– 6.8.7)
[157] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 83.
[158] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 45.

लिखा है, वहाँ 'तत्प्रातिपादिकार्थमात्र ऐसा करना चाहिए।'' मतलब कि 'प्रातिपादिकार्थमात्र परत्वं अखण्डार्थत्वम्' ऐसा लक्षण करना चाहिए।

ऐसा परिभाषाकार का मत है कि 'इदमेव' के 'एव' का अर्थ 'अपि' स्वीकार करना चाहिंए। और 'यही' अर्थ न कर 'यह भी' अर्थ करना चाहिये क्योंकि 'यही' अर्थ करने पर द्वितीय लक्षण असंभव होगा।[159] परन्तु परिभाषाकार के अनुसार चित्सुखाचार्य ने कारिका के '(यद्वा) तत्प्राति–पदिकार्थता' इस चौथे पाद में अखण्डार्थत्व का द्वितीय लक्षण स्पष्ट किया है, इसलिये परिभाषाकार का मत है कि चित्सुखाचार्य द्वारा तीन पादों में प्रतिपादित प्रथम लक्षण से द्वितीय लक्षण का समुच्चय करने के लिये 'इदमेव' के स्थान में 'इदमपि' स्वीकार करना चाहिये। इसलिए 'संसर्ग का विषय न होने वाले यथार्थ ज्ञान का जनकत्व' रूप लक्षण नवीन न होकर प्राचीन ही है, यह प्रदर्शित करने के लिये परिभाषाकार ने चित्सुखाचार्य की सम्मति प्रस्तुत की हैं। तत्त्वमस्यादि वाक्यों का जो संसर्गासंगि–सम्यग्ज्ञानहेतुत्व है, यही उन वाक्यों का अखण्डार्थत्व है। महावाक्यों के सम्यग्ज्ञान में निमित्त–कारण का होना ही, उनका अखण्डार्थत्व है। परन्तु यह सम्यग्ज्ञान संसर्ग से सम्बन्ध रखने वाला नहीं होना चाहिए। जिस प्रकार 'गाय को लाओ' आदि वाक्य, संसर्ग को अपना विषय बनाकर वाक्यार्थज्ञान में कारण होता है। उस प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थों के संसर्ग को अपना विषय बनाकर संसर्गसम्बन्धी वाक्यार्थज्ञान में कारण नहीं होता। बल्कि संसर्ग से सम्बद्ध न होने वाले सम्यग्ज्ञान में कारण होता है। किसी वाक्य का संसर्गासंगिसम्यग्ज्ञान में कारण होना ही वाक्य का अखण्डार्थत्व है। यह अभखण्डार्थत्त्व का प्रथम लक्षण है।

उसी अखण्डार्थत्व का द्वितीय लक्षण 'यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता' है।[160] 'सोऽयं देवदत्तः', "तत्त्वमसि" आदि वाक्यों की प्रातिपदिकार्थता ही अखण्डार्थत्व है। चित्सुखाचार्य की कारिका में 'प्रातिपदिकार्थता' केवल यह ही लक्षण है। परन्तु यह लक्षण संसर्ग–परक वाक्यों में अतिव्याप्त होता है, क्योंकि संसर्गपरक वाक्य में भी प्रातिपदिकार्थ का प्रतिपादकत्व रहता है, और संसर्गपरक वाक्यगत पद भी प्रातिपदिकार्थ का प्रतिपादन करते ही हैं। इसकारण परिभाषाकार का मत है कि चित्सुखाचार्य कृत अखण्डार्थत्व के द्वितीय लक्षण में 'मात्र' पद का प्रयोग कर देने से ऐसे वाक्यों का 'प्रातिपदिकार्थमात्रपरत्व' ही उन वाक्यों का अखण्डार्थत्व है, और इस लक्षण से उपर्युक्त अतिव्याप्ति का भी निराकरण हो जाता है। कारण यह है कि

[159] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 84.
[160] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 85.

संसर्ग–परक वाक्य, प्रातिपदिकार्थ का प्रतिपादन भले ही करते हों परन्तु वे प्रातिपदिकार्थ मात्र का प्रतिपादन नहीं करते हैं। इसलिए उनमें इस लक्षण की अति–व्याप्ति नहीं होती।

3.4.2 जीवसाक्षी एवं ईश्वरसाक्षी रूप से प्रत्यक्ष का प्रकार–

परिभाषाकार के अनुसार 'तच्च प्रत्यक्षं पुनर्द्विविधम्। जीवसाक्षि ईश्वरसाक्षि चेति। तत्र जीवो नामान्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यम्। तत्साक्षि तु अन्तःकरणोपहितं चैतन्यम्। अन्तःकरणस्य विशेषणत्वोपाधित्वाभ्यामनयोर्भेदः। विशेषणं तु कार्यान्वयि व्यावर्तकम्। उपाधिश्च कार्यानन्वयी व्यावर्तको वर्तमानश्च। 'रूपाविशिष्टो घटोऽनित्य' इत्यत्र रूपं विशेषणम् 'कर्णशश्कुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोत्रम्' इत्यत्र कर्णशश्कुल्युपाधिः अयमेवोपाधिर्नैयायिकः परिचायक इत्युच्यते'।[161] अर्थात्– एक तरह से प्रत्यक्ष के सविकल्पक और निर्विकल्पक ये दो भेद कहे हैं, अब दूसरे ढंग से दो भेद बताते हैं। फिर से भी प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। एक है जीवसाक्षी और दूसरा है ईश्वरसाक्षी। इसमें जीव का लक्षण है, अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य और उसका साक्षी है अन्तःकरण से उपहित चैतन्य। एक ही अन्तःकरण के विशेषणत्व और उपाधित्व के भेद से जीव तथा जीवसाक्षी का भेद पड़ जाता है। जो कार्य में अन्वित हो, वर्तमान हो और दूसरों से अपने को व्यावृत्त अलग करता हो, वह विशेषण है, और जो कार्य के साथ अन्वित न हो पर वर्तमान हो और अपने को दूसरों से व्यावर्तन करता हो, वह 'उपाधि' है। जैसे– 'रूपविशिष्ट घट अनित्य है' यहाँ पर 'रूप' घट का 'विशेषण है। क्योंकि वह घट से अन्वित है, वर्तमान तथा व्यावर्तक भी है और 'कर्णगोलक से अवच्छिन्न आकाश को श्रोत कहते हैं' यहाँ पर कर्णगोलक आकाश की उपाधि है। दूसरों से अपने को अलग करने वाला है। अर्थात् इतर से गोलक स्थित आकाश को श्रोत पद से व्यवहार कर रहा है। इसी उपाधि को नैयायिक लोग परिचायक कहते हैं।

परिभाषाकार ने उपरोक्त में यह स्पष्ट किया है कि सविकल्पक और निर्विकल्पक भेद से प्रत्यक्षज्ञान दो प्रकार का होता है। परन्तु संसर्ग का विषयत्व और अविषयत्व रूप दो निमित्तों से उसकी द्विविधता का सम्भव होने पर भी वह दोनों प्रकार का ज्ञान, चैतन्य रूप होने से वस्तुतः एक ही है। परिभाषाकार के अनुसार चैतन्य रूप से उस एक ही प्रत्यक्ष ज्ञान के पुनः दो प्रकार का है–

प्रथम– जीवसाक्षि–चैतन्य

[161] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 45–46.

द्वितीय– ईश्वरसाक्षि–चैतन्य

'शिखामणि' टीकाकार रामकृष्ण के मतानुसार **जीवसाक्षिजन्य चैतन्य** और **ईश्वरसाक्षिजन्य चैतन्य** के भेद प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। 'शिखामणि' टीकाकार रामकृष्ण कृत साक्षिजन्य विभाग अर्थ दीपिकाकार को मान्य नहीं है। क्योंकि ज्ञान के चैतन्य रूप होने से, चैतन्य में जन्यत्न का होना सम्भव नहीं।[162]

अद्वैत मतानुसार चैतन्य रूप ज्ञान, स्वरूपतः अजन्य होने पर भी वृत्ति विशिष्ट ज्ञान तो जन्य ही है। इसलिए केवल जीवसाक्षि और ईश्वरसाक्षि चैतन्य का भेद स्वीकार करने की अपेक्षा, जीवसाक्षिजन्य और ईश्वरसाक्षिजन्य चैतन्य का भेद स्वीकार करना अधिक उचित प्रतीत होता है।[163] अतः शिखामणि के टीकाकार की व्याख्या जीव का जो साक्षी, उससे उत्पन्न होनेवाला और ईश्वर का जो साक्षी, उससे उत्पन्न होनेवाला चैतन्य उचित है। इस प्रकार की व्याख्या को स्वीकार करने से ही एवं साक्षिद्वैविध्येन प्रत्यक्षज्ञानद्वैविध्यम' इस तरह साक्षिद्वैविध्य से प्रत्यक्षज्ञान का द्विविधत्व है। इसके अतिरिक्त 'साक्षि' शब्द का 'साक्षिजन्य' व्याख्या न कर 'जीवसाक्षि ईश्वरसाक्षि च' वाक्य से यदि केवल साक्षी के द्विविधत्व को स्पष्ट करने का प्रयास किया जाए तो 'प्रत्यक्षज्ञानद्वैविध्यं निरूपितम्' इस अग्रिम वाक्य से असंगति स्पष्ट ही है। क्योंकि 'वह प्रत्यक्ष पुनः दो प्रकार का है', यह उपक्रम कर बीच में ही जीवेश्वर–साक्षी का निरूपण करना सर्वथा अयुक्त है। इस प्रकार का मत अद्वैत मतानुयायियों का है।

इस (जीवसाक्षिजन्य प्रत्यक्ष और ईश्वरसाक्षिजन्य प्रत्यक्ष) प्रत्यक्ष चैतन्य के द्विविधत्व को दूसरे प्रकार से स्पष्ट करना, जीव का निरूपण किये बिना जीवसाक्षिजन्य प्रत्यक्ष का निरूपण करना असम्भव है। यह स्वीकार कर परिभाषाकार ने प्रथमतः जीव के स्वरूप का निरूपण किया है, उसके बाद जीव–साक्षी के स्वरूप–लक्षण को स्पष्ट किया है।

3.4.2.1 जीवसाक्षी प्रत्यक्ष का स्वरूप–

'तत्र.' इत्यादि वाक्य से परिभाषाकार ने ईश्वर और जीव में से, जीव का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। परिभाषाकार के अनुसार जो अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य है, वही जीव है और अन्तःकरणोपहित चैतन्य जीव का साक्षी है और जब चैतन्य का विशेषण अन्तःकरण होता है, तब उसी चैतन्य को 'जीव' कहा जाता है और जब अन्तःकरण चैतन्य की उपाधि होता है तो

[162] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 86.
[163] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 86.

उसे जीव का साक्षित्व प्राप्त होता है।[164] आशय यह है कि अन्तःकरण के विशेषणत्व और उपाधित्व के कारण 'जीव' और 'जीवसाक्षी' यह भेद होता है।

यह प्रश्न उठ सकता है कि विशेषण और उपाधि में क्या अन्तर है? परिभाषाकार के मत में विशेषण और उपाधि दोनों व्यावर्तक और वर्तमान होते हैं, अर्थात् वर्तमानत्व और व्यावर्तकत्व दोनों धर्म, विशेषण, और उपाधि में समानतया होते हैं, परन्तु विशेषण कार्यान्वयी होता है और उपाधि, कार्यान्वयी नहीं होता।[165] जैसे– 'रूपविशिष्ट घट अनित्य है' इसमें रूप विशेषण है क्योंकि 'घट' उससे युक्त है। परन्तु 'कर्णशष्कुलि से अवच्छिन्न आकाश–श्रोत्र है, यहाँ 'कर्णशष्कुलि' उपाधि है। 'रूप' घट से सम्बन्धित होने के कारण विशेषण है, परन्तु आकाश कर्णशष्कुलि से सम्बद्ध नहीं है, क्योंकि निरवयव आकाश और सावयव कर्णशष्कुलि दोनों के सम्बन्ध का सम्भव नहीं है। इसलिए 'कर्णशष्कुलि' उपाधि है, विशेषण नहीं। घट जिस प्रकार के रूप से विशिष्ट होता है, उसी प्रकार कर्णछिद्र कान से विशिष्ट नहीं है। इसी को स्पष्ट करने के लिए ही परिभाषाकार ने 'कार्यान्वयी' और 'कार्यानन्वयी' शब्द प्रयोग किए हैं। इसमें से 'कार्य' पद का अर्थ अन्वय योग्य है। अन्वय योग्य सम्बन्ध होने योग्य– घटादि पदार्थ। 'रूपविशिष्ट घट' यहाँ 'रूप' को 'घट' पदार्थ से अन्वयित्व, व्यावर्तकत्व और वर्तमानत्व होने से यह विशेषणत्व है। और 'कर्ण–शष्कुल्यवच्छिन्न आकाश' यहाँ कर्णशष्कुलि पद को कार्य से अनन्वयित्व, व्यावर्तकत्व और वर्तमानत्व होने से उपाधित्व है। परिभाषाकार के इस उपाधि को ही न्याय दर्शन में परिचायक कहा जाता है। अब परिभाषाकार यह स्पष्ट करते हैं कि जीव–साक्षी के प्रसंग में अन्तःकरण उपाधित्व कैसे बनता है?

परिभाषाकार के अनुसार 'प्रकृते तु अन्तःकरणस्य जडतया विषयभासकत्वायोगेन विषयावभासकचैतन्योपाधितवम्। अयं च जीवसाक्षी प्रत्यात्मं नाना एकत्वे मैत्रावगते चैत्रस्याप्यनुसन्धानप्रसंगः'।[166] अर्थात्– प्रस्तुत प्रसंग में, अन्तःकरण जड़ है। अतः उसमें विषय का अवभासकत्व नहीं हो सकता। इसलिए अन्तःकरण को विषय के अवभासक चैतन्य का उपाधि कहा जाता है। अन्तःकरणरूप उपाधि वाला वह जीवसाक्षी प्रत्येक शरीर में अलग अलग है। यदि सभी शरीरों में एक ही जीवसाक्षी मानें, तो मैत्र नामक व्यक्ति की जानी हुई बात का अनुसन्धान चैत्र नाम के व्यक्ति को होने लगेगा।

---

[164] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 87.
[165] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 87.
[166] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 47.

परिभाषाकार के उपरोक्त मत पर आक्षेप हो सकता है कि कर्णशष्कुली को उपाधि स्वीकार करना तो उचित है परन्तु अन्तःकरण को जीवसाक्षि चैतन्योपाधित्व कहना प्रयोजनशून्य है। क्योंकि यदि प्रमाता ने विषय के प्रकाशनार्थ स्व–साक्षी की अपेक्षा की होती तो उसे साक्षिचैतन्य का उपाधि स्वीकार करना योग्य होता। परन्तु प्रमाता विषय–प्रकाशनार्थ स्व–साक्षी की अपेक्षा ही नहीं रखता। इसलिए प्रमाता साक्षी की सहायता के बिना चक्षुरादि इन्द्रियजन्य–वृत्त्यवच्छिन्न–चैतन्य से ही विषय को प्रकाशित कर लेता है।

परिभाषाकार के अनुसार यह आक्षेप करना उचित नहीं है। क्योंकि 'अन्तःकरण' अविद्या का कार्य होने से जड़ है, इसलिए अन्तःकरण विषय को प्रकाशित करने में असमर्थ है और क्षण–प्रतिक्षण उत्पन्न होने वाली वृत्तियों के अनेक होने के कारण, उन वृत्तियों से अवच्छिन्न हुए चैतन्य भी अनेक हैं उस कारण अनेकसंख्यक हुई वृत्तियों को समस्त विषयों का अनुसंधान करने में समर्थ नहीं हैं।[167] प्रमाता, के अन्तःकरण से अवच्छिन्न होने से उसे भूत, भविष्यत, वर्तमान विषयों का अनुसंधान करने के लिये अन्य के सहायता की अपेक्षा है। बिना सहायता लिए प्रमाता का त्रैकालिक विषयों का अनुसंधान करना सम्भव नहीं है। इसकारण प्रमाता से सम्बद्ध और ब्रह्माभिन्न ऐसे साक्षी की अत्यन्त आवश्यकता है। इसलिये अन्तःकरण में साक्षी के उपाधित्व को अवश्य स्वीकार करना चाहिये।

यह आक्षेप हो सकता है कि जीवसाक्षी का ब्रह्म के साथ अभेद होने से उसमें स्वयं प्रकाशत्व है। इसलिए साक्षी में सर्वविषयानुसंधातृत्व है, यह स्वीकार करने पर साक्षी में एकत्व प्राप्त होता है। क्योंकि 'ब्रह्म एक है' इसलिये 'ब्रह्माभिन्न साक्षी में भी एकत्व ही है' और 'सब जीवों का साक्षी एक है' यह स्वीकार करने पर एक जीव से अनुभूयमान विषय का अनुसंधान दूसरे जीव को भी प्राप्त होने लगेगा। परिभाषाकार ने इस आक्षेप का निराकरण किया है। परिभाषाकार के अनुसार 'प्रत्येक जीवात्मा का यह साक्षिचैतन्य भिन्न–भिन्न है, क्योंकि उसे एक स्वीकार करने पर, मैत्र को ज्ञात हुए विषय का अनुसंधान (स्मरण) चैत्रादि अन्य व्यक्तियों को भी प्राप्त होगा और ऐसी अनवस्था न हो इसलिये अद्वैत मत में अन्तःकरण रूप उपाधि के भेद के कारण जीवसाक्षी में नानात्व स्वीकार किया है।[168] अतः अद्वैत मत में उपर्यक्त दोष नहीं हो सकता। इस तरह परिभाषाकार जीवसाक्षी का निरूपण किया है, इसके आगे ईश्वरसाक्षी का निरूपण इस प्रकार करते हैं।

---

[167] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 88.
[168] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 89.

परिभाषाकार के अनुसार 'ईश्वरसाक्षि तु मायापहितं चैतन्यम्। तच्चैकम्। तदुपाधिभूतामायाया एकत्वात्। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप इयते' इत्यादि श्रुतौ मायाभिरिति बहुवचनस्य मायागतशक्तिविशेषभिप्रायतया मायागतसत्त्वरजस्तमोरूपगुणाभिप्रायतया चोपपत्तेः'।[169] अर्थात्– किन्तु ईश्वरसाक्षी तो मायापहित – माया की उपाधि वाले – चैतन्य को कहते हैं। और वह एक है। क्योंकि उसकी उपाधि माया भी एक है। 'इन्द्रो मायाभिः पुररूप ईयते' – ''परमेश्वर माया से बहुत रूप धारण करता है– 'ऐसी श्रुति में 'मायाभि' इस बहुवचनान्त से माया में बहुत सी शक्तियाँ हैं ऐसा समझना चाहिए। अथवा तो सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के अभिप्राय से बहुवचन का प्रयोग किया गया है। यही सुसंगत है।

3.4.2.2 ईश्वरसाक्षी का स्वरूप एवं माया की एकता एवं अनादित्व का निरूपण–

परिभाषाकार के अनुसार 'मायोपहित–चैतन्य' ही ईश्वरसाक्षिचैतन्य है और माया–वच्छिन्न चैतन्य ही ईश्वरचैतन्य है।[170] परन्तु यह प्रश्न हो सकता है कि क्या जीवसाक्षिचैतन्य की तरह ईश्वरसाक्षिचैतन्य भी क्या अनेक है? इसके प्रत्युत्तर में परिभाषाकार का मत है कि ईश्वरसाक्षिचैतन्य एक ही है, अनेक नहीं। यह ईश्वरसाक्षिचैतन्य एक है, क्योंकि उस साक्षिचैतन्य की उपाधिरूप माया भी एक है। माया के एक होने से मायापहित चैतन्य भी एक है और प्रत्येक जीव–चैतन्य का अन्तःकरण भिन्न होने से अन्तःकरणोपहित चैतन्य भी भिन्न–भिन्न है। इस प्रकार इन दो साक्षिचैतन्यों अपना–अपना विशेष है। परिभाषाकार के मतानुसार अनादि, अनिर्वाच्य, विपर्यय की उपादान और विक्षेपप्रधान ईश्वरशक्ति ही माया है।[171]

यह आक्षेप हो सकता है कि अद्वैत मत में माया को एक स्वीकार करना, वृहदारण्यक उपनिषद् के 'परमेश्वर, मायाओं के योग से अनेक रूप को प्राप्त हुआ है' इस श्रुतिवचन से बाधित होता है। इस आक्षेप पर परिभाषाकार का मत है कि 'निष्प्रतिबन्ध ऐश्वर्य से युक्त हुआ परमात्मा मायाओं के योग से अनेकाकार प्रतीत होता है, इस वाक्य में 'मायाभिः' बहुवचन का प्रयोग, मायागत शक्ति विशेषों के अभिप्राय से किया गया है और माया में जो असंख्य विचित्र शक्तियाँ हैं, वे ही शक्ति विशेष हैं।[172] अग्नि प्रभृति पदार्थों में दाहकत्व, प्रकाशकत्व आदि कार्यों को देखकर तत्तद शक्तियाँ तत्तत् पदार्थों में जिस प्रकार कल्पित की जाती हैं, उसी प्रकार

---

[169] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 47.
[170] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 89.
[171] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 90.
[172] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 90

जगदरूप विचित्र कार्यों के देखने से तत्तत् असंख्य कार्यों की शक्तियाँ माया में कल्पित की जाती हैं। परिभाषाकार के मत में उन्हीं को शक्तिविशेष अथवा अवान्तर शक्ति कहते हैं। इन असंख्य शक्तिविशेषों के अभिप्राय से 'मायाभिः' यह श्रुति में कहा है, माया के अभिप्राय से नहीं। या सत्त्व, रज, और तम–इन तीन गुणों की साम्यावस्था को माया कहते हैं।[173] उन तीन गुणों के अभिप्राय से श्रुति में 'मायाभिः' बहुवचन का उपयोग किया गया है। आशय यह है कि ईश्वरसाक्षि की उपाधिभूत माया एक है। वह जीवसाक्षी के उपाधिभूत अन्तःकरण की भाँति अनेक नहीं है। यह आक्षेप हो सकता है कि 'मायाभिः'" यह बहुवचनान्त प्रयोग श्रुति के होते हुए 'माया का बहुत्व' इस मुख्यार्थं को छोड़कर अमुख्य अर्थ का ग्रहण क्यों किया जाता है? या अवान्तर विशेषों की अथवा गुणों के बहुत्व की कल्पना करके 'मायाभिः' इस बहुवचन की व्यवस्था क्यों लगाई जा रही है? परिभाषाकार ने इस आक्षेप का समाधान 'मायां तु.' आदि वाक्य से समाधान किया है।

परिभाषाकार के अनुसार 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वारम्' 'अजामेकां लोहित–शुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जषुमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते, योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः' इत्यादिश्रुतिस्मृतिषु एकवचनबलेन लाघवानुगृहीतेन मायाया एकत्वं निश्वीयते। ततश्च तदुपहितं चैतन्यम् ईश्वरसाक्षि। तच्चानादि। तदपाधेर्मायाया अनादित्वात्'।[174] अर्थात्– माया को जगत् की प्रकृति मानो और मायावी को महेश्वर मानो', 'अजामेकां....' लाल सफेद तथा काले रंग की एक प्रकृति बहुत सी समान जातीय उत्पत्ति करती है। उसमें एक जीव उसको भागता हुआ रहता है, और अन्य जीव उसे भोगकर विवेक के सहारे उसे सारहीन समझकर त्याग कर देता है', 'तरत्यविद्यां विततां....' जिसमें दिल लग जाने पर ब्रह्म को आवृत्त करने वाली, अविद्या रूप माया को योगी पार कर जाते हैं उस अमेय परमात्मा को नमस्कार' ऐसे ऐसे श्रुतियों और स्मृतियों के प्रमाणों में बताये गये एकवचन के समर्थन से और लक्षण होने से माया का एकत्व ही निश्चित किया गया है। इसलिए उस एक माया से उपहित समीपस्थ चैतन्य ईश्वरसाक्षी है, वह अनादि है, और एक है क्योंकि उसकी उपाधि माया एक ही है और वह अनादि है।

परिभाषाकार के मतानुसार यदि कदाचित् कोई यह स्वीकार करे कि उद्धृत श्वेताश्वतर उपनिषद के प्रथम श्रुतिवचन में 'मायाम्' ऐसा एकवचन जाति के अभिप्राय से प्रयुक्त हुआ है,

---

[173] सिन्हा, हरेन्द्र प्रसाद, 2016. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 237.
[174] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 48.

इसलिये परिभाषाकार ने प्रत्यक्ष 'एकाम्' इस एकत्वबोधक शब्दावली की श्वेताश्वतर उपनिषद एक दूसरी 'अजामेकाम्' इत्यादि श्रुति का निर्देश किया है। इस श्रुति पर विचार करने से 'मायाम्' एक–वचन जाति के अभिप्राय से उपयुक्त किया है ,यह कहने का अवकाश नहीं प्राप्त होता है। फिर भी यह प्रश्न हो सकता है कि माया का एकत्व श्रुतितात्पर्य से सिद्ध है, यह अद्वैत मत ने कैसे जाना? क्योंकि श्रुति का तात्पर्य अमुक अर्थ में है, यह निश्चय करना अत्यन्त कठिन कार्य है। यदि कोई कदाचित् यह स्वीकार करे कि स्मृतिकार के वचन का अनुसरण कर हम श्रुतितात्यर्य का निश्चय करते हैं। तो इस आशय से परिभाषाकार ने 'तरत्यविद्याम्' आदि पराशरस्मृति का उल्लेख किया है। अर्थात्– 'योगी जिस परमात्मा को वृत्ति का विषय करके अविद्याख्य माया का उल्लंघन करता है उस ज्ञानस्वरूप अमेय परमात्मा को प्रणाम हों। उसी अविद्या में 'विततम्' विशेषण दिया है। यह आक्षेप हो सकता है के परमेश्वर की हृदय में स्थापना करने से अविद्या को निवृति होने पर भी अनर्थ की निवृत्ति नहीं होती। क्योंकि सर्वअनर्थभूत माया तो अवशिष्ट ही रहती है। अतः अविद्या की निवृत्ति से माया की निवृत्ति नहीं हो सकती।

इसके प्रत्युत्तर में परिभाषाकार का मत है कि परमेश्वर की शक्तिरूप माया और अविद्या एक ही है। इसीलिए परिभाषाकार ने 'अविद्यां माया' कहा है और अविद्या अपने आश्रय अर्थात् जीव को मोहित करती है जबकि माया अपने आश्रय अर्थात् ईश्वर को मोहित नहीं करती, इस प्रकार माया और अविद्या में भेद होने पर भी वस्तुतः माया और अविद्या में भेद नहीं है। अर्थात् अविद्या और माया पृथक् पदार्थ नहीं है। पूर्वोक्त समाधान पर आक्षेप हो सकता है कि स्मृति में भी जाति के अर्थ में एकवचन और 'अजामेकाम्' यहां 'एक' शब्द अमुख्य अर्थ में कह सकते हैं। ऐसी स्थिति में श्रुतिस्मृति से एकत्व का निश्चय कैसे किया जा सकता है?

इस आक्षेप के प्रत्युत्तर में परिभाषाकार का मत है कि श्रुतिस्मृति में एकवचन, अल्पता से अनुगृहीत है। 'मयाभिः' इस बहुवचन से परमेश्वर की अनेक मायाओं की कल्पना करने की अपेक्षा एक ही माया–शक्ति की कल्पना करने में लाघव है, इस लाघव से अनुगृहीत श्रुतिस्मृति के एक वचन से माया का एकत्व निश्चित होता है। परिभाषाकार ने 'इत्यादि, पद से 'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः'[175] 'मम माया दुरत्यया'[176] आदि श्रृति–स्मृति वचनों को स्वीकार करना चाहिये। जिस प्रकार उपाधिभूत माया के एक होने से ईश्वरसाक्षिचैतन्य एक है, उसी प्रकार उपाधिभूत माया के अनादि होने से वह अनादि भी है।

---

[175] 'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः' (कठोपनिषद्– 1.2.5)

[176] दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्या। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति।। (भगवद्गीता– 7.14)

परिभाषाकार के अनुसार 'मायावच्छिन्न चैतन्यं परमेश्वरः मायायाः विशेषणत्वे ईश्वरत्वमुपाधित्वे साक्षित्वामिति ईश्वरत्वसाक्षित्वयोर्भेदः न तु धर्मिणोरीश्वरसाक्षिणोः। स च परमेश्परः एकोऽपि स्वोपाधिभूतमायानिष्ठ सत्त्वरजस्तमोगुणभेदेन ब्रह्म–विष्णु–महेश्वर इत्यादि शब्दवाच्यतां लभते'।[177] अर्थात्– माया से अवच्छिन्न–विशिष्ट–चैतन्य को ईश्वर कहते हैं। माया को विशेषण रूप मानने से उसमें ईश्वरत्व आता है और उपाधित्व–सामिप्य मानने पर वह चैतन्य ईश्वरसाक्षी कहलाता है। अतः ईश्वरत्व और साक्षीत्व रूप धर्मों में ही भेद है, पर ईश्वर और ईश्वरसाक्षी इन दो धर्मियों में भेद नहीं है, धर्म तो एक चैतन्य ही है।

जिस प्रकार परिभाषाकार ने अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य–जीव, और अन्तःकरणोपहित चैतन्य जीवसाक्षी, इस प्रकार का पूर्वोक्त भेद किया है, उसी प्रकार यहाँ भी माया के विशेषणत्व और उपाधित्व के कारण ईश्वरत्व और ईश्वरसाक्षित्व का भेद है।[178] जैसे– यह प्रसिद्ध है कि जो पाचक हो, जब वही पाठक रहता है, तब पाचक व्यक्ति से पाठक व्यक्ति भिन्न नहीं होता, परन्तु उस व्यक्ति में रहने वाले 'पाचकत्व और पाठकत्व' धर्म भिन्न–भिन्न होते हैं। उसी प्रकार ईश्वर और उसका साक्षी इन धर्मियों का भेद नहीं, अपितु ईश्वरत्व और ईश्वरसाक्षित्व इन धर्मों का भेद है।

यह आक्षेप हो सकता है कि जिस प्रकार माया के एकत्व के कारण ईश्वरसाक्षी में एकत्व है, उसी प्रकार मायावच्छिन्न चैतन्य में भी एकत्व अवश्य होना ही चाहिये। यह होते हुए भी उसका ब्रह्मादि रूप से भेद कैसे स्वीकार किया जाए? इसी तरह वह ब्रह्मादिभेद, विशेषण–भेद मूलक होने से और उस विशेषणभेद की उपाधि माया के होने से तदुपहित चैतन्य में भी एकत्व होना उचित है। इस स्थिति में उसमें अनेकत्व कैसे सम्भव है? इस आक्षेप का उत्तर परिभाषाकार ने 'स च' इत्यादि वाक्य से दिया है। जिसका तात्पर्य है कि 'जिस प्रकार 'माया' रूप उपाधि के सत्त्वादि गुणों के अभिप्राय से अनेकत्व का व्यवहार होता है, उसी प्रकार उसके गुणों के अवच्छेद से ईश्वर का भेद होता है, वास्तविकता में कोई भेद नहीं है।[179] जैसा कि मैत्रेयोपनिषद् में वर्णन प्राप्त होता है कि 'अथ यो ह खलु वास्य राजसोऽशः असौ स योऽयं ब्रह्मा, अथ यो हू खलु वास्य तामसोऽशः असौ स याऽयं रुद्रः, अथ यो ह खलु वास्य सात्त्वि–क्रमशः असौ स योऽयं विष्णु' ईश्वर के राजसांश का नाम ब्रह्मा, तामसांश का नाम रुद, और सात्तविकांश का नाम विष्णु है।

---

[177] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 49.

[178] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 93.

[179] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 93–94.

विष्णु– मायावच्छिन्न ईश्वरचैतन्य ही उद्भूत सत्त्व–गुणवाली माया से अवच्छिन्न होने पर पालन करने वाला नारायण, विष्णु इत्यादि शब्दों का वाच्य होता है।

ब्रह्मा– मायाविशिष्ट ईश्वरचैतन्य ही उद्भूत रजो–गुणवाली माया से अवच्छिन्न होने पर स्रष्टा, बह्मा, विधाता आदि शब्दों का वाच्य होता है।

महेश्वर– वह ही वह ही ईश्वरचैतन्य उदभूत–तमोगुणवाली माया से अवच्छिन्न होने पर संहर्ता, महेश्वर, रुद्र आदि संज्ञाओं को प्राप्त है।

इस प्रकार त्रिगुणमायावच्छिन्न चैतन्य ही महेश, गणेश, दिनेश, दुर्गा रूप से उपास्य होता है, क्योंकि इन उपास्यों का निरंकुश ऐश्वर्य कहीं श्रुत नहीं।

परिभाषाकार के अनुसार 'नन्वीश्वरसाक्षिणोऽनादित्वे, 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादिना सृष्टिपूर्वसमये परमेश्वरस्यागन्तुकमीक्षणमुच्चमानं कथमुपपद्यते? उच्चते। यथा विषयेन्द्रियसन्निकर्षादिकारणवशेन जीवोपाध्यन्तःकरणस्य वृत्तिभेदा जायन्ते, तथा सृज्यमानप्राणिकर्मवशेन परमेश्वरोपाधिभूतमायाया वृत्तिविशेषा, इदमिदानीं स्त्रष्टव्यमिदमिदानीं संहर्तव्यमित्याद्याकारा जायन्ते तासां च वृत्तीनां सादित्वात्त त्प्रतिबिम्बितं चैतन्यमपि सादीत्युच्यते। एवं साक्षिद्वैविध्येन प्रत्यक्षज्ञानद्वैविध्यम्। प्रत्यक्षत्वं च ज्ञेयगतं ज्ञप्तिगतं चेति निरूपितम्'।[180] अर्थात्– यहाँ शंका की जाती है कि अगर ईश्वरसाक्षी अनादि है, तो फिर, 'उसने ईक्षण किया, मैं बहुत रूप होऊँ' इत्यादि श्रुति से सृष्टि के पूर्वकाल में परमेश्वर में आगन्तुक ईक्षण कहना कैसे युक्तिसंगत हो सकता है? शंका का समाधान कहा जाता है कि जैसे विषय और इन्द्रिय आदि के सन्निकर्ष आदि कारणों से अन्तःकरण में भिन्न–भिन्न वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वैसे ही सृज्यमान प्राणियों के कर्म संस्कार के कारण परमेश्वर की उपाधिरूप माया में विशेष वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं कि इस समय इसकी सृष्टि करनी चाहिए और इस समय इसका संहार करना चाहिए। ये वृत्तियाँ तो सादि हैं, अतः उनमें पड़ा हुआ चैतन्य का प्रतिबिम्ब भी सादि ही माना गया है। इस प्रकार साक्षी दो होने से (जीवसाक्षी और ईश्वरसाक्षी) प्रत्यक्ष ज्ञान भी दो प्रकार का हुआ। ज्ञानगत प्रत्यक्षज्ञान और विषयगत प्रत्यक्ष ज्ञान का निरूपण तो पहले ही किया जा चुका है।

ईश्वरसाक्षी–ईक्षण में सृष्टिपूर्वकालीनत्व है, यह होने से भी ईश्वरसाक्षी चैतन्य को अनादि नहीं स्वीकार सकते। क्योंकि 'कालिक अवधि से रहित रहना' ही अनादित्व का लक्षण है। जिसमें काल की अवधि रहती है वह अनादि नहीं होता। ईक्षण में सृष्टि का पूर्वकाल रूप

[180] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 50.

अवधि है, इसलिये ईश्वर में अनादित्व नहीं है।[181] किन्तु ईक्षण में सृष्टिपूर्वकालिकत्व होने से सादित्व है। यह सिद्ध होने पर तद्विशिष्ट ईश्वर में भी सादित्व को स्वीकार करना पड़ेगा।[182] अतः ईश्वर साक्षी के ईक्षण में अनादित्व बाधित होता है, और उनके बाधित होने पर तद्विशिष्ट ईश्वर में भी अनादित्व बाधित होता है।

परिभाषाकार के अनुसार जिस प्रकार चैतन्य को अभिव्यक्त करने वाली अन्तःकरण वृत्ति के सादि होने से उसमें प्रतिबिम्बित हुए जीवसाक्षिरूप ज्ञान में भी सादित्व है, उसी प्रकार ईक्षणादि को अभिव्यक्त करनेवाली मायावृत्ति में भी सादित्व होने से उसमें प्रतिबिम्बित हुए ईश्वर साक्षिचैतन्य में भी सादित्व है। फिर भी उनमें स्वरूपतः अनादित्व ही है क्योंकि साक्षिचैतन्य में उपाधि के कारण पैदा होने वाला सादित्व स्वाभाविक न होकर औपाधिक है।[183] वृत्तिरूप उपाधि के कारण वह सादि–सा (उत्पन्त–सा) प्रतीत होता है। उस औपाधिक सादित्व से चैतन्य का स्वाभाविक अनादित्व बाधित नहीं हो सकता।

इस प्रकार परिभाषाकार ने साक्षी की द्विविधता का प्रतिपादन किया। इस कारण तत्तद्वृषियों में अनुवृत्त हुए साक्षी का ज्ञानत्व होने से प्रत्यक्ष ज्ञान की भी द्विविध है, **प्रथमतः–** ईश्वर–साक्षिजन्य और **द्वितीयतः–** जीवसाक्षिजन्य प्रत्यक्ष। परन्तु दीपिकाकार कहते हैं–'जीव–साक्षिजन्य ओर ईश्वरसाक्षिजन्य कहना उचित नहीं है, क्योंकि 'ज्ञप्तिगत प्रत्यक्ष चित्त्व ही है' इत्त उत्तर ग्रन्थ से विरोध होगा।

3.4.2.3 ज्ञानगत प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण–

परिभाषाकार के अनुसार 'तत्र ज्ञप्तिगतप्रत्यक्षस्य सामान्यलक्षणं चित्त्वमेव। 'पर्वतो वह्निमा' नित्यादावपि वह्न्यद्याकारवृत्त्युपहितचैतन्यस्य स्वात्मांशे स्वप्रकाशतया प्रत्यक्षत्वात्। तत्तद्विषयांशप्रत्यक्षत्वं तु पूर्वोक्तमेव। तस्य च भ्रान्तिरूपप्रत्यक्षत्वे नाऽतिव्याप्तिः। भ्रमप्रमासाधारणप्रत्यक्षत्व सामान्यनिर्वचनेन तस्यापि लक्ष्यत्वात्'।[184] अर्थात्– अब ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का सामान्य लक्षण तो 'चित्'– त्वं ही है। 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यादि अनुमिति ज्ञान में भी वह्नि आकार वाली अन्तःकरण की वृत्ति से उपहित चैतन्य अपने अंश में स्वप्रकाश होने के कारण से प्रत्यक्ष ही है। और उस उस विषय के प्रत्यक्षत्य के बारे में तो पहले कह आए हैं। अतः भ्रान्तिरूप प्रत्यक्षत्व में अतिव्याप्ति नहीं मानी जानी चाहिए। क्योंकि यहाँ पर भ्रम तथा

---

[181] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 94.
[182] 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छान्दोग्य उपनिषद्– 6.2.1)
[183] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 95.
[184] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 51.

प्रत्यक्षत्व, दोनों में ही प्रत्यक्षत्व का सामान्य रूप से निर्वचन होने के कारण भ्रान्तिरूप प्रत्यक्ष भी लक्ष्य ही है।

परिभाषाकार के अनुसार ज्ञेयगत और ज्ञप्तिगत प्रत्यक्षत्व में से ज्ञप्तिगत प्रत्यक्षत्व का सामान्य–लक्षण 'चित्त्व' ही है।[185] इस पर वादी मत है कि– ज्ञप्तिगत–प्रत्यक्षत्व का 'चित्त' रूप लक्षण अनुमिति, उपमिति, आदि (प्रत्यक्ष प्रमा से भिन्न) प्रमाओं में अतिव्याप्त होता है। कारण यह है कि प्रत्यक्ष प्रमा के समान उनमें भी चित्त्व है, परन्तु अनुमिति, उपमिति आदि प्रमा इसका लक्ष्य तो नहीं हैं इसलिए चित्त्वरूप–प्रत्यक्षप्रमा का लक्षण अलक्ष्य अनुमिति, उपमिति आदि प्रमाओं में भी होने से अतिव्याप्त होता है। इस आक्षेप का समाधान परिभाषाकार ने 'पर्वतों वह्निमान्' आदि वाक्य से किया हैं। सभी ज्ञानों में सभी प्रमाओं में तत्तद्–विषयाकांर वृत्ति से उपहित चैतन्य का चैतन्यांश में प्रत्यक्षत्व है, क्योंकि 'यत्साक्षात्' अपरोक्षात् (अपरोक्षं) ब्रह्म' इस श्रुति ने चित्त्व का ही प्रत्यक्षत्व सिद्ध किया है, और चिद्रूप ज्ञात, स्वप्रकाश है।[186] इस कारण सभी ज्ञानों का ज्ञान अंश में प्रत्यक्षत्व ही है। इसलिए परिभाषाकार का ज्ञप्तिगत प्रत्यक्षत्व का 'चित्त्व' रूप लक्षण अतिव्याप्त नहीं हो सकता है। कारण यह है कि चैतन्य सदैव प्रत्यक्ष ही रहता है। परिभाषाकार के इस मत पर आक्षेप हो सकता है कि यदि चैतन्य, स्वप्रकाशत्व के कारण फिर प्रत्यक्ष है और उसके प्रत्यक्ष होने से समस्त ज्ञानों का यदि प्रत्यक्षत्व है तो अनुमिति उपमिति, आदि प्रमाओं में प्रत्यक्षत्व का व्यवहार क्यों नहीं होता?

परिभाषाकार के इस आक्षेप का समाधान 'तत्तद्विषयांश' आदि वाक्य से किया है। परिभाषाकार के अनुसार अनुमिति आदि ज्ञानों में विषयांश निरूपित प्रत्यक्षत्व का पूर्वोक्त प्रयोजक नहीं है।[187] इसलिए उन्हें प्रत्यक्षशब्द से सूचित नहीं किया जाता है। पुनश्च विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक 'प्रत्यक्ष योग्य विषय के आकार की तत्तद् अन्तःकरण वृति, उससे उपहित प्रमातृचैतन्य की सत्ता का उसके विषय की सत्ता का पृथक् न रहना ही विषयगत प्रत्यक्षत्व है। दूसरे शब्दों में अनुमिति ज्ञानों में, प्रत्यक्षत्व–प्रयोजक के न होने से अनुमित्यादि प्रमाओं को प्रत्यक्षप्रमा शब्द से व्यवहार नहीं किया जाता। 'चित्त्व' रूप ज्ञप्तिगत प्रत्यक्षत्व का लक्षण प्रत्यक्षादि सब प्रमाओं में है। जबकि ज्ञेयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक प्रत्यक्षादि सभी प्रमाओं में भिन्न–भिन्न हैं। अतः प्रत्यक्ष से भिन्न प्रमाओं के लिए प्रत्यक्ष शब्द का व्यवहार नहीं होता। दूसरे शब्दों में विषय के भेद से प्रत्यक्षादि प्रमाओं में भेद होता है ।

---

[185] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 96.
[186] 'यत्साक्षादपरोक्षाद ब्रह्म' (बृहदारण्यक उपपिषद्– 3.4.1)
[187] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 97.

परिभाषाकार के इस समाधान पर यह आक्षेप हो सकता है कि शुक्तिरूप्यादि प्रत्यक्ष ज्ञान में योग्य विषयाकार वृत्युपहित प्रमातृचैतन्य की सत्ता से भ्रामक शुक्तिरूप्यादि विषयों की सत्ता भिन्न नहीं होती, इसलिए शुक्तिरूप्यादि–भ्रान्त ज्ञान में 'चित्व'–रूप ज्ञप्तिगत प्रत्यक्षत्व के लक्षण की अतिव्याप्ति होती है।

परिभाषाकार के मतानुसार 'चित्त्व' रूप लक्षण की भ्रमज्ञान में अतिव्याप्ति नहीं हो सकती, कारण यह है कि भ्रमज्ञान की भी स्वांश में प्रत्यक्षता सिद्ध है, इसलिए भ्रमज्ञान में भी ज्ञप्तिगत सामान्य लक्षण की लक्ष्यता रहने से अतिव्याप्ति नहीं हो सकती है।[188] भ्रमज्ञान तो ज्ञप्तिगत प्रत्यक्षत्व लक्षण का अलक्ष्य न होकर लक्ष्य, इसलिए 'चित्त्व' लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। भ्रमज्ञान और प्रमाज्ञान इन द्विविध ज्ञानों का साधारण लक्षण रूप सामान्य लक्षण है और उस सामान्य लक्षण का लक्ष्य भ्रमज्ञान है। इसलिए परिभाषाकार ने ज्ञप्तिगत प्रत्यक्षत्व के विशेष लक्षण की अतिव्याप्ति का निराकरण आगे किया है। वादी यह आक्षेप है कि प्रत्यक्ष–प्रमाण का निरूपण करते समय भ्रमज्ञान और प्रमाज्ञान दोनों के लिए प्रत्यक्षत्व के सामान्य लक्षण का निरूपण करना उचित नहीं है।

परिभाषाकार के अनुसार 'यदा तु प्रत्यक्षप्रमाया एव लक्षणं वक्तव्यं, तदा पूर्वोक्तलक्षणेऽबाधितत्वं विषयविशेषणं देयम्। शुक्तिरूप्यादिभ्रमस्य संसारकालीन बाधविषय प्रातिभासिक रजतादि विषयकत्वेनोक्त लक्षणाभावान्नतिव्याप्तिः'।[189] अर्थात्– जब केवल प्रत्यक्ष प्रमा का ही लक्षण करना अभिप्रेत हो, तब पूर्वोक्त लक्षण में, विषय को 'अबाधितत्व' ऐसा विशेषण देना चाहिए। शुक्ति में रजत आदि का भ्रम तो संसारकालीन अवस्था में ही बाधित होता है। अतः वह भ्रमज्ञान, प्रातिभासिक ज्ञान को विषय करने वाला होने से प्रमा के लक्षण की शुक्ति–रजत–भ्रम में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

परिभाषाकार के अनुसार प्रत्यक्षप्रमाण के निरूपण में तो ज्ञेयगत प्रत्यक्ष का ही 'विशेष लक्षण' स्पष्ट करना ही उचित है। भ्रमज्ञान और प्रमाज्ञान दोनों के लिये साधारण प्रत्यक्षत्व–सामान्य का लक्षण को स्पष्ट करना उचित नहीं। यदि यह आक्षेप है तो पूर्वोक्त ज्ञान–साधारण–लक्षणगत 'विषय' शब्द के साथ 'अबाधित' विशेषण जोड़ देना चाहिये, जिससे भ्रमज्ञान का विषय बाधित होने से उसकी निवृत्ति हो जायगी। 'योग्य एवं अबाधित विषय की

[188] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 97.
[189] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 52.

सत्ता का, विषयाकार वृत्ति से उपहित प्रमातृचैतन्य की सत्ता से पृथक् न होना' लक्षण करने से बाधित होने वाले शुक्तिरजतादि–विषयों का निराकरण हो जाता है।[190]

परिभाषाकार के उपर्युक्त समाधान पर यह आक्षेप हो सकता है कि 'अबाधितत्व' का अर्थ 'पारमार्थिकत्व' है या केवल 'सत्त्व'। यदि 'पारमार्थिकत्व' स्वीकार करे तो 'घटज्ञान' में अव्याप्ति होगी। कारण यह है कि अद्वैत मत में घटादि विषयों में बाधितत्व है और ब्रह्म से भिन्न सब पदार्थ है। परन्तु यह लक्षण, बाधित–घट में नहीं हो सकता। अतः इस 'लक्षण का लक्ष्य के एक देश मे न रहना' ही अव्याप्ति है। अब यदि 'सत्त्वमात्र' ही अबाधितत्व का अर्थ है तो शुक्तिरूप्यादि भ्रमज्ञान में अतिव्याप्ति पूर्ववत् ही रहती है। क्योंकि 'केवल सत्त्व' भ्रमज्ञान में भी है। क्योंकि वह ज्ञान, लक्ष्य नहीं है।

परिभाषाकार ने वादी के इस आक्षेप का भी निराकरण किया है। उनके मतानुसार शुक्ति–रूप्यादि–भ्रमज्ञान का विषय प्रातिभासिक रजत है और वह प्रातिभासिक रजत का व्यवहार काल में शुक्ति का ज्ञान होने पर बाधित होता है। इसलिये परिभाषाकार द्वारा विषय में 'अबाधित' विशेषण के देने से शुक्तिरूप्यादि भ्रमज्ञान में भी उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

अद्वैत मतानुसार 'अबाधित' विशेषण का 'संसार दशा में व्यावहारिक सत्ता में अबाधित' अर्थ ही विवक्षित है और घटादि व्यावहारिक विषय व्यवहार काल में बाधित नहीं होते। घटादिविषय (ब्रह्म ज्ञान होने पर) ही बाधित होते हैं। अतः घटादि ज्ञानों में लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती । इसलिये परिभाषाकार के अनुसार 'व्यवहार काल में बाधित होने वाला बाध का विषय बनने वाले, प्रातिभासिक रजतादि भ्रमज्ञान का विषय होता है'। इस प्रकार पूर्वोक्त ज्ञेयगत प्रत्यक्षत्व का लक्षण, भ्रान्ति ज्ञान के विषय में अतिव्याप्त नहीं होता प्रतिभासिक का अर्थ है केवल प्रतीति काल में ही रहने वाला अनिवर्चनीय रजतादि उत्पन्न होता है और वह शुक्तिज्ञान के होने पर बाधित भी हो जाता है। इसलिए संसारकालीन–शुक्तिरजता दि ज्ञान में बाधितविषयकत्व है। इस प्रकार प्रातिभासिक रजत पूर्वोक्त लक्षण का लक्ष्य नहीं हो सकता।

3.4.2.5 शुक्तिरजत में प्रत्यक्ष विचार–

परिभाषाकार के अनुसार 'ननु विसंवादिप्रवृत्त्या भ्रान्तिज्ञानसिद्धावपि तस्य प्रातिभासिकतत्कालीनोत्पन्नरजतादि विषयकत्वे न प्रमाणाम्। देशान्तरीयरजतस्य क्लृप्तत्वेन तद्विषयत्वसंभवादिति चेत्, न। तस्यासन्निकृष्टतया प्रत्यक्ष विषयत्वायोगात्। न च ज्ञानं तत्र

[190] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 98.

प्रत्यासत्तिः। ज्ञानस्य प्रत्त्यासत्तित्वे तत एव वह्न्यादेः प्रत्यक्षत्वापत्तावनुमानाद्युच्छेदापत्तेः'।[191] अर्थात्– यहाँ शंका की जाती है कि विफल प्रवृत्ति से शुक्तिरजत का ज्ञान भ्रम है, ऐसा सिद्ध हो जाता है। फिर भी उस भ्रान्तिज्ञान का विषय जो प्रातिभासिक रजत है, वह तत्काल ही उत्पन्न होता है, उसका तो कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए इस भ्रान्तिज्ञान का विषय रजत देशान्तरीय अन्य स्थान में रहा हुआ तो सिद्ध ही है। और यह संभव है, तो फिर अनिर्वचनीय रजत रूप भ्रमज्ञान का ही विषय उस रजत को क्यों कहा जाय? इसके उत्तर में कहा जाता है कि रजत का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष न होने के कारण वह असन्निकृष्ट है। देशान्तरीय रजत के साथ में इसका अलौकिक सन्निकर्ष भी नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसा हाने का कोई प्रमाण नहीं है। फिर भी ज्ञान लक्षणा प्रत्यासत्ति मान ली जाय, तब तो उसी ज्ञानरूप प्रत्यासत्ति से 'पर्वतो वह्निमान्' इस स्थल में वह्नि इत्यादि का भी प्रत्यक्ष हो सकता है। फिर तो अनुमान अनुमान आदि प्रमाणों का ही उच्छेद हो जायेगा।

नैयायिक मतानुसार 'यह चाँदी है' ज्ञान होने पर चाँदी को प्राप्त करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। यदि उसे हाथ में लेते ही सत्य रजत हाथ लगा तो प्रवृत्ति संवादी है, क्योंकि उसे हाथ में लेकर देखने से यदि ज्ञात हुआ कि यह रजत न होकर सीप या अन्य कोई पदार्थ है तो इस प्रवृत्ति को विसंवादी प्रवृत्ति कहते हैं और शुक्ति–रजत ज्ञान से हुई प्रवत्ति विसंवादी सिद्ध होती है।[192] कारण यह है कि समीप जाने पर दिखाई देता है कि यह रजत नहीं अपितु 'शुक्ति' है। इसलिए विसंवादी प्रवृत्ति से शुक्तिरजतज्ञान का भ्रान्ति–ज्ञान होना सिद्ध होना है। परन्तु किसी प्रमाण के न होने से उस ज्ञान का विषय, अनिर्वचनीय प्रातिभासिक रजत नहीं है। नैयायिक मतानुसार यदि अद्वैत मतानुयायी यह स्वीकार करे कि– दूसरे विषय को अनुपपत्ति ही अनिर्वचनीय रजत के विषय होने में प्रमाण है' तो यह अनुचित है, क्योंकि अन्य प्रदेश में पहले से ही विद्यमान रजत, उस भ्रान्तिज्ञान का विषय हो सकता है।

परिभाषाकार के मतानुसार यह स्वीकार करना भी उचित नहीं है कि 'भ्रमज्ञान का विषय अनिर्वचनीय पदार्थ न होकर अन्यत्र स्थित सत्य–पदार्थ उसका विषय है' क्योंकि भ्रमज्ञान का विषय समीप होता है, इसीलिये 'यह रजत' 'यह सर्प' 'यह जल' का प्रत्यक्षत्व करते हुए शुक्ति रजत, रज्जुसर्प, मृगजल आदि का अंगुली से निर्देश किया जा सकता है और रजतादि विषय यदि समीप नहीं होते तो रजतादि के लिए अंगुलि–निर्देश नहीं किया जा सकता है।[193]

---

[191] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 53.

[192] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 100.

[193] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 101.

दूरस्थ विषय का ज्ञान नहीं हो सकता, कारण है कि विषय का सान्निध्य भी–प्रत्यक्षज्ञान की सामग्री में से एक अंश है और शुक्तिरजत का ज्ञान, प्रत्यक्ष होता हैं। इसलिये उसका विषय समीप ही होना चाहिये, बिना समीप के वह हो ही नहीं सकता क्योंकि सुदूर प्रदेश में स्थित, वस्तु मे प्रत्यक्षज्ञान के विषय होने की योग्यता ही नहीं होती। क्योंकि इन्द्रियों से सन्निकृष्ट न हुई वस्तु, इन्द्रियों का विषय कैसे होगी, और इन्द्रियों के विषय न होने वाले पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान किस प्रकार होगा।

यह आक्षेप हो सकता है कि भ्रमज्ञान के विषय का अलौकिक–सन्निकर्ष स्वीकार करने पर यह दोष नहीं होगा। यदि यह स्वीकार करे तो वह अलौकिक–सन्निकर्ष सामान्यरूप है या ज्ञान रूप है? उसके सामान्य रूप होने में कोई प्रमाण नहीं। सामान्य लक्षणा–प्रत्यासत्ति स्वीकार करने वाले तार्किकों का इस विषय में मत हैं। जैसे– महानस में अग्नि और धूम की व्याप्ति का ग्रहण करते समय धूमत्वेन और वह्नित्वेन–सकल धूम और सकल अग्नि–व्यक्तियाँ मन में उपस्थित होती हैं उसके बाद उनके व्याप्य–व्यापक भाव का ग्रहण होता है। क्योंकि व्याप्य है और व्यापक हैं। यदि ज्ञान न होता तो महानस के घूम और वहाँ की अग्नि की व्याप्ति से पर्वतीय धूम के प्रत्यक्ष होने पर 'पर्वत पर अग्नि है' यह अनुमिति–ज्ञान नहीं प्राप्त होता । किन्तु पर्वतीय धूम के प्रत्यक्ष होते ही पर्वत पर अग्नि का अनुमिति ज्ञान होता है। उसकी उपपत्ति लगाने के लिये ही महानस में धूम और अग्नि के व्याप्ति के ग्रहण करतें समय ही सकल धूम–अग्निव्यक्तियों की मन में उपस्थिति होने के लिये हो सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति को अवश्य स्वीकार करना पड़ता है।

नैयायिकों के उपर्युक्त मत पर परिभाषाकार का मत है कि– सामान्य लक्षणा से सकल धूम और वह्नि व्यक्तियों की उपस्थिति होती है और यदि ऐसा स्वीकार कर लिया जाय तो समस्त जीवों को अनायास सर्वज्ञत्व प्राप्त होगा।[194] कारण है कि सामान्यलक्षणा–प्रत्यासत्ति भी एक सन्निकर्ष ही है। और यदि यह (दूरस्थ) विषयों में भी होता हो तो भूत, वर्तमान और भविष्य काल की व्याप्तिमात्र से पुरुष को यह संयुक्त कर देगा, तब उसकी असंज्ञता में निमित्त ही क्या होगा। आशय है कि कोई निमित्त नहीं होगा। क्योंकि अलौकिक–सन्निकर्ष के द्वारा पुरुष का त्रैकालिक पदार्थों से यदि संयोग होने लग जाय तो उसकी सर्वज्ञता अनायास ही सिद्ध हो जायेगी।

[194] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 102.

परिभाषाकार के मतानुसार समीप स्थित धूमादि पदार्थों से संयुक्त हुए चक्षु में भूत, भविष्य और दूरस्थ वर्तमान विषय के समर्पण करने का सामर्थ्य तो दिखाई नहीं देता। इसलिए अनुभव के विरूद्ध कल्पना करना तार्किकों के लिए तुम्हारा साहस हो सकता है। अद्वैत मत में महानस में ज्ञात हुई धूम–अग्नि की व्याप्ति से पर्वतीय अग्नि के अनुमान का रूप है– व्याप्तिज्ञान ग्रहण के समय महानसीय धूम और अग्नि का व्याप्य–व्यापकभाव, गोष्ठगत धूम और अग्नि का व्याप्य–व्यापक भाव है। और इसी तरह के भिन्न–भिन्न स्थानों में उनकी व्याप्ति देखकर धूम और अग्नि के व्याप्य–व्यापक भाव का निश्चय होता है। इस प्रकार परिभाषाकार के अनुसार प्रथम पृथक–पृथक धूमाग्नि के व्याप्य–व्यापकत्व का ज्ञान होने पर वह व्यक्ति पर्वतीय धूम अग्नि के व्याप्य–व्यापक भाव का अनुमान करता है–

1. यह धूम वह्निव्याप्य है।
2. क्योंकि महानसादि में बसा अनुभव आता है।
3. पृथ्वीव्याप्य गन्ध के समान।

इस पर आक्षेप हो सकता है कि महानस आदि स्थलों में धूम से अग्नि के सम्बन्ध का प्रत्यक्षतया ग्रहण किये जाने से देशान्तरीय आौर कालान्तरीय धूमादि का सम्बन्ध उपस्थित न होने से 'धूम' वह्नि–व्याप्य है या नहीं, यह संशय नहीं होगा। परन्तु सामान्य–लक्षणा के द्वारा सकल व्यक्तियों की उपस्थिति होने पर अन्य देशीय तथा भिन्न कालिक वह्नि–निरूपित व्याप्ति में सन्देह होगा ।

परिभाषाकार के मतानुसार 'समानप्रकारनिश्चयस्यैव संशयविरोधित्वात्'– अर्थात् समान–प्रकार–निश्चय में ही संशय–विरोधित्व रहता है, जिस प्रकार प्रत्यक्ष हुए धूम–अग्नि के सम्बन्ध का निश्चय होने पर वह निश्चय, प्रत्यक्ष हुए धूम अग्नि की व्याप्ति में संदेह होने नहीं देती, उसी प्रकार अप्रत्यक्ष रहने वाले धूमाग्नि की व्याप्ति में होने वाले संशय को वह नहीं रोक सकता।[195] पूर्व उद्घृत हैं कि–अलौकिक–सन्निकर्ष, सामान्यात्मक है या ज्ञान रूप है ? यह विकल्प कर उसमें कोई प्रमाण नहीं है। प्रथम पक्ष में (समीपस्थित) धूमादि ही प्रत्यक्ष का विषय होता है। धूममात्र प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं होता। इसलिए सामान्य–प्रत्यासत्ति की कल्पना नहीं स्वीकार की जा सकती। अब परिभाषाकार ने ज्ञानरूप अलौकिक–सन्निकर्ष के पक्ष का निराकरण 'न च ज्ञानं०' वाक्य से किया है।

[195] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 102.

परिभाषाकार के मतानुसार ज्ञानरूप अलौकिक–सन्निकर्ष के पक्ष का मत अनुचित है कि भ्रम–प्रत्यक्ष–ज्ञान के विषय में ज्ञान ही प्रत्यासत्ति है– शुक्ति रजत में ज्ञान–सन्निकर्ष के होने में कोई प्रमाण नहीं है। भ्रान्तज्ञान के रजतादि विषयों से (ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति) स्वीकार करने में दोष है। ज्ञानलक्षणा–प्रत्यासत्ति से ही अनुमिति अग्न्यादि पदार्थों को प्रत्यक्षत्व प्राप्त होगा और ज्ञानरूप–सन्निकर्ष से पदार्थ का प्रत्यक्षज्ञान होने से अनुमानादि अन्य प्रमाणों का उच्छेद होने का प्रसंग उपस्थित होगा क्योंकि कारण अलौकिक प्रत्यक्ष सामग्री, अनुमिति–ज्ञान की सामग्री से लाघुता के कारण बलवती है।[196]

परिभाषाकार के अनुसार 'ननु रजतोत्पादकानां रजतावयवानामभावे शुक्तौ कथं तथापि रजतमुत्पद्यते इति चेत, उच्चते। न हि लोकसिद्धसामग्री प्रातिभासिक रजातेत्पादिका, किन्तु विलक्षणैव। तथा हि काचकामलादिदूषित लोचनस्य पुरोवर्ति द्रव्यसंयोगादिमाकारा चाकचिक्याकारा च काचिदन्तःकरणवृत्तिरुदेति। तस्यां च वृत्तौ इदमवच्छिन्नं चैतन्यं प्रतिबिम्बते। तत्र पूर्वोक्तरीत्या वृत्तेर्निर्गमनेन इदमवच्छिन्नचैतन्यं, वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यं प्रमातृचैतन्यं चाभिन्नं भवति। ततश्च प्रमातृचैतन्याभिन्नविषयचैतन्यनिष्ठा शुक्तित्वप्रकारिकाऽविद्या चाकचिक्यादिसादृश्य सन्दर्शन समुद्बोधित रजतसंस्कारसधीचीना काचादिदोषसमवहिता रजतरूपार्थाकारेण रजतज्ञानाभासाकारेण च परिणमते'।[197] अर्थात्– शंका की जा रही है कि (भ्रमज्ञान के स्थल में भ्रम का विषय रजत उत्पन्न होता है, ऐसा आपने कहा) परन्तु, रजत को उत्पन्न करने वाले रजतवयवों के अभाव में सीप में आप वेदान्ती के मत में भी रजत कैसे उत्पन्न होगा? उत्तर में वेदान्ती कहते हैं कि प्रातिभासिक रजत की उत्पत्ति में लोकसिद्ध सामग्री कारण नहीं है, किन्तु विलक्षण सामग्री ही कारण है। इसी को स्पष्टतया दिखाया जाता है, काच कामलादि दोष से दूषित नेत्र का पुरोवर्ती द्रव्य के साथ संयोग होते ही कोई इदमाकार तथा चाकचिक्याकार अन्तःकरण की वृत्ति उत्पन्न होती है। उसी वृत्ति में इदमंश से अवच्छिन्न चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है। पहले बताए गये प्रकार से वृत्ति बाहर निकलती है। अतः इदमवच्छिन्न चैतन्य इदमाकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य तथा प्रमातृचैतन्य का अभेद हो गया। इसके बाद प्रमातृ–चैतन्य से अभिन्न ऐसा जो विषयचैतन्य है, उसमें रहने वाली शुक्तित्वप्रकारिका अविद्या है, वह चाकचिक्यादि सन्दर्शन से उद्बुद्ध रजत के संस्कार से सहकृत है, काचादिदोष से युक्त है। इसलिए वही अविद्या रजतरूप से तथा रजतज्ञानाभास के रूप से परिणत हो जाती है।

---

[196] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 103.
[197] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 54.

परिभाषाकार तार्किकों के मत पर दोष दिखलाते हैं कि 'ज्ञान में प्रत्यासत्तित्व है' यह मानने पर वह्नयादिकों के प्रत्यक्ष होने का प्रसंग प्राप्त होता है और उससे अनुमानादि अन्य प्रमाणों का उच्छेद होने का प्रसंग उपस्थित होता है' परन्तु नैयायिक मतानुसार 'शुक्ति–रजतस्थल में अपूर्वरजत की उत्पत्ति होती है' यह अद्वैत मत भी असंगत है, क्योंकि–रजत के उपादान–कारण लौकिक रजतावयवों का शुक्ति में अभाव होने से वहाँ पर रजतोत्पादक अलौकिक अवयवों का ही अद्वैत मत को स्वीकार करना होगा । परन्तु अलौकिक अवयवों को भ्रान्तरजत का उपादान मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

नैयायिकों के उपर्युक्त आक्षेप पर परिभाषाकार का मत है कि शुक्ति में रजत के अलौकिक अवयव यदि न हो तो उसकी उत्पत्ति का ही असम्भव होगा। परन्तु 'जब कि शुक्ति में रजत का प्रत्यय होता है तब शुक्ति में अनिर्वचनीय रजतोत्पत्ति को 'परिशेष न्याय' से स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है तो तन्नि–मित्त भ्रान्त–रजत को उत्पन्न करने वाली सामग्री का भी अवश्य स्वीकार करना चाहिए।[198] इसके अतिरिक्त नैयायिकों का यह मत भी उचित नहीं है कि 'शुक्ति में लौकिक उपादान का अभाव होने से रजत की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। क्योंकि यह नियम है कि उपादान और उपादेय–दोनों में सादृश्य अवश्य होना चाहिये।[199] इस कारण अलौकिक रजत के उत्पन्न होने में लौकिक–सामग्री की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु अलौकिक–रजत को अलौकिक–सामग्री की ही अपेक्षा होती है। अतः लोकसिद्ध रजत सामग्री, 'प्रातिभासिक' रजत की उत्पादिका नहीं है। 'लौकिक सामग्री से भिन्न सामग्री का अभाव रहने पर 'प्रातिभासिक' रजत की सामग्री कौन–सी?

इसके प्रत्युत्तर में परिभाषाकार का मत है जैसे प्रातिभासिक–रजत, लौकिक–रजत से विलक्षण है, उसी प्रकार उसकी उत्पादिका सामग्री भी लोकप्रसिद्ध सामग्री से विलक्षण ही है। उस अलौकिक सामग्री का स्वरूप अधोलिखित है।[200]

परिभाषाकार के मतानुसार प्रातिभासिक रजत को उत्पन्न करने वाली रजत–सामग्री, लौकिक रजत की सामग्री से विलक्षण ही होती है, परन्तु आकाशादि –भूतों की उपादानभूत–अविद्या से यह अविद्या विलक्षण है।[201] आकाशादि की उपादानभूत–'मूला अविद्या' केवल चिन्मात्र के आश्रय से रहती है। चिन्मात्र ही उसका विषय होता है और वह निविकल्पक ज्ञान से निवृत्त हो जाती है। जबकि यह 'तूला विद्या' शुक्त्यवच्छिन्न–चैतन्य के आश्रय से

---

[198] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 103.
[199] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 104.
[200] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 104.
[201] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 104.

रहती है। और रजत से भिन्न जो शुक्ति, तन्निष्ठ जो शुक्तित्व है वही उसका विषय रहता है, और यह तूला–अविद्या, सविकल्पक–ज्ञान से निवृत्त होती है। परिभाषाकार के मत में तुला–विद्या और मूला–विद्या में यही भेद है।

'अविद्या, रजतरूप विषय के आकार से और रजत–ज्ञानाभासाकार से परिणाम को प्राप्त होती है, यह स्पष्टकर तूला–विद्या ही प्रातिभासिक रजत की उत्पादिका है, और उस अविद्या की ही प्रक्रिया परिभाषाकार ने इस प्रकार स्पष्ट की है जैसे–'काच' एक नेत्र रोग है, जिससे दृष्टि मंद होती है। उसी प्रकार कामलादि अन्य दोषों से जिसके नेत्र दूषित हुए हैं ऐसा व्यक्ति जब सीप जैसे चमकते पदार्थ को देखता है तब उससे उसके मन में 'यह' आकार की अन्तःकरणवृत्ति पैदा होती है। सीप के चमकीलेपन के कारण, 'यह' इस अन्तःकरणवृत्ति में वह चमकीलापन भी प्रतीत होता है। इस प्रकार देखने वाले व्यक्ति के सदोष चक्षुरिन्द्रिय का समक्ष स्थित द्रव्य के साथ संयोग होकर 'इदम्' विषय से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है। इदम् विषय से प्रतिबिम्बित होने पर उस वृत्ति का वहिंगमन होता है। तब प्रमेयचैतन्य, प्रमाणचैतन्य, मातृचैतन्य का अभेद हो जाता है। इस विषय में पूर्व में ही–'तडागोदकन्याय' का दृष्टान्त दिया जा चुका है। इसके अनन्तर 'प्रमातृचैतन्याभिन्न जो विषयचैतन्य, तन्निष्ठ जो शुक्तित्वप्रकारक अविद्या, वह रजत–रूप विषयाकार में और रजतज्ञानाकार में परिणत होती है।

अद्वैत मत में अविद्या को ही आकाशादि प्रपंच का उपादान माना है, किन्तु अब इस मत से अद्वैत मत स्वीकृत प्रतिज्ञा–हानि होती है। यदि कोई यह आक्षेप करे तो इसके निराकरण के लिए ही परिभाषाकार ने तुलाविद्या में 1–प्रमातृचैतन्याभिन्न या विषयचैतन्यनिष्ठ और 2 शुक्तित्व–प्रकारक ये दो विशेषण जोड़ दिये हैं और उससे चैतन्यमात्राश्रित–चिन्मात्रविषय ओर निर्विकल्पक–ज्ञान से निवर्त्य ऐसी मूलाविद्या की निवृत्ति हो जाती है।[202] यह आक्षेप हो सकता है कि यहाँ तूलाविद्या सदैव ही भ्रान्त विषय और भ्रान्तविषयज्ञान के आकार से क्यों परिणत नहीं होती?

परिभाषाकार के अनुसार निमत्तिकारण का अभाव होने से तूलाविद्या सदैव भ्रान्तविषय और भ्रान्तविषय ज्ञान के आकार से परिणत नहीं होती है और पूर्वदृष्ट रजत से उत्पन्न हुआ रजतसंस्कार यद्यपि सदैव विद्यमान रहता है फिर भी उसका जागृत होना, अविद्या के पूर्वोक्त परिणाम में निमित्त है।[203] चाकचिक्यादि सांदृश्य–दर्शन से वह उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष प्राप्त

[202] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 106.
[203] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 106.

हुए पदार्थ के सादृश्यदर्शन से रजत–संस्कार जागृत हों जाते हैं और वे जागृत हुए रजत–संस्कार ही तूलाविद्या के परिणाम में निमित्त होते हैं अर्थात् उस अविद्या को जब जागृत संस्काररूप सामग्री की सहायता प्राप्त होती है तब वह पूर्वोक्त प्रकार से परिणाम को प्राप्त हो जाता है और जब उसे सामग्री की सहायता नहीं प्राप्त होती तब वह परिणाम को नहीं प्राप्त होता है। वादी यह आक्षेप करते है कि शुक्ति में चाकचिक्यादि रजत–सादृश्य का दीखना और नीलपृष्ठ त्रिकोणता आदि का न दीखना इसमें क्या निमित्त है?

परिभाषाकार के मतानुसार उस अविद्या में द्रष्टा के काचादिनेत्रदोषों का सान्निध्य रहना ही नीलपृष्ठादिकों के अदर्शन में निमित्त है।[204] इस प्रकार परिभाषाकार ने नेत्रगत कांचादि दोषों से युक्त हुई तूलाविद्या, प्रातिभासिक रजताकार से और उसके ज्ञानकार से परिणाम को प्राप्त होती है। क्योंकि अद्वैत मत में 'ज्ञान' शब्द का अर्थ वृत्ति है ।

परिभाषाकार के अनुसार 'परिणामो नाम उपादानसमसत्ताककार्यापत्तिः। विवर्तो नाम उपादानविषयसत्ताककार्यापत्तिः। भ्रान्तिभासिकरजतं चाविद्यापेक्षया परिणामः चैतन्यापेक्षया विवर्त इति चोच्यते। अविद्यापरिणामरूपं च तद्रजतमविद्याधिष्ठाने इदम्वच्छिन्नचैतन्ये वर्तते। अस्मन्मते सर्वस्यापि कार्यस्य स्वोपादानाविद्याधिष्ठानाश्रितत्वनियमात्' ।[205] अर्थात्– जिस प्रकार उपादान की सत्ता हो उसी प्रकार की सत्ता से युक्त कार्य की प्राप्ति होना परिणाम कहलाता है और उसकी सत्ता की अपेक्षा विषमसत्ता से युक्त कार्य की प्राप्ति होना विवर्त कहलाता है। प्रातिभासिक रजत रूपकार्य, अविद्या की अपेक्षा से परिणाम है और वही रजत, चैतन्य की अपेक्षा से विवर्त है। अविद्याा का परिणामरूप वह रजत अविद्याधिष्ठानभूत इदमवच्छिन्न चैतन्य में रहता है। क्योंकि अद्वैत मत में सभी कार्य अपनी उपादानभूत अविद्या के अधिष्ठानभूत चैतन्य के आश्रित होते हैं– यह नियम है।

परिभाषाकार के अनुसार जिस कारण से अभिन्नतया कार्य उत्पन्न होता है, उसे उपादान कारण कहा जाता है। जैसे–घटरूपकार्य, मृत्तिका से अभिन्न रहकर ही उत्पन्न होता है, इसलिये मृत्तिका, घट की उपादान–कारण है। जिस कार्य की सत्ता, अपने उपादान–कारण की सत्ता जैसी ही होती है, ऐसे कार्य के ही परिणाम है। अद्वैत मत में सत्ता त्रिविध है, पारमार्थिकी, व्यावहारिकी, और प्रातिभासिकी।

[204] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 107.
[205] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 56.

3.4.2.5.1 पारमार्थिक सत्ता– ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिकी होती है। पारमार्थिक सत्ता नित्य (काल से अनवच्छिन्न) होती है। पारमार्थिक सत्ता त्रिकालाबाधित सत् होता है। अद्वैत मत में एकमात्र ब्रह्म ही सत् है।

3.4.2.5.2 व्यावहारिक सत्ता– आकाशादि प्रपंच की सत्ता व्यावहारिकी है। व्यावहारिक सत्ता केवल स्थितिकाल में (पदार्थ की उत्पत्ति से पूर्व और नाश के अनन्तर नहीं होती) होती है। कल्प के आरम्भ से उसके अन्त तक जो काल उसे व्यवहारकाल कहते हैं, और उस काल में जो सत्ता, उसे व्यवहारिकी सत्ता कहते हैं।

3.4.2.5.3 प्रातिभासिक सत्ता– शुक्तिरजतादि भ्रान्त पदार्थों को सत्ता, प्रातिभासिकी है। शुक्ति पर भासित होने वाला रजत, रज्जु पर भासित होने वाला सर्प प्रातिभासिक पदार्थ हैं, इनकी सत्ता उस प्रतिभासकाल में ही रहती है। अधिष्ठान के ज्ञान से उसका बाघ होता है, इसलिये वह प्रातिभासिक सत्ता है।

जैसे दूध, व्यावहारिक पदार्थ है, वह व्यावहारिकी सत्ता से युक्त है, उसे दही रूप कार्य का आकार प्राप्त होता है। उस दही रूप कार्य की सत्ता भी व्यावहारिकी ही होती है, इसलिए दूध रूप उपादान कारण से दही" रूप समसत्ताक कार्य उत्पन्न होता है। इसलिये वह दूध का परिणाम है। इस लक्षण में कार्य को 'समसत्ताक' विशेषण जोड़–कर विवर्त में अतिव्याप्ति की व्यावृत्ति है। अथवा व्यावहारिकों सत्ता से युक्त तन्तुओं को व्यावहारिकी सत्ता से युक्त पटभाव की प्राप्ति होना ही परिणाम है। इस परिणाम से विवर्त प्रथक् है। परिणाम के समान विवर्त भी कार्य है ।

परिभाषाकार के अनुसार 'जिसकी सत्ता उपादान की सत्ता से विषम है, ऐसे कार्य की उत्पत्ति को विर्वत कहते है।[206] विवर्त में अतिव्याप्ति के निराकरण के लिए जिस प्रकार परिणाम के लक्षण में जिस प्रकार 'समसत्ताक' विशेषण दिया हैं उसी प्रकार परिणाम में अतिव्याप्ति के निराकरण के लिए विवर्त के लक्षण में 'विषम सत्ताक' विशेषण दिया है। जबकि प्रातिभासिक–रजतादि में परिणामत्व और विवर्तत्व दोनों धर्म रहते हैं। अद्वैत मत प्रातिभासिक रजत, अविद्या का परिणाम और चैतन्य का विवर्त है। जिस प्रकार तन्तु के परिणामरूप पट को तन्तुदेशत्व है, उसी प्रकार अविद्या के परिणामरूप शुक्तिरूप्य को अविद्यादेशत्व है। अविद्या, चैतन्यनिष्ठ होती है इसलिये शुक्तिरूप्य भी चैतन्यनिष्ठ होता है। इस आशय से परिभाषाकार

[206] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 108

ने कहा है कि अविद्यापरिणामरूप शुक्तिरजत, अविद्या के अधिष्ठानरूप इदम–वच्छिन्न चैतन्य में रहता है।

यह आक्षेप हो सकता है कि अविद्यापरिणामरूपरजत, अविद्या में तादात्म्य सम्बन्ध से रहता है, तब अविद्या में तादात्म्य सम्बन्ध से रहने वाले रजत को चैतन्योपादानत्व नहीं हो सकता। जबकि चैतन्य में, रजत, अविद्यासम्बन्ध से रहता है तब 'उस उपादान में विषमसत्ताक कार्यापत्तिरूप विवर्तत्व' कैसे हो सकता?

परिभाषाकार के मतानुसार अविद्यापरिणामरूप रजत, अविद्याधिष्ठात के आश्रय से रहने के कारण उसे विवर्तत्व हो जाता है। यह नियम है कि 'अविद्यापरिणामरूप रजत, अविद्या के अधिष्ठानभूत चैतन्प के आश्रय से रहता है, क्योंकि अद्वैत मत में सभी कार्यों में, उन कार्यों के उपादानभूत अविद्या के अधिष्ठान का आश्रितत्व नियम से रहता है'।[207] कोई भी कार्य अपने उपादान कारण के अधिष्ठान के आश्रय से ही रहता है। इसलिये प्रातिभासिक रजत, अविद्या का परिणाम है और चैतन्य का विवर्त है। कोई दोष नहीं है परिभाषाकार के इस समाधान पर पुनः आक्षेप और उसका समाधान इस प्रकार है।

परिभाषाकार के अनुसार 'ननु चैतन्यनिष्ठ रजतस्य कथमिदं रजतमिति पुरोवर्तितादात्म्यम्? उच्यते। यथा न्यायमते आत्मनिष्ठस्य सुखादेः शरीरनिष्ठत्वेनोपलम्भः शरीरस्य सुखाद्यधिकरणतावच्छेदकत्वात् तथा चैतन्यमात्रस्य रजतं प्रत्यनधिष्ठानतया इदमवच्छिन्नचैतन्यस्यतदधिष्ठानत्वेन इदमोऽवच्छेदकतया रजतस्य पुरोवर्तिसंसर्गाप्रत्यय उपपद्यते'।[208] अर्थात्– शंका की जाती है कि, चैतन्यनिष्ठ रजत का 'इदं रजतम्' 'यह रजत है' इस प्रकार पुरोवर्ती सामने रही हुई वस्तु के साथ तादात्म्य कैसे हो सकता है? उत्तर दिया जाता है कि, जिस प्रकार न्यायमत में आत्मा के रहते हुए भी सुख–दुःखादि की प्राप्ति तो शरीर में ही हो जाती है, क्योंकि सुखादि की अधिकरणता का अवच्छेदक शरीर है। ठीक इसी प्रकार विशुद्ध चैतन्यमात्र को रजत का अधिष्ठाान हम मानते नहीं है, किन्तु इदमवच्छिन्न चैतन्य को ही मानते हैं। ऐसे (परिमित) चैतन्य में रहे हुए चैतन्य को अधिष्ठानता का अवच्छेदक (परिच्छेदक) तो इदम् ही है। इसलिए अवच्छेदक के मर्यादक के पुरोवर्तित्वधर्म का सम्बन्ध (इदमवच्छिन्नता का सम्बन्ध) चैतन्यनिष्ठ कहल्पत सम्बन्ध में दिखता है। यदि सभी कार्य,

[207] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 109.
[208] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 56.

अविद्याधिष्ठात चैतन्याश्रित होता है, यह स्वीकार किया जाय तो प्रातिभासिक रजत का प्रत्यक्ष शक्ति से तादात्म्यप्रत्यय होना अनुपपन्न होगा।

परिभषाकार ने स्वमेय इस ऊहकल्पना द्वारा वादी के आक्षेप की स्थापना कर उसका समाधान भी किया है। उनके मत में द्रष्टा व्यक्ति के सामने भूतल पर स्थित तन्तुओं में विद्यमान पट का प्रत्यक्षज्ञान जब होता है तब 'अब यहाँ यह पट है' यह प्रत्यय जिस प्रकार होता है उसी प्रकार ही चैतन्यनिष्ठ अविद्या में स्थित शुक्ति–रजत का 'चैतन्य में रजत' यह प्रत्पय प्राप्त होना चाहिए था, परन्तु 'यहाँ यह रजत है' ऐसा देह के बाहर प्रत्यय होता है यह उचित नहीं है।[209] क्योंकि चैतन्य के सर्वव्यापी होने से उसका 'इह' यहाँ प्रत्यय होना अनुचित हैं।

परिभाषाकार के अनुसार अविद्या का परिणाम अविद्या के अधिष्ठानभूत चैतन्य के आश्रय से जिस प्रकार रहता है उसी प्रकार चैतन्याध्यस्त रजतादि की तदवच्छेदक पुरोवर्ति पदार्थ से तादात्म्य–प्रतीति हो सकती है। परिभाषाकार ने इस विषय में न्याय–शास्त्र का एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। जैसे– नैयायिक सुखादि धर्मों को आत्मनिष्ठ स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार सुख, दुःख, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि आत्मा के धर्म हैं।[210] परन्तु वे सुखादि आत्मनिष्ठ धर्मं भी, शरीरनिष्ठ ही लगते हैं। मेरा शरीर सुखी, इस प्रकार शरीरनिष्ठत्व के कारण देह को आत्मगत–सुखाद्युपलब्धि का अवच्छेदकत्व जिस प्रकार होता है, उसी प्रकार ही 'इदम्' इस पुरोवर्ती विषय को आत्मगत रजताध्यास का अवच्छेदकत्व है। इससे चैतन्याध्यस्त रजत का पुरोवर्ती शुक्ति में 'यह रजत' ऐसा प्रत्यय हो सकता है। क्योंकि शुद्ध चैतन्य, आरोपित रजत का अधिष्ठान नहीं बन सकता। इसलिए 'इदमवच्छिन्न' चैतन्य रजत का अधिष्ठान होने से शुक्ति के इदमंश में उसका अवच्छेंदकत्व है, जिससे आरोपित रजत का पुरोवर्ती सीप से संसर्ग हुआ है यह प्रत्यय हो सकता है ।

इस समाधान पर आक्षेप हो सकता है कि इदवमच्छिन्न चैतन्य में अध्यस्त रजतादि, साक्षी में अध्यस्त नहीं होता, और उसके, साक्षी में अध्यस्तत्व न होने से उस पर आरोपित रजतादि को केवल साक्षिवेदत्व और सुखादि के समान अनन्यवेद्यत्व है। साम्प्रदायिकों का यह मत कैसे उपपन्न होगा? परिभाषाकार इसका भी समाधान करते है।

---

[209] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 110.
[210] भार्गव, दयानन्द, 2012. तर्क–संग्रह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 49.

परिभाषाकार के अनुसार 'तस्य च विषयचैतन्यस्य तदन्तःकरणोपहितचैतन्याभिन्नतया विषयचैतन्याध्यस्तमपि रजतं साक्षिण्यध्यस्तं केवलसाक्षिवेधं सुखादिवदनन्यवेद्यमिति चोच्यते' ।[211] अर्थात्– यहाँ पर विषयचैतन्य और अन्तःकरणोपहित चैतन्य अभिन्न हो वुका है। इसलिए विषयचैतन्य में कल्पित रजत भी साक्षी में अध्यस्त माना गया है और केवलसाक्षिवेद्य तथा सुखादि के समान अनन्यवेद्य भी कहा गया है।

परिभाषाकार ने प्रथमतः इस आक्षेप को व्यवस्थितरूप से रखा उसके बाद उसका समाधान प्रस्तुत किया है, पुरोवर्ती शुक्तिकादि विषय का 'इदम्' आकार वाले (शुक्ति के) अंश से अवच्छिन्न हुए विषयचैतन्य में रजतादि का अध्यास होता है। साक्षिचैतन्य में रजतादि का अध्यास नहीं होता। विषय चैतन्य में अध्यस्त हुए रजत को साक्षी में अध्यस्तत्व न होने से उसे केवल साक्षि–वेद्यत्व है और सुखादि के समान उस अध्यस्त रजतादि को भी अन्यवेद्यत्व नहीं होते। पंचपादिकाचार्य का यह मत कैसे उपपन्न होता है?

परिभाषाकार के अनुसार 'इदमवच्छिन्न–चैतन्य' ही विषयचैतन्य है और वह तद्विषयक अन्तःकरणोपहित–चैतन्य से भिन्न नहीं है इसलिए विषय चैतन्य में अध्यस्त होते हुए भी रजत, साक्षी, में अध्यस्त होता है।[212] इसी प्रकार यह साक्षिवेद्य और सुखादि के समान अनन्यवेद्य भी है। साम्प्रदायिकों का यह मत सर्वथा उचित है।

परिभाषाकार के अनुसार 'ननु साक्षिण्यध्यस्तत्वेऽहं रजतमिति प्रत्ययः स्यात्। अहं सुखीतिवदितिचेत् उच्यते। न हि सुखादीनामन्तःकरणवच्छिन्न चैतन्यनिष्ठाऽविद्या कार्यत्वप्रयुक्तत्वं अहं सुखीति ज्ञानम्। सुखादीनां घटादिवच्छुद्धचैतन्य एवाध्यासात्। किन्तु यस्य यदाकारानुभवाहित संस्कारसहकृताऽविद्या कार्यत्वं, तस्य तदाकारानुभवविषयत्वमित्येवानुगतं नियामकम्' ।[213] अर्थात्– पूर्वपक्षी शंका करते हैं कि रजत अगर साक्षी चैतन्य में ही अध्यस्त है, तब तो 'अहं सुखी' – 'मैं सुखी हूँ' – इस प्रतीति के समान ही 'अहं रजतम्' 'मैं रजत हूँ' ऐसी प्रतीति होनी चाहिए। समाधान किया जा रहा है कि, सुखदुःखादि, केवल अन्तःकरणवच्छिन्न चैतन्य में आश्रित अविद्या का कार्य न होने से 'अहं सुखी' ऐसा भान होने में कोई दोष नहीं है। क्योंकि सुखादि का अध्यास तो घटादि की तरह विषयावच्छिन्न शुद्ध चैतन्य में ही होता है अविद्या के कार्य में नहीं पर जिस वस्तु में जिस आकार का अनुभव पहले हुआ हो, उस अनुभव का संस्कार अन्तःकरण में पड़ा हुआ रहता है। पुनः उस संस्कार

---

[211] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 57.
[212] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 112.
[213] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 58.

से सहकृत अविद्या का कार्यत्व उस वस्तु में है। अतः तद्–आकार–अनुभव–विषयत्व भी उसमें है। यही सर्वत्र अनुगत प्रतीति का विषय समझना चाहिए।

परिभाषाकार के अनुसार उपर्युक्त आक्षेप का आशय इस प्रकार है– सुखादि का अवच्छेदक जो शरीर तन्निष्ठत्वेन सदैव उनका अनुभव नहीं होता, कारण यह है कि 'मैं सुखी हूँ' यह आत्मनिष्ठत्वेन भी सुखादि का अनुभव होता दिखाई देता है। उसी प्रकार रजतादि का भी अन्तःकरण–साक्षी में अध्यस्तत्व स्वीकार किये होने से 'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रत्यय के समान 'मैं रजत हूँ' या 'मैं सुखी हूँ' प्रत्यय के समान "मैं रजतवान् हूँ यह प्रत्यय होना चाहिए, परन्तु यह प्रत्यय कभी भी क्यों नहीं होता?

इस आक्षेप के प्रत्युत्तर में परिभाषाकार का मत है कि 'जिसमें जिसका अध्यास होता है उसका ज्ञान, तन्निष्ठ अविद्याकार्यत्व के कारण तन्निष्ठत्वेनैव हो' यह कोई नियम नहीं हो सकता कारण है कि सुखादि को घटादि के समान हो शुद्ध चैतन्याष्यस्तत्व होने पर भी 'मैं सुखी हूँ' यह प्रत्यय होता है।[214] परिभाषाकार ने भी इसी आशय से उपयुक्त आक्षेप का समाधान किया है। सुखादि का 'मैं सुखी हूँ' इत्याकारक जो जो ज्ञान होता है, वह, जो अन्तःकरणावच्छिन्न जो चैतन्य और उसमें रहने वाली जो अविद्या है उसका कार्यत्व सुखादि के होने से नहीं होता है। कारण यह है कि घटादि व्यावहारिक पदार्थ जिस प्रकार शुद्ध चैतन्य में अध्यस्त हैं उसी प्रकार सुखादि भी शुद्ध चैतन्य में ही अध्यस्त हैं, इस कारण सुखादि को अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ अविद्याकार्यत्व है। परन्तु यह नहीं स्वीकार किया जा सकता है कि इसके होने से "मैं सुखी हूँ'' ज्ञान होता है।

यह आक्षेप होता है कि यदि ऐसा है तो घटादि, सुखादि और शुक्तिरूप्यादि इनमें से प्रत्येक को प्रतीतिविषयत्व होने के लिये पृथक–पृथक् नियामक स्वीकार किये गये हैं या एक ही? इस प्रकार वादी के प्रश्न करने पर परिभाषाकार का मत घटादि के प्रतीति का विषयत्व प्राप्त करने के लिए पृथक नियामक और सुखादि की प्रतीतिविषयत्व में पृथक तथा शुक्ति–रूप्यादिकों की प्रतीतिविषयत्व में भिन्न नियामक स्वीकार करने में अतिव्याप्त होता है, इसलिए घटादि, सुखादि और शुक्ति रूप्यादि में प्रतीतिविषयत्व प्राप्त होने के लिये सर्वानुगत एक ही नियामक स्वीकार करना समाचीन है।[215] परिभाषाकार के अनुसार जिस विषय का जिस आकार से अनुभव होता है वह अनुभव, अन्तःकरण में उसी प्रकार का ही संस्कार उत्पन्न

[214] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 112.
[215] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 113.

करता है और उस संस्कार से युक्त हुई अविद्या का कार्यत्व जिसमें होता है, उसमें तदाकार अनुभवविषयत्व होता है, यही सर्वत्र अनुगत एक नियामक है।

परिभाषाकार के अनुसार 'तथा च इदमाकारानुभवाहितसंस्कारसहकृताऽविद्याकार्यत्वाद् घटादेरिदमाकारानुभव विषयत्वम्। अहमाकारानुभवाहितसंस्कार सहकृताऽविद्या कार्यत्वादन्तःकरणादेरहमाकार अनुभवविषयत्वम्। शरीरेन्द्रियादेरुभयविधानुभव संस्कार सहिताविद्या कार्यत्वादुभयविधानुभव विषयत्वम्। तथा चोभयविधोऽनुभवाः इदं शरीरम्, अहं देहोऽहं, मनुष्योऽहं, ब्राह्मण इदं चक्षुरहं काण इदं श्रोत्रमहं बधिर इति'।[216] अर्थात्– घटादि मैं 'अयं घटः', यह 'घट है' ऐसा अनुभव विषयत्व इसलिए है कि इदमाकार भूतकालीन अनुभव से उत्पन्न संस्कारों से मिली हुई अविद्या का कार्य घट है। इसलिए घट में इदमाकार अनुभव का विषयत्व है। और अन्तःकरणादिकों को अहमाकार इस प्रकार के अनुभव से उत्पन्न संस्कारों से युक्त अविद्या का कार्यत्व होने से उन अन्तःकरणादिकों को अहमाकार अनुभव का विषयत्व है। शरीर, इन्द्रियादिकों को दोनों प्रकार के अनुभवों का विषयत्व है। दोनों प्रकार का अनुभव, जैसे– 'यह शरीर हूँ', 'मैं देह हूँ', 'मैं मनुष्य हूँ', 'मैं ब्राह्मण हूँ', 'यह आँख हूँ', 'मैं काना हूँ', 'यह कान हूँ', 'मैं बधिर हूँ', इस प्रकार शरीरेन्द्रियादिकों का दोनों का प्रकार का अनुभव होता है– यह तो प्रसिद्ध बात है।

परिभाषाकार के मतानुसार सभी बाह्य पदार्थ अविद्या के कार्य हैं। परन्तु उनका पहले से जो अनुभव हुआ, वह 'यह घट है, यह पट है' इस प्रकार से होता है। उस अनुभव से वैसे ही संस्कार हुए। उन्हीं संस्कारों से युक्त हुई अविद्या से घटादि पदार्थ रूप कार्य हुए। इसलिए इन बाह्य पदार्थों को इदमांकार अनुभव का विषयत्व है। अन्तःकरणादि भी अविद्या के ही कार्य हैं, परन्तु उनकी कारणभूत अविद्या, अहमाकारानुभव के उत्पन्न संस्कार से युक्त होती है इसलिए अन्तःकरणादि पदार्थ अहमाकारानुभव के विषय होते हैं और शरीर और इन्द्रियाँ भी अविद्या कार्य हैं परन्तु वे 'यह' और 'मैं' इन दोनों प्रकार के अनुभव से उत्पन्न संस्कारों से युक्त हुई अविद्या से उत्पन्न हुए हैं, इसलिये उनका दोनों प्रकार से अनुभव होता है।[217] 'अहम' अनुभव आत्मा को विषय करता है। और 'यह' अनुभव आत्मभिन्न पदार्थों को विषय करता है। इन अनुभवों से वैसे ही संस्कार होते हैं। उन संस्कारों से युक्त हुई अविद्या से पैदा होने वाले कार्य भी वैसे ही अनुभवों के विषय होते हैं। जैसे–यह घट है, यह वक्ष है, यह पुष्प है, यह मैं है इत्यादि। परन्तु परिभाषाकार के मतानुसार शरीर, इन्द्रियाँ इत्यादि देह और देहसम्बन्धी

[216] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 59.

[217] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 114.

पदार्थ 'इदम्' और 'अहम्' इन दोनों प्रकार के संस्कारों से युक्त हुई अविद्या से पैदा होने के कारण उनका दोनों प्रकार से अनुभव होता है। जैसे यह शरीर है, यह चक्षुरिन्द्रिय है, यह श्रोत्रेन्द्रिय है इत्यादि, और 'मैं देह हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं काना हूँ, मैं बहिरा हूँ' इत्यादि।

परिभाषाकार के अनुसार 'प्रकृते च प्रातिभासिकरजतस्य प्रमातृचैतन्याभिन्नेदमंशावच्छिन्न चैतन्यनिष्ठाविद्याकार्यत्वेऽपि इदं रजतमिति सत्यस्थलीयेदमंशाकारानुभवाहित संस्कार जन्यत्वादिदमाकारानुभवविषयता। न त्वहं रजतमित्यहमाकरानुभव विषयतेतयनुसन्धेयम्'।[218] अर्थात्– अब इस प्रस्तुत प्रसंग में देखें तो प्रातिभासिक रजत, प्रमातृचैतन्य से अभिन्न ऐसे इदमंशावछिन्न चैतन्यनिष्ठ अविद्या ही कार्य है तथापि व्यावहारिक सत्यरजत का, 'यह रजत' इत्याकारक जो इदमंशाकार अनुभव है, इस अनुभव से उत्पन्न जो संस्कार है, उन संस्कारों से उत्पन्न होने के कारण उसे 'यह रजत' ऐसे इदमाकार अनुभव का विषयत्व होता है। यहाँ 'अहं रजतम्' ऐसी अहमाकारानुभव की विषयता नहीं होती।

परिभाषाकार के मतानुसार प्रातिभासिक रजत, इदमंशावच्छिन्न–चैतन्यनिष्ठ अविद्या का कार्य है, और वह चैतन्य, प्रमातृचैतन्य से अभिन्न है। इसलिए यह सत्य है कि वह, चैतन्यनिष्ठ अविद्या का कार्य है, फिर भी उसके सहकारी कारण जो पूर्वसंस्कार हैं, वे 'अहं रजतम्' मैं रजत हूँ–इस अहमाकार अनुभव से उत्पन्न नहीं हुए हैं, क्योंकि व्यवहार में सत्य रजत का जो अनुभव होता है वह 'यह रजत है' इस प्रकार का होता है, 'मैं रजत है' इस प्रकार का नहीं।[219] अतः 'यह रजत है' इस अनुभव से उत्पन्न संस्कारों से युक्त अविद्या के कार्यरूप प्रातिभासिक रजत को नियमेन इदमाकारानुभव–विषयत्व ही रहता है, अहमाकारानुभव–विषयत्व नहीं।

परिभाषाकार के अनुसार 'नन्वेवमपि मिथ्यारजतस्य साक्षात्साक्षि–सम्बन्धितया भानसम्भवेरजतगोचरज्ञानाभासरूपाया अविद्यावृत्तेरभ्युपगमः किमर्थः? इति चेत्, न। स्वगोचरवृत्त्युपहित चैतन्यभिन्न सत्ताकत्वाभावस्य विषयापरोक्षरूपतया रजतस्यापरोक्षत्वसिद्धये तदभ्युपगमात्'।[220] अर्थात्– शंका की जाती है कि, ऐसा समाधान करने पर भी मिथ्यारजत का साक्षी से साक्षात्सम्बन्धित्वेन ही भान तो हो सकता है। तब रजतविषयक अज्ञानाभास रूप अविद्या वृत्ति को मानने की क्या आवश्यकता है? इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं

---

[218] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 60.
[219] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 115.
[220] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 60.

कि अविद्यावृत्ति का स्वीकार किए बिना मिथ्यारजत का ज्ञान होना संभव ही नहीं है। क्योंकि अपने विषय को रजत की वृत्ति में उपहित चैतन्य से रजत की कोई भिन्न सत्ता नहीं, यही तो विषय का रजत का अपरोक्षत्व है। अतः रजत का अपरोक्षत्व सिद्ध करने के लिए उस वृत्ति को स्वीकार करना पड़ता है।

यह आक्षेप है कि परिभाषाकार के मतानुसार शुक्तिरूप्य को इदमाकारानुभवविषयत्व भले ही रहे परन्तु तन्निभित्त उस रजत को विषय करने वाली अविद्या–वृत्ति का आश्रय करने का क्या प्रयोजन? क्योंकि उस शुक्तिरूप्य का साक्षात् अनावृत साक्षी से सम्बन्ध हुआ होने से उसका अपरोक्ष होना सम्भव है।

परिभाषाकार के मतानुसार 'साक्षी पर आरोपित रजत की सत्ता, यद्यपि साक्षिचैतन्य से भिन्न नहीं है फिर भी उस रजत का अपरोक्षत्व संभव नहीं होता, कारण यह है कि साक्षिचैतन्य, रजत विषयवृत्तिरूप उपाधि से युक्त नहीं होता है, इसलिये रजत का अपरोक्षज्ञान होने के लिए अविद्यावृत्ति को अवश्य स्वीकार करना चाहिए।[221] अद्वैत में विषयाकारवृत्त्युपहित चैतन्य से विषयचैतन्य की अभिन्न सत्ता का होना ही विषय का अपरोरक्षत्व है। इसलिए प्रातिभासिक रजत का अपरोक्षत्व सिद्ध होने के लिए अविद्यावृत्ति को स्वीकार करना ही चाहिये। यह आक्षेप हो सकता है कि परिभाषाकार के इस समाधान पर 'एक ओर ध्यान दें तो दूसरी ओर का अनुसंधान छुट जाता है' अथवा एक को सम्हालने जाये तो दूसरा निकल जाता है' यह न्याय प्राप्त होता है।

परिभाषाकार के अनुसार 'नन्विदंवृत्ते रजताकारवृत्तेश्च प्रत्येकमेकैकविषयत्वे, गुरूमतवद् विशिष्ट ज्ञानानभ्युपगे कुतो भ्रमज्ञान सिद्धिरिति चेन्न। वृत्तिद्वयप्रतिबिम्बतचैतन्यस्यैकस्य सत्यमिथ्यावस्तु तादात्म्यावगाहित्वेन भ्रमत्वस्य स्वीकारात्। अत एव साक्षिज्ञानस्य सत्यासत्यविषयतया प्रामाण्यानियमात् अप्रमाण्योक्तिः साम्प्रदायिकानाम्'।[222] अर्थात्– शंका की जाती है कि, अभी बताए गए अविद्यावृत्ति का जब स्वीकार ही किया गया, तब तो एक 'इंदवृत्ति' और दूसरी 'रजताकारवृत्ति' ऐसी दो वृत्तियाँ आपने भ्रमस्थल में मान ली हैं। उनमें से 'इंदवृत्ति' तो सीप के समान्य अंश को विषय करती है, और दूसरी जो रजताकार अविद्यावृत्ति है, वह प्रातिभासिक रजत को विषय करती है। दोनों का विषय अलग–अलग है। जब ऐसा है, तब तो गुरू के सिद्धान्तानुसार कोई एक विशिष्ट ज्ञान न मानने से आपके मत में एक भ्रमज्ञान की सिद्धि कैसे होगी? ऐसी शंका हो, तो यह ठीक नहीं है क्योंकि इदमाकार और

---

[221] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 116.
[222] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 61.

रजताकार दानों वृत्तियों में प्रतिबिंबित चैतन्य तो एक ही है। एक ही चैतन्य सत्य शुक्ति के समान्य अंश को और मिथ्या रजत के तादात्म्य को प्रकाशित करते रहता है। अतः एक ज्ञान होने से उसमें भ्रमत्व का स्वीकार किया गया है। इसलिए साक्षीज्ञान सत्य और असत्य दोनों ज्ञानों का विषय हो गया। अतः वह प्रामाण्य में कोई नियम न होने से उसका अप्रामाण्य रूप में कथन किया है।

जिसका विषय प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला शुक्त्यादि पदार्थ है, ऐसी 'इदमाकार–यह इस आकारवाली' एक अन्तःकरणवृत्ति और उस शुक्ति में' यह रजत' है–इस प्रातिभासिक रजत को विषय करने वाली दूसरी वृत्तियों को आप स्वीकार करते हो, परन्तु इससे, प्राभाकर मीमांसकों के समान अद्वैत मत पर भी विशिष्ट ज्ञान को स्वीकार न करने का प्रसंग उपस्थित होता है और उस कारण शुक्ति–रजत–ज्ञान के भ्रमत्व का बोध होता है। जैसे प्रकार वृक्ष का हरा पत्ता, पका पत्ता, भ्रमर, जपाकुसुम आदि पृथक्–पृथक् आश्रय में क्रमशः दिखाई देनेवाले हरे, पीले, काले, लाल वर्णों से भ्रमर में 'यह चित्ररूपी भ्रमर है' ऐसी विशेष बुद्धि कदापि नहीं होती, वैसे ही जिनके विषय भिन्न हैं ऐसी दो वृत्तियों के योग से होने वाला 'यह रजत है' इत्याकारक ज्ञान, कभी भी विशेष ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए शुक्ति में रजतज्ञान भ्रमज्ञान है, यह नहीं कहा जा सकता है।

उपर्युक्त मत प्राभाकर मीमांसकों के अनुसार है अतएव इस सन्दर्भ में प्राभाकर मत को संक्षेप में स्पष्ट कर देना आवश्यक है। प्राभाकर मीमांसकों के मत में–शुक्ति में 'यह रजत है' इत्याकारक जो ज्ञान होता है, वह विशिष्ट एक ज्ञान न होकर, उसमें दो ज्ञानों को स्वीकार किया है। उनमें आगे स्थित पदार्थ का 'यह' इत्याकारक जो ज्ञान होता है वह अनुभवात्मक ज्ञान है और 'रजत' इत्याकारक जो ज्ञान होता है वह दूर स्थित रजत को विषय करने वाला स्मरणात्मक ज्ञान है। इसलिये इनके मत से दो वस्तुओं के तादात्म्य को विषय करने वाला विशिष्ट ज्ञान कहीं भी और कभी भी नहीं होता। अतः प्रभाकर मत में सभी ज्ञान ययार्थ ही है। इसलिये प्रभाकर के मत में भ्रमज्ञान की जैसे सिद्धि नहीं होती, वैसे ही अद्वैत मत में भी 'दो वृत्तियाँ और उनके दो विषय, ऐसा भेद स्वीकृत होने के कारण दो वस्तुओं के तादात्म्य को विषय करने वाला एक विशिष्ट ज्ञान नहीं स्वीकार किया जा सकता।[223] इसलिये वह रजत इत्याकारक ज्ञान, भ्रमज्ञान है–यह बात आद्वैत के सिद्धान्तानुसार सिद्ध नहीं हो सकता है।

[223] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 118.

अद्वैत मत में वृत्ति का भेद स्वीकार किया गया है। और उन वृत्तियों के विषयों का भी भेद स्वीकार किया गया है। अद्वैत मतानुसार एक इदमाकार वृत्ति स्वीकार करते हैं और दूसरी रजतज्ञानाकार वृत्ति और उनमें इदमाकार वृत्ति का पुरोवर्ती शुक्तयादि वस्तु, विषय है, और रजत–ज्ञानाकार वृत्ति का अविद्या–परिणामरूप प्रातिभासिक रजत विषय है।[224] इससे 'इद रजतम्' यहाँ पर विशिष्ट ज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती। इसीलिये यह भ्रमज्ञान है, यह भी सिद्ध नहीं हो सकता। यह आक्षेप पूर्वोक्त सिद्धान्त्येकदेशी के ही हैं। परिभाषाकार ने 'न वृत्तिद्वय.' इत्यादि वाक्य से उपरोक्त आक्षेप का समाधान किया है। परिभाषाकार के अनुसार एक 'यह' आकार की और दूसरी 'रजत ज्ञानाकार की–ऐसी दो वृत्तियों को यद्यपि अद्वैती स्वीकार करते हैं फिर भी ज्ञान का भेद नहीं है क्योंकि उन दोनों वृत्तियों का प्रवेश एक ही है। इसलिए मठ से अवच्छिन्न हुआ आकाश और घट से अवच्छिन्न हुआ आकाश जिस प्रकार एक ही है, उसी प्रकार इदमाकार वृत्ति में प्रतिबिबित चैतन्य और रजतज्ञानाकार वृत्ति में प्रतिबिंबित चैतन्य एक ही है, इसलिये शुक्ति का 'इदमंश' यह सत्य वस्तु और 'रजत यह मिथ्या वस्तु इन दोनों का तादात्म्य ही उस एक चैतन्य का (एक ही) विषय है । अतः 'इदं रजतम्; इस ज्ञान को परिभाषाकार स्वीकार करते हैं।

निष्कर्षतः 'यह रजत' इस शुक्तिरूप्यज्ञान में परिभाषाकार ने दो वृत्तियाँ स्वीकार की हैं। उनमें 'इदमाकार' अन्तःकरण–वृत्ति एक है। इस वृत्ति से सामने की 'शुक्ति' का ग्रहण किया जाता है। 'इदम् से अविछिन्न जो चैतन्य, उसमें स्थित जो शुक्तित्वाविद्या है। उस शुक्तित्वाविद्या की परिणाम–रूप दूसरी वृत्ति। इस अविद्या परिणामरूप वृत्ति से ही रजत का ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार यह स्वीकार करना चाहिए कि इन दो वृत्तियों से दो विषयों का ग्रहण होने से, ये दो ज्ञान हैं। इस कारण 'यह रजत' भ्रमात्मक ज्ञान है यह अद्वैत मत बाधित होता है। और अद्वैत मत का प्रभाकर मत में प्रवेश हो जाता है। इस प्रकार स्वसिद्धान्त भंग और प्रभाकर मत में प्रवेश ये दो दोष परिभाषाकार के मत में उपस्थित होते है।

परिभाषाकार के अनुसार जिनके विषय भिन्न–भिन्न हैं ऐसी 'इदमाकार' और 'रजताकार' वृत्तियाँ यद्यपि कि भिन्न–भिन्न हैं फिर भी उन दोनों वृत्तियों में प्रतिबिम्बित हुआ चैतन्य एक ही है।[225] सब प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान में वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य, प्रमातृचैतन्य, ओर विषयावच्छिन्न चैतन्य, इन तीनों चैतन्यों का पूर्वोक्त प्रकार से तादात्म्य होता अवश्य है। भ्रान्त प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय व्यावहारिक सत्य और प्रातिभासिक रजतादि वस्तुओं का तादात्म्य है।

---

[224] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 118.
[225] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 119.

इस प्रकार परिभाषाकार के मत में उस भ्रान्त रजत ज्ञान को विशिष्टज्ञानत्व भी है और भ्रमत्व भी है। इस प्रकार एक ही साक्षिज्ञान का विषय सत्यवस्तु होता है और असत्य वस्तु भी। इसलिए साम्प्रदायिकों के अनुसार 'साक्षिज्ञान में अप्रामाण्य है' यह जो मत है वह उचित ही है।

परिभाषाकार के अनुसार 'ननु सिद्धान्ते देशान्तरीयरजतमप्यविद्याकार्यमध्यस्तं चेति कथं शुक्तिरजतस्य ततो वैलक्षण्यमिति चेन्न। त्वन्मते सत्यत्वाविशेषेऽपि केषांचित्क्षणिकत्वं केषांचित्स्थायित्वमित्यत्र यदेव नियामकं, तदेव स्वभावविशेषादिकं ममापि। यद्वा घटाध्यासे अविद्यैव दोषत्वेन हेतुः। शुकितरूप्याद्यध्यासे तुकाचादयोऽपि दोषाः। तथा चागन्तुकदोषजन्यत्वं प्रतिभासिकत्वे प्रयोजकम्। अत एव स्वप्नोपलब्धरथादीनामागन्तुक निद्रादिदोषजन्यत्वात्प्रातिभासिकत्वम्'।[226] अर्थात्– शंका की जा रही है कि वेदान्त के सिद्धान्तानुसार तो अन्य देश में रहा हुआ रजत भी तो अविद्या का ही कार्य है, और कल्पित ही है। उसी प्रकार शुक्तिरजत भी अविद्या का ही कार्य है और कल्पित है, तब तो फिर उन दोनों प्रकार के रजतों में विलक्षणता क्या है? उत्तर दिया जाता है कि यह शंका ठीक नहीं। क्योंकि तुम्हारे न्याय के मत में भी कुछ पदार्थों में सत्यत्व तो समान ही है, फिर भी बुद्धि में सत्यत्व क्षणिक है, और घट आदि में स्थायी सत्यत्व है, इसका नियामक कोई कारण तो तुमने माना ही होगा, तो यही कारण मेरे वेदान्त मत में भी सत्य तथा प्रातिभासिक रजत की विलक्षणता में आ जायेगा। अथवा तो घट आदि के अध्यास में अविद्या ही दोष रूप से कारण मानी गई है, और शुक्तिरजत के अध्यास में अविद्या और उसके साथ काच कामलादि दोष भी कारण है। अतः शुक्तिरजत के प्रातिभासिक होने में, 'आगन्तुकदोषजन्यत्व', प्रयोजक है। इसलिए स्वप्न में देखे जाने वाले रथादि पदार्थ भी आगन्तुक निद्रादोष से जन्य होने से प्रातिभासिक माने गये हैं।

यह प्रश्न उठ सकता है कि परिभाषाकार शुक्तिरूप्य में अविद्याकार्यत्व और अध्यस्तत्व किसलिए सिद्ध कर रहे हैं? देशान्तरीय रजत से शुक्तिरजत का वैलक्षण्य सिद्ध करने के लिये ही कर रहे हैं। परन्तु यह प्रयास करने पर भी 'व्यावहारिक सत्यरजत और शुक्तिरजत का वे लक्षण्य अद्वैत मत के अनुसार नहीं हो सकता। क्योंकि अद्वैती, देशान्तरीय व्यावहारिक सत्य रजादिकों में भी अविद्याकार्यत्व और अध्यस्तत्व स्वीकार करते हैं। तब शुक्तिरजत और

[226] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 62.

देशान्तरीय रजत में विलक्षणता सिद्ध करने के लिए अद्वैत के मत में कौन सा विशेष हेतु है ? अर्थात् कोई नहीं। यह उपर्युक्त आक्षेप की स्थापना है ।

परिभाषाकार के अनुसार (नैयायिकों के) मत में शब्द, ज्ञान, इच्छा इत्यादि गुण और घटादि अन्य पदार्थ, इन सब में सत्यत्व यद्यपि एक–सा है फिर भी उनमें से शब्दादिकों में क्षणिकत्व है और घटादिकों में स्थिरत्व होता है और इस वैलक्षण्य को स्वीकार करने में जो नियामक है, वही अद्वैत मत में शुक्तिरजत और देशान्तरीय रजत के वैलक्षण्य का भी नियामक है।[227]

पुनश्च द्रव्यादि अनेक सत्य पदार्थों में से घटादि पदार्थों को अक्षणिकत्व है और शाब्द, ज्ञान, इच्छा इत्यादिकों को क्षणिकत्व है। इस विषय में स्वभावविशेष को नियामक, जिस प्रकार नैयायिक स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार अद्वैत मत में भी उसी को नियामक स्वीकार कर ते हैं। अतः जो दोष दोनों पक्षों में समान हो तो उसका परिहार भी दोनों पक्षों में समान ही होता है। उनमें से एक पक्षवाले को दूसरे पक्ष पर उस दोष को देना उचित नहीं भी है।[228] अतः नैयायिकों के द्वारा अद्वैत मत इस तरह आक्षेप किया जाना अनुचित है।

अद्वैत मतानुयायियों ने प्रातिभासिक रजत और व्यावहारिक सत्य–रजत के वैलक्षणता में स्वभावविशेषादिक एक नियामक स्वीकार किया था। उसमें दूसरे प्रकार का वैलक्षणता भी नियामक है। परिभाषाकार के अनुसार घटादि व्यावहारिक पदार्थ, चैतन्य से अध्यस्त हैं, वे सभी पदार्थ अविद्या से ही पैदा हुए हैं और वह अविद्या ही उस अध्यास के होने में दोष रूप से कारण भी हैं।[229] परन्तु व्यावहारिक पदार्थों का चैतन्य पर अध्यास होने में मूलाविद्या ही कारण है, वह एक दोष है। परन्तु शुक्तिरूप्यादि अध्यास में तूलाविद्या कारण है और काचादि दोष उसके सहकारी रहते हैं। इसलिए आगन्तुक दोषजन्यत्व रजतादि के प्रातिभासिकत्व में कारण है। इसलिये स्वप्न में दिखाई देने वाले रथादि, आगन्तुक निद्रादि दोषजन्य होने से प्रातिभासिक हैं।

परिभाषाकार के अनुसार 'ननु स्वप्नस्थले पूर्वानुभूतरथादेः स्मरणमात्रेणैय व्यवहारोपपत्तौ न सृष्टिकल्पनं, गौरवादिति चेन्न रथादेः स्मरणमात्राभ्युपगमे, 'रथं पश्यामि' 'स्वप्ने रथमद्राक्ष' मित्याद्यनुभव विरोधापत्तेः, 'अथ रथान रथयोगान् पथः सृजते' इति रथादिसृष्टिप्रतिपादक श्रुति विरोधापत्तेश्च। तस्याच्छुक्तिरूप्यवत् स्वप्नोपलब्धरथादयोऽपि प्रातिभासिकाः

---

[227] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 120.
[228] 'यश्वोभयोः समो दोषः परिहारस्तयोः समः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यः तादृगर्थविचारणे।। (पाणिनि दर्शन वादस्य नियमः)
[229] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 121.

यावत्प्रतिभासमवतिष्ठनते' ।[230] अर्थात्– शंका होती है कि स्वप्न स्थल में पहले अनुभव किये गये रथ आदि केवल स्मरण होने से ही व्यवहार चल सकता है तो फिर वहाँ रथादि की सृष्टि की जरूरत नहीं है क्योंकि ऐसा मानना तो निकम्मा बोझ ही हो जायगा। उत्तर यह है कि, ऐसी बात नहीं है, अगर स्वप्न में रथादि का स्मरण मात्र ही मान लें तब, 'रथ को मैं देखता हूँ' 'स्वप्न में मैंने रथ देखा' इत्यादि अनुभव के साथ विरोध आ पड़ेगा। और जो भी श्रुति है, 'वह स्वप्न में रथों को, घोड़ों को और मार्गों की सृष्टि करता है' इस रथादि सृष्टि का प्रतिपादन करने वाली श्रुति का विरोध आ पड़ेगा। अतः शुक्तिरजत की ही तरह, स्वप्न में प्राप्त रथ आदि भी प्रातिभासिक ही है। और जब तक उनका प्रतिभास होता रहता है, तब तक वे बने रहते हैं। ऐसा मानना ही योग्य है।

परिभाषाकार के अनुसार स्वप्न के रथादि पदार्थ प्रातिभासिक हैं, यह स्वीकार करने पर उनकी तात्कालिक उत्पत्ति होती है यह भी स्वीकार करना होगा। परन्तु उनमें उसी प्रकार तत्कालीन उत्पत्ति का होना सम्भव नहीं, क्योंकि केवल स्मरण से ही उनके व्यवहार की उपपत्ति हो जाती है। इसलिए तत्कालीन उत्पत्ति की कल्पना करना अयुक्त है, इससे अख्यातिवादीयों का मत है कि स्वप्नवस्था में जाग्रतकाल में अनुभव किये हुए रथादि वस्तुओं के केवल स्मरण से ही 'मैं रथ देखता हूँ। इत्यादि व्यवहार का होना सम्भव हो सकता है। इसलिये स्वप्न में रथादि की उत्पत्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। क्योंकि केवल स्मरण से ही व्यवहार की उपपत्ति हो जाने से रथादि की कल्पना करने में अतिव्याप्त है।

परिभाषाकार के अनुसार अख्यातिवादीयों का उपर्युक्त आक्षेप उचित नहीं है। क्योंकि स्वप्न में "मैं इस समय रथ देख रहा हूँ, गायन सुन रहा हूँ यह वर्तमानकालीन अनुभव होता है, परन्तु स्मरण, भूतकालीन अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कारों का कार्य है। इसलिए यह स्वीकार करना अनुभव विरूद्ध है कि स्वप्न में रथ, गायन, आदि का केवल स्मरण होंता है। यह आक्षेप हो सकता है कि किन्हीं दोषों के कारण 'मैं रथादि का स्मरण करता हूँ' इस स्मरण का अज्ञान होता है और 'मैं रथ देखता हूँ और गाना सुनता हूँ, 'ऐसी प्रतीति होती है।

परिभाषाकार के अनुसार यह स्वीकार करना भी अनुचित है। क्योंकि स्वप्नकाल में दोषवश उसी प्रकार प्रतीत होती है, यह स्वीकार भी लें तो भी जाग्रतवस्था में उस दोष की निवृत्ति हुई रहती है। परन्तु उस दोषनिवृत्तिकाल में भी 'मैंने आज स्वप्न में रथ देखा, गाना सुना' यही प्रतीति होती है। इसके विपरीत पूर्व में देखे हुए रथ का मुझें आज स्वप्न में स्मरण

[230] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 63.

हुआ, सुने हुए गाने का स्मरण हुआ' यह अनुप्रतीत नहीं होती । इसलिए पूर्वोक्त प्रत्यय का व्यवहार केवल स्मृति से उपपन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार पूर्वोक्त प्रत्यय से विरोध होने के कारण स्वप्नगत प्रत्यय को भी स्मृति नहीं कहा जा सकता है।

परिभाषाकार के उपर्युक्त समाधान पर आक्षेप हो सकता है कि 'जाग्रतवस्था में "मैंने स्वप्न में रथादि को देखा" यह प्रतीति भी विरूद्ध नहीं है। क्योंकि स्वप्न की स्मृति, अनुभवाकार से उत्पन्न हुई होने से जाग्रतदवस्था में उसका उसी प्रकार परामर्श होना, योग्य ही है। आशय यह है कि गौरवदोष से दूषित होने वाली स्वप्न–रथ, रथादि को नवीन होने सृष्टि स्वीकार करना योग्य नहीं है।'

परिभाषाकार के अनुसार श्रुति–विरोध होने से अख्यातिवादियों का यह कथन उपपन्न नहीं हो सकता है। क्योंकि 'अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते'[231] जाग्रदवस्था में भोग देने वाला कर्म निवृत्त होकर, स्वप्न में भोग देने वाला कर्म अभिव्यक्त होने पर स्पप्नद्रष्टा जीव, रथ और उसके उपकरणभूत अश्वादि और उनके योग्य मार्ग आदि को पैदा करता है। इस रथादिसृष्टि का प्रतिपादन करने वाली श्रुति के साथ विरोध होता है। श्रृति में स्वप्नद्रष्टा, रथादिकों को ''पैदा करता है" यह स्पष्ट किया है। इस कारण यहाँ पर गौरव को स्वीकार करना प्रामाणिक है। इसलिये पूर्वोक्त प्रतीति की अन्य प्रकार से उपपत्ति स्वीकार करना अयोग्य है।

परिभाषाकार के अनुसार श्रुति–विरोध होने के कारण अन्यथाख्याति भी अयुक्त है। पुनश्च शुक्ति में भासमान रूप्य की तरह स्वप्न में प्रतीत होने वाले रथादिक भी प्रातिभासिक हैं। परत्तु 'प्रातिभासिक' पद के अर्थ में किसी प्रकार आक्षेप न रहने पावे, इसलिए परिभाषाकार ने पद की व्याख्या की हैं– 'जब तक प्रतिभास होता है तब तक वे रहते हैं इसलिए वे प्रातिभासिक हैं' प्रतिभास का अर्थ है–अभास, भ्रम और जब तक उसकी सत्ता रहती है तभी तक जिनको नियमेन सत्ता होती है।[232] वे पदार्थ प्रातिभासिक कहलाते हैं। जैसे– स्वप्तनगत रथादि पदार्थ प्रातिभासिक हैं और वे शुक्तिरूप्य की तरह प्रतिभास के समय उत्पन्न होते हैं। परिभाषाकार के इस समाधान पर पुनः आक्षेप होता है।

परिभाषाकार के अनुसार 'ननु स्वप्ने रथाद्यधिष्ठानतयोपलभ्यमानदेशविशेषस्यापि तदाऽसन्निकृष्टतया अनिर्वचनीयप्रातिभासिकदेशोऽभ्युपगन्तव्यः। तथा च रथाद्यध्यासः कुत्रेति

---

[231] 'अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' (बृहदारण्यक उपनिषद्– 4.3.10)

[232] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 124.

चेन्न, चैतन्यस्य स्वयंप्रकाशस्य रथाद्यधिष्ठानत्वात्। प्रतीयमानं रथाद्यस्तीत्येव प्रतीयते इति सद्रूपेण प्रकाशमानं चैतन्यमेवाध्ठिानम्। देशविशेषोऽपि चिदध्यस्तः प्रातिभासिकः, रथादाविन्द्रियग्राह्यत्वमपि प्रातिभासिकम्। तदा सर्वेन्द्रियाणामुपरमात्। 'अहं रथः' इत्यादिप्रतीत्यापादनं तु पूर्ववन्निरसनीयम्। स्वप्नगजादयः साक्षान्मयावच्छिन्ना इति केचित्। अन्तःकरणद्वारा तत्परिणाम इत्यन्ये'।[233] अर्थात्– यहाँ शंका है कि, स्वप्न में तो रथ आदि का देश भी दिखता है। जिस देश में रथ आदि रहते हैं वह रथ का आश्रयभूत देश भी दिखता है। अतः विवश होकर अनिर्वचनीय और प्रातिभासिक देश मानना ही पड़ेगा। तो अब रथादि का अध्यास किस देश में होता है? उत्तर यह है कि स्वयंप्रकाश चैतन्य ही रथादि का अधिष्ठान है। इसलिए 'सत्' रूप से प्रकाशमान चैतन्य ही स्वप्न में दिखाई देने वाले रथ आदि का आश्रय माना गया है। स्वप्न के देश विशेष भी तो चैतन्य में कल्पित – अध्यस्त है। अतः प्रातिभासिक ही है। स्वप्न–रथादि में इन्द्रियग्राह्यत्व भी प्रातिभासिक है। क्योंकि सभी इन्द्रियाँ स्वप्न में उपरत हो चुकी हैं। 'अहं गजः' 'मैं हाथी हूँ' ऐसी प्रतीति की शंका का निराकरण पहले कही गई रीति के अनुसार कर लेना चाहिए। स्वप्न में गजादि दृश्य साक्षात् माया के परिणाम है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं, दूसरों के अनुसार अन्तःकरण द्वारा माया के परिणाम स्वप्न रथादि है।

परिभाषाकार के मतानुसार आक्षेपी का आाशय इस प्रकार था कि शुक्ति में भासमान चांदी की, दृष्टा के सामने स्थित शुक्ति, अधिष्ठान रूप में है। उसी प्रकार स्वप्नगत रथादि का अधिप्ठान अद्वैत मत को स्वीकार करना चाहिये। उनका अधिष्ठान चैतन्य को स्वीकार करते हैं या किसी देश विशेष को। यदि चैतन्य को अधिष्ठान के रूप में स्वीकार करते हैं तो वह चैतन्य कौन सा? शुद्धचैतन्य, या अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य? इनमें से किसी भी पक्ष का होना संभव नहीं। क्योंकि स्वप्न के प्रातिभासिक रथादि के अधिष्ठान के रूप में किसी भी चैतन्य की प्रतीति नहीं होती। यदि दूसरे पक्ष का स्वीकार करें तो वह देशविशेष कौन सा? जाग्रतवस्था का बाह्य देशविशेष, या स्वप्नगत देशविशेष? 'बाह्यजाग्रदवस्था के देश–विशेष का होना संभव नहीं होता, कारण यह है कि स्वप्न में जाग्रदवस्था का देश बहुत दूर होता है। इसलिए यहाँ 'यह रथ' इस तरह वह प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं हो सकता स्वप्न में दूरस्थित देश–विशेष स्वप्नगत प्रातिभासिक रथ का अधिष्ठान नहीं हो सकता।

[233] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 64.

इसी प्रकार स्वप्तगत देशविशेष भी प्रातिभासिक रथादि का अधिष्ठान नहीं हो सकता. । क्योंकि स्वाप्निक प्रतिभासिक रथादि के अधिष्ठान रूप से प्रतीत होने वाले देश (समीप होता है)। इसलिए उस देशविशेष का भी रथादि को तरह प्रातिभासिकत्व अवश्य स्वीकार करना होगा। कारण यह है कि स्वप्न में प्रतीत होने वाली समस्त वस्तुएँ अद्वैत मत के अनुसार प्रातिभासिक ही होती हैं। स्वप्नगत देशविशेष स्वप्नगत प्रातिभासिक रजतादि का अधिष्ठान नहीं हो सकता। इस अभिप्राय से वादी मत है कि स्वप्न में 'रथादि का अधिष्ठान' इस आकार से प्रतीत होने वाला देशविशेष उस समय नहीं होता। इस कारण स्वप्न के रथादि का अधिष्ठान, इत्याकारक अनिर्वचनीय प्रातिभासिक देश भी स्वीकार करना होगा क्योंकि अधिष्ठान के भ्रम का होना सम्भव नहीं होता।[234] आरोपित रज्जुसर्प, शुक्तिरजत के भ्रम का होना तो संभव होता है। परन्तु उनके अधिष्ठानभूत रज्जु, शुक्ति आदि का भ्रम नहीं हो सकता। स्वप्न के समस्त पदार्थों का प्रातिभासिक होना तो स्पष्ट है। इसलिये स्वप्न के रथादिकों के अधिष्ठान के रूप में भासमान जो देश विशेष है उसे भी प्रातिभासिकत्व है। इस कारण रथभ्रम से पूर्व उसका विद्यमान रहना तो असम्भव है। परन्तु अधिष्ठान यदि पूर्वक्षण में विद्यमान हो तभी उत्तरक्षण में उसके विषय में प्रतिभास की संभव हो सकता है। इसलिए रथभ्रम से पूर्व अविद्यमान प्रातिभासिक देशविशेष, रथादि का अधिष्ठान नहीं हो सकता और इस कारण यह स्वीकार करना होगा कि स्वप्नगत रथादि भी प्रातिभासिक नहीं हैं। किन्तु वे स्मरण के विषय हैं और उसके बिना स्वप्नरथादि का प्रातिभासिकत्व सिद्ध नहीं हो सकता है।

परिभाषाकार के अनुसार आक्षेपक के विकल्पों में से प्रथम 'चैतन्य' पक्ष को स्वीकार कर उसका प्रति–समाधान करते है–शुद्ध चैतन्य, स्वप्नरथ आदि का अधिष्ठान है। 'देखनेवाले के सामने स्थित शुक्ति, रज्जु आदि पदार्थों की तरह शुद्ध चैतन्य, वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य का विषय नहीं हो सकता और यह प्रसिद्ध है कि शुक्ति, रज्जु आदि पुरोवर्ती अन्तःकरणा–वच्छिन्न चैतन्य के विषय होने वाले पदार्थों में ही रजत, सर्प आदि पदार्थों का प्रतिभास हुआ करता है, तब वृत्त्ववछिन्न चैतन्य का विषय न होने पर शुद्ध चैतन्य में स्वप्नरथादि प्रातिभासिक पदार्थों का अधिष्ठानत्व कैसे बन सकता है? यह आक्षेप कोई न करें इसीलिये परिभाषाकार ने रथादि प्रातिभासिक पदार्थों का अधिष्ठान–भूत चैतन्य में 'स्वयंप्रकाशस्थ' यह विशेषण प्रयुक्त किया है। उसी स्वयंप्रकाश चैतन्य में रथादिकों का अधिष्ठानत्व है। स्वप्रकाश और परप्रकाश्य दोनों के लिये साधारण ज्ञायमानत्व ही लाघव से अधिष्ठानत्व का प्रयोजक है। स्वयंप्रकाश चैतन्य

[234] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 126.

में उभयसाधारण ज्ञायमा–नत्व होने से उसमें स्वाप्न रथादि पदार्थों का अधिष्ठानत्व बन सकता है।

यह आक्षेप हो सकता हो सकता है कि 'स्वयंप्रकाश चैतन्य का उस समय चिद्रूप से ज्ञान होना, रथादि जड, दुःख और असत् पदार्थों के अधिष्ठानत्व का निर्वाहक नहीं हो सकता। सत्, चित् और आनन्द रूप चैतन्य, असत् अचेतन, और दुःखरूप रथादि पदार्थों का अधिष्ठान बनकर उनके अस्तित्व आदि का निर्वाह कैसे कर सकता है ? क्योंकि चैतन्य और रथादि, ये दोनों परस्पर प्रतिकूल हैं। उसी प्रकार चैतन्य का आनन्द रूप से भान होता भी रथादि के अधिष्ठानत्व का निर्वाहक नहीं हो सकता। कारण यह है कि मूलाज्ञान की निवृत्ति हुए बिना चैतन्य का आनन्द रूप से ज्ञात होना सम्भव नहीं है। और अद्वैत मत जिस चैतन्य में स्वप्नगत प्रातिभासिक रथादि का अधिष्ठानत्व स्वीकार करते हैं, उस चैतन्य का आनन्दरूप से होने वाला भान, रथादि के अधिष्ठानत्व का कार्य नहीं सम्पन्न कर सकता।'

इसके प्रत्युत्तर में परिभाषाकार का मत है कि स्व प्रकाश चैतन्य में उस रथादि का अधिष्ठानत्व होने से स्वप्न में प्रतीत होने वाले रथादि पदार्थ 'है' इस आकार की ही प्रतीत होती हैं, इस कारण सद्रूप से प्रकाशित होनेवाला चैतन्य ही रथादि का अधिष्ठान है।[235] उसी प्रकार 'यहाँ यह रथ है' इस प्रकार स्वप्न में रथादि के अधिष्ठान रूप में प्रतीत होने वाला देश विशेष भी प्रातिभासिक होने से वास्तविकता में रथादि का उसमें अधिष्ठानत्व नहीं है। कारण यह है कि यह देशविशेष भी चैतन्य पर ही अध्यस्त है अतः प्रातिभासिक है। स्वप्न में रथादि का चक्षुरादि इन्द्रियों से ग्राह्य होना प्रतीत होता है, परन्तु ये भी प्रातिभासिक ही है। कारण यह है कि स्वप्नकाल में चक्षुरादि समस्त बाह्येन्द्रियों का अन्तःकरण में लय हो जाता है। अतः प्रतीत होनेवाला रथादि का इन्द्रियग्राह्यत्व भी प्रातिभासिक ही है।

यह आक्षेप करते हैं कि यद्यपि कि चैतन्य, स्वप्तगजादि का अधिष्ठान है फिर भी उसमें अन्तःकरणावच्छिन्नत्व भी है। वृहदारण्यक उपनिषद की उक्ति है कि चैतन्यात्मा "बुद्धि से युक्त होकर स्वप्न होता है और इस लोक में संचार करता है।

'यह गज' यह प्रतीति न होकर 'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रतीति की तरह 'मैं गज हूँ' यह प्रतीति होने का प्रसंग उपस्थित होता है। यदि यह स्वीकार करे तो 'मैं गज हूँ' इत्यादि प्रतीति के प्रसंग का निराकरण पूर्व की तरह ही करना चाहिये। जिस प्रकार शुक्ति–रजतादिक को इदमाकार अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कारों से युक्त हुई अविद्या–निरूपित–जन्यत्व होने के

[235] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 127.

कारण 'मैं रजत हूँ' यह प्रतीति नहीं होती, वैसे ही 'मैं गज हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं होगी।[236] निष्कर्षतः शुक्ति में यह रजत है। इस प्रकार जो प्रतिभास होता है वह देह के बाहर होता है। 'मैं शक्ति रजत' यह अनुभव नहीं होता। अतः 'यह शुक्ति–रजत है' इस अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कारों से युक्त हुई अविद्या से शुक्ति रजतादि की उत्पत्ति होती है। प्रथमतः 'यह रजत' इत्याकारक ही अनुभव हुआ होने से भ्रमकाल में भी 'मैं शुक्ति रजत हूँ' 'मैं सर्प हूँ', इस प्रकार का प्रत्यय नहीं होता। इसी न्याय से व्यावहारिक गज का 'यह गज' इस प्रकार का प्रत्यय हुआ होने से प्रातिभासिक गज का भी 'यह गज है' ऐसा ही प्रत्यय होता है। 'मैं गज हूँ' ऐसा प्रत्यय नहीं होता।

यह आक्षेप हो सकता हैं कि स्वप्नगजादि इसी काल में उत्पन्न होते हैं, यह स्वीकार करना अनुचित है। क्योंकि स्वप्नगजादि का योग्य उपादान हो सकता। चैतन्य कूटस्थ होने से स्वप्नगजादि का उपादान नहीं हो सकता। मूलाविद्या भी उसका उपादान नहीं हो सकती, क्योंकि मूलाविद्या, उन–उन पदार्थों के अवयवों की अपेक्षा रखती है साक्षात् वह स्वयं ही किसी का भी उपादान नहीं बन सकती। पन्तु उत्पन्न होने वाले भिन्न–भिन्न पदार्थों के अवयवों की सहायता लेकर ही उन–उन उत्पन्न होने वाले पदार्थों की उपादान बन सकती है। मूलाविद्या भी स्वप्नगजादि का उपादान नहीं बन सकती। क्योंकि बाह्यदेशावच्छिन्न चैतन्य के आश्रय से स्थित तूलाविद्या को ही उपादानत्व होता है। यह विचार करने का विषय है कि बाह्य देशावच्छिन्न चैतन्याश्रित तूलाविद्या, स्वाप्निक पदार्थों का अधिष्ठान है, या अन्तःकरणावछिन्न चैतन्याश्रित तुला–विद्या, स्वाप्निक पदार्थों का अधिष्ठान है? यदि इसमें प्रथम पक्ष को स्वीकार करे तो प्रथम पक्ष सम्भव नहीं है, क्योंकि स्वप्न के बाह्य प्रदेश को भी प्रातिभासिकत्व है। यदि द्वितीय पक्ष को स्वीकार करे तो द्वितीय पक्ष भी सम्भव नहीं है क्योंकि अन्तकरण को गजादि स्वप्न पदार्थों उपादानभूत अविद्या का अधिष्ठानित्व है। इसमें कोई प्रमाण नहीं। यह आक्षेप कर स्थापितकर परिभाषाकार ने स्वप्तगजादि, साक्षात् माया के परिणाम हैं यह कुछ लोग मतानुयायी स्वीकार करते हैं' यह पक्ष स्पष्ट किया है। अब 'स्वप्नगजादि प्रातिभासिक पदार्थों का उपादान कारण यदि मूलाविद्या हो तो सुषुप्ति में भी उनका प्रतिभास होगा' यह भी उचित क्योंकि स्वप्न मे गजादि का उपादान कारण मूलाविद्या है और रायदेषादि से युक्त अन्तः.करण, उनका निमित्त कारण है क्योंकि शुक्ति रजतादि स्थल में रागादि निमित्त कारण हैं और रज्जुसर्पस् थल में भय आदि निमित्त कारण होते हैं'।[237] रागादि–धर्म अन्तःकरण

[236] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 128.
[237] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 129.

में होते हैं। उसी प्रकार दोषयुक्त अन्तःकरण स्वप्नगजादि का निमित्त कारण है। परन्तु सुपुप्ति में अन्तःकरण का अभाव हो जाता है, इस कारण से निद्रा में स्वप्तगजादि का प्रत्यय नहीं होता है।

परिभाषाकार द्वारा प्रथम पक्ष में यह स्पष्ट किया गया है कि स्वप्नगजादि साक्षात् माया के परिणाम हैं और अन्तःकरण उनका निमित्त कारण है। परन्तु द्वितीय पक्ष में स्पष्ट किया है कि स्वाप्नगजादि के प्रति अन्तःकरण को निमित्त–कारणत्व की कल्पना करने की अपेक्षा उन्हें अन्तःकरण के द्वारा अविद्या–परिणामित्व की कल्पना करना श्रेयस्कर होगा।

अद्वैत मतानुसार अधिष्ठान का साक्षात्कार होने पर अध्यस्त पदार्थ निवृत्त हो जाता है। और स्वाप्न–पदार्थ का अधिष्ठान शुद्ध–चैतन्य है। परन्तु स्वप्नदशा के बाद जाग्रत अवस्था में आने पर शुद्ध–चैतन्य का साक्षात्कार नहीं होता। और अधिष्ठान का साक्षात्कार हुए बिना तो अध्यस्त स्वाप्न–रथादिकों की निवृत्ति होना भी असंभव है। उससे जाग्रतवस्था में स्वप्न के अध्यस्त–रथादि की अनुवृत्ति होना अपरिहार्य है। परन्तु यह अनुभव नहीं प्राप्त होता कि। इसलिये 'स्वाप्न गजादि पदार्थ, चैतन्य पर आरोपित हैं' यह स्वीकार करना अयुक्त होता है।

परिभाषाकार के अनुसार 'ननु गजादेः शुद्धचैतन्याध्यस्तत्वे इदानीमधिष्ठानसाक्षात्काराभावेन जागरणेऽपि स्वप्नोपलब्धगजादयोऽनुवर्तेरन्। उच्यते। कार्यविनाशोहि द्विविधः कश्चिदुपादेनन सह, कश्चिद् विद्यमान एवोपादेन। आद्यो बाधः द्वितीयस्तु निवृत्तिः। आद्यस्य कारणमधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारः तेन विनोपादानभूताया अविद्याया अनिवृत्तेः। द्वितीये विरोधिवृत्युत्पत्तिर्दोषनिवृत्तिर्वा। तदिह ब्रह्मसाक्षात्काराभावात् स्वप्नप्रपंचो मा बाधिष्ठ, मुसलप्रहारेण घटादेरिव विरोधप्रत्ययान्तरोदयेन स्वजनकीभूतनिद्रादिदोषनाशेन वा गजादि निवृत्तौ को विरोधः'।[238] अर्थात्– शंका की जा रही है कि, यदि स्वप्न में गजादि शुद्ध चैतन्य में अध्यस्त है, तो अभी जाग्रत् अवस्था में स्वाप्निक गजादि का अधिष्ठान शुद्धचैतन्य जो है, उसका साक्षात्कार न होने के कारण, जागरण में भी स्वप्नगजादि का अनुवर्तन होना चाहिए। इस शंका का समाधान इस तरह किया जाता है कि कार्य का विनाश दो तरह से माना गया हैः 1. उपादान से सहित कार्य का नाश, और 2. उपादान के रहते हुए केवल कार्य का ही नाश। पहले को 'बाध' कहा जाता है, और दूसरे को निवृत्ति। उनमें पहले बाध का कारण तो अधिष्ठानतत्व के बिना तो उस कल्पित पदार्थ की निवृत्ति हो ही नहीं सकती। परन्तु जो दूसरा कार्यनाश है, वह तो उसकी विरोधी वृत्ति की उत्पत्ति तथा दोषनिवृत्ति से भी उत्पन्न

[238] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 67.

हो सकता है इसलिए स्वप्न से जागने पर भी ब्रह्मसाक्षात्कार न होने के कारण मनुष्य को स्वप्नसृष्टि का बाध भले ही न माना जाय, परन्तु 'निवृत्ति' तो मानी ही जा सकती है। उसमें कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार मुसलप्रहार से घटादि कार्य अपने मिट्टी रूपी कारण में मिल जाते हैं, वैसे ही स्वप्नविरोधी जाग्रत्कालीन ज्ञान से स्वप्न हट जाता है।

'रज्जु भासित अध्यस्त–सर्प की निवृत्ति, रज्जु का साक्षात्कार होने पर हो जाती है, जब तक इस प्रकार की प्रत्यक्ष प्रतीति नहीं होती कि 'यह रज्जु है' तब तक अध्यस्त–सर्प निवृत्त नहीं होता'।[239] अद्वैत स्वीकृत 'स्वप्न के प्रतिभासिक रथगजादि पदार्थ शुद्ध–चैतन्य पर आरोपित हैं' है। इस पर वादी का मत हैं कि यदि वे शुद्ध–चैतन्य पर आरोपित हैं तो जागरित होने पर भी उनकी अनुवृत्ति भी होनी चाहिये। क्योंकि यह नियमेन आरोपित की निवृत्ति अधिष्ठान के साक्षात्कार के बिना सम्भव नहीं होती। और यह अद्वैत मत को भी स्वीकार है। परन्तु जागरित होने पर भी शुद्ध–चैतन्य का साक्षात्कार न होने से अध्यस्त स्वाप्न रथगजादि की निवृत्ति होना असम्भव है। सोकर उठने के बाद भी उनका प्रत्यय होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः यह स्वीकार करना उचित नहीं प्रतीत होता है कि 'स्वाप्न गजादि शुद्ध चैतन्य पर अध्यस्त हैं'।

परिभाषाकार के अनुसार यद्यपि कि यह सत्य है कि अधिष्ठान का साक्षात्कार किये बिना अध्यस्त पदार्थ का बाध नहीं होता फिर भी शुद्ध चैतन्यरूप अधिष्ठान का साक्षात्कार किये बिना भी अध्यस्त की निवृत्ति होना संभव है।[240] उसमें जागरित में स्वाप्न–रथगजादि की अनुवृत्ति का प्रसंग नहीं उपस्थित है। स्वप्नावस्था के प्रातिभासिक रथगजादि का बाधरूप नाश न होने पर भी निवत्तिरूप नाश हो सकता है। समाधान के पूर्व परिभाषाकार प्रथमतः नाश के दो प्रकार का उल्लेख करते हैं। **प्रथम–** बाध एवं **द्वितीय–** निवृत्ति। इस प्रकार कार्य का विनाश, बाध और निवृत्ति के भेद से दो प्रकार का है।

बाध– समस्त कार्यों का उपादान जो अज्ञान उसके सहित कार्य का नाश होना बाध कहलाता है। बाधरूप नाश में कारण–अधिष्ठान के स्वरूप का साक्षात्कार है क्योंकि अधिष्ठान के स्वरूप का साक्षात्कार बिना हुए, कार्य का उपादानभूत जो अधिष्ठान का अज्ञान, उसकी निवृत्ति नहीं हों सकती। जैसे– शुक्ति–रजतरूप कार्य के शुक्तिरूप अधिष्ठान का साक्षात्कार होने पर शुक्ति संबंधी अज्ञान नष्ट हो जाता है और रजतरूप कार्य का उपादानभूत जो शुक्ति

[239] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 130.
[240] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 131.

का अज्ञान है, उस (अज्ञान) के सहित रजतरूप कार्य, नाश को प्राप्त होता है। इस नाश को 'बाध' कहा जाता हैं।

निवृत्ति– जो कार्यनाश उपादान के रहते हुए ही हो, उसे निर्वृत्ति कहते हैं। निवृत्तिसंज्ञक जो दूसरा कार्यनाश है, वह विरोधी वृत्ति के उत्पन्न होने पर या जिस दोष के कारण, कार्य का भास हो रहा है उसकी निवृत्ति होने पर होता है। अर्थात् कार्य की निवृत्ति होती है। जैसे– स्वप्तगजादि कार्यों का नाश, जाग्रतरूप स्वप्नविरोधी वृत्ति के उत्पन्न होने पर स्वयमेव हो जाता है। अतः स्वाप्नरथादि के नाश को निवृत्ति कहा जाता है।

जाग्रत अवस्था में ब्रह्म–साक्षात्कार का अभाव होता है। इस कारण स्वप्नप्रपंच के उपादानभूत अज्ञान का नाश नहीं होता। उपादानभूत अज्ञान का नाश न होने से स्वप्नप्रपंच का बाध नहीं होता और फिर भी स्वाप्निक रथगजादि की निवृत्तिरूप द्वितीय प्रकार का नाश होने में कोई किसी प्रकार का विरोध नहीं है क्योंकि समस्त प्रपंच की उपादानभूत (अज्ञान) का ब्रह्म–साक्षात्कार से यद्यपि नाश नहीं होता, फिर भी मुसलप्रहार से जिस प्रकार घट का नाश होता है उसी प्रकार उस स्वाप्नगजादि के प्रत्यय के विरूद्ध दूसरे प्रत्यय के उत्पन्न होने से ही उसकी निवृत्ति हो सकती है।[241] इसलिए इस प्रकार की निवृत्ति को ब्रह्म साक्षात्कारपूर्वक अज्ञान के नाश की ही कोई आवश्यकता नहीं होती। बाधरूप नाश के लिये मात्र ब्रह्मसाक्षात्कार द्वारा उपादानभूत अज्ञान के नाश की आवश्यकता होती है। परन्तु स्वाप्नगजादि का जागरण में बाध न होकर उसकी निवृत्ति होती है। अतः कोई विरोध नहीं हो सकता है। जिस प्रकार स्वप्न के गजादि प्रपंच की निवृत्ति, जागरणरूप विरोधीवृत्ति के उत्पन्न होने से हो सकती है, उसी प्रकार स्वप्न प्रत्यय को उत्पन्न करने वाले निद्रा, अदृष्टादि दोषों के नाश से भी हो सकती है।

जाग्रत अवस्था में स्वप्नप्रपंच की निवृत्ति होना आश्चर्यजनक नहीं है। क्योंकि स्वप्न में भी विरोधी वृत्ति के उत्पन्न होते ही पूर्व प्रतीत हुए अर्थ की निवृत्ति हो जाती है।[242] जैसे– यह अनुभव होता है कि स्वप्न के पूर्वक्षण में गज का प्रत्यय होते–होते ही दूसरा अश्वविषयक प्रत्यय उत्पन्न होने पर, गजप्रत्यय की निवृत्ति होती है। अर्थात् कार्य का नाश, दूसरे विरोधी प्रत्यय की उत्पत्ति से या कार्य में निवृत्ति बनने वाले दोषों की निवृत्ति होने से भी कार्य का नाश हो सकता है। इस प्रकार के नाश को निवृत्ति कहते हैं।

---

[241] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 132.
[242] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 132.

परिभाषाकार के अनुसार 'एवं च शुक्तिरूपस्य शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठतूलाविद्याकार्यत्वपक्षे, शुक्तिरिति ज्ञानेन तदज्ञानेन सह रजतस्य बाधः। मूलाविद्याकार्यत्वपक्षे तु मूलाविद्याया ब्रह्मसाक्षात्कारमात्र निवर्त्यतया रजतस्य तत्र शुक्तिज्ञानान्निवृत्तिमात्रम्। मुसलप्रहारेण घटास्येव'।[243] अर्थात्– कार्य का नाश दो प्रकार का होता है, ऐसा सिद्ध होने पर) यदि शुक्ति रजत को शुक्त्यवछिन्न चैतन्य में रही हुई 'तूलाविद्या' का कार्य मानें, तब तो ''यह शुक्ति है' ऐसा ज्ञान होते ही शुक्तिविषयक अज्ञान का नाश और रजत का बाध दोनों एक साथ हो जाएँगे। परन्तु अगर शुक्तिरूप को शुक्त्यवछिन्न चैतन्य में रही हुई 'मूलाविद्या' का कार्य मानें, तब मूलाविद्या की निवृत्ति तो केवल ब्रह्मतत्व के साक्षात्कार से होती है । इसलिए दण्डप्रहार से जैसे घटादि की अपने कारण में विलय रूप निवृत्ति के समान ही शुक्ति के ज्ञान से रजत का अपने उपादानकारण मूलाविद्या में विलय रूप निवृत्तिमात्र ही होता है।

शुक्ति–ज्ञान से शुक्ति भासित रजत ज्ञान की निवृत्ति होती है, शुक्ति भासित रजत का बाध नहीं। पद्मपादाचार्य के मत में 'प्राति–भासिक पदार्थ तुलाविद्या के कार्य हैं और उनके मतानुसार में 'यह शुक्ति है' इस ज्ञान से, प्रातिभासिक पदार्थों के उपादानभूत, शुक्ति के अज्ञान के साथ ही साथ रजत का बाध भी हो जाता है, परन्तु वाचस्पति मिश्र आदि का मत है कि 'प्रातिभासिक पदार्थ, मूलाविद्या के ही कार्य हैं।[244] इनके मतानुसार सूक्ष्मतः विचार करने पर वह मूलाविद्या, केवल ब्रह्मज्ञान से ही बाधित हो सकती है। ब्रह्मज्ञान अतिरिक्त के दूसरे किसी भी ज्ञान से बाधित नहीं हो सकती। अतः 'यह शुक्ति है' इस ज्ञान से मूलाविद्या का बाध न होने पर भी मुसलप्रहार से उपादानभूत मूलाज्ञान के रहते ही मृत्तिका में होने वाली घट की निवत्ति के समान शुक्तिज्ञान से शुक्तिरूप्य की निवृत्ति तो हो जाती है। परन्तु बाध नहीं।

पद्मपादाचार्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ पंचपादिका में यह अनुवाद किया है कि 'शुक्तित्वज्ञान बाधक है, और 'यह रजत नहीं'। इसलिए 'यह रजत नहीं है' यह ज्ञान है क्योंकि शुक्तित्वप्रकारक ज्ञान, रजतादि भेद के अज्ञान का निवर्तक होता है।[245] इस पक्ष में यह शुक्ति है' इस ज्ञान से तूलाविद्या–रूप शुक्तित्व के अज्ञान के साथ प्रातिभासिक रजत का बाध होता है। मूलाविद्या की ही एक अवस्थाविशेष तूलाविद्या है। ये अज्ञान, शुक्तिकादि के ज्ञानों से अध्यास के साथ निवृत्ति होते हैं। परन्तु शुक्तिरूप्यादि, मूलाविद्याा का ही कार्य है। इस विषय

[243] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 67.
[244] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 133.
[245] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 134.

में स्वप्नगजादि के समान शुक्तिरूप्य की निवृत्ति होती है, बाध नहीं, क्योंकि मूलाविद्या, केवल ब्रह्मस्वरूप–साक्षात्कार से ही निवृत्त हो सकती है। वह शुक्तित्वज्ञान से निवृत्त नहीं होती। अतः ऐसे शुक्तिज्ञान से, उस शुक्ति में प्रातिभासिक रजत की केवल निवृत्ति होती है।

यह आक्षेप हो सकता है कि शुक्तिज्ञान से शुक्तिरूप्य का बाध न होकर केवल निवृत्ति ही यदि होती है तो शुक्तिरूप्य ज्ञान को प्रमात्व प्राप्त होगा। 'यह रजत है' इस प्रकार के शुक्ति में होने वाला रजतज्ञान वस्तुतः अप्रमा ज्ञान है। परन्तु यदि यह स्वीकार करे कि शुक्तिरूप्य का बाध न होकर निवृत्ति होती है। तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यह रजतज्ञान यथार्थ ज्ञान है। क्योंकि 'संसार दशा में अबाधितत्व' यह प्रमालक्षण के 'अवाधित' पद का स्पष्टीकरण पूर्व में किया जा चुका है और यहाँ शुक्तिरूप्य संसारदशा में बाधित नहीं होता, इससे शुक्तिरजतज्ञान में प्रमा का लक्षण घटित होता है। यह आक्षेप करना उचित नहीं। क्योंकि 'अबाधित' पद से आगन्तुक दोष से 'अजन्य' अर्थ विवक्षित है। शुक्तिरूप्य–ज्ञान आगन्तुक दोषजन्य है। इसलिए यहाँ प्रमात्व का प्रसंग नहीं उपस्थित हो सकता है।

परिभाषाकार के अनुसार 'ननु शुक्तौ रजतस्य प्रतिभाससमये प्रातिभासिकसत्ताऽभ्युपगमे, 'नेदं रजतम् इति चैकालिकनिषेधज्ञानं न स्यात्, किन्तु 'इदानीम् इदमं न रजतम्' इति स्यात्। 'इदानीं' घटः श्यामो न' इति यत्। इति चेत् न, न हि तत्र रजतत्वावच्छिन्नप्रातिभासिकर जतप्रतियोगिताकः। व्याधिकरण धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिकाभावभ्यष्युवगमात्'।[246] अर्थात्– यहाँ शंका है कि, शुक्ति में जब रजत का प्रतिभास होता है, उस समय में आपने रजत की प्रातिभासिक सत्ता मानी है। तब तो ''यह रजत नहीं है''– ऐसा ही ज्ञान हो सकता है। जैसे पके हुए घड़े को, ''इस समय यह घड़ा काला नहीं है' ऐसा ही कहा जाता है। ठीक इसी प्रकार ''इस समय यह रजत नहीं है–'ऐसा ही कहना होगा? अतः इस ज्ञान को चैकलिक निषेध नहीं कह सकते।) उत्तर में कहा जाता है कि ''नेदं रजतम्''– ''यह रजत नहीं है''– ऐसे त्रैकालिक निषेध में हम, रजतत्वावछिन्न प्रतियोगिताक अभाव'' को निषेधबुद्धि का विषय नहीं मानते। किन्तु 'व्यावहारिकत्वावछिन्न प्रातिभासिक रजतत्वाभावप्रतियोगिताक अभाव को ही निषेध बुद्धि का विषय मानते हैं।'

अविद्याजन्य शुक्ति रजत प्रतिभास के समय शुक्ति में भासित रजत का प्रातिभासिक सत्त्व स्वीकार करने पर 'यह रजत नहीं है' इत्याकारक त्रैकालिक निषेध–ज्ञान उपपन्न नहीं होता है। इस प्रकार अकालिक निषेध–ज्ञान नहीं हो सकता है। उसका ज्ञान इस प्रकार हो

[246] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 68.

सकता है कि (वर्तमान काल में) यह घट श्याम नहीं है 'इस वाक्य से वर्तमानकालीन श्यामत्व के निषेध की ज्ञान जिस प्रकार होता है उसी प्रकार 'अब यह रजत नही' वर्तमानकालीन निषेधज्ञान होता है परन्तु 'यह शुक्ति है, रजत नहीं' त्रैकालिक निषेधज्ञान है।[247] इसलिए 'यह शुक्ति पहले कभी रजत नहीं थी, इस समय भी नहीं है और भविष्य में भी यह रजत नहीं होगी' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है, उसे त्रैकालिक निषेधज्ञान कहा जा सकता है। इसलिये शुक्तिरूप्य प्रतिभास के समय उसकी प्रातिभासिक सत्ता स्वीकार करने पर वर्तमान में 'यह रजत नहीं है' इस प्रकार का ही ज्ञान होता। पूर्वोक्त त्रैकालिक ज्ञान नहीं होगा। कारण यह है कि प्रतिभास के निवृत्ति होते ही प्रातिभासिक सत्ता भी निवृत्त होती है। इस कारण व्यवहारदशा में 'यह शुक्ति, रजत नहीं है' उसमें इतना ही ज्ञान प्राप्त होगा। यह उपर्युक्त आक्षेप का आभाव है।

परिभाषाकार के अनुसार विषय का भेद होने से त्रैकालिक निषेध से कोई विरोध नहीं हो सकता क्योंकि 'यह रजत नहीं' इस प्रकार त्रैकालिक निषेधज्ञान जब प्राप्त होता है, तब उस निषेधज्ञान का, 'रजतत्व' विशेषण से विशिष्ट हुए रजत में जिसकी प्रतियोगिता है इस प्रकार अभाव का विषय नहीं हो सकता है।[248] परन्तु 'व्यावहारिकत्व'–इस विशेषण से विशिष्ट–प्रातिभासिक रजत में जिसकी प्रतियोगिता है, इस प्रकार का अभाव ही 'यह रजत नहीं है' इत्याकारक निषेधज्ञान का विषय है। यहाँ के 'लौकिक पारमारर्थिक' पद से 'व्यावहारिक' अर्थ स्वीकार करना चाहिये। 'यह रजत नहीं है' इस उदाहरण में प्रातिभासिक रजत, लौकिक–पारमार्थिक नहीं है। इस प्रकार प्रातिभासिक रजत में जिसकी प्रतियोगिता है ऐसा जो व्यावहारिकत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता का अभाव है । वहीं उस निषेध–ज्ञान का विषय भी है।

जैसा कि नैयायिकों ने कपाल पर भी पटत्वरूप में घट का अभाव स्वीकार किया गया है उसी प्रकार अद्वैत मत में भी व्यधिकरणाभाव स्वीकार किया गया है। व्यधिकरण धर्म का अर्थ है विरुद्ध व्यावहारिक रजतादि, जिसका अधिकरण है। वह धर्म लौकिक पारमार्थिकत्व है। उस व्यावहारिकत्व धर्म से अवच्छिन्न प्रातिभासिक रजत में जिसकी प्रतियोगिता है, वह अभाव लौकिक पारमार्थिकत्वावच्छिन्न प्रातिभासिक रजत प्रतियोगिताक है। यहाँ अभाव 'यह रजत नहीं है' इस निषेधज्ञान का विषय है। फिर भी नैयायिक मत अनुत्पन्न ही प्रतीत होता है। कारण है कि प्रधिकरण धर्म का ध्येय होने पर या न होने पर भी उसकी अनुपत्ति है।

---

[247] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 136.
[248] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 136.

परिभाषाकार के अनुसार 'ननु प्रातिभासिके रजते पारमार्थिकत्वमवगतं न वा? अनवगमे प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न रजतसत्त्वज्ञानाभावादभावप्रत्यक्षानुपपत्तिः अवगमे अपरोक्षावमासस्य तत्कालीन विषयसत्तानियतत्वात् रजते पारमार्थिकत्वप्यनिर्वचनीयं रजतवदेवोत्पन्नमिति तदवच्छिन्न रजतसत्त्वे तदवच्छिन्नत्वाभावस्तत्र कथं वर्तते इति चेत् न। पारमार्थिकत्वस्याधिष्ठानस्य रजते प्रातिभास सम्भवेन रजतनिष्ठ पारमार्थिकत्वोत्पत्त्यनभ्युपगमात्। यत्रारोप्यमसन्निकृष्टं, तत्रैव प्रतिभासिक वस्तूत्पत्तेरंगीकारात्। अतएव इन्द्रियसन्निकृष्टतया जपाकुसुगतलौहित्यस्य स्फटिके भानसंभवात् न स्फटिके लौहित्योत्पत्तिः'।[249] अर्थात्– एक शंका और है कि, जब आप शुक्ति में रजत देखते थे, तब उस काल में उस रजत में पारमार्थिकत्व जानते थे या नहीं? यदि उस समय उसमें व्यावहारिकत्व नहीं दिखता था–ऐसा कहें तो ठीक नहीं, क्योंकि रजत में रहने वाली प्रतियोगिता का अवच्छेदक अर्थात्– रजतत्व के ज्ञान के अभाव में उसके अभाव का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता और अगर उस समय आपको उस प्रातिभासिक रजत में पारमार्थिकत्व का ज्ञान हुआ था, तो उस प्रत्यक्षज्ञान के विषय की 'तत्कालीनविषयसत्ता' को नियत रूप से मानना ही पड़ेगा। (अर्थात्) उस शुक्तिरजत में पारमार्थिक या लौकिक पारमार्थिक ज्ञान का विषय रजत भी अनिर्वचनीय रजत के समान ही उत्पन्न हुआ है, ऐसा मानना पड़ेगा। अब, जब उसी काल में उत्पन्न अनिर्वचनीय पारमार्थिकत्व से अवछिन्न प्रातिभासिक रजतप्रतियोगिता का अभाव कैसे रह सकता है? समाधान है कि शुक्ति में रहने वाले पारमार्थिकत्व का ही प्रातिभासिक रजत में आभास सम्भव होते से उसमें अनिर्वचनीय व्यावहारिकत्व की उत्पत्ति नहीं मानते। जहाँ पर आरोप्य वस्तु समीप न हो, वहीं प्रातिभासिक वस्तु की उत्पत्ति मानी जाती है। इसलिए इन्द्रिय से सम्बन्ध होने के कारण, 'स्फटिक लाल है' – ऐसे स्थल में, जपाकुसुम की लालिमा का स्फटिक में भान संभव होने से, उस स्फटिक में किसी अनिर्वचनीय लाली की उत्पत्ति नहीं मानी गई।

जिस शुक्ति आदि में 'यह रजत है' इत्याकारक ज्ञान उत्पन्न होता है उस रजत में, लौकिक पारमार्थिकत्व ज्ञान होता है या नहीं? उस रजत में व्यावहारिकत्व ज्ञात नहीं होता, यह स्वीकार करने पर 'यह रजत नहीं है' इत्याकारक अभाव का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं होगा। फिर भी उस अभाव की प्रतियोगिता रजत में होने से उसका अवच्छेदक 'रजतत्व' है, परन्तु उस ज्ञान में यथार्थता के न होने से अभाव का प्रत्यक्ष अनुपपन्न होता है।

[249] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 70–71.

इस पर आक्षेप हो सकता है कि जब यह ज्ञान होता है कि प्रतियोगी रजत में स्थित जो प्रातिभासिक रजतत्व है, वही प्रति–योगितावच्छेदक है अतः उसे छोड़कर व्यावहारिक रजतत्वतक क्यों दौड़ा जाय? परन्तु यह उचित नहीं, क्योंकि अभावज्ञान जिस रूप से प्रतियोगी को विषय करता है, उसका प्रतियोगितावच्छेदक नियमेन तद्रूप ही रहता है। 'यह रजत नहीं है' यहाँ पर रजत का अभावज्ञान, 'यह रजत व्यावहारिक नहीं है' इस प्रकार से प्रतियोगी को व्यावहारिकत्वरूप से विषय होता है। इसलिये उसमें व्यावहारिकत्व ही प्रतियोगितावच्छेदक है। यदि इसी का बोध न हो तो उस अभाव का प्रत्यक्ष असम्भव हो जाता है। क्योंकि अभाव का प्रत्यक्ष–ज्ञान करने में उसके प्रतियोगी का और प्रतियोगी के अवच्छेदक दोनों का ज्ञान होना आवश्यक है।[250] उसके अभाव के बिना प्रत्यक्षज्ञान हो नहीं सकता।

द्वितीय पक्ष को स्वीकार करे तो वह भी उचित नहीं है। क्योंकि यह नियम है कि किसी भी इन्द्रियसन्निकृष्ट वस्तु का ही प्रत्यक्ष अवभास होता है। जिस प्रकार प्रातिभासिक–रजत, प्रतिभासकाल में ही उत्पन्न होता है। उसी प्रकार उस प्रातिभासिक–रजत पर रहने वाला व्यावहारिकत्व भी प्रतिभास के समय ही उत्पन्न होता है और यह स्वीकार करने पर यह रजत नहीं' इत्याकारक निषेध नहीं हो सकता। क्योंकि इस स्थिति में निषेध का अर्थ होगा कि 'व्यावहारिकत्व से अवच्छिन्न रजत में व्यावहारिकत्वावच्छिन्न रजत नहीं है।' परन्तु यह स्वीकार करने में व्याघात दोष होगा। इस 'कारण लौकिक पारमार्थिकत्व से अवच्छिन्न–प्रातिभासिक रजत है प्रतियोगी जिसका अभाव, 'यह रजत नहीं है' इत्याकारक निषेधज्ञान का विषय नहीं हो सकता।

परिभाषाकार के अनुसार 'नन्वेवं यत्र जपाकुसुमं द्रव्यान्तरव्यवधानादसन्निकृष्टं तत्र लौहित्य प्रतीत्या प्रातिभासिकं लौहित्यं स्वीक्रीयतामिति चेत् न, इष्टत्वात्। एवं प्रत्यक्षभ्रमान्तरेष्वपि प्रत्यक्षसामान्यलक्षणानुगमो यथार्थप्रत्यक्षलक्षणासद्भावश्च दर्शनीयः'।[251] अर्थात्– अगर ऐसा हो, तो जहाँ जपाकुसुम दूसरे किसी द्रव्य के द्वारा व्यवहित होने से असन्निकृष्ट हो गया हो वहाँ अगर लाली देखी जाए, तो वहाँ आपको प्रातिभासिक लाली का स्वीकार करना होगा। ऐसी शंका करने पर कहा जाता है कि हाँ, स्फटिक और जपाकुसुम की असन्निकृष्टता ने स्थल में दिखाई देने वाली लाली को तो हम भी अनिर्वचनीय मानते ही हैं। इस प्रकार अन्यान्य प्रत्यक्षभ्रमों में भी प्रत्यक्ष का सामान्यलक्षण 'चित्व' का अनुगम और यथार्थ प्रत्यक्षलक्षण का अभाव समझ लेना चाहिए।

---

[250] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 138.
[251] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 71.

परिभाषाकार के अनुसार यह स्वीकार करना पड़ता है कि आरोप्य पदार्थ के इन्द्रियसन्निष्टत्व और इन्द्रियासन्निकृष्टत्व रूप से दो भेदों की कल्पना कर जहाँ जपाकुसुम की तरह आरोप्य, इन्द्रियसन्निकृष्ट हो वहां स्फटिक लालिमा में अनिर्वचनीयता उत्पन्न होती है, परन्तु जहां आरोप्य रजतादि, इन्द्रियसन्निकृष्ट नहीं रहता, वहाँ शुक्ति आदि में अनिर्वचनीय रजतादि की उत्पत्ति होना तो अद्वैत मत को इष्ट है।[252] जहाँ आरोप्य असन्निकृष्ट हुआ कि वहां आरोप्य की अनिर्वचनीय उत्पत्ति को अद्वैत मत स्वीकार करते हैं, इस नियम को ध्यान में रखने से उपयुक्त आक्षेप नहीं उठ सकता है।

इस पर यह आक्षेप हो सकता है कि इन्द्रिय से सन्निकृष्ट हुई प्रभा का स्फटिक सें भास होगा, तो अनिर्वचनीय लौहित्य की उत्पत्ति स्वीकार करना तो अनुपपन्न भी होगा। परन्तु यह आक्षेप उचित नहीं क्योंकि जपाकुसुम अस्वच्छ द्रव्य है इसलिए उसकी प्रभा का ही संभव नहीं। पंचपादिका में उल्लेख किया गया है कि 'जैसी पद्मरागादि मणियों की प्रभा, बिना आश्रय के भी ऊपर की ओर फैली दीखती है, वैसी जपाकुसुमादिकों की प्रभा, ऊपर या चारों ओर फैली नहीं दिखती' है।[253] इसलिये 'असन्निहित्' दूर के पदार्थ का 'परत्र' अन्य पदार्थ में अवभास होना, यह अध्यास का लक्षण कहीं पर भी व्यभिचरित नहीं हो सकता है।

पुनः यह आक्षेप हो सकता है कि शुक्ति में रजत के अध्यास का संभव होने पर भी अहंकारादि का आत्मा में अध्यास नहीं हो सकता है। क्योंकि आत्मा, अध्यास का अधिष्ठान हो नहीं सकता। क्योंकि अधिष्ठान का अध्यस्यमान के सदृश होना, दो अंशों से युक्त होना, परिच्छिन्न और अध्यस्यमान के साथ ही एक ज्ञानी का विषय बनने योग्य होना आवश्यक होता है। जैसे शुक्ति रूप अधिष्ठान, अध्यस्यमान रजत के समान, 'इदं' और त्रिकोणत्वादि दो आंशों से युक्त, परिच्छिन्न=मर्यादित और रजत के साथ एक ही ज्ञान का विषय बनने योग्य होता है, परन्तु आत्मा में यह अधिष्ठान की सामग्री नहीं होती। इसलिये आत्मा, अहंकारादि के अध्यास का अधिष्ठान नहीं हो सकता है।

परिभाषाकार के अनुसार यह आक्षेप उचित नहीं हैं। क्योंकि अहंकारादि कार्य को अविद्या में प्रतिबिम्बित हुए चैतन्य पर आरोपित किया जाता है क्योंकि कार्य का अध्यास कारणावच्छिन्न में होना ही उचित है।[254] अहंकार का कारण अज्ञान है। उस अज्ञान से

---

[252] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 140.
[253] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 140.
[254] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 140.

अवच्छिन्न, विशिष्ट चैतन्य पर कार्यरूप अहंकार का अध्यास होना शक्य ही है। यह आक्षेप हो सकता कि ऐसा कहने पर समानाश्रयत्व का खण्डित होता है।

परिभाषाकार के अनुसार बिम्ब और प्रतिबिम्ब की एकता होने से समानाश्रयत्व का खण्डित नहीं होता और इसी करण अहंकारादि के अधिष्ठानभूत चैतन्य का विषयत्वादि भी उचित हो जाता है, जिस प्रकार अहंकार घटादि से पृथक्तया प्रतीत होता है, उसी प्रकार आत्मा भी, घटादि से विलक्षण प्रत्यय का विषय होता है।[255] घटादि 'इदम्' प्रत्यय का विषय होता है। आत्मा, अहंकारादि पदार्थ 'अहम' प्रत्यय के विषय होते हैं, इस कारण अहंकारादि अध्यस्थमान पदार्थ के साथ आत्मा का सादृश्य भी सिद्ध हो जाता है। अविद्या के कारण . उसमें सांशत्व, विषयत्व, परिच्छिन्नत्व भी संभव होते हैं। इसलिये आत्मा, अहंकारादि आरोप्यों का अधिष्ठान हो सकता है। परन्तु अध्यास में प्रमाणदोष की आवश्यकता होती है। इस अध्यास में अविद्या को ही दोषत्व के रूप में स्वीकार किया जाता है। आत्मा और अहँकार के अध्यास में, अविद्या ही महादोष है। आत्मा में विषयत्व, परिच्छिन्तत्व आदि स्वीकार करने पर अपसिद्धान्त का आक्षेप भी होना चाहिये। क्योंकि यह नियम नहीं है कि आत्मा सदैव अविषय ही होता है। उसे 'अस्मत्प्रत्ययविषयत्व' इस प्रकार आचार्य शंकर अध्यासभाष्य में भाष्यकार ने ही मुख्य आत्मा को विषयत्वादि न होने पर भी अमुख्य आत्मा का विषयत्व स्वीकार किया है।[256]

इसके अतिरिक्त अद्वैत मत में 'साक्षात' प्रकाशमानत्व ही अधिष्ठानत्व का प्रयोजक है' इस अतिदोष के कारण यह नहीं स्वीकार किया जा सकता कि 'उस अधिष्ठान का विषयत्व भी अधिष्ठानत्व का प्रयोजक है। परन्तु कहीं भी यह अनुभव नहीं होता है कि अधिष्ठान के विषयत्व के बिना ही साक्षात् प्रकाशमानत्व होता है। यह आक्षेप करना उचित नहीं, क्योंकि जिस प्रकार न्याय मत में अधिष्ठान को कदाचित् मन के द्वारा अपरोक्षत्व रहता है और कहीं दो नेत्रों से अपरोक्षत्व होता है, उसी प्रकार अद्वैत मत में कोई बाधक न होने से अधिष्ठान में स्वयं भी अपरोक्षता रहती है। यह आक्षेप हो सकता है कि क्या अद्वैत मतानुयायी स्वयं अपरोक्ष होने वाले आत्मा में अध्यास का कोई उदाहरण दिखा सकते हैं?

परिभाषाकार के अनुसार स्वयंप्रकाश आत्मा में अज्ञान, शोक, मोह, स्वप्नादि का अध्यास होना प्रतिदिन अनुभव में आने से न्याय के मत में नेत्रों का विषय होनेवाली शुक्ति में जैसा रजतादि भ्रम स्वीकार किया गया है उसी प्रकार स्वयं अपरोक्ष होने वाले आत्मा में अहंकारादि

---

[255] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 140.
[256] सरस्वती, स्वामी सत्यानन्द, 2016. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, पृ॰ 02.

का भ्रम होता है । इसमें कोई बाधक नहीं है। इस पर यह आक्षेप हो सकता है कि स्वयंप्रकाश आत्मा का ज्ञात अंश और अज्ञात अंश का असम्भव होने से अधिष्ठानत्व कैसे हो सकता है?

परिभाषाकार के अनुसार यह अनुभव का विषय है कि कुछ दूरी पर स्थित दो वृक्ष वक्षत्वेन प्रतीत होने पर भी उनका यथार्थ भेद–ज्ञान नहीं होता। ऐसा यदि न स्वीकार किया जाय तो उनके अभेद–भ्रान्ति का उदय ही नहीं होगा। इसी उदाहरण में ज्ञात हुए आत्मा में भी अज्ञातत्व सम्भव होने से उसमें अधिष्ठानत्व की सम्भावना हो सकती है। क्योंकि भेद ही वस्तु का स्वरूप है। वस्तु का स्वरूप धर्म नहीं है। क्योंकि संक्षेपशारीरक के प्रथम अध्याय में धर्म को वस्तु का स्वरूप स्वीकार करने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा । इसी न्याय से शंख पीतवर्ण है, शर्करा कटु है आदि–आदि अन्य प्रत्यक्ष भ्रमों में भी, प्रत्यक्ष–प्रमा के 'चित्त्व' रूप सामन्यलक्षण की अनुवृत्ति होती है। 'चित्त्व' लक्षण भ्रम तथा प्रमा दोनों के लिये साधारण प्रत्यक्ष–लक्षण है। इसलिये 'चित्त्व' की भ्रम में अतिव्याप्ति का आक्षेप नहीं करना चाहिये, क्योंकि सामान्य–लक्षण होने से भ्रम भी उसका लक्ष्य है। परिभाषाकार के मत में 'प्रमाणचैतन्य का अबाधित, योग्य, वर्तमान, विषयावच्छिन्न चैतन्य के साथ अभिन्नत्व' ही यथार्थ–प्रत्यक्ष का लक्षण है।[257] अतः इस लक्षण की भी भ्रम में अतिव्याप्ति नहीं है, क्योंकि भ्रम का विषय बाधित होता है, और प्रमा का विषय अबाधित होता है।

परिभाषाकार ने यहाँ तक यह स्पष्ट किया है कि 'ज्ञानगत प्रत्यक्ष' और 'विषयगत प्रत्यक्ष' दोनों प्रकार के प्रत्यक्ष, जीव–साक्षि और ईश्वरसाक्षि भेद से दो प्रकार का है। अब अन्य प्रकार से उसका विभाग भी स्पष्ट करते हैं–

3.4.3 इन्द्रियजन्य एवं इन्द्रियाजन्य रूप से प्रत्यक्ष के प्रकार–

परिभाषाकार के अनुसार 'उक्तं प्रत्यक्षं प्रकारान्तरेण द्विविधम्। इन्द्रियजन्यं तदजन्यंचेति। तत्रेन्द्रियाजन्यं सुखादिप्रत्यक्षं, मनम इन्द्रियत्वनिराकरणात्। इन्द्रियाणि पंच घ्राणरसनचक्षुः श्रोत्रत्वगात्मकानि। सर्वाणि चेन्द्रियाणि स्वस्वविषयसंयुक्तान्येव प्रत्यक्षज्ञानं जनयन्ति। तव घ्राण–रसनत्वगिन्द्रियाणि स्वस्थानस्थितान्येव गन्ध रस स्पर्शोपलम्भान् जनयन्ति, चक्षुः श्रोत्रे तु स्वत एव विषयदेशं गत्वा स्वस्वविष्यं गृह्णीतः। श्रोत्रस्यापि चक्षुरादिवत् परिच्छिन्नतया भेयोदिदेशगमनसम्भवात्। अत एवानुभवो, 'भेरीशब्दो मया श्रुतः' इति। वीचितरंगादिन्यायेन कर्णशष्कुली प्रदेशऽनन्तशब्दोत्पत्तिकल्पनायां गौरवम्।' 'भेरीशब्दो मया श्रुतः'

[257] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 142.

इति प्रतस्य भ्रमत्वकल्पनायां गौरवं च स्यात्। तदेवं व्याख्यातं प्रत्यक्षम्' ।[258] अर्थात्– अन्य प्रकार से पूर्वोक्त प्रत्यक्ष दो प्रकार का है– इन्द्रियजन्य, तथा इन्द्रियाजन्य। इन दोनों में सुख आदि का प्रत्यक्ष इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष है क्योंकि हमने मन के इन्द्रियत्व का खण्डन पहले ही कर दिया है। इन्द्रियाँ पाँच हैंः– घ्राण, रसना, नेत्र, त्वचा और श्रोत। सभी इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों से संयुक्त होकर ही प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न करती हैं। उनमें घ्राण, रसना और त्वचा तो अपने अपने गोलक में रहकर ही गन्ध, रस और स्पर्श ज्ञान को उत्पन्न करती हैं परन्तु नेत्र और श्रोत तो स्वयं ही विषयदेश में जाकर अपने अपने विषयों को ग्रहण करते हैं। श्रोत भी चक्षु आदि की तरह परिछिन्न होने से भेदी–वाद्य आदि के स्थानों में जा सकती है, इसलिए ''मैंने भेरी सुनी'' ऐसा अनुभव होता है। न्याय मत के अनुसार वीचितरंगन्याय तथा कदम्बमुकुल न्याय के अनुसार कर्णशष्कुलि प्रदेश में अनेक शब्दों की उत्पत्ति की कल्पना में गौरव है। ''मैंने भेरी का शब्द सुना'' इस प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान में भ्रमत्व कल्पनारूप गौरवदोष भी आ जायगा। इस प्रकार हमने प्रत्यक्षव्याख्या कर दी।

परिभाषाकार के मतानुसार इन्द्रियों के आधार प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है। **प्रथम–** इन्द्रियजन्य एवं **द्वितीय–** इन्द्रियाजन्य।

3.4.3.1 इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का स्वरूप–

इन्द्रियों की सहायता से उत्पन्न ज्ञान को इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष कहते हैं। अद्वैत मत में इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष पाँच प्रकार के होते हैं। अद्वैत मत मन को इन्द्रिय नहीं स्वीकार करता है। पंच ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से उत्पन्न ज्ञान इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष है।

3.4.3.2 इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष का स्वरूप–

अद्वैत मत प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियों को अनिवार्य नहीं मानता। इन्द्रियों की सहायता के बिना उत्पन्न ज्ञान को इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष कहते हैं। अद्वैत मत में सुख–दुखादि भावों का ज्ञान इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष है।

अद्वैत मत में इन्द्रियजन्य पद के इन्द्रिय शब्द से पाँच ज्ञानेन्द्रियों का ग्रहण किया जाता है। जबकि नैयायिकों की तरह छह इन्द्रियाँ या औरों की तरह पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मिलकर दस इन्द्रियाँ नहीं मानी जाती। क्योंकि कर्मेन्द्रियों को ज्ञान–जनकत्व नहीं होता है तथा मन को इन्द्रियत्व अद्वैत मत को मान्य नहीं है।

---

[258] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 73.

अद्वैत मतानुसार इन्द्रियों के अस्तित्व में दो प्रमाण हैं। **प्रथम–** अनुमान एवं **द्वितीय–** श्रुति। इन्द्रियों के विषय में अनुमान इस प्रकार है–

1.रूपादि ज्ञान सकरणक हैं।

2. क्योंकि उन्हें क्रियात्व है।

3. छेदन क्रिया की तरह।

इस अनुमान से इन्द्रियों का अस्तित्व सिद्ध होता है। काष्ठादिकों का छेदन क्रिया है। कोई भी क्रिया बिना करण के संभव नहीं होती । रूपादिकों का ज्ञान भी क्रिया है। क्रिया कहने मात्र से ही वह सकरणक हो जानी चाहिये। अर्थात जिसके व्यापार से रूप का ज्ञान होता है वह रू॰ ज्ञान में करण है। जिससे शब्द का ज्ञान होता है वह श्रोत्र, इत्यादि अनुमान से घ्राणादि ज्ञानेन्द्रियों की सिद्धि होती है। उसी प्रकार 'जीवात्मा शरीर त्यागकर जब जाने लगता है तब उसके पीछे–पीछे सब प्राण (इन्द्रियाँ) शरीर छोड़कर जाते हैं।[259] वृहदारण्यक उपनिषद् यह श्रुति भी इस विषय में प्रमाण है।

बौद्धों का मत है कि 'इन्द्रियाँ, विषयों को बिना प्राप्त हुए ही विषयज्ञान कराती हैं' अतः इनका निराकरण करने के लिये परिभाषाकार का मत है कि 'ये सब ज्ञानेन्द्रियाँ अपने–अपने विषयों से संयुक्त होकर ही स्व–स्व विषय का ज्ञान उत्पन्न करती हैं परन्तु इन्द्रियों में भी फलबलकल्प्य विशिष्ट स्वभाव का आश्रय करके अवान्तर भेद स्पष्ट करते हैं और 'प्राण, रसन और त्वक् तीन इन्द्रियाँ नासिक, जिह्वाय और समस्त शरीर आदि स्व–स्व स्थान में स्थित होकर ही गन्ध, रस और स्पर्श आदि स्व–स्व विषय का अनुभव करती हैं जबकि चक्षु और श्रोत्र दो इन्द्रियाँ अपने गोलकादि स्थान से बाहर निकलकर विषय–प्रदेश में जाती हैं और क्रमशः रूप और शब्द को ग्रहण करती)हैं।[260] यह आक्षेप हो सकता है कि स्व स्थान से निकलकर विषय के समीप चक्षुरिन्द्रिय के जाने पर भी श्रोत्रेन्द्रिय का विषय प्रदेश में जाना सम्भव नहीं। क्योंकि कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न हुए आकाश का विषय प्रदेश में जाना कैसे हो सकता है, कारण, श्रोत्र आकाश रूप है और आकाश सर्वव्यापक है।

परिभाषाकार के अनुसार श्रोत्रेन्द्रिय, आकाश के सत्त्वगुण से उत्पन्न होती है। यद्यपि वह व्यापक आकाश से उत्पन्न हुआ हैं, फिर तेज आदि के सत्त्वगुण से उत्पन्न हुए चक्षुरादि की तरह परिच्छिन्न है। इस कारण उसकी मेरी प्रभृतियों के प्रदेश में जाना संभव है। शब्द

---

[259] तद्यथा राजानं प्रयियासन्तमुग्राः प्रत्येनस सूतग्रामण्योऽभिसमायन्त्येवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छासी भवति।। (बृहदारण्यक उपनिषद्– 4.3.38)

[260] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 146.

प्रदेश में श्रोत्र का गमन होंने के कारण ही मैंने नगाड़े का शब्द सुना, मैंने गाय का शब्द सुना" इत्यादि अनुभव होता है। नैयायिक श्रोत्र और शब्द के संयोग की व्यवस्था, बीचीतरंग न्याय से स्पष्ट करते हैं। जिस प्रकार वीची से तरंग, उससे दूसरा, उससे तीसरा इस क्रम से असंख्य तरंग हैं, उसी प्रकार नगाड़े और दण्ड के संयोग से वहाँ के आकाश में प्रथम शब्द उत्पन्न होता है, इसी असमवायिकारण से दूसरा शब्द उत्पन्न होता है, उससे तीसरा शब्द उत्पन्न होता है, इस परम्परा से श्रोत्रेन्द्रिय से संयुक्त होने वाले अन्त्य शब्द की उत्पत्ति होती है, और स्वस्थान पर स्थित श्रोत्रेन्द्रिय से उस अन्त्य शब्द का सम्बन्ध होकर शब्द का प्रत्यक्षज्ञान होता है। यह नैयायिकों की प्रक्रिया है।

परन्तु परिभाषाकार के मतानुसार इस प्रक्रिया में अनन्त शब्द और उनकी उत्पत्ति इत्यादि अति कल्पना करनी पड़ती है। 'वीचीतरंगादि' यहाँ आदि शब्द से 'कदम्ब–मुकुल' न्याय भी स्वीकार करना चाहिए, कदम्ब–पुष्प के चारों ओर पंखुड़ियाँ जैसी एकदम फैलती हैं, उसी तरह प्रथम पैदा हुए एक शब्द से दस दिशाओं में दस शब्द उत्पन्न होते हैं, उससे और दस, इस क्रम से उत्तरोत्तर शब्दों की उत्पत्ति होकर जहाँ कर्णशष्कुली प्रदेश होगा वहाँ उससे उस शब्द का सम्बन्ध होता है।[261] नैयायिकों की प्रक्रिया में कल्पनागौरव के अतिरिक्त एक ओर दोष है। नगाड़े का शब्द सुनकर यह नगाड़े का शब्द है–यह प्रत्यक्षज्ञान होता है। नैयायिकों के कथनानुसार प्रथम शब्द से दूसरा आदि क्रम से कर्णशष्कुली प्रदेश में अन्त्य शब्द के उत्पन्न होने पर 'मैंने भेरीशब्द सुना' इस प्रत्यक्ष को भ्रम कहना पड़ेगा। परन्तु प्रत्यक्षज्ञान में भ्रमत्व की कल्पना करने में भी अतिदोष है।

[261] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 147.

चतुर्थ अध्याय

अद्वैत–वेदान्त दर्शन में अनुमान प्रमाण का स्वरूप

4.1 प्रस्तावना

4.2 स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में अनुमान प्रमाण

4.2.1 स्मृति एवं अनुमान प्रमाण

4.2.2 प्रत्यक्ष प्रमाण एवं अनुमान प्रमाण

4.3 अनुमान प्रमाण का स्वरूप और लक्षण

4.3.1 अनुमिति ज्ञान का करण व्याप्ति

4.3.2 अनुमान का सहकारी कारण पक्षधर्मता ज्ञान

4.3.3 पर्वतांश की प्रत्यक्षता

4.3.4 व्याप्ति का स्वरूप

4.3.5 त्रिविधत्व हेतु का निराकरण

4.3.5.1 केवलान्वयी रूप व्याप्ति का निराकरण

4.3.5.2 केवलव्यतिरेकी रूप व्याप्ति का निराकरण

4.3.5.3 अन्वय–व्यतिरेक रूप व्याप्ति का निराकरण

4.3.6 अनुमान के भेद एवं अवयव

4.4 मिथ्यात्व निरूपण एवं ब्रह्मज्ञान में सहायक अनुमान प्रमाण

चतुर्थ अध्याय

अद्वैत–वेदान्त दर्शन में अनुमान प्रमाण का स्वरूप

4.1 प्रस्तावना–

वेदान्त परिभाषाकार श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र ने द्वितीय प्रमाण के रूप में 'अथानुमान परिच्छेदः' इस अध्याय के अन्तर्गत अनुमान प्रमाण की व्याख्या की है। बौद्ध, जैन, सांख्य–योग, न्याय–वैशेषिक, मीमांसा और अद्वैत–वेदान्त दर्शन में अनुमान प्रमाण को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। चार्वाक दार्शनिकों ने स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में अनुमान प्रमाण का प्रबल खण्डन किया और उसका अन्तर्भाव स्व–सम्प्रदाय स्वीकृत प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत करने की चेष्टा की है।

भारतीय दर्शन में वेद, उपनिषद् एवं स्मृति ग्रन्थों में तर्क का प्रयोग प्राप्त होता है। यथा– ऋग्वेद काल की कुछ ऋचाओं से ऐसा बोध होता है कि 'अनुमान' क्रिया का विशद् वैज्ञानिक बोध न होने के पश्चात् भी साधारण अथवा असाधारण ज्ञान की प्राप्ति के लिए अनुमान ऋग्वेद में भी किया गया है। यथा 'शकयम धूमम्'[1] ऋग्वेद की ऋचा का यह वाक्य कि 'मैंने समीप ही गाय के सूखे गोबर से उत्पन्न होने वाले धूम्र को देखा, तत्पश्चात् चारों दिशाओं में व्याप्त इस दृष्ट धूम्र के द्वारा मुझे अदृष्ट (नीचे दबी हुई) अग्नि का बोध हुआ।' मनुस्मृति में कहा गया है– 'जो पुरूष ऋषियों द्वारा उपदिष्ट वेद तथा तन्मूलक स्मृतिशास्त्रों के तत्व का वेदानुकल तर्क द्वारा अनुसंधान करता है वही धर्म के यथार्थ मर्म को जानता है, दूसरा नहीं'।[2]

चार्वाक, जैन, न्याय, नव्य न्याय, मीमांसा और नव्य वेदान्त ने अनुमान प्रमाण पर विशेष विमर्श किया है। भारतीय ज्ञानमीमांसा में नीलिमा सिन्हा लिखती हैं कि 'चार्वाक जयराशि भट्ट, बौद्ध नागार्जुन इन आचार्यों ने अनुमान की खंडनमूलक विवेचनाएँ प्रस्तुत की और प्रमाण रूप में अनुमान को एक प्रकार से अथवा बलपूर्वक अस्वीकृत किया'।[3] अनुमान के विषय में इन खंडनमलक विवेचनाओं का अनुमान संबन्धी विवेचनाओं पर सकारात्मक प्रभाव हुआ। इन खंडनमूलक विवेचनाओं का उत्तर देने के क्रम में अनुमान के समर्थकों ने अनुमान

---

[1] ऋग्वेद– 1/64/43

[2] मनुस्मृति– 12/60

[3] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 113.

के पक्ष में सूक्ष्म एवं पुष्ट तर्क प्रस्तुत किए। जिसके कारण ही भारतीय प्रमाणमीमांसा में चार्वाकों के अतिरिक्त सर्वत्र अनुमान प्रमाण निर्विवाद रूप से स्वीकृत है।

4.2 स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में अनुमान प्रमाण–

भारतीय दर्शन में अनुमान के लिए 'आन्वीक्षिकी विद्या' पद का भी प्रयोग मिलता है। 'वाल्मिकी रामायण, महाभारत, याज्ञवल्क्यस्मृति आदि ग्रन्थों में आन्वीक्षिकी विद्या को आत्मविद्या के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। उक्त ग्रन्थों में आन्वीक्षिकी विद्या को हेतुशास्त्र, हेतुविद्या, तर्कविद्या, वाद–विद्या आदि अनेक नामों से पुकारा गया है'।[4] आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्ड नीति इन चार विद्याओं का विधान करने के लिए कौटिल्य ने आन्वीक्षिकी विद्या की व्याख्या एवं महत्ता प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि– आन्वीक्षिकी विद्या 'त्रयी' आदि अन्य तीन विद्याओं को विभिन्न द्वारा निर्धारित करती है। यह विद्या लोक की उपकारक है, सुख–दुःख में बुद्धि को स्थिर करती है एवं मनुष्य को सोचने समझने बोलने की क्रियाओं में निष्णात करती है। इसलिए इस आन्वीक्षिकी विद्या को सर्वदा ही समस्त विद्याओं का प्रदीप, सकल कार्यों का साधक एवं यावत् धर्मों को आश्रय माना गया है।

भारतीय दर्शन के समस्त सम्प्रदायों में चार्वाक के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों में 'अनुमान प्रमाण' को ज्ञान के स्वतंत्र साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। अनुमान प्रमाण को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार अथवा अस्वीकार करने वालों सम्प्रदायों के अपने पृथक–पृथक तर्क है। अनुमान प्रमाण को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्थापित करने के लिए, अनुमान प्रमाण का अर्न्तभाव अन्य प्रमाणों में करने वाली चेष्टाओं का निराकरण आवश्यक है। उन चेष्टाओं के निराकरण की प्रवृत्तियों की विवेचना निम्नवत् है–

4.2.1 स्मृति एवं अनुमान प्रमाण–

अनुमान को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में अस्वीकार करने वाले अनुमान को प्रमा का साधन नहीं स्वीकार करते क्योंकि उनके अनुसार अनुमान एक प्रकार की स्मृति है। इस मत के पक्ष में प्रमाण देते हुए अनुमान प्रमाण के विरोधी यह कहते हैं कि चूँकि अनुमान का आधार व्याप्ति है और व्याप्ति के लिए पूर्वप्रत्यक्ष पर निर्भर करना पड़ता है अतः अनुमान एक प्रकार की स्मृति है।[5] परिभाषाकासर ने इस आपत्ति का उत्तर देते हुए कहा कि यद्यपि व्याप्ति पूर्व अनुभव की स्मृति पर आधारित तथापि स्मृति और अनुमान में भेद है। स्मृति के लिए मात्र पूर्व

[4] शर्मा, ब्रजनारायण, 1973. भारतीय दर्शन में अनुमान, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, पृ॰ 31.
[5] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 117.

प्रत्यक्ष की ही आवश्यकता होती है किन्तु अनुमान के लिए मात्र पूर्व प्रत्यक्ष ही पर्याप्त नहीं। यहाँ विभिन्न पदों की परस्पर तुलना, उपनय आदि की आवश्यकता होती है।[6] अतः अनुमान प्रमाण का अर्न्तभाव स्मृति में नहीं हो सकता है। इसलिए अनुमान प्रमाण ज्ञान का एक स्वतन्त्र साधन है।

4.2.2 प्रत्यक्ष प्रमाण एवं अनुमान प्रमाण–

अनुमान को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में अस्वीकार करने वाले अनुमान एक प्रकार का प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं। परन्तु अनुमान को प्रत्यक्ष भी नहीं स्वीकार करना चाहिए। भारतीय ज्ञानमीमांसा में नीलिमा सिन्हा लिखती हैं कि 'नैयायिक उद्योतकर ने प्रत्यक्ष और अनुमान का अंतर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रत्यक्ष में किसी पूर्वज्ञान, किसी व्याप्ति अथवा किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं होती। यह ज्ञान अव्यवाहित होता है। किन्तु अनुमान एक प्रत्यक्षाश्रित व्यवहित ज्ञान है जो व्याप्ति के बिना संभव नहीं। पुनः, प्रत्यक्ष से मात्र इन्द्रियगोचर विषयों का ही ज्ञान हो सकता है तथा इसकी सीमा मात्र वर्तमान काल है। किन्तु अनुमान से वैसे पदार्थों का भी ज्ञान संभव है जो कदापि इन्द्रियगोचर नहीं। साथ ही, अनुमान का विस्तार भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों में है'।[7] अतएव अनुमान का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष प्रमाण में नहीं हो सकता है।

चार्वाक दार्शनिकों ने अनुमान प्रमाण का खण्डन करने के लिए इनके अतिरिक्त अन्य कई आक्षेप किए है। यथा– अनुमान द्वारा निश्चित एवं असंदिग्ध ज्ञान सम्भव नहीं है। अनुमान को व्याप्ति आधारित ज्ञान स्वीकार किया जाता है, चार्वाकों के अनुसार व्याप्ति की स्थापना सम्भव नहीं है। अतः चार्वाकों के अनुसार अनुमान को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं कहा जा सकता है। अनुमान प्रमाण के खण्डन के प्रत्युत्तर में अनुमान के समर्थकों का मत है कि 'यद्यपि कि सत्य है कि अनुमान से कभी–कभी भ्रमात्मक ज्ञान प्राप्त होता है, इसलिए अनुमान प्रमाण का निषेध कर दिया जाए, यह उचित नहीं है क्योंकि कभी–कभी प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सन्देहात्मक ज्ञान प्राप्त होता है। फिर भी प्रत्यक्ष का निषेध नहीं किया जा सकता और अनुमान से सदा भ्रमात्मक ज्ञान होता है, यह भी नहीं है, अतः अनुमान की प्रमाणिकता निषेध नहीं किया जा सकता है'।[8] चार्वाकों द्वारा व्याप्ति की स्थापना के लिए उठाए गए आक्षेप का निराकरण परिभाषाकार ने इसी अध्याय में आगे प्रसंगानुसार किया है।

---

[6] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 193.
[7] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 117.
[8] अग्रवाल, गीतारानी, 2006. भारतीय एवं पाश्चात्य ज्ञान मीमांसा, भारतीय विद्या संस्थान, वाराणसी, पृ॰ 97.

उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि अनुमान से वैसे पदार्थों का भी ज्ञान संभव है जो कदापि इन्द्रियगोचर नहीं। साथ ही, अनुमान का विस्तार भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों में है। इसलिए अनुमान प्रमाण ज्ञान के स्वतन्त्र साधन के रूप में स्वीकार करने में कोई तार्किक विसंगति नहीं है। अतः अनुमान ज्ञान के स्वतन्त्र प्रमाण है।

4.3 अनुमान प्रमाण का स्वरूप और लक्षण–

बौद्ध, जैन, सांख्य–योग, न्याय–वैशेषिक, मीमांसा और अद्वैत–वेदान्ती अनुमान प्रमाण को ज्ञान के स्वतन्त्र साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि चार्वाक दार्शनिक सम्प्रदाय अनुमान प्रमाण को कहीं न कहीं स्मृति या प्रत्यक्ष प्रमाण में समाविष्ट मान लेते हैं। जबकि बौद्ध, नैयायिकों, मीमांसको एवं अद्वैत वेदान्तियों ने अनुमान प्रमाण के स्वरूप का विधिवत् निरूपण किया है। अनुमान को प्रमाण स्वीकार करने वाले दार्शनिक सम्प्रदायों ने अनुमान को विविध प्रकार से परिभाषित करते हैं।

सांख्य सूत्रकार कपिल के अनुसार 'प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम्'[9] अर्थात् प्रतिबन्ध दर्शन से प्रतिबद्ध का ज्ञान प्राप्त होना ही अनुमान है'। जबकि वैशेषिक आचार्यों ने 'लिंग के आधार पर लिंगी का ज्ञान प्राप्त करना ही अनुमान है'।[10] बौद्ध मतानुसार 'अविनाभाव के द्वारा नान्तरीयक(एक वस्तु का दूसरी वस्तु के अभाव में कभी भी न रहना) दर्शन का ज्ञान ही अनुमान है'।[11] जैन मतानुसार 'साधनात् साधयविज्ञानम् अनुमाननं तदत्यते'।[12] अर्थात्– साधन के द्वारा साध्य का ज्ञान ही अनुमान है। महर्षि वात्स्यायन के अनुसार 'ज्ञात लिंग से अज्ञात लिंगी का ज्ञान ही अनुमान है'।[13] नव्य नैयायिकों के अनुसार 'व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मताज्ञानजन्यं ज्ञाननुमितिः तत्कारणनुमानं तच्च लिंगपरामर्शो न तु परामृश्यमानं लिंगम्'।[14] अर्थात्– व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता के ज्ञान से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनुमिति एवं उसे साधन को अनुमान कहते हैं। इस अध्याय में मुख्य रूप से अद्वैत वेदान्त सम्मत् अभिमत का ही निरूपण किया जाएगा। परिभाषाकार ने 'अथानुमानं निरूप्यते' इस वाक्य से अनुमान प्रमाण का निरूपण आरम्भ किया है।

---

[9] सांख्य सूत्र– 1/100.
[10] वैशेषिक सूत्र– 9/2/1. या प्रशस्तपाद भाष्य– 162.
[11] प्रमाण वार्तिक– 2/62.
[12] न्यायविनिश्चय भाष्य– 2.
[13] न्याय भाष्य– 1/1/5.
[14] तत्व चिन्तामणि

परिभाषाकार के अनुसार 'अनुमितिकरणमनुमानम्। अनुमितिश्च व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्ति ज्ञान जन्या। व्याप्तिज्ञानानुव्यवसायादेस्तत्त्वेन तज्जन्यत्वाभावान्ननुमितित्वम्'।[15] अर्थात्– अनुमिति प्रमा के 'करण' को अनुमान कहा जाता है। परिभाषाकार यह मानते हैं कि अनुमिति प्रमा, ''व्याप्तिज्ञानत्वरूप से व्याप्ति ज्ञान से उत्पन्न होने वाली'' है। जो अनुव्यवसायादि है, वह 'व्याप्तिज्ञानत्व से व्याप्तिज्ञानजन्य' नहीं है। अतः अनुमान के लक्षण की व्याप्तिज्ञान के अनुव्यवसायादि में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

जिस ज्ञान से 'अनुमिति' नामक यथार्थ ज्ञान प्राप्त होती है, उस ज्ञान 'अनुमान' प्रमाण कहते हैं। परिभाषाकार ने यहाँ पर 'अनुमान' प्रमाण का लक्षण स्पष्ट किया है। इसलिये 'अनुमितिकरणमनुमानम्' में 'अनुमितिकरण' यह अनुमान–प्रमाण का लक्षण है और 'अनुमान' यह लक्ष्य है। 'अनुमीयते–अनेन इति अनुमानम्' जिस ज्ञान से अग्न्यादि का अनुमान किया जाता है और जिस व्याप्ति ज्ञान से अनुमिति–प्रमा प्राप्त होती है वह व्याप्ति ज्ञान अनुमान है। इस प्रकार परिभाषाकार के मत में व्युत्पन्न 'अनुमान' पदार्थ लक्षण है और अव्युत्पन्न (रूढ़) अनुमान शब्दार्थ, लक्ष्य है। 'व्याप्ति ज्ञान' रूप अर्थ में जब 'अनुमान' शब्द व्युत्पन्न रहता है तब वह अनुमान प्रमाण का लक्षण होता है और लोक प्रसिद्ध 'अनुमान' उस लक्षण का लक्ष्य रहता है, अर्थात् व्युत्पन्न अनुमान 'लक्षण' ओर अव्युत्पन्न (रूढ़) अनुमान 'लक्ष्य' है।[16]

परिभाषाकार यहाँ पर 'अनुमति–करण' यह अनुमिति–प्रमा का लक्षण स्पष्ट करते हैं। 'व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्या अनुमितिः' अर्थात् व्याप्ति ज्ञानत्व से युक्त व्याप्ति ज्ञान से जो प्रमा उपलब्ध होती है, वह अनुमिति–प्रमा है। जैसे– 'यह घट है' इस घट ज्ञान में 'घटत्व' प्रकार है, इसलिये उपर्युक्त उद्धृत ज्ञान को 'घटत्व प्रकारक घट ज्ञान' कहा जाता है। इसी प्रकार 'यह व्याप्ति' इस ज्ञान में 'व्याप्तित्व' प्रकार है, इसलिए इस व्याप्ति ज्ञान को 'व्याप्तित्व प्रकारक ज्ञान' भी कहा जाता है। इसीलिए 'धूम वह्निव्याप्य है' इस प्रकार के 'व्याप्ति प्रकारक ज्ञान' में 'व्याप्ति' प्रकार है। ऐसे व्याप्ति ज्ञानत्वेन रूपेण जो 'व्याप्ति–ज्ञान–जन्य' ज्ञान हो उसे अनुमिति ज्ञान कहा जाता है। जैसे– 'धूम वह्निव्याप्य है' जहाँ धूम होता है, वहाँ अग्नि रहती है। परिभाषाकार के अनुसार यह व्याप्ति का प्रसिद्ध उदाहरण है। इस प्रकार व्याप्ति ज्ञानत्वेन रूपेण व्याप्ति ज्ञान से जो ज्ञान होता है, वह अनुमिति ज्ञान है। अन्य प्रकार से 'यह व्याप्ति है' इस व्याप्ति विषयक ज्ञान से भी 'पर्वत वह्निमान् है' यह ज्ञान प्राप्त होगा। परन्तु

[15] शास्त्री, केशवलाल वि॰(हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 74.
[16] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 148.

ऐसा नहीं होता है। इसलिये परिभाषाकार के मत में 'व्याप्तिज्ञानत्वेन' का अर्थ 'व्याप्तिकारक–ज्ञानत्वेन' ही उपयुक्त है ।

इस पर यह आक्षेप हो सकता है कि 'धूम, वह्निव्याप्य है' यह व्याप्ति प्रकारक ज्ञान 'पर्वत वह्निमान् है' जिस प्रकार व्याप्ति ज्ञान जन्य ज्ञान इस अनुमति के प्रति कारण होता है, उसी प्रकार व्याप्ति ज्ञान जन्य व्याप्तिज्ञान का अनुव्यवसाय, स्मृति, ध्वंस आदि के प्रति भी कारण है। अतः आक्षेपी के मतानुसार अनुमिति का लक्षण उनमें अतिव्याप्त होता है। क्योंकि ज्ञाता वह्निव्याप्य धूमवान् पर्वत को जानता है। यह एक प्रकार से 'अनुव्यवसाय ज्ञान' है। प्रथमतः जो ज्ञान इन्द्रियों से प्राप्त होता है, वह 'व्यवसाय ज्ञान' कहलाता है और इसके पश्चात् होने वाला तद्विषयक मानसज्ञान भी 'अनुव्यवसाय ज्ञान' कहलाता है। इस प्रकार व्याप्तिज्ञान के अनुव्यवसाय में 'व्यवसाय ज्ञान' ही कारण है। इसलिए 'व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्य ज्ञान को अनुमति ज्ञान कहा जाता है'। यह अनुमति ज्ञान का लक्षण, व्याप्तिज्ञान के अनुव्यवसाय ज्ञान में 'अतिव्याप्त' होता है।

परिभाषाकार इस आक्षेप का भी समाधान करते हैं। उनके मतानुसार यद्यपि यह सत्य है कि व्याप्ति का 'अनुव्यवसाय' व्याप्तिज्ञानजन्य होता है, फिर भी उस अनुव्यवसाय ज्ञान में जो जन्यत्व है, उस जन्यत्व से प्राप्त होने वाला जो व्याप्तिज्ञान में कारणत्व है, वह व्याप्तिज्ञान के विषयत्व रूप से होता है और वह व्याप्तिज्ञानत्व के रूप से नहीं होता है।[17] उसी प्रकार व्याप्तिज्ञानजन्य स्मृति, शाब्दबोध, उसका ध्वंस आदि के व्याप्ति ज्ञान जन्यत्व होने पर भी उनमें व्याप्ति ज्ञान, विषयत्व रूप से ही उनका कारण होता है। व्याप्तिज्ञानत्व रूप से कारण नहीं होता। जैसे– 'यह घट' इस ज्ञान में 'घट' उस ज्ञान का विषय होता है और विषयत्व रूप से उस ज्ञान का जनक भी होता है और ज्ञानत्व रूप से उस ज्ञान का जनक नहीं होता। इसी प्रकार पूर्व उद्धृत अनुव्यवसायादि ज्ञान, के व्याप्ति ज्ञान जन्य होने पर भी व्याप्तिज्ञान का उनके साथ विषयत्व, प्रतियोगित्वादि रूप से ही सम्बन्ध रहता है और ज्ञानत्व रूप से उनका जनकत्व नहीं होता है। इसलिए अद्वैत मत स्वीकृत अनुमिति लक्षण की अनुव्यवसायादि में 'अतिव्याप्ति' नहीं होती है। यदि परिभाषाकार ने अनुमिति का 'व्याप्तिज्ञानजन्या' इतना ही लक्षण किया होता तो इस लक्षण की अनुव्यवसाय आदि में 'अतिव्याप्ति' हुई होती। परन्तु परिभाषाकार द्वारा अनुमिति का 'व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्या' इतना लक्षण करने के कारण,

[17] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 149.

लक्षण में 'व्याप्तिज्ञानत्वेन' यह पद जोड़ने के कारण अनुमिति लक्षण पर 'अतिव्याप्ति' दोष नहीं हो सकता है।

परिभाषाकार के मतानुसार यह नियम है कि 'ज्ञानं प्रति विषयस्य कारणत्वम्' अर्थात् किसी भी ज्ञान में उसका विषय कारण होता है। उपर्युक्त नियम के अनुसार 'व्याप्ति ज्ञान' स्व–अनुव्यवसाय का 'विषयकत्व' धर्म से कारण होता है, वह स्व–स्मृति का भी 'समान–विषयक–अनुभवत्व' धर्मं से कारण होता है और वह स्व–ध्वंस का भी 'प्रतियोगित्व' धर्म से कारण होता है।[18] 'व्याप्ति ज्ञानत्व' धर्मं से कारण नहीं होता। व्याप्ति ज्ञान तो 'व्याप्ति ज्ञानत्व' धर्म से केवल अनुमिति ज्ञान को ही उत्पन्न करता है । अतः पूर्वोक्त अनुव्यवसायादि में परिभाषाकार कृत लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती ।

'दण्ड' पदार्थ इन्धनत्व धर्म से यद्यपि ज्वलन क्रिया में कारण होता है, फिर भी 'घट' का कारण अपने 'दण्डत्व' धर्म से ही होता है। क्योंकि वहाँ पर दण्ड की कारणता का अवच्छेदक धर्म दण्डत्व है, इन्धनत्वादि नहीं। इसलिए व्याप्ति ज्ञान में जो अनुमति कारणत्व है, वह 'व्याप्ति ज्ञानत्व' धर्म से ही है, विषयत्वादि धर्मों से नहीं। अर्थात् यहाँ पर कारणतावच्छेदक 'व्याप्ति ज्ञानत्व' ही है। अतएव उक्त लक्षण में अतिव्याप्ति दोष नहीं हो सकता है। इस प्रकार अद्वैत मत में अनुमिति के करण को अनुमान कहा जाता है।

4.3.1 अनुमिति ज्ञान का करण व्याप्ति–

परिभाषाकार के अनुसार 'अनुमितिकरणं च व्याप्तिज्ञानं। तत्संस्कारोऽवान्तरव्यापारः न तु तृतीय–लिंग परामर्शोऽनुमितौ करणम्, तस्यानुमिति हेतुत्वाऽद्धिया तत्करणत्वस्य दूर निरस्तत्वात्'।[19] अर्थात्– अनुमिति का करण व्याप्तिज्ञान है। व्याप्तिज्ञानजन्य संस्कार अवान्तर व्यापार है। तृतीय लिंग परामर्श का कारण नहीं है। क्योंकि उस तृतीय लिंग परामर्श में अनुमिति का कारणत्व सिद्ध होता ही नही तब तृतीय लिंग परामर्श में 'करणत्व' तो दूर ही है।

'धूम वह्निव्याप्य है' इस प्रकार का व्याप्तिज्ञान ही अनुमिति ज्ञान का करण है। दूसरे शब्दों में व्याप्तिज्ञान ही अनुमान है। यहाँ पर यह आक्षेप हो सकता है कि अद्वैत मत में पहले 'अनुमिति, व्याप्ति ज्ञान जन्य है' स्वीकार किया गया, जिससे व्याप्तिज्ञान, अनुमिति का कारण है। यह अर्थ प्राप्त होता है, और अब व्याप्तिज्ञान को अनुमिति का करण स्वीकार किया

[18] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 150.
[19] शास्त्री, केशवलाल वि॰(हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 75–76.

जा रहा है। ये दोनों मत कैसे संगत हो सकते हैं? एक ही विषय में कारणत्व तथा करणत्व कैसे हो सकता है?

इसके प्रत्युत्तर में परिभाषाकार का मत है कि यदि 'कारणत्व और करणत्व' ये दोनों परस्पर विरोधी होते तो एक ही व्याप्ति ज्ञान को कारण तथा करण नहीं कहा जा सकता था, कारणत्व एवं करणत्व परस्पर विरोधी नहीं हैं, परन्तु करणत्व, कारणत्व का ही एक विशेष प्रकार है।[20] क्योंकि असाधारण कारण को ही करण कहते हैं। जैसे– जिस प्रकार एक ही ब्राह्मण पर ब्राह्मणत्व और परिव्राजकत्व रहता है, उसी प्रकार एक ही व्याप्ति ज्ञान में कारणत्व तथा करणत्व इन अविरोधी धर्मों के रहने में कोई दोष नहीं है। इसीलिए अद्वैत मत में 'दण्ड घट में कारण है' और 'दण्ड घट को उत्पन्न करता है' इत्यादि व्यवहार होता है। इसी लिए एक ही पदार्थ को कारण और करण कहा जा सकता है।

प्राचीन नैयायिक अनुमिति के प्रति लिंग धूमादि को ही कारण स्वीकार करते हैं। परन्तु परिभाषाकार के मतानुसार यह उचित नहीं है। क्योंकि जहाँ लिंग प्रत्यक्ष योग्य नहीं होता वहाँ पर परामर्श का व्यापारत्व ही संभव नहीं होता। इस प्रकार व्यापार के न होने से लिंग को करणत्व भी नहीं स्वीकार कर सकते। क्योंकि 'व्यापारवत्' जो 'असाधारण कारण' उसे ही 'करण' संज्ञा दी जाती है।[21] इसके अतिरिक्त धूलि में धूम का भ्रम होने से 'पर्वत वह्निमान् है' ऐसी अयथार्थ अनुमिति होती है। जबकि यहाँ पर लिंग के न होते हुए भी अनुमिति हुई। इसलिए परिभाषाकार के मतानुसार 'लिंग को अनुमिति में करण नहीं स्वीकार किया जा सकता। केवल धूम का ज्ञान हुआ और व्याप्ति ज्ञान नहीं हुआ, अर्थात् केवल पर्वत धूमवान् है, 'पर्वत पर धूम है' ऐसा ज्ञान होने से 'वह वह्निमान् है' यह अनुमिति नहीं हो सकती और प्रत्यक्ष के अयोग्यहेतुक स्थल में किसी भी व्यापार का होना सम्भव नहीं है। इसलिए लिंगज्ञान को भी करण नहीं माना जा सकता।[22] यह प्रश्न हो सकता है कि परामर्श, अनुमिति ज्ञान में करण क्यों नहीं स्वीकार कर सकते? परिभाषाकार ने इसका उत्तर आगे इसी अध्याय में प्रसंगानुसार दिया है। अतः परिभाषाकार द्वारा 'व्याप्तिज्ञान, अनुमिति–करण है' यह स्वीकार करने मात्र से लिंग, लिंगज्ञान, और लिंगपरामर्श ही अनुमिति ज्ञान में करणत्व है, यह स्वीकार करने वाले नैयायिक–वेशेषिकों के मत का खण्डन हो जाता है।

---

[20] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 151.
[21] भार्गव, दयानन्द, 2012. तर्क–संग्रह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 87.
[22] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 152.

यह आक्षेप हो सकता है कि अद्वैत मत में 'व्याप्तिज्ञान, अनुमिति के प्रति करण है' स्वीकार किया गया है। परन्तु यहाँ व्यापार कौन सा है? क्योंकि 'जो असाधारण, व्यापार से युक्त रहता है उसे ही करण कहते हैं।' 'व्याप्तिज्ञान' में व्यापार कौन सा है, यह स्पष्ट नहीं हो पाता है। परिभाषाकार के मतानुसार अन्तःकरण पर रहनेवाला व्याप्तिज्ञान का संस्कार ही वह मध्यवर्ती व्यापार है, इसलिए व्याप्ति संस्कार से युक्त होने के कारण व्याप्तिज्ञान करण है।[23] आशय यह है कि व्याप्ति ज्ञान, संस्कार द्वारा अनुमिति में करण होता है।

परन्तु नैयायिक दार्शनिक तृतीय लिंग परामर्श को ही अनुमिति के प्रति 'करण' स्वीकार करते हैं। जैसे– महानस में जब धूम और अग्नि की व्याप्ति ज्ञात होती है तब धूम का जो ज्ञान होता हैं, यह प्रथम लिंग ज्ञान है। इसके अनन्तर जब वह व्यक्ति वन में जाता है। वहाँ उसे पर्वत पर धूम दिखाई देता है, यह द्वितीय लिंग ज्ञान है। इसके बाद 'यह पर्वत वह्निव्याप्य धूमवान् है' ज्ञान होता है, इसमें भी 'धूम' ही विषय है। इसलिये यह तृतीय लिंगज्ञान है और यही नैयायिकों के मत में परामर्श कहलाता है। इसके अगले क्षण में ही 'पर्वत वह्निमान् है' अनुमिति प्राप्त होती है। इसलिए नैयायिक मतानुसार यह स्वीकार करना चाहिए कि यह तृतीय लिंग परामर्श ही अनुमिति का करण है। नैयायिक मत में 'जो असाधारण कारण हो वही करण है', नैयायिक ऐसे करण के लक्षण में मध्यवर्ती व्यापार नहीं स्वीकार करते हैं। आशय यह है' कि प्रथमतः 'पर्वत धूमवान् है', यह ज्ञान होता है। इसके अनन्तर 'जहाँ धूम रहता है वहाँ अग्नि भी रहती है। अर्थात् 'धूम वह्निव्याप्य है' इस प्रकार व्याप्ति का स्मरण होता है। इसके अनन्तर 'व्याप्तिविशिष्ट धूम पर्वत पर है, इस प्रकार तृतीय ज्ञान होता है, यही लिंगपरामर्श है। इसके बाद उत्तर क्षण में ही अनुमिति ज्ञान होता है। इसलिये यह तृतीय लिंग परामर्श ही अनुमिति का करण है।

परन्तु परिभाषाकार के मतानुसार नैयायिकों का यह सिद्धान्त उचित नहीं है। कारण यह है कि पक्षधर्मता ज्ञान 'पर्वत धूमवान् है' इस प्रकार पक्षपर हेतु के ज्ञान से महानस में ग्रहण किया हुआ व्याप्ति ज्ञान का संस्कार उद्बुद्ध होता है, इसके बाद व्याप्ति का स्मरण होते ही 'वह्नि' की अनुमिति होती है, परन्तु पक्षधर्मता ज्ञान होकर भी यदि व्याप्ति का स्मरण न हुआ तो अनुमिति नहीं हो सकती।[24] इस अन्वय–व्यतिरेक (संस्कार उद्बुद्ध होने पर व्याप्ति स्मरण से अनुमिति होती है तो अन्वय और संस्कार उद्बुद्ध होने के अभाव में अनुमिति नहीं होती, यह व्यतिरेक है) से यह सिद्ध होता है कि अनुमिति में व्याप्तिज्ञान ही कारण है, और

[23] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 152.
[24] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰153.

'परामर्श' अनुमिति में कारण नहीं है। क्योंकि 'परामशसत्त्वे अनुमितिः, परामर्शाभावे अनुमित्यभावः' परामर्श होने पर ही अनुमिति होती है, और परामर्श का अभाव होने पर नहीं होती, इस प्रकार परामर्श के विषय में अन्वय–व्यतिरेक नहीं किये जा सकते। कारण यह है कि जब पक्षधर्मता ज्ञान और व्याप्तिज्ञान के कारण ही अनुमिति होती है तब परामर्श के बिना भी अनुमिति होती है, यह अनुभव है। इस कारण व्यतिरेक व्यभिचार हो जाता है। अतः परिभाषाकार के मतानुसार परामर्श को अनुमिति का कारण नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में परामर्श को, करण (असाधारण कारण स्वरूप) स्वीकार करना कैसे सम्भव है? क्योंकि 'कारण' शब्द सामान्य कारण का वाचक है और उनमें से जो असाधारण हो उसे ही 'करण' की संज्ञा दी जाती है। अर्थात् 'कारणत्व' व्यापक (करणत्व को अपेक्षा अधिक देश में रहनेवाला) धर्म है और 'करणत्व' उसका व्याप्य (करणत्व को अपेक्षा न्यून देश में रहनेवाला) धर्म है। इसलिए जहाँ व्यापक नहीं होता वहाँ व्याप्य भी नहीं होता' अर्थात् परामर्श जब अनुमिति के प्रति कारण ही नहीं, तब परामर्श अनुमिति ज्ञान में कारण ही नहीं।

तब यह पृथकतः स्वीकार करना आवश्यक नहीं है कि परामर्श अनुमिति ज्ञान में करण नहीं है और जिस प्रकार लिंगपरामर्श अनुमिति के प्रति करण नहीं, उसी प्रकार ज्ञात होने वाला लिंग भी अनुमिति के प्रति करण नहीं हो सकता। आशय यह कि मूलस्थ 'तृतीय लिंग परामर्श' शब्द, ज्ञात होने वाले लिंग का उपलक्षक है। ज्ञान में विषय होने वाला लिंग ही अनुमिति के प्रति करण है, ऐसा स्वीकार करने पर 'पर्वतों वह्निमान भविष्यद् धूमात्' (पर्वत वह्निमान् है क्योंकि उस पर अग्रिम क्षण में ही धूम उत्पन्न होगा) आदि में जो अनुमिति होती है वह अनुमिति नहीं होगी। कारण यह कि उस समय वहाँ पर लिंग नहीं है। इसलिये वहाँ पर अनुमिति के कारणत्व का व्यभिचार होता है। अतः परिभाषा के मतानुसार प्राचीन नैयायिकों का उपर्युक्त मत उचित नहीं है। इसलिये व्याप्तिज्ञान ही अनुमिति ज्ञान में करण है।

नैयायिकों का आक्षेप है कि अद्वैत मतानुसार व्याप्ति ज्ञान ही संस्कार द्वारा अनुमिति का कारण स्वीकार कर लिया जाए तो अनुमिति को संस्कार जन्य स्वीकार करना होगा, और संस्कारजन्य, स्मृतिरूप होने से, अनुमिति को भी स्मृति मानना होगा। परिभाषाकार इस आक्षेप का भी निराकरण करते है।

परिभाषाकार के अनुसार 'न च संस्कार जन्यत्वेनाऽनुमितेः स्मृतित्वापत्तिः, स्मृति प्रागभावस्य संस्कार मात्रजन्यत्वस्य वा स्मृति प्रयोजकतया संस्कारध्वंस–साधारण

संस्कारजन्यत्वस्य तद्प्रयोजकत्वात्'।[25] अर्थात्– ''अनुमिति को व्याप्ति ज्ञान (करण) और संस्कार (अवान्तरव्यापार) से जन्य – उत्पन्न होने वाली मान लिया जाए, तब तो 'अनुमिति' में स्मृतित्व आ जाएगा– अर्थात् अनुभूति स्मृतिरूप बन जाएगी।'' ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि स्मृति कस कारण (प्रयोजक) तो संस्कारमात्रजन्यत्व है संस्कारजन्यत्व नहीं, और स्मृति का दूसरा प्रयोजक स्मृतिप्रागभाव है। यहाँ प्रस्तुत मे ंतो साधारणसंस्कारजन्यत्व है अथवा तो संस्कारध्वंस की प्रयोजकता बताई है, इसलिए कोई दोष नहीं है।

परिभाषाकार के अनुसार प्रथमतः महानस में व्याप्ति ज्ञान होने पर, व्याप्ति ज्ञान का अन्तःकरण पर सूक्ष्म संस्कार होता है। वही संस्कार पर्वत पर धूम के दिखाई देने पर उदबुद्ध होता है, इसके अनन्तर व्याप्ति का स्मृतित्यात्मक ज्ञान होता है। इसके पश्चात् अनुमिति होती है। परिभाषाकार के मत मे यह क्रम है और इस क्रम पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्याप्ति ज्ञान से संस्कार और संस्कार से अनुमिति होती है।[26] आशय यह है कि अनुमिति में संस्कार कारण है।

संस्कार को अनुमिति में कारण स्वीकार करने पर 'संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' यह स्मृति का लक्षण अनुमिति में घटित हो जाने से अनुमति को भी स्मृति स्वीकार करना होगा। परन्तु यह लक्षण अभीष्ट नहीं हो सकता है। कारण यह है कि स्मृति, अनुभव रूप नहीं है, जबकि अनुमिति अनुभव रूप है, और 'मैंने कल वह्नि का अनुमान किया था' ऐसी अनुमिति की स्मृति, अनुभव सिद्ध है। इसलिए व्याप्ति ज्ञान करण है और संस्कार अवान्तर व्यापार है। ऐसा अद्वैत मतानुयायी भी नहीं स्वीकार कर सकते। अर्थात् अद्वैत पक्ष में भी दोष है।

परिभाषाकार के अनुसार नैयायिकों ने 'संस्कारजन्य ज्ञान को स्मृति कहते हैं'[27] स्मृति का यह लक्षण ग्रहण कर आक्षेप किया था। परन्तु परिभाषाकार के मत में 'संस्कारजन्यं ज्ञान स्मृतिः' यह स्मृति का लक्षण नहीं हो सकता। क्योंकि स्मृति का लक्षण स्मृति और संस्कारध्वंस दोनों के लिए साधारण है। आशय यह है कि स्मृति का यह लक्षण केवल स्मृति में ही घटित न होकर संस्कारध्वंस में भी घटित होता है। क्योंकि संस्कारनाश भी संस्कारजन्य ही होता है। यह प्रश्न हो सकता है कि यदि संस्कार ही नहीं होगा तो नाश, किसका होगा?

परिभाषाकार के मतानुसार यह नियम है कि 'ध्वंस प्रति प्रतियोगिनः कारणत्वम्' ध्वंस में प्रतियोगी, कारण होता है अर्थात् अतिव्याप्ति दोष से दूषित होने के कारण 'संस्कारजन्यत्व';

---

[25] शास्त्री, केशवलाल वि॰(हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 76.
[26] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 154.
[27] संस्कारमात्र जन्यं स्मृतिः'। (तर्कसंग्रह)

यह स्मृति का निर्दाष लक्षण नहीं है।[28] इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि 'संस्कारजन्यत्व' स्मृति का प्रयोजक नहीं है। इसीलिये अनुमति में संस्कारजन्यत्व होने पर भी 'स्मृतित्व' नहीं हो सकता है। क्योंकि 'संस्कारजन्यत्व' स्मृति का लक्षण ही नहीं है। यह प्रश्न हो सकता है कि यदि 'संस्कारजन्यत्व' स्मृति में प्रयोजक नहीं है तो स्मृति में कौन प्रयोजक है? परिभाषाकार के मतानुसार 'स्मृतिप्रागभावजन्यत्व' या 'संस्कारमात्रजन्यत्व' को स्मृति का प्रयोजक स्वीकार करना चाहिये।

प्रागभाव का अर्थ है 'कार्य की उत्पत्ति से पूर्व स्थित, कार्य का अभाव'।[29] क्योंकि जिस विषय का प्रागभाव रहता है उसी की उत्पत्ति होती है। इसलिये प्रत्येक कार्य में उसका प्रागभाव ही कारण होता है। इस नियम के अनुसार स्मृति के प्रति भी उसका प्रागभाव कारण है। इस कारण 'स्मृतिप्रागभावजन्यत्व' को ही स्मृति का प्रयोजक स्वीकार करना पड़ता है। 'स्मृतिप्रागभावजन्यत्व' रूप स्मृतिलक्षण स्वीकार करने पर संस्कार ध्वंस में अतिव्याप्ति नहीं होती। कारण यह है कि संस्कारध्वंस, स्मृतिप्रागभावजन्य नहीं है, अपितु संस्कारजन्य है। इसलिये परिभाषाकार के मत में 'स्मृतिप्रागभावजन्यत्व' ही स्मृतित्व में प्रयोजक है।[30]

यह आक्षेप हो सकता है कि प्रत्येक कार्य के प्रति यदि उसका प्रागभाव कारण होता है तो प्रत्येक कार्य का 'तत्तत्प्रागभावजन्यत्व' ही लक्षण किया जाय तो ऐसी स्थिति में किसी भी कार्य के प्रति दूसरा प्रयोजन स्वीकार करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। जैसे– 'गो' का लक्षण 'गोप्रागभावजन्यत्व' ही करना चाहिये। इस कारण प्रत्येक पदार्थ के भिन्न–भिन्न लक्षण जो किये गये हैं, वे सब व्यर्थ हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में 'स्मृतिप्रागभावजन्यत्व' को स्मृति का प्रयोजक कैसे स्वीकार किया जा सकता है? इसके अतिरिक्त स्मृति लक्षण स्मृति में घटित होने से आत्माश्रय दोष का प्रसंग उपस्थित होता है। परिभाषाकार के मतानुसार यह आक्षेप उचित है। इस कारण ही परिभाषाकार ने 'संस्कारमात्रजन्यत्वं वा..' वाक्यों से यह दूसरे स्मृति प्रयोजक को स्वीकार किया है। तस्मात् इस पक्ष में कोई दोष नही हो सकता।

परिभाषाकार के मतानुसार यद्यपि कि संस्कारध्वंस 'संस्कारजन्य' है, इसका तात्पर्य यह है कि केवल संस्कारजन्य नहीं है। क्योंकि संस्कारध्वंस के प्रति चिरकाल तक संस्कारों का उद्‌बोध न होना भी कारण होता है। परन्तु स्मृति को संस्कार के अतिरिक्त किसी भी कारण की अपेक्षा नहीं होती। परिभाषाकार के मत में अनुमिति, लिंग ज्ञानादि आसाधारण

---

[28] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 155.
[29] उत्पत्ते पूर्व कार्यस्य'। (तर्कसंग्रह)
[30] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 155.

कारणजन्य है अर्थात् संस्कारमात्र जन्य नहीं है। इसलिए अनुमिति में स्मृतित्व प्राप्त नहीं हो सकता। 'संस्कारमात्रजन्यत्व' का अर्थ है कि संस्कार से जो अन्य, उससे जन्य न होकर केवल संस्कारजन्य है। जबकि अनुमिति, संस्कारजन्य होने पर भी, संस्कार से भिन्न जो व्याप्ति ज्ञान है, उससे भी वह उत्पन्न होती है। इसीलिए अनुमिति को स्मृति नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनुमिति और स्मृति के लक्षण भिन्न–भिन्न हैं।[31]

यह आक्षेप हो सकता है कि अनुमिति में स्मृतित्वापत्ति न होने पर भी अद्वैत पक्ष में अन्यान्य दोष तो प्राप्त ही हैं। क्योंकि जब व्याप्ति स्मरण से अनुमिति होती है तब संस्कार, स्मृति को उत्पन्न कर नष्ट हो जाते हैं। परन्तु ऐसे स्थल में अनुमति का होना तो अनुभव सिद्ध है। जबकि अद्वैत मतानुसार संस्कार (व्यापार) तो वहाँ है ही नहीं। इस कारण संस्कारजन्यत्व व्यभिचरित होता है। परिभाषाकार इस आक्षेप का भी निराकरण करते है।

परिभाषाकार के अनुसार 'न च यत्र व्याप्ति स्मरणादनुमितिस्तत्र कथं संस्कारो हेतुरिति वाच्यम्। व्याप्ति स्मृतिस्थलेऽपि तत्संस्कारस्यैवानुमितिहेतुत्वात्। न हि स्मृतेः संस्कारनाशकत्व–नियमः, स्मृतिधारादर्शनात्। न चानुद्बृद्धसंस्कारदप्यनुमित्यापत्तिः, तदुद्बोधस्यापि सहकारित्वात्'।[32] अर्थात्– ''जब कभी व्याप्तिज्ञान के बदले व्याप्तिस्मरण से ही अनुमिति होती है, वहाँ अवान्तरव्यापार करने वाले संस्कार की तो जरूरत नहीं पड़ती, फिर भी अनुमिति तो वहाँ होती ही है।'' – ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि जहाँ व्याप्तिस्मृति से अनुमिति होती है, वहाँ व्याप्ति के संस्कारों को ही अनुमिति का हेतु माना जाता है। स्मृति संस्कारों का नाश ही कर देती हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। क्योंकि धारावाहिक स्मृति का सभी को अनुभव है। स्मृति के उत्पन्न होने में संस्कारोद्बोध सहकारी कारण ही है। स्मृति से पहले संस्कारोद्बोध सहकारी रूप से होना ही चाहिए। (इसलिए अनुद्बुद्ध संस्कार की तो यहाँ बात ही नहीं उठती)। संस्करोद्बोध का अर्थ है संस्कारों की कार्योन्मुखता।

व्याप्ति का स्मरण होने, पर जहाँ अनुमिति होती है वहाँ संस्कारजन्यत्व कहाँ है? इससे यह ज्ञात होता हैं कि संस्कारजन्यत्व व्यभिचरित है। क्योंकि व्याप्ति का स्मरण होने पर संस्कार का नाश हो जाता है। परन्तु परिभाषाकार के अनुसार ऐसा आक्षेप करना उचित नहीं। कारण यह है कि व्याप्ति स्मृति से जहाँ अनुमिति होती है वहाँ भी परिभाषाकार व्याप्ति के संस्कार को ही अनुमिति में हेतु स्वीकार करते हैं। क्योंकि यह सिद्धान्त अद्वैत सम्मत् नहीं है कि

[31] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 156.
[32] शास्त्री, केशवलाल वि॰(हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 76.

'स्मृति के होने पर उसके कारणभूत संस्कार नष्ट होते हैं'। इसलिए संस्कारजन्यत्व व्यभिचरित नहीं होता।

परिभाषाकार उपर्युक्त सिद्धान्त न स्वीकार करने में दो कारण स्पष्ट किए हैं– एक कमी और दूसरा अनुभव। स्मृति होते ही पूर्व संस्कार नष्ट होते हैं, यह स्वीकार करने पर उसी विषय की पुनः स्मृति होने पर अग्रिम स्मृति में कारण होने वाला दूसरा ही संस्कार स्वीकार करना पड़ेगा।[33] अग्रिम स्मृति होने पर पूर्व स्मृतिजन्य संस्कार भी नष्ट हो जाता है, तब तीसरी स्मृति के समय दूसरी स्मृति से उत्पन्न हुआ संस्कार स्वीकार करना होगा। ऐसे अनन्त संस्कारों की कल्पना करने की अपेक्षा एक व्याप्ति संस्कार को ही अनुमिति के प्रति कारण मानने में कमी है, और अनुभव भी ऐसा ही है। व्याप्ति के संस्कार से व्याप्ति का स्मरण होता है, यह अनुभव कहीं भी बाधित नहीं है। स्मृति परम्परा का अनुभव होने से स्मृति संस्कार–नाशकत्व नहीं है। परन्तु तार्किकों के मत में 'स्मृति को उत्पन्नकर स्मृतिजनक संस्कार नष्ट हो जाता है, क्योंकि संस्कार स्मृति के लिए ही रहता है और स्मृति को उत्पन्न कर वह कृतकार्य हो जाता है। इस कारण ऐसा स्वीकार करते हैं कि संस्कार से स्मृति की उत्पत्ति होने पर संस्कार का नाश होना अवश्यम्भावी है।

स्मृति के होते हुए पूर्व संस्कार का नाश होता है, नैयायिकों के इस अभ्युपगम के अनुसार यदि विचार किया जाय तो स्मृति परम्परा में द्वितीय, तृतीय स्मृति की उत्पत्ति का कोई कारण ही नहीं रहता। क्योंकि पहली स्मृति में कारण बने हुए एक संस्कार का नाश होने पर भी दूसरे संस्कार से स्मृति होगी, यह भी नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि इस पक्ष में अनन्त संस्कारों की कल्पना करनी पड़ती है, जो कि अतिदोष से युक्त है। और यह स्वीकार करने में अनुभव या अन्य कोई प्रमाण भी नहीं है।

यह आक्षेप हो सकता है कि संस्कार–व्यक्तियों के अन्त का अभाव न होने पर भी उद्‌बोधक के सहित स्थित एक संस्कार से जो एक स्मृति उत्पन्न होती है, वह ही स्वयं नष्ट होते–होते दूसरे संस्कार को उत्पन्न कर के नष्ट होती है। फिर वह उत्पन्न हुआ संस्कार उसने अग्रिम स्मृति को उत्पन्न करता है। इस प्रकार स्मृति परम्परा का होना युक्तियुक्त होता है ।

परिभाषाकार के मतानुसार नैयायिकों की यह मत उचित प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि स्मृति के होते ही उसके कारणभूत संस्कार का नाश होता है, ऐसी कल्पना करने की अपेक्षा

[33] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 157.

जिस अनुभव से जो संस्कार उत्पन्न हुआ वही संस्कार, उद्‌बोधक निमित्त से युक्त होने पर उससे स्मृति उत्पन्न होती है, परन्तु उस संस्कार से उत्पन्न हुई स्मृति, स्व–उत्पादक संस्कार का नाश नहीं करती, बल्कि उस स्वजनक संस्कार को ही दृढ़ करती है।[34] अतः स्मृति, स्वजनक संस्कार का नाश करती है, यह कल्पना करने की अपेक्षा स्मृति स्वजनक संस्कार को दृढ़ करती है, ऐसी कल्पना करने में ही अतिशय है। जैसे– कल सुने हुए शास्त्रार्थ का आज स्मरण होता है और उस स्मरण से पूर्व संस्कार दृढ़ होता है। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि स्मृति, स्वजनक संस्कार का नाश नहीं करती बल्कि श्रुत–शास्त्रार्थ का स्मरण होने पर यदि उसके कारणभूत संस्कारों का नाश हुआ होता, और उस स्मृति के द्वारा अन्य नवीन ही संस्कार उत्पन्न किया होता तो शास्त्रार्थ में दृढ़त्व कैसे आता?

इसके अतिरिक्त संस्कार से स्मृति की उत्पत्ति, और स्मृति के होने पर उत्पन्न होने वाले संस्कार के द्वारा ही स्मृति का नाश होता है और यदि यह स्वीकार किया जाय तो संस्कार को ही स्मृतिजनकत्व और उसका विनाशकत्व स्वीकार करना होगा।[35] इसी कारण यह भी स्वीकार करना होगा कि स्मृति से उत्पन्न हुए संस्कार में ही स्मृतिजन्यत्व और नाश्यत्व है। इस प्रकार अनेक विरुद्ध पदार्थों की कल्पना करनी पड़ सकती है। 'स्मृति को संस्कारनाशकत्व है' यह पक्ष स्वीकार करने योग्य नहीं है।

यह आक्षेप भी उचित नहीं है कि 'संस्कार ही अनुमिति में हेतु है' यह स्वीकार करने पर उद्‌बुद्ध न हुए संस्कार से अनुमिति हो सकती है'। कारण यह है कि पक्षधर्मताज्ञानजन्य संस्कार का उद्‌बोध होना भी अनुमिति में सहकारी कारण है। आशय यह कि उद्‌बुद्ध संस्कार से ही अनुमिति होती है।

4.3.2 अनुमान का सहकारी कारण पक्षधर्मता ज्ञान–

परिभाषाकार के अनुसार 'एवं च अयं धूमवानिति पक्ष धर्मताज्ञानेन, धूमो वह्निव्याप्य इत्युनुभवाहितसंस्कारोद्‌बोधे च सति, वह्निमानित्युनुमितिर्भवति, न तु मध्ये व्याप्तिस्मरणं तज्जन्य वह्निव्याप्य धूमवानित्यादि विशेषणविशिष्टं ज्ञानं वाहेतुत्वेन कल्पनीयम्, गौरवात् मानाभावाच्च'।[36] अर्थात्– इस प्रकार, 'यह धूमवान् है'– ऐसा पक्षधर्मता ज्ञान होने पर, और 'धूम वह्निव्याप्य है'। इस अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कार का उद्‌बोध होने पर 'बह्निमान्'– ऐसी अनुमिति होती है। परन्तु बीच में व्याप्ति का स्मरण और उससे उत्पन्न वह्निव्याप्यधूमवानन् आदि विशेषणविशिष्ट

[34] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 158.
[35] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 158.
[36] शास्त्री, केशवलाल वि॰(हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 77.

ज्ञान को (लिंगपरामर्श को) अनुमिति के हेतु (करण) के रूप में मानना योग्य नहीं है क्योंकि ऐसा मानने में गौरव हो जाएगा और इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है।

परिभाषाकार के मतानुसार उपर्युक्त प्रकार से व्याप्तिज्ञान में अनुमिति का करणत्व है और व्याप्तिज्ञान का संस्कार, व्यापार है तथा पक्षधर्मता ज्ञानजन्य संस्कारोद्बोध, सहकारी कारण है।[37] यह सिद्ध होने पर 'पर्वत वह्निमान् है' ऐसी अनुमिति होती है। इसीलिए उपर्युक्त अनुमिति की सामग्री और अनुमिति इन दोनों में अतिदोष के तथा प्रमाणाभाव के कारण परामर्श आदि को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। साध्य के विषय में प्रमाणाभाव को पक्षधर्मता कहा जाता है।[38]

4.3.3 पर्वतांश की प्रत्यक्षता–

परिभाषाकार के अनुसार 'तच्च व्याप्तिज्ञानं वह्निविषयक ज्ञानांश एव करणम्, न तु पर्वत विषयक ज्ञानांश इति। पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानस्य वह्न्यंश एवाऽनुमितित्वं न पर्वताद्यंशे, तदंशे प्रत्यक्षत्वस्योपपादितत्वात्'।[39] अर्थात्– यहाँ, 'पर्वतो वह्निमान्' – इस अनुमिति ज्ञान में, वह्नि विषयक ज्ञानांश में ही व्याप्तिज्ञान 'करण' माना जाता है। पर्वत विषयक ज्ञानांश में नहीं। इसलिए 'पर्वतो वह्निमान्' इस ज्ञान में वह्नि–अंश में ही अनुमिति है, पर्वत अंश में नहीं, क्योंकि उस पर्वत अंश में प्रत्यक्षत्व का उपपादन हम पहले ही कर आये हैं।

परिभाषाकार के मतानुसार प्रत्यक्ष परिच्छेद में जिस अनुमितिज्ञान में पक्ष, इन्द्रियसन्निकृष्ट रहता है उस अनुमितिज्ञान में अनुमित वह्नि आदि अंश में ज्ञान को अनुमितित्व प्राप्त होता है और इन्द्रियसन्निकृष्ट पर्वत आदि अंश में प्रत्यक्षत्व होता है। यह उपपादन किया है। जैसे– 'मैं पर्वत को देखता हूँ और पर्वत पर वह्नि का अनुमान करता .हूँ'। यही अनुभव होता है। इसलिये वहाँ अनुमिति और प्रत्यक्ष, दो प्रकार का ज्ञान स्वीकार करना पड़ता है। जातित्व, उपाधित्व आदि नैयायिकों की परिभाषा में कोई प्रमाण नहीं है, परिभाषाकार ने पूर्व में उल्लेख किया है। इसलिए कारण एक ही ज्ञान में अंश भेद से परोक्षत्व तथा अपरोक्षत्व के होने में कोई विरोध नहीं है।

---

[37] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 151.

[38] Datta, D. M., 2017. The Six Ways of Knowing, Motilal Banarsidass Publishers Pvt Ltd, Delhi, pp. 194.

[39] शास्त्री, केशवलाल वि॰(हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 78.

परिभाषाकार के इस उपपादन से 'व्याप्तिज्ञान अनुमिति में कारण है' और यह सिद्ध होने पर भी प्रश्न उपस्थित होता है कि व्याप्ति का स्वरूप क्या है? परिभाषाकार आगे याप्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

4.3.4 व्याप्ति का स्वरूप–

परिभाषाकार के अनुसार 'व्याप्तिश्च अशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्य–सामानाधिकरण्यरूपा। सा च व्यभिचारादर्शने सति सहचारादर्शनेन गृह्यते। तच्च सहचारदर्शनं भूयो दर्शनं सकृद्दर्शनम् वेति विशेषो नादरणीयः, सहचार दर्शनस्यैव प्रयोजकत्वात्'।[40] अर्थात्– अब व्याप्ति का स्वरूप बताते हैं कि सम्पूर्ण साधनों (धूमों) का आश्रय (पर्वत आदि) में आश्रित– रहा हुआ वह्नि आदि साध्य के साथ हेतु का सामान्याधिकरण्य का एक देश में रहना इसे 'व्याप्ति' कहते हैं। ऐसी व्याप्ति का ग्रहण हम व्यभिचार के अदर्शन से या व्यभिचार के अभाव से और सहचार के दर्शन से या सहचार के वहाँ उपस्थित होने से कर सकते हैं। वह सहचारदर्शन वाहे एक बार हुआ हो, अथवा अनेक बार हुआ हो, इसमें कोई खास आग्रह नहीं है। केवल सहचारदर्शन ही व्याप्तिज्ञान का प्रयोजक–नियोजक है।

यह प्रश्न है कि व्याप्तिस्वरूप क्या है? परिभाषाकार के मतानुसार 'अशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्यसामानाधिकरण्यम्' इसका अर्थ इस प्रकार है– अशेष का अर्थ है– समस्त, साधन का अर्थ है– धूम, के आश्रय का अर्थ है– पर्वत आदि, के आश्रित का अर्थ है– अग्न्यादि साध्य, के साथ हेतु (धूम) का सामानाधिकरण्य ही जिसका रूप है, वही व्याप्ति है। इस व्याप्ति का निकृष्ट लक्षण इस प्रकार है– 'साधनतावच्छेदकावच्छिन्नसाधनाश्रयाश्रित साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यरूपा'।[41] परिभाषाकार के अनुसार इस व्याप्ति लक्षण का समन्वय इस प्रकार होगा। जैसे– 'वह्निमान् धूमात्' इस अनुमिति में धूम, साधन है। साधनता, धूमनिष्ठ है। साधनता का अवच्छेदक धूमत्व है। उस घूमत्व से अवच्छिन्न (पर्वत, चत्वर आदि भिन्न–भिन्न स्थान के साधनरूप) धूम व्यक्तियाँ हैं। उनकी आश्रय पर्वत आदि पदार्थ हैं, उन्हीं का आश्रय की हुई, साध्यतावच्छेदक रूप वह्नित्व से अवच्छिन्न वह्नित्वरूप साध्य व्यक्तियों, के साथ धूमव्यक्तियों का पर्वतादि समान अधिकरण पर वृत्तित्व होना ही व्याप्ति का स्वरूप है। आशय यह कि पर्वत आदि पक्ष पर, घूम और अग्नि का होना 'यत्र–यत्र धूमः तत्र–तत्र वह्निः' इस आकार का जो सामानाधिकरण्य है। वही व्याप्ति का स्वरूप है। इत्याकारक

[40] शास्त्री, केशवलाल वि॰(हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 78.
[41] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 161.

व्याप्ति का लक्षण करने से, किसी एक वह्न्यादि साधन के आश्रय महानसादि में रहने वाले किसी एक धूमादि साध्य का सामानाधिकरण्य ग्रहण कर 'पर्वतो धूमवान् वह्निः' यदि किसी ने यह अनुमान किया तो वह्निरूप असद्हेतु में व्याप्तिलक्षण की अतिव्याप्ति होगी। इस प्रकार का आक्षेप करने पर इस आक्षेप का निवारण इस प्रकार होगा कि महानस में अग्नि है, इसलिये महानस उसका आश्रय है। महानस में उसके आश्रय से धूम भी रहता है। अतः महानस की अग्नि को साधन बनाकर और महानस के ही धूम को साध्य बनाकर धूम और अग्नि का समानाधिकरण्य है अर्थात् ये दोनों एक ही अधिकरण महानस में रहते हैं। इसी कारण जहाँ अग्नि वहाँ धूम, यह व्याप्ति स्वीकार कर (1) पर्वत धूमवान् है (2) क्योंकि उस पर अग्नि है, यदि कोई यह अनुमान यदि कोई करे तो इसमें अग्नि रूप हेतु सत् न होकर असत् है, क्योंकि वह्नि–व्याप्य धूम की तरह धूम–व्याप्य वह्नि नहीं है। जैसे– तपाकर लाल किये हुए लोहे के गोले में अग्नि होता है, परन्तु धूम नहीं होता। इसलिए वह्नि सत् हेतु नहीं है, अपितु व्यभिचारी है। यहाँ पर साधनतावच्छेदक (वह्नित्व) से अवच्छिन्न–समस्त वह्नियों के आश्रय महानस, पर्वत, तप्तायोगोलक आदि इनमें से तप्तायोगोलक रूप आश्रय पर साध्यतावच्छेदक (धूमत्व) से अवच्छिन्न हुआ एक भी धूम नहीं है। इसी कारण वह्नि और धूम का पूर्वोक्त सामानाधिकरण्य नहीं सिद्ध किया जा सकता। इसीलिये व्याप्ति का लक्षण वह्निरूप असत् हेतु पर अतिव्याप्त नहीं है।

परिभाषाकार के उपर्युक्त मत पर यह आक्षेप हो सकता है कि ऐसी व्याप्ति का ग्रहण किस प्रमाण से होता है? तर्क से व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता। कारण यह है कि व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप करना रूप जो तर्क है, वह व्याप्ति के अधीन है। पुनश्च सहचारदर्शन से भी व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि दो पदार्थों का साहचर्य एक बार या बार–बार दिखाई देने पर भी उसके साहचर्य का क्वचित् व्यभिचार भी दिखाई देता है। इस आक्षेप का समाधान परिभाषाकार ने 'सा च...' वाक्य से किया है। 'व्यभिचार के अदर्शन के साथ सहचारदर्शन से उस व्याप्ति का ग्रहण किया जाता है'।[42] जैसे– धूम व अग्नि का व्यभिचार दिखाई न देते हुए उनका सहचार दिखाई देने से ही धूम–वह्नि–व्याप्य है, यह ज्ञान प्राप्त होता है और जहाँ धूम हो वहाँ अग्नि अवश्य ही होती है। धूम हो और अग्नि न हो, यह कभी नहीं होता। इस प्रकार से धूम और अग्नि के व्यभिचार का अनुभव न आकर सहचार के अनुभव होने से ही धूम और अग्नि की व्याप्ति का ज्ञान हो जाता है। दो विषयों का नियमेन एकत्र दिखाई देना ही सहचार दर्शन है। चाहे वह अनेक बार देखने से हुआ हो

[42] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 162.

या एक बार के देखने से हुआ हो। इस प्रकार व्याप्ति ग्रहण में केवल व्यभिचारशून्य सहचारदर्शन की आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में जिनका सहचार ज्ञात हुआ हो, उनकी व्याप्ति का ग्रहण होता है और जिनका सहचार ज्ञात नहीं हुआ उनकी व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता। इस अन्वय–व्यतिरेक के द्वारा सहचार दर्शन ही व्याप्तिज्ञान में हेतु है। इसलिये सहचारदर्शन में ही व्याप्ति का प्रयोजकत्व है। भूयोदर्शन या सकृद्दर्शन व्याप्ति में प्रयोजक नहीं है।

इस प्रकार से अनुमिति में व्याप्ति ज्ञान करण होने से उसमें ही अनुमानत्व है। परिभाषाकार ने यह सिद्ध कर अब नैयायिकों की तरह अनुमान का त्रिविधत्व (तीन प्रकार) स्वीकार नहीं किया है।

4.3.5 त्रिविधत्व हेतु का निराकरण–

परिभाषाकार के मतानुसार 'तच्चानुमानमन्वयिरूपमेकमेव, न तु केवलान्वयि। सर्वस्यापि धर्मस्यास्मन्मते ब्रह्मनिष्ठात्यन्ताभाव प्रतियोगित्वेन अत्यन्ताभावाप्रतियोगि साध्यकत्वरूप केवलान्वयित्वस्याऽसिद्धेः' ।[43] अर्थात्–यह अनुमान अन्वयरूप एक ही हेतुवाला है (नैयायिकों की तरह केवलान्वयी केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी– ऐसे तीन प्रकार के हेतुवाला नहीं है) क्योंकि वेदान्तियों के मत में सभी धर्म ब्रह्म में रहने वाले अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी हैं। फिर तो अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी साध्य वाला केवलान्वयी पदार्थ है ही नहीं।

नैयायिक केवलान्वयि, केवलव्यतिरेक और अन्वयव्यतिरेकि भेद से तीन प्रकार का लिंग (हेतु) मानते हैं।[44] किन्तु अद्वैत सिद्धान्त में अन्वयिरूप एक ही लिंग को स्वीकार किया गया है। अन्वयिरूप का अर्थ है– अन्वयमुख व्याप्तिज्ञानरूप। इस पर यह आक्षेप हो सकता है कि नैयायिकों स्वीकृत लिंग के तीन भेद लोक प्रसिद्ध हैं, तब अद्वैत मत में एक ही प्रकार का अनुमान किस तरह स्वीकार किया जा सकता है?

4.3.5.1 केवलान्वयी रूप व्याप्ति का निराकरण–

परिभाषाकार ने नैयायिकों के पहले भेद का निराकरण 'न तु केवलान्वयि..' वाक्य से किया है। नैयायिकों स्वीकृत कैवलान्वयिरूप लिंग परिभाषाकार को स्वीकार नहीं है। परिभाषाकार तो अन्वयिरूप एक ही लिंग स्वीकार करते हैं। क्योंकि नैयायिक स्वीकृत केवलान्वयि लिंग का साध्य, अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी होता है।[45] आशय यह है कि

---

[43] शास्त्री, केशवलाल वि॰(हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 78.

[44] लिंग त्रिविधम्– अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि चेति। (तर्कसंग्रह)

[45] भार्गव, दयानन्द, 2012. तर्क–संग्रह, मोतीलाल, बनारसीदास, दिल्ली, 131.

केवलान्वयि लिंग का साध्य, कभी भी अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी नहीं हुआ करता। दूसरे शब्दों में केवलान्वयि लिग के साध्य का अभाव कभी नहीं रहता। परन्तु अद्वैत मत में ऐसा कोई साध्य पदार्थ सम्भव ही नहीं है, क्योंकि 'नेह नानास्ति किंचन' इस श्रुति से ब्रह्मातिरिक्त समस्त वस्तुओं में ब्रह्मनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व रहता है।[46] अर्थात् ब्रह्म रहने वाला समस्त विषयों का जो अत्यन्ताभाव है, उसकी प्रतियोगिता समस्त वस्तुओं में है। अर्थात् ब्रह्म में कोई भी द्वैत वस्तु नहीं होती है। इस कारण अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यक ऐसे केवलान्वयित्व की सिद्धि सम्भव नहीं हो सकती।

4.3.5.2 केवलव्यतिरेकी रूप व्याप्ति का निराकरण–

परिभाषाकार के अनुसार 'नाप्यनुमानस्य व्यतिरेकि–रूपत्वम्। साध्याभावे साधनाऽभाव निरूपित–व्याप्तिज्ञानस्य साधनेन साध्यानुमितावनुपयोगात्। कथं तर्हि धूमादावन्वय व्याप्तिमविदुषोऽपि व्यतिरेक व्याप्तिज्ञानादनुमितिः? अर्थापत्ति–प्रमाणादिति वक्ष्यामः'।[47] अर्थात्– इसी प्रकार अनुमान में केवल व्यतिरेक्तत्व भी नहीं है। क्योंकि साध्याभाव में रहने वाली साधनाभाव की व्याप्ति का ज्ञान, साधन से साध्य की अनुमिति में अनुपयुकत ही है। यदि यह कहा जाए तब तो धूम में वह्नि की अन्वयव्याप्ति न जानने वाले को व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान से अनुमिति कैसे हो सकेगी? तो यह कहना उचित नहीं। क्योंकि वहाँ पर अर्थापत्ति प्रमाण से काम चल जाएगा, यह अद्वैत मत है।

परिभाषाकार के अनुसार व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान से उत्पन्न होने वाली अनुमिति का कारणत्व ही, व्यतिरेकित्व है। नैयायिकों के मत में व्यतिरेक व्याप्ति का परिष्कृत लक्षण है– 'साध्याभावव्यापकीभूताभाव–प्रतियोगित्वं–व्यतिरेकव्याप्तिः' अर्थात् साध्य का अभाव जहाँ हो वहाँ नियम से रहने वाला जो साधन का अभाव है, उसका प्रतियोगित्व को ही व्यतिरेक व्याप्ति कहा जाता है। जैसे– जहाँ साध्य का अभाव होता है वहाँ साधन का भी अभाव होना चाहिए। इसलिये धूम, साध्याभावव्यापकीभूत अभाव का प्रतियोगी होता है। साध्य का इस प्रकार प्रतियोगी होना (जहाँ वह्नि का अभाव हो वहाँ धूम का भी अभाव रहना) ही व्यतिरेक व्याप्ति है। धूम का सत्त्व (अस्तित्व) यदि हो तो वह्नि का भी सत्व (अस्तित्व) रहता है। इस कारण, व्याप्य (धूम) व्यापक (वह्नि) की कल्पना सम्भव हो सकती है। परन्तु दो अभावों का कार्यकरणभाव और व्याप्यव्यापकभाव इसके विपरीत रहता है। जैसे– जहाँ–जहाँ वह्नि का

[46] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 163.
[47] शास्त्री, केशवलाल वि॰(हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 79.

अभाव रहता है, वहाँ–वहाँ धूम का भी अभाव रहता है। इसी कारण साध्य जो अग्नि, उसके अभाव से, साधन जो धूम; उसका अभाव, सिद्ध किया जाता है। परन्तु यह प्रश्न हो सकता है कि उसका अनुमिति के लिए क्या उपयोग? अर्थात् कोई उपयोग नहीं। यदि इससे अधिक से अधिक लाभ भी हुआ तो साध्य के अभाव से साधन का अभाव सिद्ध होगा, परन्तु साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। कारण यह है कि साधन से साध्य का अनुमान किया जाता है। यह प्रसिद्ध है, और उस अनुमिति में साध्य–साधन का व्यप्तिज्ञान, उपयुक्त है। परन्तु साध्यभाव और साधनभाव के व्याप्ति ज्ञान का अनुमिति में कोई उपयोग नहीं है। जैसे– (1) पृथ्वी, इतर (अन्य) से भिन्न है, (2) गन्धत्व के कारण, (3) जो इतर से भिन्न नहीं रहता, वह गन्धवत् भी नहीं रहता। इस तरह जलादि' इत्यादि केवल व्यतिरेकिलिंग के उदाहरण नैयायिकों ने दिये हैं। परन्तु परिभाषाकार के मतानुसार वास्तव में ये सब उदाहरण, अर्थापत्ति प्रमाण के उदाहरण हैं, क्योंकि गन्धत्व, इतर भेद का उपपादक है, अर्थात् पृथ्वी का गन्धत्व ही 'पृथ्वी इतरों से भिन्न है' यह ज्ञान करा सकता है।[48]

यह आक्षेप हो सकता है कि अन्वय व्याप्ति का ज्ञान न रहने पर भी व्यक्तिरेक व्याप्ति के ज्ञान से भी अनुमिति होती है। जैसे– 'जहाँ धूम रहता है वहाँ अग्नि होता है' इस प्रकार अन्वय व्याप्ति का जिसे ज्ञान नहीं है ऐसे व्यक्ति को भी "जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम भी नहीं है। इस प्रकार व्यतिरेकव्याप्ति ज्ञान से भी अनुमिति हो सकती है। परन्तु अन्वयिरूप एक ही लिंग को मानने वाले अद्वैत मत में वह अनुमिति कैसे उत्पन्न हो सकती है?

परिभाषाकार के अनुसार जिसे अन्वयव्याप्ति का ज्ञान नहीं रहता उसे अर्थापत्ति प्रमाण से अग्नि आदि का ज्ञान होता है, अनुमान से नहीं। इसीलिए नैयायिकों का उपर्युक्त आक्षेप ही उचित नहीं है। अर्थापत्ति प्रमाण की आवश्यकता को परिभाषाकार ने अर्थापत्ति परिच्छेद में स्पष्ट किया है। परिभाषाकार के मतानुसार नैयायिकों के व्यतिरेक अनुमान का अर्थापत्ति प्रमाण में अन्तर्भाव हो सकता है। इसलिये व्यतिरेक–अनुमान को पृथक्तया स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं।

4.3.5.3 अन्वय–व्यतिरेक रूप व्याप्ति का निराकरण–

परिभाषाकार के अनुसार 'अत एवाऽनुमानस्य नान्वयतिरेकि–रूपत्वं व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञानस्यानुमित्यहेतुत्वात्'।[49] अर्थात्– इसलिए अनुमान को अन्वय व्यतिरेक व्याप्तिरूप का भी

[48] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 165.
[49] शास्त्री, केशवलाल वि॰(हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 80.

नहीं कहा जा सकता, क्योंकि व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान की अनुमिति में करण नहीं माना गया है।

परिभाषाकार के मतानुसार जब कि व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान में अनुमिति–जनकत्व नहीं है तो नैयायिकों द्वारा स्वीकार की हुई अन्वय–व्यतिरेक उभयरूपता, अनुमान से सम्भव नहीं हो सकती।[50] क्योंकि अन्यवरूप और व्यतिरेकरूप दोनों में से एक अन्वय व्याप्ति ज्ञान से ही यदि अनुमिति हो सकती है तो व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान को अनुमिति के प्रति हेतु स्वीकार करना व्यर्थ है। 'व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान को अनुमिति के प्रति हेतुत्व नहीं है'। परिभाषाकार ने यह मत केवल व्यतिरेकि व्याप्ति का निराकरण करते समय उल्लेख कर चुके हैं। जिस आधार पर केवलान्वयी अनुमान को बहिष्कृत किया गया तथा जिस तर्क के आधार पर केवल व्यतिरेकी का, इनके सम्मिलित तर्क के आधार पर अन्वय–व्यतिरेक व्याप्ति का निराकरण किया जाता।[51]

4.3.6 अनुमान के भेद एवं अवयव–

परिभाषाकार के अनुसार 'तच्चानुमानं स्वार्थ–परार्थ–भेदेन द्विविधम्। तत्र स्वार्थं तूक्तमेव, परार्थं तु न्यायसाध्यम्। न्यायो नामावयव– समुदायः। अवयवाश्च त्रय एव प्रसिद्धाः–प्रतिज्ञा हेतूदाहरण–रूपाः, उदारणोपनय निगमन–रूपा वा, न तु पंचावयव रूपाः। अवयव–त्रयेणैव व्याप्ति–पक्षधर्मतयोरूपदर्शन सम्भवेनाऽधिकावयव–द्वयस्य व्यर्थत्वात्'।[52] अर्थात्– यह अनुमान स्वार्थ और परार्थ के भेद से दो प्रकार का है। उनमें स्वार्थानुमान के बारे मे ंतो कहा जा चुका है। परार्थानुमान तो न्याय की तरह साध्य किया जा सकता है। यहाँ न्याय का अर्थ अवयवों का समुदाय है। अवयव प्रसिद्धरूप से तीन ही माने गए हैं। या तो प्रतिज्ञा, हेतु एवं उदाहरण से तीन है और या तो उदाहरण, उपनय एवं निगमन रूप। नैयायिकों के पाँच अवयव अद्वैत मत को मान्य नहीं है। ती नही अवयवों के द्वारा व्याप्ति और पक्षधर्मता का उपदर्शन सम्भव होने से बाकी के दो अवयवों को स्वीकार करना अति ही है।

परिभाषाकार के मतानुसार स्व–विवाद का विषय बने हुए अर्थ के साधक अनुमान को स्वार्थानुमान कहते हैं, आशय यह है कि अपने मन में किसी विशिष्ट स्थान पर विशिष्ट पदार्थ है या नहीं, ऐसा संशय उत्पन्न होने पर जिस बाह्य प्रत्यक्ष लिंग के ज्ञान से वह निवृत्त हो, वही स्वार्थानुमान है।[53] इस स्वार्थानुमान को पहले ही ('व्यभिचार के अदर्शन के साथ सहचार

---

[50] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 165.
[51] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 174.
[52] शास्त्री, केशवलाल वि॰(हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 80.
[53] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 167.

के दर्शन से व्याप्ति का ग्रहण होता है' यह पूर्व उद्धृत है। यह व्याप्तिज्ञान ही स्वार्थानुमान है। जो अनुमान दूसरो की शंका समाधान के लिए किया जाता है या दूसरे व्यक्ति के विवाद का विषय बने हुए पदार्थ के साधक अनुमान को परार्थानुमान कहते हैं।[54] वह परार्थानुमान न्याय से सिद्ध होता है। यहाँ न्याय शब्द का अर्थ अवयव–समुदाय है, अर्थात् अवयव घटित वाक्य–ही 'न्याय' कहा जाता है। न्याय का परिष्कृत लक्षण इस प्रकार है– 'अनुमान प्रयोजक वाक्यार्थ ज्ञान जनक वाक्यत्वं न्यायत्वम् अनुमान प्रयोजक जो वाक्यार्थ ज्ञान, इसे उत्पन्न करने वाले वाक्य को ही न्याय कहते हैं। इस प्रकार के न्याय से उत्पन्न हुए ज्ञान का कार्य व्याप्ति–ज्ञान है और यही परार्थानुमान है। जहाँ न्याय दर्शन में अनुमिति के पाँच अवयव है।[55] परिभाषाकार के अनुसार परार्थानुमान के अवयव तीन अवयव ही प्रसिद्ध हैं। प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण, या उदाहरण, उपनय और निगमन। न्याय के पाँच अवयव अनावश्यक हैं, इनमें से न्याय के प्रथम तीन या अन्तिम तीन अवयव ही पर्याप्त हैं।[56] जैसे–'पर्वत वह्निमान् है' यह प्रतिज्ञारूप अवयव का उदाहरण है। 'क्योंकि उस पर धूम है' यह हेतुरूप अवयव है। 'जो–जो धूमवान् रहता है वह–वह अग्निमान् रहता है, जैसे महानस' यह उदाहरण रूप अवयव है। उसी प्रकार यह पर्वत वह्नियाप्य धूमवान् है' यह उपनय रूप अवयव है। इसलिये 'वह अग्निमान् है' यह निगमन रूप अवयव है। नैयायिक अनुमान के इन पाँचों अवयवों को स्वीकार करते हैं। जबकि परिभाषाकार इस प्रकार पाँच अवयव नहीं स्वीकार करते। बल्कि मीमांसकों के तीन अवयवों को ही स्वीकार करते हैं। क्योंकि यदि तीन अवयव–समुदाय से ही व्याप्ति और पक्षधर्मता (व्याप्ति विशिष्ट हेतु का पक्ष पर रहना) का ज्ञान हो जाता है तो अधिक दो अवयवों को स्वीकार करना व्यर्थ है। इसलिए मीमांसकों के द्वारा स्वीकृत किये गये पूर्वोक्त दो पक्षों में से पहले पक्ष में उपनय और निगमन का कार्य, हेतु और प्रतिज्ञा के द्वारा हो सकता है। और दूसरे पक्ष में हेतु और प्रतिज्ञा का कार्य, उपनय और निगमन से हो सकता है। अतः प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अवयवों को स्वीकार करने पर उपनय और निगमन रूप अधिक अवयवों के मानने की आवश्यकता नहीं है, और उनको स्वीकार करने पर प्रतिज्ञा और हेतुरूप अवयवों की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि सभी अवयवों का कार्य अनुमिति ज्ञान के उपयुक्त ज्ञान को प्राप्त करना ही है।

[54] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 167.
[55] न्यायसूत्र– 1/1/32.
[56] Datta, D. M., 2017. The Six Ways of Knowing, Motilal Banarsidass Publishers Pvt Ltd, Delhi, pp 183.

4.4 मिथ्यात्व निरूपण एवं ब्रह्मज्ञान में सहायक अनुमान प्रमाण–

परिभाषाकार के अनुसार 'एवमनुमाने निरूपिते तस्माद् ब्रह्मभिन्न–निखिल–प्रपंचस्य मिथ्यात्वसिद्धिः। तथा हि– ब्रह्मभिन्नं सर्व मिथ्या, ब्रह्मभिन्नत्वात्, यदेवं तदेवं यथा शुक्तिरूप्यम्। न च दृष्टान्ताऽसिद्धिः, तस्यसाधितत्वात्। न चाप्रयोजकत्वं, शुक्तिरूप्यरज्जुसर्पादीनां मिथ्यात्वे ब्रह्मभिन्नत्वस्यैव लाघवेन प्रयोजकत्वात्'।[57] अर्थात्– इस प्रकार अनुमान प्रमाण का निरूपण किए जाने से, इसके द्वारा ब्रह्म से भिन्न समस्त प्रपंच का मिथ्वात्व सिद्ध हो जाता है। जैसे– ब्रह्म से भिन्न सब कुछ मिथ्या है। क्योंकि वह ब्रह्म से भिन्न है। जो ब्रह्मसे भिन्न होता है, वह वैसा ही हुआ करता है। जैसे– सीप में देखा गया रूपा। इसके लिए अन्यान्य दृष्टान्तों का अभाव नहीं है क्योंकि वह प्रत्यक्ष खण्ड में साधित ही है, और इसकी अप्रयोजकता भी नहीं है, अपितु इसकी सप्रयोजकता ही है। जिस प्रकार सीप में जो रूपा दिखई देता है, उसी प्रकार रज्जु में भी साँप दिखाई देता है ओर उनका मिथ्यात्व सिद्ध होने पर 'ब्रह्मभिन्नत्व की ही लाघव से प्रयोजकता सिद्ध हुई।

परिभाषाकार ने यहाँ तक स्व–पक्ष स्वीकृत अनुमान के स्वरूप को स्पष्ट किया है। इस प्रकार के अनुमान से ही 'ब्रह्मभिन्न सर्व प्रपंच मिथ्या है', यह सिद्ध होता है। मीमांसकों को स्वीकार ऐसे दो पक्षों में से प्रथम पक्ष परिभाषाकार को अधिक सम्मत् है इसलिए प्रतिज्ञादि अवयव त्रयात्मक वाक्य का मूल में उपयोग किया गया है। इस अनुमान में 'ब्रह्मभिन्न सर्व' पक्ष है। परिभाषाकार ने इस उदाहरण में 'सर्व' शब्द का प्रयोग, शुक्तिरूप्यादि उदाहरण में 'सिद्धसाधन दोष' के निराकरण करने के लिए किया गया है और ब्रह्म में बाध–प्रसंग के निराकरण के लिए 'ब्रह्मभिन्न' पद का प्रयोग किया है। रज्जुसर्पादि उदाहरणों में मिथ्यात्वरूप साध्य की सिद्धि होने पर भी 'सिद्धसाधन दोष' नहीं हो सकता। क्योंकि अन्य–अन्य वादियों के मत में भी 'वाक् और मन दोनों अनित्य हैं। इस प्रतिज्ञा में अंशतः 'सिद्धसाधन–दोष' का स्वीकार किया है। यह आक्षेप हो सकता है कि शुक्तिरूप्य के मिथ्यात्व में कोई प्रमाण न होने से शुक्तिरूप्य का दुष्टान्त असिद्ध है। उसके मिथ्यात्व में अनुमान प्रमाण को स्वीकार करे तो अनवस्था दोष का प्रसंग उपस्थित होगा।

परिभाषाकार ने इस आक्षेप का निराकरण प्रथम परिच्छेद में शुक्तिरूप्य के मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया है। इसलिये यह दृष्टान्त 'असिद्ध' नहीं है।[58] यह आक्षेप हो सकता है

[57] शास्त्री, केशवलाल वि॰(हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 81.
[58] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 169.

कि यह अनुमान, अप्रयोजक है अर्थात् सर्व, ब्रह्मभिन्न रहे, परन्तु मिथ्या नहीं। इससे अन्यान्य पदार्थों में सत्यत्व होने पर भी ब्रह्मभिन्नत्व हो सकता है।

परिभाषाकार के मतानुसार यह आक्षेप उचित नहीं है। क्योंकि शुक्तिरजतादि के मिथ्यात्व में कारण, अविद्या' से अतिरिक्त दोषजन्यत्व न होकर लाघव से 'ब्रह्मभिन्नत्व' ही है। ऐसा लाघव–रूप अनुकूल तर्क होने से अनुमान, मिथ्यात्व साधन में अप्रयोजक नहीं है।[59]

यह आक्षेप हो सकता है कि शुक्तिरूप्यादि प्रातिभासिक पदार्थों में जो प्रत्यक्षसिद्ध मिथ्यात्व है, उसका क्या लक्ष्य है? जिस मिथ्यात्व को अद्वैत मत में समस्त प्रपंच में अनुमान से साधन करते हैं। परिभाषाकार इस आक्षेप का भी समाधन करते हैं।

परिभाषाकार के अनुसार 'मिथ्यात्वं च स्वाश्रयत्वेनाऽभिमत यावन्निष्ठात्यन्ताभाव प्रतियोगित्वम्। अभिमतपदं वस्तुतः स्वाश्रयाप्रसिद्ध्या असम्भववारणाय। यावत्पदमर्थान्तर वारणाय।[60] अर्थात्– 'मिथ्यात्व' के पद से यह विवक्षित है कि स्वाश्रयत्वेन माने हुए जितने भी अधिकरण हैं, उन सभी में रहने वाले अत्यंताभाव का प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है। वस्तुतः स्व का आश्रय प्रसिद्ध न होने से असंभवदोष निवारण के लिए लक्षण में 'अभिमत्' यह दिया गया है। उक्त लक्षण में 'यावत्' पद अर्थान्तरवारण के लिए दिया गया है।

परिभाषाकार के अनुसार घटादि किसी कार्य की समवाय से स्थिति, कपालादि अपने कारण–प्रदेश के अतिरिक्त प्रदेश में नहीं हो सकती। आशय यह कि ऐसा कोई नहीं स्वीकार करता कि कपाल, तन्तु आदि कारण, जिस स्थान में होते हैं उससे भिन्न स्थान में घट, पट आदि कार्य हुआ करते हैं, और यह प्रमाण सिद्ध है कि ये कार्य, कपालादि कारणों में भी नहीं रहते।[61] परन्तु इसके विपरीत प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। इसलिये सब कार्य मिथ्या हैं। इस विषय में 'यदसद्भासमान तन्मिथ्या स्वप्नगजादिवत्'। जो वास्तव में न होकर भी भासता हो, वह मिथ्या है। जैसे– स्वप्नगजादि, यह सांप्रदायिकों का मत है। ब्रह्मभिन्न समस्त पदार्थों का मिथ्यात्व सिद्ध करने वाले अनुमान प्रमाण का उपन्यास परिभाषाकार ऊपर कर चुके हैं, परन्तु वह अनुमान प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होता है, क्योंकि सृष्टि में सभी पदार्थ प्रत्यक्ष ज्ञात होते हैं। इसलिये पूर्व उद्धृत अनुमान से उनका मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो सकता' परन्तु परिभाषाकार के मतानुसार यह आक्षेप उचित नहीं है। कारण यह है कि चन्द्रबिम्ब, एक प्रादेशमात्र में प्रत्यक्ष दिखाई देता है। परन्तु शब्द–प्रमाण से वह प्रत्यक्ष–प्रत्यय बाधित हो जाता है। इससे यह

---

[59] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 169.
[60] शास्त्री, केशवलाल वि॰(हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 82.
[61] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 170.

नियम नहीं हो सकता कि जो प्रत्यक्ष दिखाई दे वह सत्य ही है। 'नेह नानास्ति किंचन' इस ब्रह्म में नानात्व (द्वैत) का लेश तक नहीं है। इत्यादि अर्थ के आगम, ब्रह्म आगम, ब्रह्म भिन्न वस्तु का निषेध करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि समस्त द्वैत मिथ्या है। इस प्रकार परिभाषाकार ने यहाँ पर घटादि पदार्थों के मिथ्यात्व की प्रतीत करा दिया है।

परिभाषाकार के अनुसार स्वाश्रयत्व से अभिमत जितना पदार्थ हो उसमें स्थित जो आश्रित का अत्यन्ताभाव है, उसका प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है और भाव रूप से स्वीकार किये हुए घटादि पदार्थों के आश्रय रूप से अभिमत कपालादि उपादान कारणभूत पदार्थ में विद्यमान, वास्तविक रूप से घट का जो अत्यन्ताभाव है, उसका प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है।[62] परिभाषाकार के मतानुसार इसी का प्रकृत विषय से सम्बन्धित दूसरा उदाहरण उपयुक्त लक्षण में 'स्व' शब्द से समस्त 'प्रपंच' की विवक्षा है और उसके आश्रय रूप से 'ब्रह्म' है। इस प्रकार स्वाश्रयत्व से अभिमत ब्रह्म में स्थित समस्त–प्रपंच का अत्यन्ताभाव ही, उसका प्रतियोगित्व समत–प्रपंच में है। आशय यह कि ब्रह्म में प्रपंच का लेश तक नहीं है, यही प्रपंच का मिथ्यात्व है।

यह आक्षेप हो सकता है कि इस मिथ्यात्व के लक्षण में 'अभिमत' पद का प्रयोग क्यों किया हैं? यदि 'स्वाश्रययावन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्' इतना ही मिथ्यात्व का लक्षण किया जाय, यही युक्तियुक्त है।

परिभाषाकार के मतानुसार ऐसा आक्षेप करना उचित नहीं है। पुनश्च सभी स्वाश्रयों में स्वात्यन्ताभाव का असंभव है, उसका निवारण करने के लिये लक्षण में 'अभिमत' पद की आवश्यकता है। अन्यथा 'जितना भी स्वाश्रय' शब्द से शुक्तयादि का भी ग्रहण हो सकता है, और उनमें रहने वाला जो अत्यन्ताभाव शुक्तयादि का ही अत्यन्ताभाव लेना होगा, परन्तु यह तो असम्भव ही है।[63] इसलिये यह लक्षण, असम्भव दोष से ग्रषित होता है, इसका निराकरण करने के लिए ही परिभाषाकार ने लक्षण में 'अभिमत' पद का प्रयोग किया है। वस्तुतः शुक्त्यादि, रजतादि का आश्रय नहीं है, फिर भी 'इदं रजतम्' यह भ्रम होने पर शुक्ति को उसका आश्रय स्वीकार करना पड़ता है। इस प्रकार स्वाश्रयत्व से अभिमत शुक्ति आदि पदार्थों में जो रजतादि का अत्यन्ताभाव उसका प्रतियोगित्व, शुक्तिरूप्यादि में है, इसलिये लक्षण में 'अभिमत' पद का प्रयोग करना युक्तियुक्त ही है।

---

[62] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 171.
[63] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 171.

यह आक्षेप हो सकता है कि यदि 'अभिमत' पद के प्रयोग करने से ही मिथ्यात्व लक्षण का सम्पन्न हो जाता है तो पुनः 'यावत्' पद के प्रयोग की क्या आवश्यकता?

परिभाषाकार इस आक्षेप का भी समाधान करते है। परिभाषाकार के मतानुसार लक्षण में 'अभिमत' पद का प्रयोग करने पर भी जब तक 'यावत्' पद का प्रयोग न किया जाय, तब तक लक्षण निर्दोष नहीं हो सकता। लक्षण में 'यावत् पद के निवेश न करने पर कपि–संयोग के आश्रय रूप से अमित जो वृक्ष है, उस पर मूल प्रदेश में विद्यमान जो कपि–संयोग का अत्यन्ताभाव है, उसका प्रतियोगित्व शाखावच्छेद से विद्यमान कपि–संयोग में है। इस कारण 'सामानाधिकरण्यरूप' अर्थान्तर की सिद्धि हो जाती है।[64] इस अर्थान्तर का निराकरण करने के लिए लक्षण में 'यावत्' पद का प्रयोग किया गया है। जिससे, स्वाश्रयत्व से अभिमत जितना भी शाखादि पदार्थ है उसमें कपि–संयोग का अत्यन्ताभाव नहीं है। इसी कारण अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी, कपि–संयोग नहीं बन सकता। अतः 'अर्थान्तरसिद्धि' रूप दोष नहीं हो सकता है। अद्वैत मत में 'तस्माद्वा एतस्मादात्ममन आकाशः संभूतः' पूर्व उद्धृत सत्य–ज्ञानानन्त–लक्षण ब्रह्माख्य आत्मा में आकाश उत्पन्न हुआ। यह श्रुति होने से तार्किकों के द्वारा नित्य स्वीकार गये आकाशादि में भी जन्यत्व ज्ञात होता है। जन्य होने से आकाशादि भी कार्यरूप ही हैं। कोई भी कार्य, अपने कारण के आश्रित ही रहता है। इस कारण आकाशादि सभी कार्य, ब्रह्मरूप आश्रय में स्थित है। इसलिये पूर्वोक्त लक्षण पर अव्याप्ति दोष भी नहीं हो सकता। यह लक्षण, प्राचीन विद्वानों को भी सम्मत है। इस विषय में आचार्य चित्सुख का मत है–

सर्वेषामेव भावनां स्वाश्रयत्वेन सम्मते।
प्रतियोगित्वमत्यन्ताभावं प्रति मृषात्मता।।[65]

अर्थात् 'सभी पदार्थों के आश्रयरूप से जो अभिमत हो, उसी में उनका अत्यन्ताभाव रहे, तो उस उस अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता को ही मिथ्यात्व कहते हैं'। इस प्रकार परिभाषाकार प्राचीन अद्वैत मत के द्वारा किए गए जगन्मिथ्यात्व–साधक अनुमान का प्रमाण द्वारा सिद्ध कर, नव्य अद्वैत मत का मिथ्यात्व के अनुमान का प्रकार स्पष्ट करते हैं।

परिभाषाकार के अनुसार 'यद्वा–अयं पटः एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव–प्रतियोगी पटत्वात् पटान्तरवदित्याद्यनुमानं मिथ्यात्वे प्रमाणम्'।[66] अर्थात्– अथवा तो 'यह पट एवतत्तन्तुनिष्ठ

[64] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 172.
[65] स्वामी योगीन्द्रानन्द(व्या॰ अनु॰), 1956, तत्त्वप्रदीपिका, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 67.
[66] शास्त्री, केशवलाल वि॰(हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 83

अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी हैं, क्योंकि इसमें पटत्व है, अन्य पट के समान' यह अनुमान मिथ्यात्व में प्रमाण है।

परिभाषाकार के मतानुसार यहाँ (1) यह पट, इस तन्तुनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है। (2) क्योंदि उसमें पटत्व है। (3) अन्य पटों के समान। इस अनुमान में 'अयं पटः' इस शब्द से वह सम्पूर्ण पट विवक्षित है। उसका उसी पट में विद्यमान किसी एक तन्तु में अत्यन्ताभाव है। इसीलिए वह पट एक तन्तु में विद्यमान अपने अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होता है। यहाँ पर एक तन्तु के अवच्छेद से रहने वाला पट का जो अत्यन्ताभाव है, वह 'तादात्म्य' सम्बन्ध से रहता है, यह स्वीकार करना चाहिये, जिसमें पूर्वोक्त अर्थान्तरता नहीं हो सकती।[67] जैसे– एक तन्तु पर संयोग सम्बन्ध से जैसे पट रहता है वैसे ही उस पट का अत्यन्ताभाव भी रहता है। अतः प्रतियोगी और उसके अभाव का 'सामानाधिकरण्य' ही 'अर्थान्तर' है और इस अनुमान से उसी की सिद्धि होती है। मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं हो सकती। परन्तु 'तादात्म्य संबन्ध से वृत्ति' विशेषण देने पर, अर्थान्तर की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि तादात्म्य सम्बन्ध से ही अभाव स्वीकार करना अभीष्ट होने से संयोग सम्बन्ध से अभाव का ग्रहण ही नहीं किया जा सकता।

इसी प्रकार एक और 'व्यधिकरण–धर्मानवच्छिन्न–प्रतियोगिताकत्व' विशेषण, अत्यन्ताभाव में जोड़ देना चाहिए। क्योंकि व्यधिकरण धर्मावच्छिन्न्न अभाव का ग्रहण करने पर अर्थान्तर नहीं होता। फिर भी तन्तु पर तादात्म्य–सम्बन्ध से तथा पटत्व धर्म से पट का अत्यन्ताभाव न रहने पर भी 'घटत्व' धर्म से वह रहता है, क्योंकि 'घटत्वेन पटो नास्ति' इस तन्तु पर घटत्वरूप से पट नहीं है, यह ज्ञात होता है। ऐसे अभाव को ही व्यधिकरण–धर्मावच्छिन्न–प्रतियोगिताक अभाव कहा जाता है। आशय यह है कि 'घटत्वेन पाटो नास्ति' इस अभाव की पट में रहने वाली जो प्रतियोगिता है, वह पट के व्यधिकरण (पट पर न रहने वाले घटत्व) धर्म से, अवच्छिन्न (युक्त) है। ऐसे अभाव को ग्रहण कर मिथ्यात्व–साधक पूर्वोक्त अनुमान से तन्तु पर घटत्वेन पट का अभाव रूप अर्थान्तर की सिद्धि होती है।[68] इस दोष का निराकरण करने के लिए 'व्यधिकरण धर्म से जिसकी प्रतियोगिता अवच्छिन्न नहीं है। इस विशेषण का प्रयोगकर अत्यन्ताभाव का ग्रहण करना चाहिए। जिससे व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न

[67] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 173.
[68] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 173.

अभाव को लेकर अर्थान्तरसिद्धि रूप दोष, उपर्युक्त अनुमान में नहीं हो सकता। क्योंकि अब उस अभाव का ग्रहण ही नहीं होगा।

पुनश्च परिभाषाकार के मतानुसार अब 'पटः' शब्द से जिस किसी भी पट को पक्ष ने बनाकर 'अयं पटः' इस पक्ष को स्पष्ट किया है। क्योंकि जिस किसी पट को पक्ष बनाकर 'एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व' साध्य को प्राप्त किया जाय तो पुनः अर्थान्तर दोष प्राप्त होता है। कारण यह है कि अन्य कोई भी पट, एतत्तन्तुनिष्ठ नहीं हो सकता। इसलिये 'अयं पटः' इतना पक्ष कोटि में रखना पड़ा। इस दोष का निराकरण करने के लिए 'एतत्कालिनत्व' विशेषण पद की भी प्रयोग करना चाहिये। इस पर कदाचित् कोई यह कहें कि 'इस तन्तु में पट का समवाय है'। इस प्रत्यक्ष अनुभव का बाध होगा। परन्तु परिभाषाकार के मतानुसार यह भी उचित नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण, भ्रम और प्रमा दोनों के लिए साधारण होने से 'चन्द्र प्रादेशमात्र है' इस प्रत्यक्ष अनुभव का शास्त्र से जिस प्रकार बाधित होता है, उसी प्रकार समवाय से प्रत्यक्ष का कहीं बाध तो नहीं होता, इस प्रकार के सन्देह मात्र से ही समवाय का प्रत्यक्ष बाधित स्वीकार किया जाता है। इसलिए अद्वैत मत में तन्तु और पट के समवाय के प्रत्यक्ष का बाध रूप दोष नहीं हो सकता। इस सन्दर्भ में आचार्य चित्सुख का मत है–

अंशिनः स्वांशगात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिनः।
अंशित्वादितरांशिव दिगेषैव गुणादिषु।।[69]

अर्थात्– अवयवी पदार्थ में उसके अवयव में विद्यमान, अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता होती है, क्योंकि वह अवयवी है, अन्य अवयवी के समान। इसी प्रकार अन्यान्य अनुमानों में भी स्पष्ट किया जा सकता है। रूप, रूपी पदार्थ में विद्यमान स्व–अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है। कारण यह है कि उस पर गुणत्व है, स्पर्श के समान और क्रिया आदि में भी ऐसी ही अनुमानों की कल्पना को स्वीकार करना चाहिए।

परन्तु नव्य वेदान्तियों के मिथ्यात्वानुमान 'सन् घटः' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होता है। परिभाषाकार यह आक्षेप उपस्थित कर उसका समाधान भी करते हैं।

परिभाषाकार के अनुसार 'न चा घटादेर्मिथ्यात्वे सन् घट इति प्रत्यक्षेण बाधः। अधिष्ठानब्रह्मसत्तायास्तत्र विषयतया घटादेः सत्यत्वासिद्धेः। न च नीरूपस्य ब्रह्मणः कथं

[69] स्वामी योगीन्द्रानन्द(व्या॰ अनु॰), 1956, तत्त्वप्रदीपिका, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 69.

चाक्षुषादिज्ञाना–विषयतेति वाच्यम्। नीरूपस्यापि रूपादेः प्रत्यक्षविषयत्वात्। न चा नीरूपस्य द्रव्यस्य चक्षुराद्ययोग्यत्वमिति नियमः। मन्मते ब्रह्मणो द्रव्यत्वासिद्धे। गुणाश्रयत्वम् समवायिकारणत्वं वा द्रव्यत्वमिति तेऽभिमतम्। न हि निर्गुणस्य ब्रह्मणो गुणाश्रयता। नापि समवायिकारणता, समवायासिद्धेः। अस्तु वा द्रव्यत्वं ब्रह्मणः, तथाऽपि नीरूपस्य कालस्येव चाक्षुषादि–ज्ञान–विषयत्वेऽपि न विरोधः'।[70] अर्थात्– ब्रह्म से भिन्न घटादि पदार्थों का जो मिथ्वात्व आपने अनुमान से सिद्ध किया है, वह अनुमान तो 'सन् घटः' 'यह घट है' इस प्रत्यक्षज्ञान से बाधित होत है। इस प्रकार का आक्षेप होना उचित नहीं है। क्योंकि अधिष्ठान ब्रह्म की ही सत्ता वहाँ पर दिखाई दे रही है। अतः घटादि में सत्यत्व सिद्ध नहीं है। यदि यह स्वीकार किया जाए कि रूपरहित ब्रह्म में चाक्षुषज्ञानविषयता कैसे रह सकती है? तो यह भी उचित नहीं है। क्योंकि रूपरहित ब्रह्म में चाक्षुष ज्ञान विषयता के रहने में कोई विरोध नहीं है। अगर वादी यह स्वीकार करे कि नीरूप द्रव्य में चाक्षुष प्रत्यक्ष योग्यता का नियम नहीं है, तो यह स्वीकार करना उचित नहीं है। क्योंकि अद्वैत मत में ब्रह्म के द्रव्यत्व की ही असिद्धि है। गुणों के आश्रय को अथवा समवायी कारण को कहते हैं। द्रव्य का यह लक्षण नैयायिकों का स्वीकृत लक्षण है। परन्तु अद्वैत मत में ब्रह्म को निर्गुण स्वीकार किया गया है। इसलिए ब्रह्म किसी भी गुण का आश्रय नहीं हो सकता, अतः द्रव्य नहीं हो सकता और ब्रह्म समवायी कारण भी नहीं हो सकता क्योंकि अभी तक अद्वैत मत में समवाय की सिद्धि ही नहीं हुई है, इसलिए भी ब्रह्म द्रव्य नहीं हो सकता। अथवा यह स्वीकार कर लें कि ब्रह्म द्रव्य है, तो भी कालद्रव्य जैसे नीरूप है उसी प्रकार ब्रह्म नीरूप है, और जिस प्रकार नैयायिक कालद्रव्य का चाक्षुष ज्ञान विषयता स्वीकार करते हैं, उसी तरह ब्रह्म की भी चाक्षुषज्ञान विषयता मानने में कोई नहीं है।

परिभाषाकार के अनुसार 'ब्रह्म से भिन्न समस्त प्रपंच मिथ्या' है। परन्तु ब्रह्म से भिन्न घट–पटादि समस्त पदार्थ, 'असत्' न होकर, 'सत्' है। यह प्रत्यक्ष अनुभव है और इस प्रत्यक्ष ज्ञान से अनुमान का बाध हो जाता है। परन्तु परिभाषाकार के मतानुसार यह स्वीकार करना अनुचित है, क्योंकि 'सन् घटः' इत्यादि प्रत्यक्षज्ञान में 'सन्' और 'घट' ये दो विषय हैं। उनमें 'सन्' इस ज्ञान का विषय 'सत् ब्रह्म' है और 'घट' इस ज्ञान का विषय, 'सद्भिन्न असत् घट है।[71] इसलिए 'सन घटः' इस प्रत्यक्षज्ञान का विषय, अधिष्ठान "ब्रह्मसत्ता" होने से, उससे भिन्न की (घटादि असत् पदार्थों) सत्यता सिद्ध नहीं हो सकती है।

---

[70] शास्त्री, केशवलाल वि॰(हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 83.

[71] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 175.

यह आक्षेप हो सकता है कि रूप रहित ब्रह्म का चाक्षुष–प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, तब 'सन् घटः' इस प्रत्यक्ष का विषय 'सत् ब्रह्म" है, कैसे कह सकते हैं?

परिभाषाकार इस आक्षेप का भी निराकरण करते हैं। उनके मतानुसार 'नीरूप पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं होता'। नैयायिकों का यह मत अव्यभिचारी नहीं है। अपितु व्यभिचारी है। क्योंकि रूप से रहित रूपादि का प्रत्यक्ष होता है। अतः यह नियम व्यभिचरित होता है कि नीरूप–पदार्थ का प्रत्यक्ष–ज्ञान नहीं होता। यदि इस पर नैयायिक यह कहें कि 'रूपरहित रूपादि गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता' ऐसा नियम हमारा नहीं, परन्तु यह नियम है कि 'रूपरहित द्रव्य में चाक्षुष प्रत्यक्ष होने की योग्यता नहीं होती'।[72] तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि अद्वैत मत में 'ब्रह्म' की द्रव्य में गणना नहीं है। अतः द्रव्य के विषय में नैयायिकों विशेष नियम होने पर भी अद्वैत मत को कोई हानि नहीं है। यह प्रश्न हो सकता है कि 'ब्रह्म' में द्रव्यत्व नहीं है, यह अद्वैत मतानुयायी कैसे कह सकते हैं ?

परिभाषाकार के अनुसार तार्किकों ने द्रव्य के दो लक्षण किए हैं, उन दोनों लक्षणों की ब्रह्म में सम्भावना न होने से ब्रह्म में द्रव्यत्व नहीं है। नैयायिकों के मत में 'गुणाश्रयत्वं द्रव्यत्म्' गुण के आश्रय को द्रव्य कहा गया है। परन्तु 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्रच' (श्वे.6–11) इस श्रुति में ब्रह्म को स्पष्टतः निर्गुण कहा गया है।[73] इसलिए सत्त्वादि गुणरहित ब्रह्म, रूपादि गुणों का भी आश्रय नहीं हो सकता, क्योंकि वैशेषिकों को सम्मत रूपादि गुण, सत्त्वादि तीन गुणों के ही परिणाम हैं। इसी कारण 'गुणाश्रयत्व' रूप द्रव्यलक्षण, ब्रह्म में घटित नहीं हो सकता है।[74] 'समवाय' पदार्थ का अस्तित्व ही न होने से ब्रह्म में समवायिकरणता भी नहीं है। उसके न होने से 'समवायिकारणत्व रूप द्रव्य–लक्षण भी ब्रह्म में घटित नहीं हो सकता है।

ब्रह्म में यथा कथंचित् द्रव्यत्व स्वीकार कर भी ले फिर भी 'नीरूप–द्रव्य, प्रत्यक्ष के योग्य नहीं हो सकता' यह नियम नहीं किया जा सकता। क्योंकि 'इस काल में यहाँ घट नहीं है' इस ज्ञान के बल पर मीमांसकों ने जैसे इन्द्रियविषयता, काल में स्वीकार की है, उसी प्रकार 'सन् घटः' इस प्रकार की प्रतीति में अन्य किसी कारण के न होने से उस अनन्यथा–सिद्ध प्रतीति के बल पर अद्वैत मत भी ब्रह्म में चाक्षुषत्व स्वीकार करते हैं। इसलिए ब्रह्मव्यतिरिक्त पदार्थ की चाक्षुषत्व में ही 'महत्त्व के साथ उद्भूत–रूपवत्त्व' प्रयोजक होता है। ब्रह्म की चाक्षुषता में नहीं।

---

[72] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 175.
[73] 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्रच' (श्वेताश्वतर .6–11)
[74] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 176.

रूपरहित काल का प्रत्यक्ष स्वीकार करने पर 'आकाश में बलाका' इस ज्ञान के आधार पर आकाश का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष स्वीकार करना होगा' इस आक्षेप के कारण परिभाषाकार पूर्व समाधान के अतिरक्ति एवं पुष्ट दूसरा समाधान प्रस्तुत करते हैं।

परिभाषाकार के अनुसार 'यद्वा–त्रिविधं सत्त्वं– पारमार्थिकं व्यावहारिकं प्रातिभासिकं च। पारमार्थिकं सत्त्वं ब्रह्मणः, व्यावहारिकं सत्त्वमाकाशादेः, प्रातिभासिकं सत्व शुक्ति रजतादेः। तथा च घटः सन्निति प्रत्यक्षस्य व्यावहारिकसत्त्व–विषयत्वेन प्रामाण्यम्। अस्मिन्पक्षे च घटादेब्रह्मणि निषेधो न स्वरूपेण, किन्तु पारमार्थिकत्वेननैवेति न विरोधः। अस्मिन्पक्षे च मिथ्यात्वलक्षणे पारमार्थिकत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता कत्वमप्यन्ताभाव–विशेषणं द्रष्टव्यम्। तस्मादुपपन्नं मिथ्यात्वानुमानमिति'।[75] अर्थात्– अद्वैत मत में तीन प्रकार की सत्ता स्वीकार करते हैं– पारमार्थिक, व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक। इनमें से पारमार्थिक सत्ता ब्रह्म की है, व्यावहारिक सत्ता आकाशादि की है और तीसरी सत्ता प्रातिभासिक सत्ता शुक्तिरजतादि की है। अब जहाँ 'घट विद्यमान है' यह प्रत्यक्ष होता है, वहाँ पर घट की व्यावहारिक सत्ता को विषय करने के कारण प्रत्यक्षतव प्रमाण है। इस पक्ष में ब्रह्म में घटादि का निषेध स्वरूपतः नहीं किया जाता, किन्तु, पारमार्थिकत्वरूप से किया जाता है। अतः कोई विरोध नहीं है। इस दशा में मिथ्यात्व के लक्षण में 'पारमार्थिकत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता' यह स्वीकार करना चाहिए। अर्थात् 'पारमार्थिकत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक' यह विशेषण अत्यन्ताभाव को देना चाहिए। अतः मिथ्यात्व का अनुमान निर्दुष्ट सिद्ध हो गया।

परिभाषाकार के मतानुसार 'पारमार्थिकत्व, व्यावहारिकत्व और प्रातिभासिकत्व' ये सब विषयभेद के कारण एक ही सत्त्व के तीन प्रकार हैं।[76] ब्रह्म का सत्त्व, पारमार्थिक है, आकाशादिकों का सत्त्व व्यावहारिक और रज्जु–सर्पादिकों का सत्त्व, प्रातिभासिक है। प्रातिभासिक सत्ता का व्यावहारिक सत्ता से बाध होता है, और व्यावहारिक सत्ता का पारमार्थिक सत्ता से बाध होता है। ब्रह्म की सत्ता का किसी से भी बाध न होने से वह पारमार्थिक है। जैसे– 'घटः सन्' घट विद्यमान है, इस प्रकार घटसत्त्व का जो प्रत्यक्ष अनुभव होता है उसका व्यावहारिक सत्त्व, विषय है और उस प्रत्यक्ष में प्रामाण्य भी व्यावहारिक सत्त्वविषयत्वेनैव ही है, अर्थात् व्यावहारिक सत्ता में ही उसका प्रामाण्य है। पारमाथिक सत्ता में नहीं ।

[75] शास्त्री, केशवलाल वि॰(हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 84.
[76] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 177.

यदि नैयायिक यह स्वीकार करे कि सत्त्व की त्रिविधता के स्वीकार पक्ष में वृक्ष पर कपि–संयोग और उसका अभाव दोनों का समानाधिकरण्य जिस प्रकार सिद्ध होता है, उसी प्रकार ब्रह्म में घट और उसका अभाव दोनों का समानाधिकरण्य सिद्ध होता है, परन्तु घटादि का उससे मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो सकता।

तो इस पर परिभाषाकार का मत है कि ब्रह्म में घटादि पदार्थों का जो निषेध किया गया है, वह व्यावहारिक रूप से नहीं किया गया है। किन्तु पारमार्थिकत्व रूप से ही किया गया है। और अद्वैत मत का यह नियम है कि 'जो–जो पारमार्थिक से भिन्न रहता है, वह मिथ्या होता है'। घट, पारमार्थिक से भिन्न है, इस कारण घटादि का मिथ्यात्व के साथ कोई विरोध नहीं है।

इस पर यह आक्षेप हो सकता है कि त्रिविध सत्ता पक्ष में 'स्वाश्रयत्वेनाभिमत यावत्' मिथ्यात्व का लक्षण, उचित नहीं होगा। क्योंकि स्वाश्रयत्व से अभिमत यावत् ब्रह्म में व्यावहारिकत्व धर्म से घटादि के अभाव का संभव नहीं होता, इसलिये उनमें अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता नहीं स्वीकार कर सकते।

परिभाषाकार के अनुसार यह आक्षेप उचित नहीं, क्योंकि इस त्रिविध सत्ता पक्ष में मिथ्यात्व लक्षणगत अत्यन्ताभाव में विशेषण पद जोड़ देना चाहिये, आशय यह है कि जिसकी प्रतियोगिता पारमार्थिकत्व से अवच्छिन्न है ऐसा अत्यन्ताभाव करने से लक्षण पर पूर्वोक्त दोष नहीं हो सकता।[77] ब्रह्म में घटादि का अभाव व्यावहारिकत्व रूप से अद्वैत मत को ववक्षित नहीं है। परन्तु पारमार्थिकत्व रूप से (व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व रूप से) उनका अभाव ग्रहण करना चाहिए है। आशय यह है कि व्याधिकरण धर्म से जिसकी प्रतियोगिता अवच्छिन्न है, ऐसे अभाव का ही ग्रहण करना है। ब्रह्म में व्यावहारिकत्व रूप से घटादि के होने पर भी पारमाथिकत्वरूप से उनका ब्रह्म में अत्यन्ताभाव होता ही है। इस कारण 'पारमाथिकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक–स्वात्यन्ताभाव–सामानाधिकरण्यम्' पारमाथिकत्व धर्म से जिसकी प्रतियोगिता अवच्छिन्न है ऐसे 'स्व' के अत्यन्ताभाव का, 'स्व' से सामानाधिकरण्य रहना ही मिथ्यात्व का निष्कृष्ट लक्षण सिद्ध होता है और वह घटादि में उत्पन्न होता है। अतः मिथ्यात्व का अनुमान सर्वथा युक्तियुक्त है।

[77] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 178.

पंचम् अध्याय

अद्वैत–वेदान्त दर्शन में उपमान प्रमाण

5.1 प्रस्तावना

5.2 स्वतंत्र प्रमाण के रूप में उपमान

5.2.1 उपमान प्रमाण एवं प्रत्यक्ष प्रमाण

5.2.2 उपमान प्रमाण एवं अनुमान प्रमाण

5.2.3 उपमान प्रमाण एवं अंशतः प्रत्यक्ष और अंशतः स्मृति

5.2.4 उपमान प्रमाण एवं सादृश्यानुमान

5.3 उपमान प्रमाण का स्वरूप एवं लक्षण

5.4 उपमान प्रमाण का महत्व

पंचम् अध्याय

अद्वैत–वेदान्त दर्शन में उपमान प्रमाण

5.1 प्रस्तावना–

वेदान्त परिभाषाकार श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र ने तृतीय प्रमाण के रूप में 'अथ उपमान–परिच्छेदः' इस अध्याय के अन्तर्गत उपमान प्रमाण के स्वरूप एवं लक्षण की व्याख्या की है। भारतीय दर्शन के चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य, योग, वैशेषिक आदि दार्शनिकों ने उपमान प्रमाण का खण्डन किया और उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव स्व–सम्प्रदाय स्वीकृत प्रमाण के अन्तर्गत करने की चेष्टा की है। जबकि न्याय, मीमांसा और अद्वैत वेदान्त दार्शनिकों ने इन चेष्टाओं का निराकरण कर उपमान प्रमाण की पुष्ट व्याख्या प्रस्तुत की, जिसके कारण ही प्रमाणमीमांसा में 'उपमान' प्रमा एवं प्रमाण के रूप में निर्विवाद रूप से ज्ञान के स्वतन्त्र साधन के रूप में मान्य हुआ।

5.2 स्वतंत्र प्रमाण के रूप में उपमान–

न्याय, मीमांसा तथा वेदान्त के अतिरिक्त अन्य मत के पक्षधरों ने उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव स्व–सम्प्रदाय स्वीकृत प्रमाण के अर्न्तगत करने की चेष्टा की है। उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्थापित करने के लिए नैयायिक, मीमांसक तथा अद्वैत वेदान्तियों ने उन चेष्टाओं के निराकरण किया है। उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण न मानने में अग्रलिखित शंकायें प्रस्तुत की जा सकती हैं। क्या उपमान अनुमान है? क्या उपमान प्रत्यक्ष है? क्या उपमान अंशतः प्रत्यक्ष और अंशतः स्मृति है? क्या उपमान सादृश्यानुमान है? क्या उपमान साक्षात् अनुमान का रूप है? इस अध्याय के अर्न्तगत इन शंकाओं का अद्वैत–वेदान्त सम्मत् समाधान प्रस्तुत किया गया है। इनका विवरण इस प्रकार है–

5.2.1 उपमान प्रमाण एवं प्रत्यक्ष प्रमाण–

सांख्य दार्शनिक 'प्रत्यक्ष प्रमाण' में ही उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव करते हैं।[1] अतः सांख्य मतानुसार अनुसार उपमान प्रमाण स्वतंत्र प्रमाण नहीं है। पुनश्च सांख्य मतानुसार दो वस्तुओं में समानता तात्पर्य है कि उनके मध्य कोई सामान्य लक्षण उपस्थित हो। जैसे– 'गवय' में 'मेरी' 'गौ' के समान कुछ लक्षणों का प्रत्यक्ष प्रमाण ही हमें यह ज्ञान प्रदान करता

[1] अग्रवाल, गीतारानी, 2006. भारतीय एवं पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा, भारतीय विद्या संस्थान, वाराणसी, पृ॰ 84.

है कि ''मेरी गौ गवय के समान है'। इस प्रकार 'मेरी गौ इस गवय के समान है' समानता का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण पर आधरित ज्ञान है। यह न तो अनुमान प्रमाण है और न ज्ञान का अन्य कोई साधन ही है।

प्रत्युत्तर में अद्वैत वेदान्ती इस आरोप का खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'दो वस्तुओं में समान लक्षणों की उपस्थिति का अर्थ यह नहीं है कि वे लक्षण एक ही हैं। 'समानता' और 'एक होने' में भेद है।[1] जैसे– राम और लक्ष्मण में यह समानता है कि दोनों दशरथ पुत्र हैं। दोनों धनुर्धरी है आदि, परन्तु इस आधार पर राम और लक्षमण को एक नहीं कहा जा सकता। जबकि 'राम' और 'दशरथ का ज्येष्ठ पुत्र' दोनों एक ही हैं। जब प्रत्यक्षकर्ता को गवय का प्रत्यक्ष होता है तो यह प्रत्यक्ष गवय में 'गो के समान लक्षणों का प्रत्यक्ष होता है, न कि उन लक्षणों का प्रत्यक्ष जो मेरी गो में है। अतः 'मेरी गो इस गवय के समान है', यह प्रत्यक्ष प्रमाण पर आधरित ज्ञान नहीं है क्योंकि वहाँ हमें अपनी गो का प्रत्यक्ष नहीं हो रहा हैं।

5.2.2 उपमान प्रमाण एवं अनुमान प्रमाण–

वैशेषिक मत के आचार्य प्रशस्तपाद उपमान प्रमाण को एक प्रकार का अनुमान कहते हैं।[2] वैशेषिक मतानुसार उपमान प्रमाण, अनुमान प्रमाण है[3], क्योंकि इसमें न्याय के तीनों अवयव आते हैं। 'मेरी गाय गवय के समान है' यह निर्णय इस प्रत्यक्ष पर आधारित है कि 'यह गवय मेरी गाय के समान है' इसमें अनुमान प्रमाण का रूप इस प्रकार है–

जब कोई भी एक वस्तु दूसरी वस्तु के समान है तो दूसरी वस्तु पहली के समान है।

यह गवय मेरी गौ के समान है।

अतः मेरी गौ इस गवय के समान है।

प्रत्युत्तर में अद्वैत–वेदान्त का यह मत है कि यह ठीक है कि यहाँ 'मेरी गौ इस गवय के समान है' को अनुमान प्रमाण के रूप में दर्शाया गया है, ध्यातव्य हो कि 'अनुमान प्रमाण का आधार व्याप्ति होता है। अनुमान प्रमाण कभी भी बिना व्याप्ति के संभव नहीं हो सकती किन्तु उपमान प्रमाण में व्याप्ति के बिना भी निर्णय प्राप्त कर लिया जाता है'।[4] अनुमान प्रमाण का आधार दो वस्तुओं में परस्पर व्याप्य–व्यापक सम्बन्ध है, जिसका ज्ञान हमें उन दोनों के

[1] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भरतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 279.

[2] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भरतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 273.

[3] अग्रवाल, गीतारानी, 2006. भारतीय एवं पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा, भारतीय विद्या संस्थान, वाराणसी, पृ॰ 84.

[4] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भरतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 278.

समानाधिकरण से होता है। लेकिन गाय और गवय ये दोनो भिन्न प्रदेश में स्थित होने के कारण इनमें समानाधिकरण नहीं है, इसलिए इनके मध्य किसी प्रकार की व्याप्ति की कल्पना करना उचित नहीं है। अतएव सादृश्य–ज्ञान को अद्वैत वेदान्ती एक भिन्न प्रमाण का फल स्वीकार करते हैं, जिसे वे न्याय और मीमांसक के समान ही उपमान प्रमाण कहते हैं। इस प्रकार अद्वैत–वेदान्त मत के अनुसार उपमान प्रमाण, अनुमान प्रमाण नहीं है।

5.2.3 उपमान प्रमाण एवं अंशतः प्रत्यक्ष और अंशतः स्मृति–

उपमान प्रमाण को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्थापित करने के लिए इस प्रश्न 'क्या उपमान प्रमाण अंशतः प्रत्यक्ष और अंशतः स्मृति है? का निराकरण आवश्यक है। इस मत के अनुसार 'मेरी गो इस गवय के समान है' इस निर्णय में 'मेरी गो' उद्देश्य पद है, तथा 'इस गवय के समान है' विधेय पद है। निर्णय का उद्देश्य पद 'मेरी गो' स्मृति से प्राप्त है, जिसकी, स्मृति अभी भी मेरे पास है, वह स्मृति इस गवय को देखकर जागृत हो उठती है। अतः निर्णय का उद्देश्य पद 'मेरी गो' स्मृति से प्राप्त है। वहीं निर्णय का विधेय पद 'इस गवय के समान है' गवय में गो के समान लक्षणों के प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा प्राप्त है। इस प्रकार 'मेरी गो इस गवय के समान है'– इस निर्णय का विश्लेषण करने पर स्पष्ट होता है कि इस निर्णय का आधार अंशतः स्मृति और अंशतः प्रत्यक्ष है। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि 'उपमान स्मृति और प्रत्यक्ष का सम्मिलित रूप है'। उपमान प्रमाण के समर्थक अद्वैत वेदान्त आदि दार्शनिकों ने इस प्रश्न का उत्तर दो प्रकार से देते हैं–

प्रथम– अब यदि 'मेरी गो' का ज्ञान स्मृति से एवं गवय के लक्षणों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से हो रहा है, तब यह प्रश्न उठता है कि, मेरी गौ और इस गवय के लक्षणों के बीच सम्बन्ध कैसे स्थापित होता है? स्मृति और प्रत्यक्ष से तो निर्णय के तंतु असम्बद्ध रूप में प्राप्त हुए परन्तु असम्बद्ध तन्तुओं को निर्णय' की संज्ञा नहीं प्रदान की जा सकती है। पुनश्च 'मेरी गो की स्मृति' और 'गवय के प्रत्यक्ष' मात्र से यह निर्णय भिन्न है कि 'मेरी गो इस गवय के समान है। मेरी गो एवं 'इस गवय' के बीच सम्बन्ध न तो स्मृति से स्थापित किया जा सकता है न ही प्रत्यक्ष प्रमाण से, बल्कि उसका साधन सर्वथा पृथक है और यह पृथक साधन ही 'उपमान प्रमाण ' है।

द्वितीय– अब यदि यह मान लिया जाय कि स्मृति से 'मेरी गो' एवं प्रत्यक्ष से 'गवय के लक्षणों' का ज्ञान हो रहा है और इसी आधार पर यह कहा जाय कि उपमान प्रमाण, प्रमा का स्वतंत्र कारण नहीं हो सकता है। इसके प्रत्युत्तर में वेदान्त मतानुसार अनुमान प्रमाण को

भी स्वतंत्र प्रमाण की संज्ञा नहीं दी जानी चाहिए, क्योंकि अनुमान प्रमाण में भी स्मृति और प्रत्यक्ष दोनों ही उपस्थित रहते हैं। जैसे– 'जहाँ–जहाँ धुआँ है, वहाँ–वहाँ आग है'। पर्वत पर धुआँ है। अतः, पर्वत पर आग है। अनुमान प्रमाण के इस निर्णय में भी दो पद है– 'पर्वत और आग'। इनमें से पर्वत का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है एवं अग्नि का ज्ञान स्मृति से होता है। इस प्रकार अनुमान प्रमाण में भी स्मृति और प्रत्यक्ष उपस्थित होते हैं। अगर स्मृति और प्रत्यक्ष की उपस्थिति के बाद भी अनुमान प्रमाण को स्वतंत्र प्रमाण माना जा सकता है, तो उपमान प्रमाण को क्यों नहीं? इस प्रकार मीमांसक और वेदान्ती उपमान प्रमाण को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित करने में सफल होते हैं।

5.2.4 उपमान प्रमाण एवं सादृश्यानुमान–

अद्वैत वेदान्ती उपमान प्रमाण को सादृश्य ज्ञान कहते है। नैयायिक यद्यपि उपमान प्रमाण को 'संज्ञा–संज्ञि सम्बन्ध का ज्ञान' कहते है। किन्तु चूंकि यह संज्ञा–संज्ञि सम्बन्ध का ज्ञान सादृश्य पर ही आधारित है अतः ऐसा प्रतीत होता है कि उपमान प्रमाण सादृश्यानुमान है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र आगमन के कई भेद बतलाता है, जिनमें एक सादृश्यानुमान भी है। जब दो वस्तुओं में कुछ समानता के ज्ञान के आधार पर किन्हीं अन्य गुणों की समानता का अनुमान किया जाता है, तो उसे सादृश्यानुमान कहते हैं। जैसे– राम और मोहन दोनों एक ही गाँव के निवासी है, एक ही कक्षा और विद्यालय के विद्यार्थी है, आदि, और इस समानता के आधार पर यदि राम को ईमानदारी देखकर यह अनुमान कर लिया जाय कि मोहन भी ईमानदार है तो इसे सादृश्यानुमान कहेंगे। जबकि अद्वैत वेदान्त मतानुसार उपमान प्रमाण इस तरह के सादृश्यानुमान से भिन्न है। नीलिमा सिन्हा अपनी पुस्तक 'भारतीय ज्ञानमीमांसा'[1] में सादृश्यानुमान और उपमान प्रमाण में निम्नलिखित भेद प्रस्तुत करती हैं–

1. सादृश्यानुमान में व्यक्ति कतिपय समानताओं के ज्ञान के आधार पर नई समानता का अनुमान करते हैं, किन्तु उपमान प्रमाण में समानता के आधार पर 'नई वस्तु' का ज्ञान होता है।
2. उपमान प्रमाण 'अतिदेशवाक्य' पर आधृत होता है, जबकि सादृश्यानुमान में अतिदेशवाक्य की कोई आवश्यकता नहीं होती। जबकि सादृश्यानुमान स्वनुभव पर भी आधृत हो सकता है।

[1] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भरतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 279.

3. अद्वैत वेदान्त मतानुसर उपमान प्रमाण 'सादृश्य प्रमा के करण' का ज्ञान है। जैसे– नगर में देखी गई गौ की समानता के आधार पर वन में देखे गए पशु के विषय में यह ज्ञान की 'यह गवय है।' दूसरी ओर सादृश्यानुमान 'सादृश्य प्रमा के करण' का ज्ञान न होकर गुणों की समानता का ज्ञान है, यथा राम और श्याम में यदि 'क' 'ख' 'ग'... आदि गुणों की समानता हो तथा पुनः यदि राम में 'च' गुण है तो अनुमान किया जाता है कि श्याम में भी 'च' गुण होगा।
4. सादृश्यानुमान सदैव सादृश्य पर ही आधरित होता है, किन्तु उपमान प्रमाण साधर्म्य, वैधर्म्य और विचित्र–धर्म तीनों पर आश्रित होता है।
5. सादृश्यानुमान आगमनात्मक अनुमान का एक भेद है जिसे अवैज्ञानिक आगमन के अन्तर्गत रखा जाता है किन्तु उपमान प्रमाण, अनुमान प्रमाण का भेद नहीं है। भारतीय दर्शन के न्याय, मीमांसा एवं अद्वैत वेदान्त सम्प्रदाय ने इसे स्वतंत्र प्रमाण का स्थान दिया जाता है।

5.3 उपमान प्रमाण का स्वरूप एवं लक्षण–

परिभाषाकार ने 'अथोपमानं निरूप्यते' इस वाक्य से उपमान प्रमाण का निरूपण प्रारम्भ किया है। इस वाक्य में 'अथ' शब्द का प्रयोग 'के अनन्तर' के अर्थ में (आनन्तर्यार्थकः 'अथ' शब्दः) हुआ है। अनुमान प्रमाण का निरूपण करने के अनन्तर उपमान प्रमाण का ही निरूपण का विषय होता है।

वेदान्त परिभाषाकार ने उपमान प्रमाण का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'तत्र सादृश्यप्रमाकरणमुपमानम्'। तथाहि नगरेषु दृष्टगोपिण्डस्य पुरुष वपं गतस्य गवयेन्द्रियसन्निकर्षे सति भवति प्रतीतिः– अयं पिण्डो गोसृशः इति। तदनन्तरश्च भवति निश्चयः। 'अनेन सदृशी मदीया गौरिति'।[1] अर्थात्– 'सादृश्य प्रमा के करण' को उपमान कहते हैं। जैसे– कोई व्यक्ति जिसने गवय को देखा हो, वह अरण्य में जाकर जब गवय को देखता है, उस समय व्यक्ति को 'यह गवय गाय जैसी है' ज्ञान होता है। उसके बाद व्यक्ति को 'इस गवय जैसी मेरी गाय है' निश्चयात्मक ज्ञान होता है।

परिभाषाकार ने 'तत्र' शब्द का प्रयोग उपमान का लक्षण कहने के लिए किया है। 'अनुमान' शब्द के समान ही अव्युत्पन्न 'उपमान' लक्ष्य है और 'उपमीयते अनेन तत् उपमानम्'[2]

[1] शास्त्री, केशवलाल वि॰ (हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 86.

[2] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 180.

इस रीति से व्युत्पन्न 'उपमान' शब्द, लक्षण है। तात्पर्य कि 'सादृश्यप्रमाकरणमुपमानम्' में प्रयुक्त उपमान शब्द लक्षण है। सादृश्य प्रमा (उपमिति) के करण (असाधारण–कारण) को उपमान प्रमाण कहते है। जैसे– नगर में गाय को देखा हुआ व्यक्ति वन में जाने पर 'गवय' पशु दिखाई देने पर 'अयं पिण्डो गोसदृश' यह प्राणी गाय जैसा है, इस प्रकार गवय में गाय का सादृश्य ज्ञान होना ही उपमान है। इसके अनन्तर ही यह निश्चय होता है कि 'अनेन सदृशी मदीया गौरिति' 'मेरी गाय इस पशु जैसी ही है'। 'तत्रान्वय–व्यतिरेकाभ्यां गवयनिष्ठ–गोसादृश्यज्ञानं करणम्। गोनिष्ठ–गवयसादृश्य ज्ञानं फलम्'।[1] अर्थात् – दोनों ज्ञानों में से अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर 'गवय में होने वाला गोसादृश्य' करण (उपमान) है, और 'गोनिष्ठ गवय का सादृश्य ज्ञान' फल (उपमिति) है। इस प्रकार होने वाली सादृश्य प्रमा (उपमिति) के करण (असाधारण कारण) को उपमान प्रमाण कहते हैं। जैसे– नगर में गाय को देखा हुआ व्यक्ति अरण्य में जाता है तो उसे गवय पशु दिखाई देने पर ज्ञात होता है कि 'यह पशु गाय जैसा है'। इस प्रकार गवय में गाय का सादृश्य ज्ञान होना ही उपमान प्रमाण है। इसके पश्चात् ही 'मेरी गाय इस पशु जैसी है' इस प्रकार होने वाली सादृश्य प्रमा ही उपमिति है। इसका आशय यह कि 'उपमान रूप सादृश्य ज्ञान' और 'उपमिति रूप सादृश्य प्रमा' के मध्य में अन्य कोई व्यापार विद्यमान नहीं रहता। यहाँ पर परिभाषाकार ने करणं का लक्षण 'असाधारणं कारणं करणम्'[2] ही स्वीकार है। इस सादृश्य ज्ञान को प्रमाण और प्रमा भी कहा गया है। ध्यातव्य हो कि परिभाषाकार दोनो के सादृश्यज्ञान रूप होने पर भेद स्पष्ट करता है।

प्रमाणरूप सादृश्य ज्ञान में 'गवय' को 'गो' की उपमा दी गई है, इस ज्ञान में 'गो' उपमान और 'गवय' उपमेय है। वहीं प्रमारूप सादृश्य ज्ञान में 'गो' को 'गवय' की उपमा दी गई है, इस ज्ञान में 'गवय' उपमान और 'गो' उपमेय है। यही दोनों में भेद है। इनमें प्रथम सादृश्य ज्ञान, द्वितीय सादृश्य ज्ञान का जनक (कारण) है और द्वितीय सादृश्य ज्ञान, उसका फल (कार्य) है। इस प्रकार दोनों में जन्य–जनक भाव है। इस सादृश्य ज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रियादि से नहीं हो सकती है, अतः उपमान, एक स्वतन्त्र प्रमाण सिद्ध होता है।

उपमान प्रमाण के विषय में मीमांसकों का मत वेदान्त मत से समानता रखता है। किन्तु उपमान की रूपरेखा के विषय में न्याय तथा वेदान्त मत में पर्याप्त मतभेद है। नैयायिकों

[1] शास्त्री, केशवलाल वि॰ (हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 86.
[2] भार्गव, दयानन्द, 2012. तर्क–संग्रह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 87.

का अभिमत 'उपमान' प्रमाण को 'संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः'[1] मानते हैं। जैसे– किसी वनवासी व्यक्ति से 'गवय गो सदृश होता है' सुनकर वन गये हुए शहरी व्यक्ति का 'गवय' के साथ इन्द्रिय–सन्निकर्ष होने पर 'यह गो सदृश है' ऐसा गो सादृश्य ज्ञान होता है, इसके बाद वनवासी व्यक्ति के बताए हुए 'गवय, गो सदृश्य होता है' इस वाक्यार्थ का स्मरण होता है। इसके पश्चात् 'असौ गवयपदवाच्य (यह गवय पशु) 'गवय' शब्द का वाच्य अर्थ है, यह ज्ञान होना ही उपमिति है। नैयायिकों के मत में उपमान प्रमाण वस्तुबोधक न होकर शक्तिग्राहक है।[2] 'गवय' पद की एक विशिष्ट पशु में शक्ति है' इस प्रकार ज्ञान कराना ही 'उपमान' का लक्ष्य है।

परिभाषाकार का मत नैयायिकों के मत से भिन्न है, वेदान्त मत में 'उपमान' का यह प्रयोजन नहीं है। वेदान्त मत में 'अनेन सदृशी मदीया गौः' इस गवय जैसी ही मेरी गौ है– यह ज्ञान होना ही, उपमान का फल उपमिति है। अनुभव भी 'इस पशु जैसी मेरी गाय है' ऐसा ही होता है। अतः 'गोसदृशो गवयः' इस अतिदेश वाक्य के स्मृतिरूप व्यापार की कल्पना करने के पश्चात् उससे 'गवय, गवयशब्द का वाच्य है'।[3] इस ज्ञान की कल्पना करना, यह अनुभव के विरूद्ध है।

पुनश्च नैयायिक मतानुसार 'यह व्यक्ति गवयपद का वाच्य है' इस प्रकार उपमिति ज्ञान नही मानते किन्तु 'गवय, गवयपद का वाच्य है' इस प्रकार ज्ञान को उपमान का फल उपमिति मानते हैं।

परन्तु वेदान्त मतानुसार 'जहाँ पर गो, गवय, गज, अज आदि सामने स्थिति हों, वहा पर इनमें से 'गवय पद का वाच्य कौन सा है, इस प्रकार किसी के प्रश्न कर देने पर उसे 'गवय', गवय का वाच्य है उत्तर दिया जाए तो हँसी उडेगी और वहाँ तो 'यह व्यक्ति गवय पद का वाच्य है' यही उत्तर देना चाहिए, और ऐसा मानने पर उपमान को शक्तिग्राहक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक गवय की शक्ति को वह दिखा सकेगा किन्तु अन्य गवय में उस शक्ति का ज्ञान कराने में उसका उपयोग नहीं होगा'।[4] इसलिए अनुभव के अनुरूप ही उपमिति का स्वीकार करना चाहिए।

---

[1] भार्गव, दयानन्द, 2012. तर्क–संग्रह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 149.

[2] न त्वयं गवयपदवाच्य इत्युपमितिः।
गवयान्तरे शक्तिग्रहाभावप्रसंगात्।। (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली कारिका– 70)

[3] भार्गव, दयानन्द, 2012. तर्क–संग्रह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 150.

[4] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 181.

नैयायिकों का आक्षेप है कि यदि वेदान्त मत में उपमान शक्तिग्राहक नहीं है (उपमितिरूप प्रमा से यदि गवयादि पदार्थों की शक्ति वाच्यत्व का ज्ञान नही होता) तो उसका होना ही व्यर्थ है, क्योंकि अनुमान जैसे जगन्मिथ्यात्व को सिद्ध करता है, उस प्रकार उपमान प्रमाण का कोई उपयोग नहीं दिखाई देता है।

अद्वैत वेदान्त मतानुसार नैयायिकों का यह आक्षेप उचित नहीं है, क्योंकि 'अद्वैत ब्रह्मसाक्षात्कार होने तक मुमुक्षु को चित्तशुद्ध्यर्थ वेदोक्त कर्म के अनुष्ठान की आवश्यकता होती है। कर्मानुष्ठान को यागसम्बन्धी 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' प्रकृति भूत दर्श पौर्णमासादि के समान विकृति भूत सौर्ययागादिकों का अनुष्ठान करना चाहिए और इस 'प्रकृति–विकृतिभाव के ज्ञान की अपेक्षा होती है, और वह ज्ञान, सादृश्यमूलक होने से उपमान प्रमाण के अधीन है'।[1] अतः अद्वैत वेदान्त मत में इस ज्ञान को करा देना ही उपमान प्रमाण का महत्व है।

अन्यान्य दार्शनिक आक्षेप करते हैं कि 'अनेन सदृशी मदीया गौः' आदि सादृश्य ज्ञान, प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से भी हो सकता है। इसके लिए 'उपमान' को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानने की क्या आवश्यकता है? परिभाषाकार इस आक्षेप का निराकरण करते हुए लिखते हैं कि 'न चेदं पत्यक्षेण संभवति, गोपिण्डस्य तदेन्द्रियासन्निकर्षात् नाप्युमानेन, गवयनिष्ठ–गोसादृश्यातल्लिंगत्वात्।'[2] अर्थात्– 'यह गवयनिष्ठ सादृश्य ज्ञान, प्रत्यक्ष से भी हो सकता है' यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि उस समय 'गो' व्यक्ति से इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं रहता। 'अनुमान' प्रमाण से सादृश्य का ज्ञान होता है यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि 'गवय' में रहने वाला 'गो' का सादृश्य, 'गो' में रहने वाले 'गवय' के सादृश्य का लिंग (साधक हेतु) नहीं बन सकता।

परिभाषाकार के अनुसार 'नापि 'मदीया गौरेतद् गवय–सदृशी, एतन्निष्ठ–सादृश्य प्रतियोगित्वाद्, यो यद्गत–सादृश्य प्रतियोगी, स तत्सदृश, यथा मैत्रनिष्ठ सादृश्यप्रतियोगी चैत्रो मैत्रसदृशः' इत्यनुमानात् तत्सम्भवः इति वाच्यम्। एवंविधानुमानानवतारेऽप्यनेन सदृशी मदीया गौरिति प्रतीतेरनुभवसिद्धत्वात् उपमिनोमीत्यनुव्यवसायाच्च। तस्मादुपमानं मानान्तरम्।'[3] अर्थात्– इस पर 1. 'मेरी गाय इस गवय जैसी है। 2. क्योंकि उसमें एतद् गवय निष्ठ सादृश्य, का प्रतियोगित्व है। 3. जो जिसमें रहने वाले सादृश्य का प्रतियोगी होता है वह उसके जैसा होता है।' जिसे परिभाषाकार ने एक उदाहरण से स्पष्ट किया है, जैसे– 'चैत्र, मैत्र में रहने

[1] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 182.
[2] शास्त्री, केशवलाल वि॰ (हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 86.
[3] शास्त्री, केशवलाल वि॰ (हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 86.

वाले सादृश्य का प्रतियोगी है, इसलिए वह मैत्र जैसा है' ऐसे अनुमान से 'गवयनिष्ठ सादृश्य का ज्ञान हो सकेगा' यह आक्षेप करना भी निराधार है, क्योंकि ऐसा अनुमान न करने पर भी 'इस गवय जैसी मेरी गाय है' यह ज्ञान होता है यह बात अनुभव सिद्ध है और इस ज्ञान के अनन्तर 'मै इस बात को उपमान प्रमाण से जानता हूँ' यही अनुव्यवसाय होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि 'उपमान एक स्वतन्त्र प्रमाण है'।

सांख्य दार्शनिक 'प्रत्यक्ष प्रमाण' में ही उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव करते हैं।[1] उनके मतानुसार गवय के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होने पर उसमें जो 'गोसादृश्य' का ज्ञान होता है और वह प्रत्यक्षात्मक ही रहता है, उसी प्रकार यह स्वीकार करना चाहिए कि 'गो' का स्मरण होने के बाद 'गो' में जो गवयसादृश्य का ज्ञान होता है, वह भी प्रत्यक्ष रूप ही है, ऐसा मानना चाहिए। कारण यह है कि साख्य मतानुसार गवय में भासित होने वाला सादृश्य, गो में भासित होने वाले सादृश्य से भिन्न नहीं है। जो सादृश्य गवय निष्ठ है वही गो निष्ठ है। अर्थात् दोनों एक समान हैं क्योंकि किसी एक जाति का, अन्य जाति में रहने वाला जो भूयोऽवयवसामान्ययोग(बहुत से अवयवों का साम्य) रूप सम्बन्ध को सादृश्य कहते हैं, और ऐसे सादृश्य का गवय में जिस प्रकार प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है उसी प्रकार गो में भी उसका प्रत्यक्ष होना ही उचित है। इसलिए सादृश्य ज्ञान में उपमान प्रमाण को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, इस प्रकार उपमान का प्रत्यक्ष में ही अर्न्तभाव होता है।

वेदान्त परिभाषाकार के मतानुसार सांख्य दर्शन का यह अभ्युपगम् ठीक नहीं है, क्योंकि सांख्य मत के अनुसार यद्यपि 'सादृश्य सर्वत्र एक सा ही है। फिर भी उसके 'धर्मी और प्रतियोगी' सर्वत्र भिन्न–भिन्न होते है, इसलिए तत्तद् विशेष व्यक्ति पर रहने वाला सादृश्य भिन्न होता है, वह उस सादृश्य का घर्मी होता है, उसी को सादृश्य का अनुयोगी भी कहते हैं और जिसका सादृश्य भासित होता है उसे प्रतियोगी कहते है।[2] 'गो सदृशो गवयः' इस ज्ञान में गवय में, गो का सादृश्य भासित होता है इसलिए इस सादृश्य का 'गवय' धर्मी या अनुयोगी और 'गो' प्रतियोगी है, यह स्वीकार करना चाहिए। परन्तु यह धर्मि–प्रतियोगिभाव 'गवय–सदृशी गौः' गवय जैसी मेरी गाय है, इस ज्ञान में नहीं रहता। यहॉ पर 'गो' धर्मी और गवय प्रतियोगी होता है । इसलिए गोगत और गवयगत सादृश्य को एकरूप (समान) ही मान लेने पर जिस व्यक्ति को 'गोसदृशो गवयः' इस गवयनिष्ठ गोसादृश्य का ज्ञान होता है उस व्यक्ति को 'गोगतगवयसादृश्यं पश्यामि' 'मै गोनिष्ठ गवयसादृश्य को देखता हूँ' ऐसा

[1] अग्रवाल, गीतारानी, 2006. भारतीय एवं पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा, भारतीय विद्या संस्थान, वाराणसी, पृ॰ 84.

[2] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 184.

अनुव्यवसाय होना चाहिए, परन्तु ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होता। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति में 'सादृश्यं' पृथक्–पृथक् ही रहता है, यह अवश्य ही स्वीकार करना होगा। इसलिए गवय–प्रत्यक्ष होने के कारण उसके साथ चक्षु का सन्निकर्ष होता है अतः 'तद्गत–सादृश्य' प्रत्यक्ष भासित होता है। परन्तु गोव्यक्ति, वहाँ पर उस समय समीप नहीं होने से उसके साथ इन्द्रिय–सन्निकर्ष नहीं रहता। इसलिए गोनिष्ठ–सादृश्य, प्रत्यक्ष का विषय हो नहीं सकता। तस्मात् 'सादृश्य का प्रत्यक्ष प्रमाण में अन्तर्भाव होता है, यह सांख्य मत, युक्ति तथा अनुभव दोनों के विरूद्ध होने से सर्वथा त्याज्य योग्य है।

वैशेषिक मत के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण में उपमान प्रमाण का अर्न्तभाव न होने पर भी अनुमान में उसका अन्तर्भाव हो सकेगा।[1] वेदान्त परिभाषाकार ने इस मत का भी निराकरण किया है। उपमान प्रमाण का 'अनुमान प्रमाण' में भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योकि 'गो' के साथ गवय के सादृश्य का ज्ञान, अनुमान प्रमाण से होना सम्भव नहीं। 'अनुमान प्रमाण से गवय सादृश्य का ज्ञान होता है' यह स्वीकार करने वाले वैशेषिकों को यहाँ इस प्रकार अनुमान करना चाहिए–

1. मेरी गौ, इस गवय से निरूपित (गवयप्रतियोगिक) सादृश्य से युक्त है।
2. क्योंकि वह गो निरूपित (गोप्रतियोगिक अर्थात् 'गो' जिसका प्रतियोगी है अर्थात् 'गवय' जिसका अनुयोगी है) सादृश्य से युक्त है।
3. अतः इस गवय के समान।

परन्तु ऐसा अनुमान होना सम्भव नहीं। क्योंकि उस पर 'स्वरूपासिद्धि दोष'[2] आता है। 'हेतु का पक्ष पर न होना' स्वरूपासिद्धि दोष कहलाता है। यहाँ पर हेतु है– 'गोप्रतियोगिक सादृश्य'। वह हेतु 'गो' रूप पक्ष पर नहीं रहता। गो में गवय निरूपित सादृश्य रहेगा, परन्तु गोनिरूपित सादृश्य कैसे रह सकता है? सादृश्य भेद घटित होने से, दो पदार्थों में भेद के बिना उनमें सादृश्य है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, और जो हेतु अपने पक्ष पर नहीं रहता, वह साध्य की सिद्धि कैसे कर सकता है? इसलिए अनुमान में उपमान का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। इस पर वैशैषिक कहते हैं कि– यदि अद्वैतमतानुयायी भी अनुमान करे तो उनके पक्ष में भी स्वरूपासिद्धि दोष आयेगा, परन्तु अद्वैत मत में उस प्रकार अनुमान नहीं किया जाता है। अद्वैत मत में अनुमान–प्रयोग इस प्रकार करते हैं–

---

[1] अग्रवाल, गीतारानी, 2006. भारतीय एवं पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा, भारतीय विद्या संस्थान, वाराणसी, पृ॰ 84

[2] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 185.

1. मेरी गाय इस गवय जैसी है।
2. क्योंकि उसमें एतद् गवयनिष्ठ सादृश्य का प्रतियोगी है (यह गवय जिस सादृश्य का अनुयोगी है और यह गो जिस सादृश्य की प्रतियोगी है, अर्थात् गवय का साद्श्य गो पर रहता है)।
3. जो पदार्थ, जिस पदार्थगत् सादृश्य का प्रतियोगी होता है वह पदार्थ उस पदार्थ के सदृश रहता है।

जैसे– चैत्र, मैत्र में रहने वाले अपने सादृश्य का प्रतियोगी (आधेय) है, इसलिए वह मैत्र सदृश है। अर्थात् मैत्र व्यक्ति यदि चैत्र व्यक्ति जैसा है तो चैत्र भी मैत्र जैसा अवश्य ही होगा। ऐसा अनुमान करने पर कोई दोष नहीं आने पाता। इसलिए अनुमान प्रमाण से ही उपमान प्रमाण चरितार्थ हो जाता है।

परन्तु वेदान्त परिभाषाकार के मत में यह आक्षेप उचित नहीं है, क्योंकि यह कोई नियम नहीं है कि इस अनुमान प्रमाण पर किसी प्रकार का दोष न आने पर भी प्रत्येक सादृश्य प्रमा के समय ऐसा अनुमान किया ही जाए। बिना अनुमान के भी 'अनेन सदृशी मदीया गौः' ऐसी अबाधित प्रतीति हो सकती है। इसलिए जहाँ पर साध्य (अग्नि आदि) प्रत्यक्ष है, वहाँ पर भी आप 'पर्वतों वह्निमान् धूमात्' अनुमान करते हैं, परन्तु उतने से ही प्रत्यक्ष प्रमाण की व्यर्थता सिद्ध नहीं होती(अनुमान से प्रत्यक्ष अगतार्थ है), उसी प्रकार अनुमान से यद्यपि उक्त सादृश्य ज्ञान सिद्ध होने पर भी उपमिति प्रमा का पृथक अनुभव होने से उपमान प्रमाण, अनुमान प्रमाण से चरितार्थ नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त इस सादृश्य ज्ञान के अनन्तर 'अहम् अनुमिनोमि' 'मै गवय सादृश्य का अनुमान करता हूँ' यह अनुव्यवसाय नहीं होता, किन्तु 'अहम् उपमिनोमि' 'मै उपमान से जानता हूँ' यह अनुव्यवसाय होता है।[1] इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि 'गोनिष्ठ सादृश्य ज्ञान' अनुमित्यात्मक न होकर उपमित्यात्मक है। अतः 'उपमान' यह स्वतन्त्र पृथक प्रमाण है, यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

नैयायिकों ने उपमान प्रमाण विषयक अद्वैत वेदान्त मत की आलोचना करते है कि जब 'अद्वैत–वेदान्त मत में प्रमा द्वारा अनधिगत एवं नवीन विषय का बोध होता है'। तब अद्वैत–वेदान्त प्रदत्त उपनाम की व्याख्या को प्रमा की इस कसौटी पर रखे तो उपमान स्वतंत्र प्रमा अथवा प्रमाण सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि 'मेरी गौ इस गवय के समान है' यह बोध गौ के विषय में कोई भी भी नवीन ज्ञान प्रदान नहीं करता। कारण यह कि कोई भी व्यक्ति

[1] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 186.

अपनी गौ के विषय में तो पहले से ही जान रहा होता है। अद्वैत वेदान्त मत के अनुसार न्याय मत की यह आपत्ति भी उचित नहीं है क्योंकि अद्वैत वेदान्त कहीं भी उपमान का विषय 'गो' अथवा 'गवय' को नहीं मानता। 'अद्वैत वेदान्त मत के अनुसार यहाँ ज्ञान का विषय 'गो और गवय साम्य' है न कि 'गवय' अथवा 'गो'। चूँकि गवय को देखे जाने के पूर्व इस गौ और गवय के बीच इस 'गवय और गौ के साम्य का बोध' ज्ञाता को नहीं था'।[1] अतः यहाँ भी उपमान से अनधिगत एवं नवीन विषय का ज्ञान प्राप्त हो रहा है। इस प्रकार सिद्ध है कि 'उपमान प्रमाण ज्ञान का एक स्वतन्त्र साधन है'।

5.4 उपमान प्रमाण का महत्व–

श्रीकृष्ण शास्त्री ने यह प्रश्न उठाया है कि उपमान का क्या महत्व है? श्रीकृष्ण शास्त्री के अनुसार उपमान के द्वारा ही वेदान्ती यह ज्ञान प्राप्त करते है कि पारमार्थिक सत्ता प्रातिभासिक सत्ता के समान नहीं है। उपनिषदों में भी दृश्य जगत के आधार पर अदृश्य के बारे में जो कथन मिलता है वे उपमान के ही उदाहरण हैं।[2] ब्रह्म की व्यापकता में आकाश की तथा स्वप्रकाशता में सूर्य की उपमा देकर उपमान की उपादेयता को स्वीकार किया गया है।[3] उपमान की इसी उपयोगिता को ध्यान में रखकर वेदान्त में इसे एक प्रमाण माना गया है।

[1] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 275.

[2] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 284.

[3] उपाध्याय, बलदेव (प्र.सम्पा.), 1996. संस्कृत–वाङ्मय का बृहद इतिहास (दशम–खण्ड), उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, पृ॰ 179.

षष्ठम् अध्याय

अद्वैत–वेदान्त दर्शन में शब्द प्रमाण का स्वरूप

6.1 प्रस्तावना

6.2 स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में शब्द प्रमाण

6.2.1 प्रत्यक्ष प्रमाण एवं शब्द प्रमाण

6.2.2 अनुमान प्रमाण एवं शब्द प्रमाण

6.3 शब्द प्रमाण का स्वरूप एवं लक्षण

6.3.1 आकांक्षा

6.3.2 योग्यता

6.3.3 आसत्ति

6.3.4 तात्पर्य

6.4 पदजन्य पदार्थ, शक्ति एवं लक्षणादि

6.4.1 शक्ति

6.4.2 शक्य पदार्थ

6.4.3 लक्ष्य पदार्थ

6.4.3.1 केवल लक्षणा

6.4.3.2 लक्षित लक्षणा

6.4.3.2.1 जहल्लक्षणा

6.4.3.2.2 अजहल्लक्षणा

6.4.3.2.3 जहद्जहल्लक्षा

6.4.5 वेद प्रामाण्य की स्थापना एवं पौरुषेय का विचार

षष्ठम् अध्याय

अद्वैत–वेदान्त दर्शन में शब्द प्रमाण का स्वरूप

6.1 प्रस्तावना–

वेदान्त परिभाषाकार श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र ने चतुर्थ प्रमाण के रूप में 'अथ आगमपरिच्छेदः' इस अध्याय के अर्न्तगत शब्द प्रमाण की व्याख्या की है। जैन, सांख्य–योग, न्याय, मीमांसा और अद्वैत–वेदान्त दर्शन में शब्द प्रमाण को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। बौद्ध दार्शनिकों ने स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में शब्द प्रमाण का प्रबल खण्डन किया तथा शब्द प्रमाण का अर्न्तभाव अनुमान प्रमाण में करने की चेष्टा की।

चार्वाक, बौद्ध एवं वैशेषिक आदि दार्शनिकों ने शब्द प्रमाण का खण्डन किया और शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव स्व–सम्प्रदाय स्वीकृत प्रमाण के अन्तर्गत करने की चेष्टा की है। शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव चार्वाक दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष में तथा बौद्ध और वैशेषिकों ने अनुमान प्रमाण किया है।[1] न्याय, मीमांसा एवं अद्वैत मत के समर्थकों ने शब्द प्रमाण की विवेचना एवं सर्वाधिक पुष्ट व्याख्या प्रस्तुत की, जिसके कारण ही भारतीय प्रमाणमीमांसा में चार्वाक, बौद्ध एवं वैशेषिक के अतिरिक्त सर्वत्र शब्द प्रमाण निर्विवाद रूप से स्वीकृत है। इन दार्शनिकों ने शब्द का व्यापक अर्थ ग्रहण किया है। 'शब्द प्रमाण' के रूप में शब्द का अर्थ 'वाक्यार्थ' है, इस रूप में व्याकरण दर्शन में भी शब्द ज्ञान का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। पुनः प्रत्येक वाक्य तथा उसके निहित अर्थ को प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, इसलिए प्रत्येक वाक्य को 'शब्द प्रमाण' नहीं माना जा सकता। बल्कि विशेष प्रकार के वाक्य से उत्पन्न ज्ञान को ही 'शब्द प्रमाण' कहा जा सकता है। जिसका विवेचन इसी अध्याय में आगे किया जाएगा।

6.2 स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में शब्द प्रमाण–

भारतीय दर्शन के समस्त सम्प्रदायों में चार्वाक, बौद्ध एवं वैशेषिक के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों में 'शब्द प्रमाण' को ज्ञान के स्वतंत्र साधन के रूप में स्वीकार किया गया है।[2] शब्द प्रमाण को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार अथवा अस्वीकार करने वालों सम्प्रदायों के अपने पृथक–पृथक तर्क है। शब्द प्रमाण को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्थापित करने के लिए, शब्द

[1] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 200.

[2] Datta, D. M., 2017. The Six Ways of Knowing, Motilal Banarsidass Publishers Pvt Ltd, Delhi, pp. 209.

प्रमाण का अर्न्तभाव अन्य प्रमाणों में करने वाली चेष्टाओं का निराकरण आवश्यक है। उन चेष्टाओं के निराकरण की प्रवृत्तियों की विवेचना निम्नवत् है–

6.2.1 प्रत्यक्ष प्रमाण एवं शब्द प्रमाण–

चार्वाक दार्शनिक अपने प्रत्यक्षवादी सिद्धान्त के आधार पर शब्द प्रमाण को अस्वीकार कर शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष प्रमाण करने की चेष्टा की है। यदि 'चार्वाक दर्शन 'आप्त वाक्य' का अर्थ 'विषय विशेषज्ञ का वाक्य' हो तो एक सीमित अर्थ में शब्द को प्रमाण की स्वाकृति प्रदान की जा सकती है, परन्तु ऐसी अवस्था में भी शब्द ज्ञान के स्वतन्त्र साधन नहीं सिद्ध होते, अपितु विषय विशेषज्ञों के प्रत्यक्ष पर आश्रित होने के कारण या तो प्रत्यक्ष सिद्ध होते हैं या अनुमान'।[3]

चार्वाकों का यह मत उचित नहीं है। शब्द प्रमाण के दो व्यक्तियों का होना आवष्यक है– उपदेशक एवं उपदेष्टा। जो उपदेश देता है, वह उपदेशक है। जो उपदेश प्राप्त करता है, वह उपदेष्टा है। यह सत्य है कि 'शब्द प्रमा उपदेशक के लिए प्रत्यक्ष पर आधारित होती है किन्तु उपदेष्टा के लिए प्रत्यक्ष से भिन्न वाक्यार्थ ज्ञान पर आधारित होती है'।[4] अतः शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष प्रमाण में उचित नहीं है।

6.2.2 अनुमान प्रमाण एवं शब्द प्रमाण–

बौद्ध और वैशेषिक दार्शनिक संकुचित अर्थ में शब्द को प्रमाण मानते है। फिर बौद्ध और वैशेषिक दार्शनिक शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में करने की चेष्टा करते हैं। शब्द प्रमाण के जिस किसी विषय के नाम, जाति, गुण आदि का ज्ञान होता है, वह बौद्ध मत अनुमान प्रमाण ही है। वैशेषिकों ने शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण करते हुए कहते हैं कि 'शब्द प्रमा द्वारा अनुमान की ही भाँति परोक्ष विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष के आधार पर प्राप्त होता है, इसलिए शब्द प्रमा प्रकान्तर से अनुमिति ही है। इस सन्दर्भ में वैशेषिकों का कहना है कि शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव समान विधि के कारण किया जाता है। जैसे– अनुमान में व्याप्तिग्रह, लिंग ज्ञान तथा व्याप्ति स्मरण से अनुमिति उत्पन्न होती है उसी प्रकार शब्द प्रमाण संकेतग्रह, वाक्य श्रवण तथा पदार्थ स्मृति से शब्द बोध होता है। इसलिए समान विधि होने के कारण शब्द प्रमाण का अनुमान प्रमाण में अनतर्भाव किया जा सकता है'।[5]

---

[3] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 200.

[4] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 201.

[5] Swami, Satprakashanand, 1941. *Methods of Knowledge*, Allen and Unwin Ltd, London, P. 176.

बौद्ध और वैशेषिक दार्शनिक शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में करने की चेष्टा का कोई आधार नहीं है क्योंकि भारतीय प्रमाणमीमांसा में अनुमान प्रमाण 'व्याप्ति' आधारित ज्ञान है, जबकि शब्द प्रमाण 'आप्त वाक्य' पर आधारित ज्ञान है। 'शब्द प्रमाण की विशेषता इसकी ध्वन्यात्मकता में निहित है। शब्द प्रमाण वाक्यार्थ ज्ञान है। शब्द प्रमाण के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण के लिए वाक्यार्थ का ज्ञान आवश्यक नहीं'।[6] अतः शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में उचित नहीं है।

इस प्रकार भारतीय दर्शन में शब्द के दो प्रकारों का उल्लेख प्राप्त होता है– लौकिक एवं वैदिक। इनमें से लौकिक शब्द अनुभवाश्रित है इसलिए इनका ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से हो सकता है। वहीं वैदिक वाक्यों का अर्थ प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बोधगम्य नहीं है। इसलिए शब्द प्रमाण ज्ञान के स्वतन्त्र साधन के रूप में स्वीकृति है।

6.3 शब्द प्रमाण का स्वरूप एवं लक्षण–

जैन, सांख्य–योग, न्याय, मीमांसा और अद्वैत–वेदान्ती शब्द प्रमाण को ज्ञान के स्वतन्त्र साधन के रूप में मानते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अन्य दार्शनिक सम्प्रदाय अर्थापत्ति को कहीं न कहीं अन्य प्रमाणों में समाविष्ट मान लेते हैं। वहीं नैयायिकों, मीमांसको एवं वेदान्तीयों ने शब्द प्रमाण के स्वरूप का विधिवत् निरूपण करते है। इस अध्याय में मुख्य रूप से अद्वैत वेदान्त सम्मत् अभिमत का ही निरूपण किया जाएगा। परिभाषाकार ने 'अथगमो निरूप्यते' इस वाक्य से शब्द प्रमाण का निरूपण किया है। शब्द प्रमाण को आगम भी कहते हैं।[7]

परिभाषाकार के अनुसार 'यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते तद्वाक्यं प्रमाणम्। वाक्यजन्यज्ञाने च आकाङ्क्षायोग्यताऽऽसत्तयस्तात्पर्यज्ञानं चेतिचत्वारि कारणानि'।[8] अर्थात्– जिस वाक्य के तात्पर्य के विषय से होने वाला संसर्ग, अन्य प्रमाणों से बाधित नहीं होता, वह वाक्य प्रमाण होता। वाक्यजन्य ज्ञान में चार कारण होते है– आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति (सन्निधि) और तात्पर्यबोध।

जिस पदार्थ का संसर्ग, किसी भी अन्य प्रमाण से बाधित नहीं होता और ऐसे वक्ता के तात्पर्यविषयीभूत संसर्ग बोधक वाक्य को ही आगम प्रमाण कहा जाता है।[9] यहाँ पर

---

[6] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 201.

[7] उपाध्याय, बलदेव (प्र.सम्पा. वेदान्तखण्ड), 1996. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, पृ॰ 180.

[8] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 88.

[9] तिवारी, नागेन्द्र,''अद्वैत वेदान्त में शब्द प्रमाण'' में शर्मा, अम्बिकादत्त आदि (सम्पा॰), 2013. वेदान्त दर्शन के आयाम, अखिल भारतीय दर्शन परिषद् सह न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, नई दिल्ली, पृ॰ 285.

पभिाषाकार द्वारा वाक्य के संसर्ग में 'मानन्तराबाधित्व' और 'तात्पर्य–विषयीभूतत्व' ये दो विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं। परिभाषाकार ने इन दोनों विशेषणों की आवश्यकता का क्रमपूर्वक विचार किया है। 'मानन्तराबाधित्व' विशेषण के न देने पर 'वह्निना सिन्चेत्' अर्थात् अग्नि से सिंचन करे, इस वाक्य में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि इस वाक्य का अग्नि–सिंचन रूप अर्थ, वक्ता के तात्पर्य का विषय है और उपर्युक्त विशेषण के प्रयुक्त होने पर अतिव्याप्ति निराकरण हो जाता है।[10] कारण यह है कि अग्निकरणक (अग्निसाध्य) सिंचन, यद्यपि कि वक्ता के तात्पर्य का विषय है वक्ता के तात्पर्य का विषय प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित हो रहा है। क्योंकि सिंचन क्रिया का होना द्रव पदार्थ से ही संभव है। अग्नि जैसे अद्रव पदार्थ से सिंचन क्रिया का होना असंभव है। इसी प्रकार परिभाषाकार के अनुसार 'तात्पर्यविषयीभूतत्व' विशेषण का प्रयोग करने पर 'स प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्' अर्थात् प्रजापति ने अपनी वपा (पेट के अन्दर की नर्म आँत) को उपट (खरोंच) कर निकाला, इत्यादि श्रुतिवाक्य में अव्याप्ति दोष आता है क्योंकि अपनी वपा का स्वयं उच्छेद करना रूप अर्थ का प्रमाणान्तर से बाध होता है, कारण यह है कि वपोत्खेद होने पर किसी व्यक्ति का जीवित रहना ही संभव नहीं है।[11]

उपर्युक्त ऐसे वाक्यों को प्रमाण नहीं कहा जा सकता। अन्यथा वेदों का प्रामाण्य बाधित होगा। उपर्युक्त अव्याप्ति का निराकरण करने के लिए परिभाषाकार ने 'तात्पर्यविषयीभूतत्व' विशेषण प्रयोग किया है। क्योंकि यहाँ पर श्रुति के तात्पर्य का विषय, याग की अवश्य कर्तव्यता ही है। अर्थात् जब ब्रह्मदेव ने इतनी श्रद्धा से याग किया, तब हम संसारी मनुष्यों को तो याग अवश्य ही करना चाहिए है। इस प्रकार का बोध कराना ही उपर्युक्त श्रुति का तात्पर्य है। जो किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं होता। यह वाक्य, श्रुतिवाक्य होने से उपर्युक्त अव्याप्ति का निराकरण हो जाता है।

परिभाषाकार के द्वारा शब्द प्रमाण के लक्षण में 'वाक्यस्य' की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए श्रीगजानन शास्त्री लिखते हैं कि 'शब्द प्रमाण से जिस अर्थ का ज्ञान होता है वही अर्थ, अन्य प्रमाणों से भी सिद्ध होता है। इसलिए यह प्रश्न हो सकता है कि जब शब्द प्रमाण से जिस अर्थ का ज्ञान होता है वही अर्थ, अन्य प्रमाणों से भी सिद्ध होता है तो अन्य प्रमाणों को भी शब्द या आगम मानना चाहिए। परिभाषाकार इसी अतिव्याप्ति का निराकरण करने के लिए लक्षण में 'वाक्यस्य' पद का प्रयोग किया है। अन्यथा 'यह घट है' इस चक्षुरिन्द्रिय ज्ञान

[10] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 190.
[11] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 190.

का विषय 'घट' है और वह बाधित भी नहीं है। ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाण में भी शब्द प्रमाण का लक्षण अतिव्याप्त होता।

यह प्रश्न सहज विचारणीय हो जाता है कि जब अद्वैत मत में घटादि सभी पदार्थ मिथ्या है। तब ऐसी अवस्था में शब्द प्रमाण ज्ञात सभी अर्थ का बाध हो जाता है। ऐसी अवस्था में 'अबाधितार्थकत्व' रूप विशेषण कभी सम्भव ही नहीं हो सकता। अतः परिभाषाकार यह लक्षण असम्भव दोष से ग्रषित है। इसके प्रत्युत्तर में परिभाषाकार का मत है कि अद्वैत मत में परमार्थिक दृष्टि से घटादि पदार्थ बाधित होने पर भी उनका व्यवहारिक प्रामाण्य अबाधित ही होता है। कारण यह कि अद्वैत मत में 'बाधित' शब्द का अर्थ परमार्थकालीन बाध ही विवक्षित है। इस प्रकार से अद्वैत वेदान्त मत में शब्द प्रमाण का लक्षण स्पष्ट होता है। नैयायिकों की तरह परिभाषाकार भी वाक्यजन्य ज्ञान में चार कारण स्वीकार किए हैं– आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति (सन्निधि) और तात्पर्यबोध।[12]

6.3.1 आकांक्षा–

परिभाषाकार का मत है 'तत्र पदार्थानां परस्पर–जिज्ञासा–विषयत्व–योग्यत्वमाकांक्षा। क्रिया–श्रवणे कारकस्य कारक–श्रवणे क्रियायाः करण श्रवणे इतिकर्तव्यतायाश्च जिज्ञासाविषयत्वात्। अजिज्ञासोरपि वाक्यार्थ–बोधाद् योग्त्वमुपात्तम्। तदवच्छेदक च क्रियात्व–कारकत्वादिकमिति नातिव्याप्तिः 'गौरश्व' इत्यादौ। अभेदान्वये च समान–विभक्तक प्रतिपाद्यत्वं तदवच्छेदकमिति तत्वमस्यादिवाक्येषु नाव्याप्तिः'।[13] अर्थात् आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति (सन्निधि) और तात्पर्यबोध, इनमें से पदार्थों की परस्पर जिज्ञासा में विषय होने की योग्यता को अकांक्षा कहते हैं। क्रिया का श्रवण होने पर कारक के ज्ञान की इच्छा उत्पन्न होती है। इसी प्रकार कारक का श्रवण होने पर क्रिया की और करण का श्रवण होते ही इति कर्तव्यता की आकांक्षा होती है। जिज्ञासारहित व्यक्ति को भी वाक्यार्थ का बोध होने से बोध में आकांक्षा का लक्षण अव्याप्त न हो इसलिए परिभाषकार ने लक्षण में 'योग्यत्व' पद का प्रयोग किया है। क्रियात्व, कारकात्व आदि धर्म, उस योग्यता के अवच्छेदक होने से आकांक्षा के लक्षण की गो, अश्व आदि पद समूह में अतिव्याप्ति नहीं होती। इसी प्रकार 'तत्वमसि' इत्यादि अभेदान्वय प्रतिपादक वाक्यों में समान विभिक्तिवालें पदों से प्रतिपाद्यत्व ही अवच्छेदक है। इसलिए वहाँ भी लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती है।

---

[12] सिन्हा, हरेन्द्र प्रसाद, 2016. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 188.

[13] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 89.

'जब दो या दो से अधिक पदों में से किसी एक पद का श्रवण होने पर उसके ज्ञान के लिए समीपस्थ दूसरे पद के ज्ञान की अपेक्षा होती है। उस दूसरे पद को प्रथम की या अन्य पदों की अपेक्षा होती है। ऐसी परस्पर अपेक्षा की योग्यता जिन पदों में रहती है, ऐसे सभी पदों की आपेक्षा को आकांक्षा कहते हैं।[14] जैसे– 'गामानय' गाय को लाओ। उपर्युक्त वाक्य में 'गाम्' और 'आनय' दो पद हैं। इनमें 'आनय' पद से मध्यम पुरूष के एकवचन की क्रिया का 'त्वं' कर्ता भी अर्थतः ही प्राप्त हो जाता है, क्योंकि संस्कृत भाषा में प्रयुक्त क्रिया पद कर्ता एवं वचन का स्पष्ट संकेत करते हैं। इसलिए 'आनय' पद का उच्चारण करते ही, 'क्या लाए और कौन लाए' यह आकांक्षा उत्पन्न होती है। आशय यह कि 'आनय' क्रिया को 'गाम्' और 'त्वं' इन कारकों की अपेक्षा होती है। इसी तरह 'गाम्' इस कर्म कारक को 'आनय' क्रिया की अपेक्षा होती है। इस कारण क्रिया को कारक की, कारक को क्रिया की और करण को इति–कर्तव्यता की परस्पर जिज्ञासा होने की योग्यता का होना ही आकांक्षा है।[15]

यह आक्षेप हो सकता है कि आकांक्षा का 'जिज्ञासाविषयत्व' इतना लक्षण करने पर भी सर्वत्र समन्वय हो सकता है, तो 'जिज्ञासाविषयत्व–योग्यत्व' इतना अधिक लक्षण क्यों किया गया है। परिभाषाकार ने इस आक्षेप का भी निराकरण किया है कि वाक्यार्थ ज्ञान की इच्छा न रखने वाले व्यक्ति को भी वाक्य का श्रवण होते ही उस वाक्य के अर्थ का ज्ञान हो जाता है। जबकि उस समय श्रोता की उन पदार्थों में 'जिज्ञासाविषयत्व' नहीं रहता। 'जिज्ञासाविषयत्व' मात्र आकांक्षा का लक्षण करने पर ऐसे स्थलों में लक्षण की व्याप्ति सम्भव नहीं हो सकती। अतः इस लक्षण की जिज्ञासारहित वाक्यार्थ बोध में अव्याप्ति होती है। इस अव्याप्ति का निराकरण करने के लिए परिभाषकार ने लक्षण में 'योग्यत्व' पद का प्रयोग किया है। इस प्रकार जिज्ञासारहित व्यक्ति को होने वाले वाक्यार्थ बोध में पदार्थों को परस्पर जिज्ञासाविषयत्व न होने पर भी उसकी योग्यता उन वाक्यों में होती है। इसलिए परिभाषकार द्वारा शब्द प्रमाण के लक्षण में 'जिज्ञासाविषयत्व' पद के साथ 'योगत्व' पद का प्रयोग करने से उपर्युक्त अव्याप्ति का निराकरण हो जाता है।

यह प्रश्न हो सकता है कि पदार्थों में यह योग्यता किस धर्म से आती है? या इस योग्यता का अवच्छेदक धर्म कौन सा है? लक्ष्यता के न्यूनानतिरिक्त वृत्तिधर्म को ही अवच्छेदक स्वीकार किया जाता है। अर्थात् जो धर्म अपने लक्ष्य से अन्यत्र कहीं नहीं रहता और वह समस्त लक्ष्य पर रहता है, वही अवच्छेदक बन सकता है। जैसे– दण्ड घट का कारण है।

---

[14] अग्रवाल, गीतारानी, 2006. भारतीय एवं पाश्चात्य ज्ञान मीमांसा, भारतीय विद्या संस्थान, वाराणसी, पृ॰ 81.

[15] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 193.

दण्ड मे घट के प्रति जो कारणता है, वह किस धर्म से है, ऐसी आकांक्षा होने पर, दण्ड में विद्यमान पीतदण्डत्व को उसका अवच्छेदक नहीं स्वीकार किया जा सकता है। कारण यह है कि पार्थिकत्व समस्त दण्डों में रहने पर भी दण्डभिन्न पटादि में भी रहता है, इसलिए यह अतिरिक्त वृत्ति है। इसी प्रकार पीतदण्डत्व, रक्तदण्ड में नहीं रहता। इसलिए पीतदण्डत्व न्यूनवृत्ति है, अतः यह स्वीकार करना चाहिए कि न्यून या अधिक प्रदेश में रहने वाला 'दण्डत्व' धर्म ही योग्यता का अवच्छेदक है। इसी प्रकार अद्वैत मत प्रकृत स्थल में योग्यता का अवच्छेदक किसे कहते हैं? या योग्यता में अन्यून, अनतिरिक्त वृत्ति कौन सा धर्म अद्वैत मत को सम्मत है। 'अर्थवत्पदक्त्व' वाक्य में अर्थयुक्त पदों का होना, यदि अद्वैत मत में इसे अवच्छेदक स्वीकार करें तो उस धर्म से अवच्छिन्न हुई योग्यता से घटित जो आकांक्षा लक्षण है, वह 'गौरश्व' आदि पदसमूह में अतिव्याप्त होगी। इसलिए न्यूनातिरिक्त वृत्तिधर्म को अवच्छेदक नहीं माना जा सकता।

इस सन्दर्भ में परिभाषाकार के मत को स्पष्ट करते हुए श्री गजानन शास्त्री लिखते है कि अद्वैत वेदान्त में अर्थवत्पदवत्त्व को योग्यतावच्छेदक नहीं स्वीकार किया जाता, बल्कि कारक में विद्यमान कारकत्व और क्रिया में विद्यमान क्रियात्व को ही योग्यतावच्छेदक स्वीकार किया जाता है। केवल 'गाय, घोड़ा, पट' आदि पदों में क्रियात्व या कारकत्व का अवच्छेदक नहीं माना जाता है। इसलिए ऐसे निराकांक्ष पदों में अद्वैत स्वीकृत 'जिज्ञासा–विषयत्व–योग्यत्वरूप' आकांक्षा का लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता। इसी प्रकार इतिकर्तव्यताबोधक वाक्यों में 'इतिकर्तव्यतात्व' को ही अवच्छेदक स्वीकार करना चाहिए। परिभाषाकार के मत पर यह आक्षेप हो सकता है कि 'गौरश्वः' आदि पद समूह में अतिव्याप्त न होने के लिए क्रियात्व, कारकत्व आदि को योग्यता का अवच्छेदक स्वीकार करने पर भी 'तत्त्वमसि' आदि अभेदार्थक वाक्यों में क्रियात्व या कारकत्व आदि का अवच्छेदक होना सम्भव नहीं है। अतः इन वाक्यों में अद्वैत सम्मत् वाक्य लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। परिभाषाकार इस आक्षेप का भी समाधान करतें हैं।

परिभाषाकार तत्त्वमस्यादि वाक्यों में क्रियात्व, कारकत्व को अवच्छेदक नहीं स्वीकार करते हैं, परन्तु जिनकी विभक्ति समान है, ऐसे पदों से प्रतिपाद्यत्व को ही ऐसे स्थल पर योगयता का अवच्छेदक स्वीकार करते हैं और 'तत्त्वमसि'[16] इस वाक्य में 'तत्' और 'त्वम्' ये

[16] छांदोग्य उपनिषद् 6/7/8.

पद समान विभक्ति के हैं।[17] अर्थात् दोनों की ही 'प्रथमा' यह एक ही विभक्ति है और इन पदों से जीव और ब्रह्म का अद्वय प्रतिपाद्य है। अतः उपर्युक्त अव्याप्ति सम्भव नहीं है।

पुनश्च समानविभक्तिकपद–प्रतिपाद्यत्व को अवच्छेदक मानने पर 'गौरश्वः' आदि स्थल में लक्षण की पुनः अतिव्याप्ति होती है। क्योंकि 'गौः' औरर 'अश्वः' आदि पद भी एक ही प्रथमा विभक्ति में है।

परिभाषाकार के अनुसार यह आक्षेप उचित नहीं है क्योंकि वहाँ 'गौरश्वः' आदि पद समूह से अभेद प्रतिपाद्य नहीं है। गाय कभी अश्व नहीं हो सकती, और न ही अश्व कभी गाय..। अतः इन पदों को अभेद–प्रतिपादक स्वीकार करना प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होता है। इन पदों का अभेदार्थ स्वीकार करने के लिए योग्यतारूप कारण का अभाव हाने से इन पदों में अभेदान्वय का होना सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए समान विभक्ति के पदों में प्रतिपाद्यत्वरूप अवच्छेदक, जो अभेदान्वय योग्यता स्थल में अवश्य अपेक्षित होता है, उसका 'गौरश्वः' आदि स्थलों में होना सम्भव नहीं है। अतः 'गौरश्वः' आदि स्थलों में उक्त अतिव्याप्ति का आक्षेप करना अनुचित है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अद्वैत वेदान्त मत में भेदान्वयस्थल में क्रियात्व–कारकत्वादि को और अभेदान्वय स्थल में समान विभक्ति के पद प्रतिपाद्यत्व को ही योग्यता का अवच्छेदक धर्म स्वीकार करते हैं।

नैयायिक आकांक्षा का लक्षण इस प्रकार करते हैं– 'पदस्य पदान्तर–व्यतिरेक–प्रयुक्त–अन्वयाननुभावकत्वम्'[18] अर्थात् एक पद को अपेक्षित दूसरे पद के अभाव के कारण एक पद का शाब्दबोध न होना ही आकांक्षा है। जैसे– 'गामानय' यदि कोई व्यक्ति 'गाम्' इतना ही पद का उच्चारण करे, तो उसे अपेक्षित 'आनय' पद के अभाव के कारण 'गाम्' पद से अन्वय का बोध नहीं हो सकता है। कारण यह है कि 'गाम्' के साथ 'आनय' पद का उच्चारण होने पर ही अन्वय–बोध होगा और इसके अभाव में अन्वय–बोध ही नहीं होगा। अतः नैयायिको के मतानुसार 'गामानय' यह वाक्य आकांक्षायुक्त है और इस प्रकार आकांक्षा लक्षण से युक्त वाक्यों में ही से वाक्यार्थ बोध हो सकता है।

परिभाषाकार के अनुसार उपर्युक्त नैयायिक स्वीकृत आकांक्षा का लक्षण एवं वाक्यार्थ निर्णय मीमांसकों को स्वीकार नहीं है। इसलिए नैयायिक स्वीकृत आकांक्षा का लक्षण एवं वाक्यार्थ निर्णय अग्राह्य होने के कारण ही वाक्यार्थ के निर्णय में मीमांसकों की प्रवृत्त हुई है।

---

[17] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 194.
[18] 'पदस्य पदान्तर–व्यतिरेक–प्रयुक्त– अन्वयाननुभावकत्वम्'। (तर्कसंग्रह)

परिभाषाकार को वाक्यार्थ निर्णय के प्रसंग में मीमांसकों का मत ही अधिक ग्राह्य है।[19] इसी दृष्टि से परिभाषाकार लिखते हैं कि–

'एतादृशाकांक्षाऽभिप्रायेणैव बलाबलाधिकरणे 'सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' इत्यत्र वैश्वदेव–यागस्यामिक्षाऽन्वितत्वेन न वाजिनाकांक्षेत्यादिव्यवहारः'।[20] अर्थात्– परिभाषाकार कृत आकांक्षा का लक्षण मीमांसकों को भी स्वीकार होने से मीमांसक भी इसी प्रकार की आकांक्षा को मानकर बलाबलाधिकरण में 'वह आमिक्षा वैश्वदेवी है, और वाजिन वाजिदेवताक है' इस वाक्य का विचार करते समय वहाँ पर वैश्वदेव याग का आमिक्षा के साथ अन्वय होने से वाजिनान्वय की उसे आकांक्षा नहीं रहती। इसलिए वैश्वदेवयाग का वाजिन से अन्वय नहीं होता, ऐसा कहा है।

परिभाषाकार के अनुसार पूर्वमीमांसा के तृतीय अध्याय के तृतीय पाद में 'बलाबलाधिकरण' नामक अधिकरण है। इस अधिकरण को स्पष्ट करते हुए श्रीगजानन शास्त्री का मत है कि 'सन्दिग्ध–वाक्यार्थ का विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और संगति, इन पाँच अवयवों से निर्णय करना' ही इस 'अधिकरण' पारिभाषिक संज्ञा है। इस अधिकरण में श्रुति, लिंग आदि के दौर्बल्य–प्राबल्य का विचार किया गया है। इसीलिए इस अधिकरण को 'बलाबलधिकरण' कहा जाता है। इस अधिकरण का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है– 'श्रुति–लिंग–वाक्य–प्रकरण–स्थान–समाख्याना समवाय पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्'।[21] इस सूत्र में श्रुति–लिंगादि के बलाबल का निर्णय किया गया है। जब कभी एक ही स्थान में श्रुति–लिंग आदि अनेक की प्राप्ति होती है, तब उनमें से प्रबल–दुर्बल श्रुति–लिंगादि में प्रमाण का विचार कर दुर्बल को बाधित करके प्रबल प्रमाण के द्वारा निर्णय करना होता है। जैसे– 'ऐन्द्रया गार्ह्पत्यमुपतिष्ठते' यह श्रुति, ऐन्द्रीऋचा से गार्हपत्य का उपस्थान करे', यह स्पष्ट करती हैं और 'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्रसश्रवासि दाशुषे' इस वचन में 'इन्द्र' यह लिंग से उस मंत्र का इन्द्रोपस्थान किया जाए? या श्रुति से लिंग का बाध कर गार्हपत्योपस्थान किया जाए? यहाँ पर इस प्रकार का संशय उपस्थित होता है।

इस स्थल पर श्रीगजानन शास्त्री ने पूर्वपक्ष को इस प्रकार व्यक्त किया है कि श्रुति, गार्हपत्य का उपस्थान करने का निर्देश करती है और 'इन्द्र' रूप लिंग इन्द्रोपस्थान करने का निर्देश करता है, तब 'व्रीहिभिर्यजेत' 'यवैर्जुहोति' इस स्थल पर जैसे व्रीहि से अथवा यव से

---

[19] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 195.
[20] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 91.
[21] जैमनी सूत्र– 3/3/14.

याग करें। ऐसे विकल्प को स्वीकार किया गया है, वैसे ही इस स्थल पर भी अपनी इच्छा के अनुसार इन्द्र या गार्हपत्य का उपस्थान करे, अर्थात् इनको उपस्थान विकल्प या समुच्चय समझा जाए।

इस प्रकार का पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर उपर्युक्त जैमनी सूत्र से सिद्धान्त निर्देश किया गया है। जो इस प्रकार है– 'श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या इनकी एकत्र प्राप्ति होने पर आगे–आगे के लिंगादि पाँचों की अपेक्षा श्रुति प्रबल है। वाक्यादि की अपेक्षा लिंग प्रबल, और सबकी अपेक्षा समाख्या दुर्बल है। इस प्रकार गार्हपत्योपस्थान रूप श्रुत्यर्थ सन्निकृष्ट है और इन्द्रोपस्थान रूप लिंगगम्य अर्थ विप्रकृष्ट है। गार्हपत्योपस्थान रूप अर्थ साक्षात् श्रुति के द्वारा सिद्ध होने के कारण प्रथमतः बुद्धि में शीघ्र उपस्थित होता है परन्तु 'इन्द' रूप लिंग का अर्थ शीघ्र उपस्थित नहीं होता है। कारण यह है कि लिंग से इतना ही प्रतीत होता है कि इन्द्र का और इस मंत्र का सम्बन्ध है। इस प्रकार 'ऐन्द्रया इन्द्रमुपतिष्ठते' ऐसी श्रुति की कल्पना करने के पूर्व ही उक्त श्रुति 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' स्व–अर्थ का विधान कर देती है। यहीं न्याय लिंगादि अन्य प्रमाणों के द्वारा वाक्यादि का बाध स्वीकार करना चाहिए। 'बलाबलधिकरण' नामक अध्याय का विषय अंगांगिभाव प्रदर्शित करना होने के कारण ही उसके अनुरूप संगति की कल्पना कर लेना ही उपयुक्त है।

परिभाषाकार का द्वारा स्थल में 'बलाबलाधिकरण' का स्वरूप स्पष्ट करने का उद्देश्य यह है कि जब वाक्य और श्रुति की एक जगह प्राप्ति हो तब श्रुति के द्वारा वाक्य का बाध किस प्रकार होता है। इसका उदाहरण 'आमिक्षावाजिनन्याय' है। जैसे– 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' अर्थात्– तपे हुए दूध में दही डालने पर फटे हुए दूध में जो घनभाग तैयार (वाजि) होता है। वह आमिक्षा, वैश्वदेवी का है और जो पानी बचा रहता है उसे वाजिन कहते हैं और वाजि देवताओं के लिए है। यहाँ पर जिसका वाज (आमिक्षा रूप अन्न) है– वह वाजी, इस (मत्वर्थीय इन्) व्युत्पत्ति से वाजि शब्द विश्वदेवी बोधक है और वैश्वदेव याग में ही वाजिन द्रव्य का विधान है? या वाजी नामक कोई अन्य देवता है और उसका बोधक वाजिन शब्द है, ऐसा स्वीकार कर क्या वाजिदेवताक एक स्वतन्त्र याग का विधान है? इत्याकारक संशय उत्पन्न होता है। उपर्युक्त व्युत्पत्ति से वाजिन में वैश्वदेव याग को ही अंगत्व स्वीकार करना चाहिए।

यह आक्षेप हो सकता है कि 'तप्ते पयसि' इस वाक्य में आमिक्षा नामक द्रव्य भी कहा गया है तब उस उत्पत्तिशिष्ट आमिक्षा द्रव्य से वाजिन का बाध होगा' परन्तु यह कहना उचित

नहीं, क्योंकि दोनों का जब कि विधान है तब इन दो द्रव्यों का विकल्प स्वीकार कर लिया जाए अथवा वाजिन तथा आमिक्षा दोनों का समुच्चय कर वैश्वदेव याग करें।

परिभाषाकार के अनुसार इस स्थल पर यह सिद्धान्त किया गया कि वाजिन में वैश्वदेवयागांगत्व का होना सम्भव नहीं, इसका कारण यह है कि 'वैश्वदेवी आमिक्षा' यहाँ वैश्वदेवी शब्द से 'विश्वेदेव जिसकी देवता है' यह अर्थ विवक्षित है। विश्वदेव शब्द से 'साऽस्य देवता'[22] इस पाणिनि सूत्र से देवता अर्थ में तद्धित अण् प्रत्यय किया है। इसलिए आमिक्षा की विश्वदेव रूप देवता तद्धित श्रुति रूप प्रमाण से प्राप्त है और वाजिन का विश्वदेव से जो सम्बन्ध होगा, यह 'समभिहाररूप वाक्य' से ही होगा। अतः श्रुति–प्रमाण, वाक्य–प्रमाण की अपेक्षा प्रबल होने के कारण श्रुति प्रमाण से वाक्य प्राप्त 'वाजिन' का बाध होता है, कारण यह है कि वैश्वदेव–याग की देवता विषयक आकांक्षा, क्रिया से भिन्न शब्दों में जुड़नेवाला प्रत्यय श्रुति प्रमाण से प्राप्त होने के कारण प्रबल हुई 'आमिक्षा' से ही स्पष्ट होती है। 'वाजिन' से अन्वय करते समय वह 'वाजिन' निराकांक्ष हुए 'वैश्वदेव' याग की जिज्ञासा में विषय होने के योग्य नहीं है। इसलिए उस याग को 'वाजिन' की आकांक्षा नहीं रहती। अतः यहाँ 'वाजिन' और 'आमिक्षा' का विकल्प या समुच्चय न स्वीकार कर आमिक्षा से वैश्वदेव याग करे और वाजिन द्रव्य से वाजिदेवताक स्वतन्त्र याग करे। इस प्रकार दोनों के लिए पृथक यागों का विधान किया गया है।'[23]

परिभाषाकार के अनुसार जो पदार्थ, जिज्ञासा का विषय होने में योग्य रहता है, उस विषय की ही आकांक्षा मीमांसकों को स्वीकार होती है। नैयायिक स्वीकृत आकांक्षा का लक्षण प्रमाणरहित होने से परिभाषाकार को स्वीकार नहीं है। इसलिए आकांक्षा का यह लक्षण स्वीकार न किया जाए, यह स्पष्ट करने के लिए ही यहाँ 'बलाबलाधिकरण' का और आमिक्षा का उल्लेख किया गया है।

अब परिभाषाकार यह स्पष्ट करते है कि नैयायिक स्वीकृत आकांक्षा और मीमांसक स्वीकृत आकांक्षा में क्या भेद है? और नैयायिक के पक्ष में कौन से दोष हैं। नैयायिक एक पद को दूसरे की आकांक्षा स्वीकार करते हैं और यह आकांक्षा अन्वयबोध के प्रागभाव रूप है।

---

[22] पाणिनि सूत्र– 4/2/24. (अष्टाध्यायी)

[23] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 197.

जबकि परिभाषाकार आंकाक्षा वाक्य के पदों में नहीं स्वीकार करते हैं बल्कि पदों के अर्थों में आकांक्षा को स्वीकार करते हैं और वह 'अन्वय–बोध' प्रागभाव स्वरूप न होकर, 'जिज्ञासाविषयत्व योग्यत्वरूप' होता है। नैयायिकों के समान आकांक्षा को पदनिष्ठ और अभाव रूप स्वीकार करने पर 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा, वाजिभ्यो वाजिनम्' इस श्रुतिवाक्य में वैश्वदेव–याग का जिस प्रकार आमिक्षा से अन्वय होता है, उसी प्रकार वाजिन से भी अन्वय हो सकता है और इस प्रकार याग के दो द्रव्य हैं, ऐसा अनुपन्न अर्थ स्वीकार करना पड़ सकता है। जिसके कारण कर्म में विप्रतिपत्ति हो सकती है क्योंकि 'आमिक्षा' पद के समान 'वाजिन' पद को भी विश्वेदेव अन्वयबोध प्रागभावरूप आकांक्षा तो रहती ही है। अतः अद्वैत मतानुसार आकांक्षा, वाजिनादि पदों में न होकर उनके अर्थ रहती है और यह अन्वयबोध प्रागभावरूप न होकर जिज्ञासा–विषयत्व–योग्यत्वरूप ही होती है।

नैयायिक मतानुसार परिभाषाकार कृत आकांक्षा का लक्षण स्वीकार करने पर भी वाजिन का वैश्वदेव के साथ अन्वय होने का अति प्रसंग नहीं समाप्त होता। आशय यह है कि अद्वैत स्वीकृत आकांक्षा का लक्षण निराकांक्ष वाजिन में अतिव्याप्त होता है। इस आशय को आक्षेप कर परिभाषाकार उसका समाधान भी करते हैं–

'ननु तत्रापि वाजिनस्य जिज्ञासाऽविषयत्वेऽपि तद्योग्यत्वमस्त्येव। प्रदेय द्रव्यत्वस्य यागनिरूपित जिज्ञासा विषयतावच्छेदकत्वादिति चेत्, न। स्व समानजातीय पदार्थान्वय बोध विरहसहकृत प्रदेयद्रव्यत्व स्यैव तदवच्छेदकत्वेन वाजिनद्रव्यस्य स्वसमान जातीयामिक्षा द्रव्यान्वय–बोधसहकृतत्वेन तादृशावच्छेदकाभावात्। आमिक्षायां तु नैवम्, वाजिनाऽन्वयस्य तदाऽनुपस्थितत्वात्। उदाहरणान्तरेष्वपि दुर्बलत्वप्रयोजक आकांक्षा विरह एव द्रष्टव्यः'।[24] अर्थात्– 'तप्ते पयसि' इत्यादि वाक्य में भी वाजिन को वैश्वदेव–याग की जिज्ञासा का विषयत्व न होने पर भी जिज्ञासा का विषय होने की योग्यता रहती ही है।(वैश्वदेव याग को वाजिन की आकांक्षा होना रूप दोष अद्वैत पक्ष में भी आता है) क्योंकि प्रकृत में यागनिरूपित (याग में जिज्ञासाविषयत्व होने की योग्यता का) अवच्छेदक 'प्रदेयद्रव्यत्व'(देने के योग्य द्रव्य होना) है और वह पकृत वाजिन में भी है। परन्तु यह आक्षेप उचित नहीं क्योंकि केवल 'प्रदेयदव्यत्व' को ही योग्यता का अवच्छेदक नहीं स्वीकार करते । परन्तु स्वसमानजातीय पदार्थ के अन्वयबोध से सहकृत प्रदेयद्रव्यत्व ही प्रकृत स्थल में योग्यता का अवच्छ्छेदक होता है। इस कारण 'वाजिन' से अन्वय करते समय उक्त अवच्छेदक नहीं है, किन्तु 'आमिक्षा' से याग का अन्वय

[24] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 92–94.

करते समय उक्त योग्यतावच्छेदक उसमें रहता है। क्योंकि आमिक्षा से याग का अन्वय करते समय उसका वाजिन से अन्वय उपस्थित ही नहीं होता। इसी प्रकार यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि अन्य उदाहरणें में भी श्रुति से अन्य लिंगादि प्रमाणों में 'पारदौर्बल्य' न्याय से आकांक्षा का अभाव रहता है।

परिभाषकार के मत में इस प्रकार का आक्षेप करने वालों का आशय यह है कि अद्वैत मत में जिज्ञासा के विषयत्व को तो आकांक्षा का लक्षण स्वीकार करते नहीं, बल्कि 'जिज्ञासाविषयत्व–योगत्व' को ही आकांक्षा का लक्षण स्वीकार करते हैं। परन्तु यह स्वीकार करने पर 'वाजिन का भी वैश्वदेव–याग से अन्वय होने प्रसंग उपस्थित होगा' इस प्रकार का दोष अद्वैत पक्ष में भी स्थित है। क्योंकि वैश्वदेव याग की आकांक्षा, श्रुति प्रमाण से प्राप्त आमिक्षा से ही शान्त हो जाने के कारण उस याग की जिज्ञासा में 'वाजिन' के विषय न होने पर भी उसमें 'वाजिन में' जिज्ञासा का विषय बनने की योग्यता तो रहती ही है। क्योंकि प्रकृत स्थल में याग की योग्यत्व रूप आकांक्षा का अवच्छेदक, प्रदेयद्रव्यत्व को ही स्वीकार करना चाहिए। जिस प्रकार याग का अर्थ है– देवता के उद्‌देश्य से द्रव्य का दान। उस दान को देय पदार्थ की अपेक्षा रहती है। अर्थात् 'किस वस्तु का दान करें, ऐसी द्रव्याकांक्षा याग को होती है, तब समीपस्थ प्रदेय–द्रव्य से वह आकांक्षा पूर्ण होती है। इसलिए जो द्रव्य सन्निहित होते हैं, वे 'प्रदेय हैं' यह ज्ञात होते ही वे द्रव्य, याग की जिज्ञासा के विषय हो जाते हैं। आशय यह है कि आमिक्षादि द्रव्यों में जिज्ञासा का विषय होने की योग्यता ही, योग्यता का अवच्छेदक धर्म है अर्थात् 'प्रदेयद्रव्यत्व' ही अवच्छेदक धर्म है, यह अद्वैत मतानुनायियों को स्वीकार करना चाहिए। यह स्वीकार करने पर जिस प्रकार वह प्रदेयद्रव्यत्व आमिक्षा में है, उसी प्रकार वाजिन में भी। क्योंकि वाजिन, आकाश जैसा अदेय पदार्थ तो नहीं है। जिस प्रकार आमिक्षा प्रदेयद्रव्य है, उसी प्रकार वाजिन भी है। क्योंकि उस अवच्छेदक से अवच्छिन्न योग्यत्वरूप आकांक्षा लक्षण, प्रकृत 'वाजिन' में अतिव्याप्त होता है। अतः नैयायिकों के अनुसार अद्वैत मत ने जो दोष नैयायिक पक्ष में स्पष्ट किया है वह दोष अद्वैत पक्ष में भी उपस्थित है।

यदि अद्वैत मत में प्रदेय द्रव्यत्व मात्र को ही योग्यता का अवच्छेदक स्वीकार करते तो नैयायिकों के अनुसार वह दोष अद्वैत पक्ष में भी उपस्थित होता। परन्तु अद्वैत मत में केवल प्रदेय–द्रव्यत्व को योग्यता अवच्छेदक नहीं स्वीकार करते और यह स्वीकार करना उचित भी नहीं है। क्योंकि द्रव्य में प्रदेयत्व धर्म के होने मात्र से ही वह द्रव्य याग की जिज्ञासा का विषय होने योग्य होता ही है यदि यह नियम कर दिया जाए तो प्रदेयद्रव्यत्व मात्र को ही योग्यता का अवच्छेदक स्वीकार करने पर जिस वाक्य से एक बार शब्दबोध हो गया है उसी

से पुनः शब्दबोध होने का प्रसंग उपस्थित होगा। आशय यह है कि 'वैश्वदेवी आमिक्षा इस वाक्य से एक बार 'आमिक्षा से वैश्वदेव याग करे' इस अर्थ का ज्ञान होने पर भी आमिक्षा का प्रदेय–द्रव्यत्व रूप धर्म निवृत्त न होने से बार–बार इस वाक्य से वही अर्थ प्राप्त होने का अतिप्रसंग उपस्थित होगा। इसकारण प्रदेयद्रव्यत्वरूप धर्म को योग्यतावच्छेदक नहीं स्वीकार किया जा सकता है' ।[25] इसलिए अद्वैत मतानुयायी यह स्वीकार करते हैं कि ''प्रदेयद्रव्यत्व' में 'स्वसमानजातीय.' इत्यादि विशेषण देकर जो प्रदेयद्रव्यत्व, अपने सहित कहे गए अन्य प्रदेयद्रव्य के अन्वयबोधाभाव से युक्त होने का यदि ज्ञान न हो तो उस प्रदेयद्रव्य में प्रदेयद्रव्यत्वरूप धर्म ही, योग्यता का अवच्छेदक होता है। इस स्थल पर 'स्वसमानजातीय पदार्थान्वयबोधाभाव' विशेषण है और 'प्रदेयद्रव्यत्व' विशेष्य है। इस विशेषण से विशिष्ट हुए प्रदेयद्रव्यत्व को ही अवच्छेदक स्वीकार किया जा सकता है'' ।[26] इसलिए इन विशेषण–विशेष्य में से एक के न होने पर भी इनमें 'विशिष्टाभाव' सिद्ध होता है। वाजिन में 'प्रदेयद्रव्यत्व' रूप विशेष्य तो है परन्तु 'अन्वयबोधाभाव' रूप विशेषण नहीं है। इसका कारण यह है कि याग का वाजिन के साथ अन्वय करते समय साथ में पढ़े गये आमिक्षा द्रव्य के साथ याग के अन्वय का ज्ञान हुआ होता है। इसलिए विशेषण के न होने से 'विशिष्टद्रव्यत्व' वहाँ पर उपस्थित नहीं होता है। अतः अद्वैत स्वीकृत विशिष्टयोग्यतावच्छेदक वाजिन में न होने से वाजिन याग की जिज्ञासा के विषय होने के योग्य नहीं है। इस प्रकार अद्वैत मत में कोई दोष नहीं हो सकता।'

यदि नैयायिक यह प्रश्न करें कि इस प्रकार के विशिष्ट अवच्छेदक को स्वीकार करने पर याग का आमिक्षा के साथ भी अन्वय न हो सकता है और यह भी नहीं कहा जा सकता कि आमिक्षा के साथ अन्वित होते समय याग का अपने समीप में पठित वाजिन के साथ अन्वय होने का ज्ञान भी नहीं रहता है। क्योंकि इस समय भी याग और वाजिन के अन्वय का ज्ञान तो रहता ही है। आशय यह है कि वाजिन के साथ अन्वय का ज्ञान होते रहने से 'अन्वयबोधाभाव' रूप विशेषण वहाँ भी नहीं है, तब अद्वैत पक्ष विशिष्ट अवच्छेदक वहाँ कैसे सम्भव होगा? उसके न होने पर आमिक्षा, यागनिरूपित जिज्ञासा का विषय भी कैसे हो सकती है? अर्थात् ऐसे अवच्छेदक के स्वीकार करने पर याग की जिज्ञासा का विषय न 'वाजिन' होता है और न 'आमिक्षा' ही होती है। अतः जिस प्रकार वाजिन से अन्वय होते समय आमिक्षान्वय उपस्थित रहता है और उसी प्रकार आमिक्षा से अन्वय करते समय वाजिनान्वय भी उपस्थित रहता है।

---

[25] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 200.
[26] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 200.

परिभाषाकार के मतानुसार उपर्युक्त आक्षेप उचित नहीं है। परिभाषाकार के अनुसार वाजिनान्वय जैसी आमिक्षान्वय के समय स्थित उपस्थित नहीं होती है। 'आमिक्षा', श्रुतिप्रमाण से पाप्त है, इसलिए वह वाक्य प्रमाण से प्राप्त होने वाले वाजिन की अपेक्षा पूर्वउद्धृत 'बलाबलाधिकरण–न्याय' से प्रबल है। प्रबल होने से 'आमिक्षा' का याग के साथ प्रथमतः अन्वय होता है और उस समय वाजिनान्वय की प्राप्ति भी नहीं होती। इसलिए वाक्य से प्राप्त 'वाजिन', प्रथम लिंग की तदनन्तर श्रुति की कल्पनाकर याग के साथ अन्वित होने में अन्य प्रमाणों की अपेक्षा नहीं रहती। इसलिए श्रुति प्रथमतः याग से अन्वित होती है। जबकि उस समय वाजिनान्वयबोध का अभाव रहता है और अभाव से विशिष्ट अवच्छेदक का होना आमिक्षा में सम्भव है। इसलिए याग को आमिक्षा विषयक जिज्ञासा होती है, और उसकी पुर्ति प्रत्यक्ष श्रुत आमिक्षा से होती है। उसके बाद वाजिनान्वय के समय में आमिक्षान्वयबोध के उपस्थित होने से अद्वैत सम्मत् योग्यता अवच्छेदक का होना वाजिन में सम्भव नहीं। अतः उक्त दोष अद्वैत पक्ष में नहीं प्राप्त होता कि 'वाजिन' से याग का अन्वय होने लगता है।

'बलाबलाधिकरण–न्याय' के आधार पर यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि जहाँ श्रुति–लिंगादि में से दो की प्राप्ति होगी वहाँ श्रुत होने से प्रबल हुए पदार्थ के साथ एक बार अन्वय होने के बाद, दुर्बल लिंगादि से प्राप्त पदार्थ के साथ याग का अन्वय नहीं हो सकता। इसलिए उक्त पूर्वोत्तर–मीमांसा सम्मत् जो विशिष्ट–योग्यतावच्छेदक से युक्त आकांक्षा–लक्षण है, वह सर्वथा समुचित है। अतः मीमांसा सम्मत् आकांक्षा का लक्षण परिभाषाकार को भी सम्मत् है।

6.3.2 योग्यता–

परिभाषाकार के अनुसार 'योग्यता च तात्पर्यविषयीभूत–संसर्गाबाधः। वह्निना सिन्चतीत्यादौ तादृशसंसर्गबाधान्न योग्यता। 'स प्रजापतिरात्मनोवपामुदखिदत्' इत्यादावपि तात्पर्य–विषयीभूत–पशुप्राशस्त्याबाधाद् योग्यता। तत्वमस्यादिवाक्येष्वपि वाच्याभेद–बाधेऽपि लक्ष्यस्वरूपाभेदे बाधाभावाद् योग्यता'।[27] अर्थात्– 'तात्पर्यविषयीभूत संसर्ग का बाध न होना' ही योग्यता है। 'अग्नि से सिंचन करता है' आदि वाक्य में योग्यता नहीं है। क्योंकि उस वाक्य का अग्निकरणक आद्रीकरणरूप अर्थ प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होता है। 'उस प्रजापति ने अपनी वपा (पेट के भीतर की कोमल महीन वस्तु) को खींचकर निकाला और उससे अग्नि में हवन किया'आदि वाक्य का पशुप्राशस्त्य ही तात्पर्यविषयीभूत अर्थ है और वह किसी प्रमाण से

[27] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 94.

बाधित न होने के कारण उस वाक्य में योग्यता है। उसी तरह 'वह ब्रह्म तू है' आदि वाक्य में भी योग्यता के लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि तत् और त्वम् इन पदों के वाच्य अर्थ में अभेद का बाध होने पर भी लक्ष्यार्थभूत चैतन्य के अभेद रूप अर्थ का बाध नहीं होता।

'वाक्य के तात्पर्यविषयीभूत संसर्ग का बाध न होना ही योग्यता का लक्षण है'।[28] जैसे– 'वत्सं बधान' अर्थात्– बछड़े को बाँधों, इस वाक्य में योग्यता है। क्योंकि इस वाक्य में वत्सकर्मक बन्धनरूप तात्पर्यविषयीभूत संसर्ग है और यह संसर्ग किसी प्रमाण से बाधित नहीं होता। यदि पीरभाषाकार द्वारा यहाँ 'संसर्गाबाधः' न कहकर केवल 'तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गः' इतना ही लक्षण किया गया होता तो 'अग्निना सिंचेत्' आदि वाक्य में उसकी अतिव्याप्ति होती। इसी आशय से परिभाषाकार ने 'वह्निना सिंचेत' इत्यादि कहा है। 'अग्नि से सिंचन करें, इस वाक्य का 'अग्नि–करणक सिंचन' रूप अर्थ वक्ता के तात्पर्य का विषय है। परन्तु इस करणत्व का संसर्ग प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित होता है। इसलिए दाहक अग्नि से तद्विरूद्ध आद्रीकरण क्रिया का होना संभव नहीं। अतः उपर्युक्त योग्यता के लक्षण की ऐसी वाक्य में अतिव्याप्ति नहीं होती। इस कारण यह स्वीकार करना चाहिए कि 'जलेन दहेत्' इत्यादि वाक्य में योग्यता नहीं है।

परिभाषाकार ने 'संसर्गाबाधः' इतना ही लक्षण न करके उस संसर्ग में 'तात्पर्यविषयीभूत' विशेषण क्यों दिया? इसका स्पष्टीकरण 'स प्रजापतिः' आदि वाक्य से किया गया है। यदि परिभाषाकार ने 'संसर्गाबाधः' इतना ही लक्षण किया होता तो 'स प्रजापतिः' इत्यादि अर्थवाद वाक्यों में अव्याप्ति होती। कारण यह है कि किसी भी व्यक्ति के द्वारा अपनी वपा का उत्खेद करने पश्चात् उस व्यक्ति जीवित रहना सम्भव नहीं है। इस लिए इस वाक्य का कर्मत्व रूप संसर्ग, अन्य प्रमाणों से बाधित होता है। अतः अद्वैत मत का मानना है कि श्रुति का यह अर्थ, तात्पर्यविषयीभूत होना चाहिए। प्रकृत स्थल में श्रुति के तात्पर्य का विषय प्रत्यक्ष वपा का उत्पाटन नहीं है बल्कि श्रुति का विवक्षित अर्थ पशुप्राशस्त्य ही है। जो प्रजाकाम हो 'स एतं प्रजापत्यं तूपरमालभेत्'[29] 'वह इस प्रजापतिदेवताकतूपर (श्रृंगरहित) पशु का (आलंभन) हनन करे, इस विधि का प्राशस्तत्व सिद्ध करने के लिए 'स प्रजापतिः' इत्यादि वाक्य श्रुति में उद्धृत है और जिस पशु को सींग नहीं होती उसे 'तूपर' कहते हैं। इस गुणवाद रूप अर्थवाद का वाच्यार्थ है कि 'पूर्व समय में जब पशु नहीं थे, तब प्रजापति ने अग्नि में अपनी वपा का हवन

[28] उपाध्याय, बलदेव (प्र.सम्पा. वेदान्तखण्ड), 1996. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, पृ॰ 181.
[29] मीमांसा सूत्र– 1/2/10.

करने के बराबर तूपर–अज उत्पन्न हुआ। इसका तात्पर्य इतना ही है कि 'तूपर' पशु का हवन कर प्राजापत्य याग करने से विपुल पशुओं की प्राप्ति होती है'। श्रुति का यह अर्थ किसी प्रमाण से बाधित नहीं होता। अतः उस वाक्य में योग्यता की व्याप्ति नहीं होती।

परिभाषाकार के मत को और अधिक स्पष्ट करने के लिए श्रीगजानन शास्त्री लिखते हैं कि 'सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रूद्रत्वम्' इसने रूदन किया इसलिए इसे 'रूद्र' कहा जाए हैं। अतः यह स्वीकार करना चाहिए कि ऐसे अर्थवाद–वाक्यों में योग्यता है। क्योंकि उद्धृत वाक्य का तात्पर्यार्थ है– 'वर्हिषि रजतं न देयम्' बर्हियाग में रजत का दान न करे, यह इस निषेध का अर्थवाद है। जो बर्हियाग में रजत दान करेगा उसे एक वर्ष के भीतर ही रूदन का प्रसंग प्राप्त होता है। इसलिए बर्हियाग में रजतदान अप्रशस्त है। यही इस वाक्य का तात्पर्य–विषयभूत अर्थ है।

'तत्त्वमसि'[30] वह ब्रह्म तू है 'अहं ब्रह्मास्मि'[31] मैं सच्चिदानन्द रूप ब्रह्मस्वरूप हूँ, आदि वाक्यों में जीव और ब्रह्म का अद्वय ही तात्पर्यविषयभूत संसर्ग है। परन्तु वह अद्वैत मतानानुसार बाधित होता है। कारण यह है कि 'तत्वमसि' वाक्य में 'तत्' पद का अर्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य है, और 'त्वं' पद का अर्थ अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य है और इन परस्पर विरूद्धधर्म–युक्त चैतन्यों में अद्वय होना संभव नहीं, इस कारण श्रुति का यह अर्थ बाधित होता है। इसी तरह 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्य में 'अहं' और 'ब्रह्म' का अद्वयान्वय का होना सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए अद्वैत मत स्वीकृत योग्यता–लक्षण अद्वयार्थक वाक्यों में अव्याप्त रहता है।

परिभाषाकार ने इस आक्षेप का भी निराकरण किया है कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि पदों का वाच्य शक्ति से ज्ञात होने वाला अर्थ, श्रुति सम्मत् नहीं है बल्कि उन पदों का लक्षणा से ज्ञात होने वाला शुद्ध चैतन्य से अद्वयरूप अर्थ स्पष्ट करना श्रुति का तात्पर्य है और श्रुति का यह अर्थ अबाधित होने से पूर्वोक्त दोष अद्वैत पक्ष में नहीं हो सकता।[32] इसी प्रकार यहाँ पर 'गंगायां घोषः' यह वाक्य लक्ष्यार्थ विवक्षित रहता है यहाँ पर लक्ष्यार्थ का अबाधित रहना रूप दृष्टि से ही योग्यता का लक्षण विवक्षित है। अतः अद्वैत सम्मत् 'तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गाबाधः योग्यता' यही अद्वैत सम्मत् योग्यता का निर्दोष लक्षण ही समीचीन है।

---

[30] छान्दोग्य उपनिषद्– 6/7/8.

[31] बृहदारण्यक उपनिषद्– 1/4/10.

[32] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 204.

6.3.3 आसत्ति–

परिभाषाकार के अनुसार 'आसत्तिश्राव्यवधानेन पदजन्य–पदार्थोपस्थितिः। मानान्तरोपस्थापित पदार्थस्यान्वय– बोधाभावात्पदजन्येति। अत एवाश्रुतपदार्थस्थले तत्तत्पदाध्याहारः 'द्वारम्' इत्यादौ 'पिधेहि' इति। अत एव 'इषे त्वा' इत्यादिमन्त्रे 'छिनद्मि' इति पदाध्याहारः। अत एव विकृतिषु 'सूर्य्याय जुष्टं निर्वपामि' इति पद प्रयोगः'।[33] अर्थात्– अव्यवधान से (बीच में अन्य पदों का व्यवधान = उपस्थित न होकर) जो पदजन्य पदार्थ की उपस्थिति होती है, उसे आसत्ति कहते हैं। प्रत्यक्षादि शब्देतर प्रमाणों से उपस्थित होने वाले पदार्थों का अन्वय में बोध नहीं होता, इसलिए 'पदजन्य' यह पद लक्षण में दिया है। पदजन्य पदार्थोपस्थिति अपेक्षित होने से ही जहाँ पर क्रिया कारकादि दूसरा पद नहीं कहा हो ऐसे 'द्वारम्' इस एक शब्द के अर्थ की पूर्ति करने के लिए 'पिधेहि' ऐसे पदों का अध्याहार करना पड़ता है, और इसी कारण 'इषे त्वा' इत्यादि मंत्रों में 'छिनद्मि' ऐसे पद का ही अध्याहार करना चाहिए। यह निर्णय मीमांसा सूत्र में किया है। ऐसी पदजन्य उपस्थिति मीमांसकों को मान्य होने से सौर्यादि विकृति यागों में 'सूर्य्याय जुष्टं निर्वपामि' मैं सूर्यदेवता को उद्देश्य कर सावित्र हवि का निर्वाप करता हूँ। इन पदों का उच्चारण करना चाहिए, यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है।

अद्वैत मत में 'पदजन्य पदार्थ की अव्यवधान से उपस्थित होना ही आसत्ति है'।[34] जिस क्रिया–कारकादि पदसमूह वाक्य से शाब्दबोध होता है उस वाक्य के वे पद, अन्य पदों के व्यवधान से रहित होने चाहिए। जैसे– 'गाम्' और 'आनय' ये दोनों पद, 'एक के बाद एक' ऐसे क्रम से, बीच में अन्य पद के व्यवधान से रहित, उच्चारण करने पर ही, उच्चरित वाक्य से वाक्यार्थ बोध होता है। अब यदि कोई 'गाम्' कहकर चुप हो जाय या बीच में ही अप्रकृत कोई पद का उच्चारण करे, उसके बाद 'आनय', तो श्रोता को उस वाक्य से कुछ भी अर्थबोध नहीं हो सकता। क्योंकि आसत्ति, शब्दबोध में कारण होता है इसलिए 'चन्द्रं भुक्ष्व ओदनं पश्य' इत्यादि वाक्यों से भी अर्थबोध नहीं हो सकता। क्योंकि यहाँ 'चन्द्र' का 'पश्य' क्रिया से सम्बन्ध है। परन्तु 'पश्य' क्रिया, अव्यवधान से नहीं कही गई है। बल्कि 'भुक्ष्व' और 'ओदनम्' इन दो पदों के व्यवधान से कही गई है। अतः ऐसे वाक्य में आसत्ति लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। इसी प्रकार 'गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन' ऐसे पद समूह में यद्यपि क्रिया कारकादि समस्त पदों के उपस्थित रहने के साथ उनमें परस्पराकांक्षा तथा अन्वययोग्यता भी रहती है,

---

[33] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 96.

[34] उपाध्याय, बलदेव (प्र.सम्पा. वेदान्तखण्ड), 1996. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, पृ॰ 181.

फिर भी उन पदों की अव्यवधान से उपस्थिति न होने के कारण उस वाक्य से 'देवदत्त ने खाया' और 'पर्वत अग्निमान है' इस अर्थ का ज्ञान नहीं होता।

यहाँ पर अव्यवधान से जो पदार्थोंपस्थिति होनी है, वह पदजन्य हो, ऐसा परिभाषाकार ने क्यों कहा, इसका कारण परिभाषाकार ने 'मानान्तरोपस्थापित.' आदि वाक्यों से स्पष्ट है। जैसे– 'सामने घट दिखाई देने पर पर भी कोई व्यक्ति अंगुलि से निर्देश करते हुए, 'सोमदत्त! देखो' यह कहता है। उस समय सोमदत्त को घट का बोध होता है, परन्तु उस वाक्यार्थ में घट का अन्वयबोध (शाब्दबोध) नहीं होता। बल्कि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही उस समय घट का बोध होता है। कारण यह है कि यदि आसत्ति के लक्षण में 'पदजन्य पदार्थ के लिए' पद का प्रयोग न करें तो प्रत्यक्षात्मक उपस्थिति भी 'सोमदत्त पश्य' इस वाक्य में अव्यवधान से ही होती है, अतः इस लक्षण की प्रत्यक्ष में अतिव्याप्ति होगी। इस अतिव्याप्ति की निवृत्ति के लिए 'पदजन्य' पद का प्रयोग आवश्यक है।[35] घट का ज्ञान उक्त वाक्य में अव्यवधान होने पर भी वह पदजन्य नहीं है। अतः घट का ज्ञान 'घटम्' इत्याकारक पद से नहीं हुआ है, इसलिए उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है।

यदि अद्वैत मतानुयायी यह स्वीकार करें कि पदार्थ की उपस्थिति पदजन्य होने पर ही उस पदार्थ का शाब्दबोध होता है और अन्य उपाय से पदार्थ का बोध हुआ तो वह प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से होता है। परन्तु यह स्वीकार करने पर 'द्वारम्' इतना ही शब्द श्रवण करने के बाद 'पिधेहि' क्रिया का जो ज्ञान होता है वह शब्दबोधात्मक नहीं है, यह स्वीकार करना पड़ेगा। कारण यह है कि पिधेहि में 'पिधान' अर्थ की उपस्थिति पदजन्य नहीं होती। प्रायः सभी शास्त्रकारों ने तो 'पिधान' क्रिया ज्ञान शब्दबोधात्मक स्वीकार किया है। यह प्रश्न उपस्थित होता है कि तब सिद्धान्त में इसकी उपपत्ति किस प्रकार होगी? यह आकांक्षा होने पर परिभाषाकार ने 'अत एवाश्रुत.' इत्यादि वाक्य से उसका निराकरण किया है। इस स्थिति में 'पिधेहि' क्रिया का जो शब्दबोध होता है वह पदजन्य ही होता है क्योंकि पदजन्य पदार्थबोध ही शब्दबोध में कारण होने से ऐसे अश्रुत पदार्थ के स्थल में 'पिधेहि' पद का अध्याहार करना होता है। इस प्रकार ऐसे अध्याहृत पद से बोध होने के कारण यहाँ आसत्ति–लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती। इसके विपरीत उपरोक्त उदाहरण से परिभाषाकार सम्मत् सिद्धान्त 'पदार्थोंपस्थिति' पदजन्य होनी चाहिए' ही पुष्ट होता है।

[35] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 205.

यह प्रश्न हो सकता है कि 'द्वारम्' के अनन्तर 'पिधेहि' क्रियापद का अध्याहार किसलिए है? क्रिया पद का उच्चारण किए बिना भी केवल 'पिधानरूप' अर्थ के अध्याहार करने से भी उपर्युक्त बोध की उपपत्ति का संभव हो सकती है' इस आक्षेप के प्रत्युत्तर में परिभाषाकार के मत को श्रीगजानन शास्त्री ने इस प्रकार व्यक्त किया है कि वृत्ति के द्वारा जिस अर्थ की उपस्थिति नहीं होती, वह अर्थ (पदार्थ) भी शाब्दबोध का विषय होता है, ऐसा स्वीकार करने पर अनेक दोष उपस्थित होंगे। जो निम्नवत् हैं[36] –

1. जिस पद से पदार्थ का किसी प्रकार का सम्बन्ध हो उस पदार्थ का शब्दबोध होता है। यह स्वीकार करने पर 'घटशब्द' आकाश के समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध होने से घटमानय वाक्य का 'आकाशमानय अर्थ भी होने का प्रसंग होगा। इसलिए पद–पदार्थों का वृत्तिरूप विशेष सम्बन्ध ही स्वीकार करना चाहिए और उसे स्वीकार करने पर सर्वत्र वृत्ति के द्वारा ही शब्द बोध के होने से 'द्वारम्' में मात्र बिना वृत्ति के भी सामान्य सम्बन्ध से पिधेहि अर्थ का शब्द बोध होता है।
2. इसी प्रकार 'द्वारम्' यहाँ द्वितीया का जो कर्मत्व रूप अर्थ है, इसका कहीं भी अन्वय नहीं होगा, क्योंकि पदजन्य अर्थ का पदजन्य अर्थ से ही अन्वय करने का नियम है।
3. इसी प्रकार 'पुष्पेभ्यः' शब्द का उच्चारण कर 'स्पृहयति' पद का अध्याहार न करके 'सामन्य इच्छा' रूप अर्थ का अध्याहार करने से 'स्पृह' घातु के योग में ही होने वाली चतुर्थी विभक्ति की उपपत्ति नहीं हो सकती। इसलिए प्रकृत में भी 'पिधेहि' पद का अध्याहार करना चाहिए। केवल पिधनादि अर्थ का अध्याहार कर शब्दबोध की उपपत्ति नहीं हो सकती। इसलिए पूर्व मीमांसकों ने आसत्ति का लक्षण पदजन्य पदार्थोपस्थिति को ही स्वीकार किया है, यह स्पष्ट करने के लिए परिभाषाकार ने 'अत एव इषे त्वा' वाक्य का प्रयोग किया है।

परिभाषाकार के मतानुसार 'इषे त्वोर्ज्जेत्वा'[37] यह श्रुति, इस अधिकरण का विषय है। इस श्रुति के द्वारा संशय किया गया है कि यह समस्त मंत्ररूप एक ही वाक्य है या विभिन्न दो वाक्य हैं? इस पर पूर्वपक्षी का मत है कि इस मंत्र को एक ही वाक्य है क्योंकि यह मंत्र अदृष्टार्थ है और दो अदृष्ट अर्थों की कल्पना करने की अपेक्षा, एक अदृष्ट के स्वीकार करने में ही लाघव है। क्योंकि यहाँ 'क्रिया' श्रुत नहीं है। इसलिए यह 'मंत्र' कर्म प्रकाशक होने से

---

[36] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 206.

[37] इषे त्वोर्ज्जेत्वा वायवस्य देवो वः सविता पुनः।
ऋग्वेद एकमात्रस्तु द्विमात्रस्तु यजुः स्मृतम्।। (वायुपुराण– 26/20)

दृष्टार्थ है, यह नहीं स्वीकार कर सकते। इसलिए यह अदृष्टार्थ प्रतिपादक एक वाक्य है, यही स्वीकार करना चाहिए। परिभाषाकार के मतानुसार इस प्रकार का पूर्वपक्ष प्राप्त होने जाने पर 'समेषु वाक्यभेदः स्यात्'[38] इस सूत्र से अद्वैत स्वीकृत सिद्धान्त बताया है– यह समस्त मंत्र दो भिन्न वाक्य हैं, ऐसा स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि 'इषे त्वा' और 'उर्ज्जे त्वा' ये पद सम (परस्पर) की आकांक्षा नहीं रखते हैं।

यहाँ पर यह आक्षेप हो सकता है कि क्रिया पद के न होने पर भी ये दो वाक्य कैसे स्वीकार किए जा सकते हैं? इस आक्षेप के परिभाषाकार सम्मत् पत्युत्तर को श्रीगजानन शास्त्री इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि ''इषे त्वा' के बाद 'छिनत्ति' क्रिया का अध्याहार करना चाहिए। ये दोनों वाक्य क्रमशः पलाश शाखा के छेदन और मार्जन रूप दो पृथक कर्मों का प्रकाशन करने वाले दृष्टार्थक ही हैं, अर्थात् 'इषे त्वा' का अर्थ है– हे पलाशशाखे! मैं तुझे इच्छित अन्न के लिए तोड़ता हूँ और 'उर्ज्जे त्वा' का अर्थ है– हे पलाशशाखे! मैं तुम्हारा रस के लिए सम्मार्जन करता हूँ, यह अर्थ निश्चित होता है। इसी तरह दूसरे एक वेदवाक्य में अश्रुत पद का अध्याहार प्रदर्शित करने के लिए भी मीमांसा सूत्र में एक अधिकरण बताया गया है। फिर भी आग्नेय नामक प्रकृतियाग में 'देवस्य त्वा सवितुः..... अग्नेय जुष्टं निर्वपामि' इत्यादि मंत्र पठित हैं, उसका निर्णय मीमांसा के नवम् अध्याय के प्रथम पाद में 38–39 सूत्रों से किया है। फिर भी उपर्युक्त मंत्र में 'अग्नि' शब्द का सौर्यादि विकृति याग में ऊह किया जाए या न किया जाए। अर्थात् 'अग्नि' शब्द के स्थान पर 'सूर्य' शब्द की योजना की जाए या न किया जाए? यह संशय होने पर 'सवितुः' यहाँ 'सवितृ' शब्द का ऊह न करने के लिए जैसे पीछे के अधिकरण में बताया गया है, उसी प्रकार यहाँ पर 'अग्नि' पद का ऊह न किया जाए। यह पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सवित्रादि शब्द कर्म से प्रत्यक्ष सम्बद्ध नहीं है इसलिए उनका ऊह सम्भव न होने पर भी 'अन्यादि' शब्द तो कर्म से प्रत्यक्ष सम्बद्ध होने से विकृतियाग में 'सूर्याय जुष्टं निर्वपामि' यह ऊह करना चाहिए। यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। यहाँ पर भी पदाध्याहार ही बताया गया है। संक्षेपतः 'पद का अध्याहार न कर पद के अर्थ का अध्याहार किया जाए' यह स्वीकार करने पर मीमांसा के पूर्वोक्त अधिकरणों से विरोध होता है। इसलिए उस पक्ष को छोड़कर पदाध्याहार पक्ष को ही स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार आसत्ति का लक्षण 'पदजन्य पदार्थोपस्थिति' को ही स्वीकार करना उचित है'।

[38] मीमांसा 2/1/47

6.3.4 तात्पर्य–

परिभाषाकार के अनुसार 'तत्र तत्प्रतीतीच्छयोच्चरित्वं न तात्पर्यम्। अर्थज्ञानशून्येन पुरूषेणोच्चरिताद्वेदार्थ प्रत्ययाभावप्रसंगात्। अयमध्यापकों व्युत्पन्न इति विशेषदर्शनेन तत्र तात्पर्यभ्रम–स्याप्यभावात्। न चेश्वरीयतात्पर्यज्ञानात् तत्र शब्दबोध इति वाच्यम्। ईश्वरानङ्गीकर्तुरपि तद्वाक्यार्थप्रतिपत्तिदर्शनात्'।[39] अर्थात्– तत्रेति। निरूपणीय तात्पर्य के लक्षण प्रमाण को बताते समय यदि 'तत्प्रतीतीच्छयोच्चरित्वम्' विवक्षित अर्थ की (तात्पर्यार्थ) प्रतीति की इच्छा से उच्चरितत्व (वाक्य का या शब्द का उच्चारण किया जाना)– यह तात्पर्य का लक्षण करें, तो वह उचित नहीं होगा, क्योंकि जिस पुरूष को वाक्यार्थ ज्ञान नहीं है ऐसे व्यक्ति के द्वारा उच्चारण किये जाने वाले वेदवाक्य से अर्थज्ञान न होने का प्रसंग आवेगा। (अर्थज्ञानशून्य व्यक्ति के द्वारा कहे गये वेदवाक्य से अर्थप्रतीति नहीं हो सकेगी।) इसके अतिरिक्त 'यह अध्यापक अव्युत्पन्न है' इस प्रकार के विशेष दर्शन (ज्ञान) से उसमें तात्पर्यभ्रम की अभाव रहता है, इस कारण उसे उसका ज्ञान है– यह भी नहीं कह सकते। अब यदि ऐसा कहें कि उन वाक्यों का अर्थज्ञान ईश्वर के तात्पर्यज्ञान से होता है यह भी उचित नहीं क्योंकि ईश्वर का अस्तित्व न मानने वाले व्यक्ति को भी उन वाक्यों के अर्थ का ज्ञान होता है, प्रकृत में इस तरह का भी अनुभव होता है।

परिभाषाकार ने आगम परिच्छेद के आरम्भ में ही बताया गया है कि आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्यज्ञान, ये चार कारण, वाक्यजन्य ज्ञान में होते हैं। इनमें से आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति– इन तीन कारणों को ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। अब यहाँ पर क्रमप्राप्त तात्पर्य नामक चतुर्थ कारण का निरूपण करना शेष है, इसलिए तात्पर्य किसे कहते हैं? उसमें प्रमाण क्या है? और वह शाब्दबोध में कैसे कारण बनता है? इन सभी प्रश्नो का स्पष्टीकरण आवश्यक है। इस प्रकार तात्पर्य का लक्षण बताना आवश्यक होने पर परिभाषाकार ने प्रथमतः स्वभिमत लक्षण न बताकर, लोकप्रसिद्धि से प्रथमतः उपस्थित होने वाला नैयायिकाभिमत लक्षण स्पष्ट करते हैं– 'वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यम् परिकीर्त्तितम्'[40] वक्ता की इच्छा को ही तात्पर्य कहते हैं। वक्ता के विवक्षित अर्थ का ज्ञान श्रोता को हो, इस इच्छा से वक्ता द्वारा उच्चारण किये गए शब्दों का तात्पर्य उसी अर्थ में होता है। परन्तु परिभाषाकार के अनुसार नैयायिक अभिमत तात्पर्य का लक्षण उचित नहीं है। कारण यह है कि इस लक्षण को स्वीकार करने पर पद

---

[39] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 116.

[40] यत्पदेन बिना यस्याननुभावकता भवेत्।
'आकांक्षा वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यम् परिकीर्त्तितम्'। (विश्वनाथ पंचानन कृत कारिकावली– 84)

पदार्थ व्युत्पत्तिहीन व्यक्ति के द्वारा उच्चरित वेदवाक्य के अर्थ का ज्ञान ही नहीं होना चाहिए। क्योंकि वक्ता अर्थज्ञान रहित है। इस कारण 'वक्ता द्वारा उच्चरित अमुक वेदवाक्य से श्रोता को अमुक अर्थ का ज्ञान हो' इस इच्छा से अमुक वेदवाक्य का वक्ता द्वारा उच्चारण किया जाना संभव नहीं। इसके अतिरिक्त प्रकृत में वक्ता को अर्थज्ञान हो, चाहे न हो परन्तु वक्ता द्वारा 'अग्निमिले' पद का उच्चारण होते ही व्युत्पन्न श्रोता को त्वरित 'मैं अग्नि की स्तुति करता हूँ' इस अर्थ का ज्ञान होता है।

यह आक्षेप हो सकता है कि शाब्दबोध में तात्पर्य, कारण न होकर उसका ज्ञान ही कारण होता है, इसलिए अर्थ ज्ञान रहित वक्ता द्वारा उच्चरित वाक्य का ज्ञान न होने पर भी 'यह वक्ता अव्युत्पन्न है' यह श्रोता को ज्ञात न होने से 'वक्ता ने यह वाक्य अमुक अर्थ की प्रतीति की इच्छा से ही कहा है' ऐसा ही मानता है, इस कारण भ्रमरूप तात्पर्यज्ञान से व्युत्पन्न श्रोता को उस वाक्यार्थ का ज्ञान हो सकता है। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि अव्युत्पन्न वक्ता द्वारा कहे गये वाक्य से अर्थप्रतीति नहीं हो सकती है?

परिभाषाकार के अनुसार जब व्युत्पन्न श्रोता को यह ज्ञात रहे कि 'यह वक्ता अव्युत्पन्न है', तब तो उपर्युक्त अक्षेपानुसार तात्पर्यभ्रम से ही शाब्दबोध हो सकता है। परन्तु जब श्रोता को यह निश्चित ज्ञात रहे कि 'यह वक्ता अव्युत्पन्न है' तब भी श्रोता को वक्यार्थबोध होता है। यह अनुभव किया जा सकता है। परन्तु भ्रमरूप या प्रमारूप कोई भी तात्पर्यज्ञान नहीं रहता, अतः नैयायिकों का यह तात्पर्य–लक्षण अव्याप्त रहता है। ऐसी स्थिति में श्रोता के अर्थज्ञान की उपपत्ति नहीं हो सकती।

माना कोई व्यक्ति जिसने काव्य का अध्ययन न किया हो, उसके द्वारा भी किसी श्लोक का उच्चारण होने पर उसके अर्थ का ज्ञान होना संभव नहीं रहता। फिर भी उस श्लोक के मूलकर्ता कवि का तात्पर्यज्ञान, श्रोता के शाब्दबोध होने में कारण समझा जाता है, इसी प्रकार से वेदकर्ता ईश्वर ने इस वाक्य का यही अर्थ किया है, इस इच्छा से ही वेदवाक्यों का उच्चारण किया जाने से उसमें तात्पर्यज्ञान से ही व्युत्पन्न श्रोताओं को उन वेदवाक्यों का अर्थ ज्ञात होना संभव है।

परिभाषाकार के अनुसार नैयायिकों का यह कहना उचित नहीं है कि 'ईश्वर के तात्पर्यज्ञान से व्युत्पन्न श्रोताओं को वेदवाक्यों के अर्थ का ज्ञान हो जाता है। क्योंकि 'ईश्वर, वेदकर्ता है' यह सिद्धान्त जिसे स्वीकार हो उनके मत में ईश्वर के तात्पर्यज्ञान से शाब्दबोध होना मान लिया जा सकता है, परन्तु जिन्हें ईश्वर का अस्तित्व ही स्वीकार न हो ऐसे चार्वाक,

बौद्ध, वैशेषिक एवं जैन आदि दार्शनिकों को वेदवाक्य से शाब्दबोध नहीं हो सकता, यह स्वीकार करना होगा। परन्तु अनुभव तो विपरीत है। व्युत्पन्न व्यक्ति चाहे आस्तिक हो या नास्तिक हो उसे वैदिक वाक्यों का श्रवण होने पर अर्थज्ञान होता, यह सिद्ध है। इसलिए परिभाषाकार के अनुसार नैयायिकों का 'वक्तुरिच्छा तात्पर्यम्'– तात्पर्य का लक्षण निर्दोष नहीं है। इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि अद्वैतवेदान्तियों को तात्पर्य का कौन सा लक्षण स्वीकार करते हैं?

परिभाषाकार के अनुसार 'तत्प्रतीति–जनन–योग्यतत्वं तात्पर्यम्। गेहे घट इति वाक्यं गेहे घटसंसर्ग– प्रतीति–जनन–योग्यं, न तु पटसंसर्गप्रतीति–जन–नयोग्यमिति तद्वाक्यं घटसंसर्गपरं, न तु पट–संसर्गपरं मित्युच्यते'।[41] अर्थात– 'पदार्थों के संसर्ग का अनुभव उत्पन्न करने की वाक्य में योग्यता का होना' ही तात्पर्य है। 'घर में घट है' यह वाक्य, घर और घट के सम्बन्ध का अनुभव कराने में योग्य है। न कि गृह और पट के संसर्ग (सम्बन्ध) बोध कराने में। इसलिए 'गेहे घटः' यह वाक्य घटसंसर्गपरक (गृह और घट के संसर्ग का बोधक) है, न कि गृह और पट के संसर्ग का– यह कहा जाता है।

परिभाषाकार के मत में तात्पर्य का लक्षण 'तत्प्रतीतीच्छया उच्चरित्वम्' स्वीकार करने पर उपर्युक्त दोष आते हैं, अतः परिभाषाकार ने वैसा लक्षण न कर 'तत्प्रतीतिजननयोग्यतत्वम्' को ही तात्पर्य का लक्षण करना उचित है। क्योंकि वाक्य में वक्ता के विवक्षित अर्थ का ज्ञान करा देने की योग्यता को ही तात्पर्य कहा जाता हैं। जैसे– 'घर में घट है' इस वाक्य के उच्चारण होने पर, वक्ता को उस वाक्य के अर्थ का ज्ञान हो चाहे न हो, परन्तु उस वाक्य में गृह और घट के 'आधाराधेयभावरूप सम्बन्ध' का ज्ञान करा देने की योग्यता रहती है। इस कारण श्रोता को विवक्षित अर्थ का बोध हो जाता है। वाक्य में गृह और घट के 'आधाराधेयभावरूप सम्बन्ध' के ज्ञान करा देने की जो योग्यता रहती है उसका ज्ञान ही तात्पर्य ज्ञान है और इसी तात्पर्य ज्ञान से ही सर्वत्र शाब्दबोध होता है।

यह तात्पर्यनिश्चय कि अमुक वाक्य अमुक अर्थ का बोधक है, यह निश्चय उस वाक्यार्थज्ञान के अन्वय–व्यतिरेक से ही होता है। जैसे– 'गेहे घटः' वाक्य के उच्चारण करने पर गृह और घट के ही सम्बन्ध का ज्ञान होता है। गृह और पट के सम्बन्ध का ज्ञान उस वाक्य से नहीं होता। इस कारण यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि इस वाक्य का तात्पर्य इसी अर्थ में है।

---

[41] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 118.

यह आक्षेप हो सकता है कि जब श्रोता को वाक्यार्थ का बोध होगा तभी यह वाक्य एतत्परक है इस प्रकार उसका तात्पर्यबोध होगा, और तात्पर्यबोध हुए बिना वाक्यार्थज्ञान होना संभव नहीं। अर्थात् शाब्दज्ञान में तात्पर्यज्ञान की और तात्पर्यज्ञान में शाब्दबोध की अपेक्षा होती है, इसलिए परिभाषाकार कृत तात्पर्य लक्षण अन्योन्याश्रय दोषयुक्त है।

परिभाषाकार के अनुसार इस तात्पर्य लक्षण में अन्योन्याश्रय दोष नहीं हो सकता। कारण यह कि 'तत्प्रतीतिजनकत्व' अर्थात् विवक्षित अर्थ का ज्ञान उत्पन्न करने वाला यदि इतना ही तात्पर्यलक्षण होता तो अन्योन्याश्रय दोष हो सकता था, परन्तु इस दोष को दूर करने के लिए ही लक्षण में 'योग्यत्व' विशेषण पद का प्रयोग किया है। प्रकृत में अन्वय आदि की अनुपपत्ति न होना रूप ही योग्यता अभिप्रेत है। जैसे– 'गेहे घटः' इस वाक्य के सुनने पर गृह और घट के 'आधाराधेयभाव सम्बन्ध' से जो अन्वय होता है। इस अन्वय का बोध अन्य किसी भी प्रमाण से नहीं हो सकता, इस कारण अन्वय आदि की भी अनुपपत्ति नहीं हो पाती। ऐसे पदों का वाक्य में होना ही तात्पर्य है और इसी से वाक्यार्थ का निश्चय होता है। जैसे– 'गंगायां घोषः' इस वाक्य में गंगापदवाच्य प्रवाह इस सप्तम्यन्त पद का घोष रूप प्रथमान्त पद के साथ आधेयता संबन्ध से होने वाला अन्वय अनपुपन्न होने से ही 'तीररूप' अर्थ का ग्रहण कर उसके साथ अन्वय करना पड़ता है, जिससे अनुपपत्ति नहीं हो सकती। अर्थात् उपर्युक्त स्वरूप का तात्पर्यज्ञान ही शाब्दबोध में कारण होता है, और ऐसे तात्पर्यज्ञान में शाब्दबोध की अपेक्षा नहीं होती। इसलिए अद्वैत कृत तात्पर्य लक्षण में अन्योन्याश्रय दोष के आने का आक्षेप भी नहीं हो सकती। परिभाषाकार के अनुसार अन्वयानुपपत्ति, प्रयोजनासिद्धि और प्रकरणादि तात्पर्यबोध के निश्चायक होते हैं।

इस प्रकार परिभाषाकार कृत तात्पर्य लक्षण पर 'अव्युत्पन्न वक्ता के द्वारा उच्चारण किये गए वेदवाक्य से अर्थबोध नहीं होगा' यह अनुपपत्ति नहीं हो सकती। कारण यह कि अव्युत्पन्न वक्ता के द्वारा कहे गये वेदवाक्य में भी 'विवक्षित अर्थ का ज्ञान करा देने की योग्यता' रूप अद्वैत मत का तात्पर्य लक्षण होने से व्युत्पन्न श्रोता को वेदवाक्य का अर्थ ज्ञात हो सकता है। इसके अतिरिक्त अद्वैत मत में 'ईश्वर के तात्पर्यज्ञान को अर्थबोध में कारण मानना' यह अतिदोष भी नहीं हो सकता। इसलिए वाक्य में विवक्षित अर्थ का ज्ञान करा देने योग्य पदों का होना ही तात्पर्य का उपयुक्त लक्षण है।

यह आक्षेप हो सकता है कि अद्वैत मत का तात्पर्य लक्षण को स्वीकार लेने पर अनेक अर्थों में प्रसिद्ध पदों से युक्त वाक्य के तत्तद् अर्थ के अनुरोध से अनेक तात्पर्य स्वीकार करने

होंगे। अर्थात् उक्त लक्षण की अनेकार्थक पदों से युक्त वाक्य में अतिव्याप्ति होगी। परिभाषाकार इस आक्षेप का भी समाधान करते हैं–

'ननु 'सैन्धवमानय' इत्यादि वाक्यं यदा लक्षणानयन–प्रतीतीच्छया प्रयुक्तं तदा श्वसंसर्गे–प्रतीतिजनने स्वरूपयोग्यतासत्वाल्लवण परत्व ज्ञानदशायामप्यश्वादि संसर्ग ज्ञानापत्तिरिति चेत्। न। तदितर प्रतीतिच्छयानुच्चरितत्वस्यापि तात्पर्य प्रति विशेषणत्वात्। तथा च यद्वाक्यं यत्प्रतीति–जनन–स्वरूपयोग्यत्वे सति यदन्यप्रतीतिच्छया नोच्चरितं तद्वाक्यं तत्संसर्गपरमित्युच्यते।[42] अर्थात् 'नमक लाओ' यह वाक्य श्रोता को नमक लाने का ज्ञान हो, जब इस इच्छा से कहा जाय तब उस वाक्य में अश्वसंसर्ग का ज्ञान करा देने की स्वरूपयोग्यता भी रहती है। इस कारण 'यह वाक्य लवणसंसर्गबोधक है' ऐसा ज्ञान होने के समय ही 'वह अश्वादिसंसर्गबोधक है' ऐसा ज्ञान भी हो सकता है। ऐसा आक्षेप करना उचित नहीं है। क्योंकि तात्पर्य के लक्षण में 'विवक्षित अर्थ से भिन्न अर्थ के प्रतीति की इच्छा से उसका उच्चारण न होना' इस विशेषण का निवेश कर्तव्य है। अर्थात् जो वाक्य उस अर्थ की प्रतीति के उत्पन्न करने की स्वरूपयोग्यता से युक्त होकर भी जिस अन्य अर्थ की प्रतीति की इच्छा से उच्चारित नहीं होगा वह वाक्य उसी संसर्ग का बोधक (तत्संसर्गपरक) कहा जाता है।

परिभाषाकार ने तात्पर्य का लक्षण 'तत्प्रतीतिजनकत्व' न कर 'प्रतीतिजननयोग्यत्व' किया है। नैयायिकों के अनुसार परिभाषाकार का आशय है कि वाक्य में विशिष्ट अर्थ की प्रतीति उत्पन्न करने की स्वरूपयोग्यता के रहने पर भी उसमें तात्पर्य का लक्षण घटित हो जाता है। परन्तु यह लक्षण करने पर अनेक अर्थों में प्रसिद्ध पदों से युक्त वाक्य में दोष आता है। जैसे– कोई व्यक्ति भोजन करते समय 'सैन्धव लाओ' यह आज्ञा सेवक को देता है। उस समय सेवक 'नमक लावें', यही उसकी विवक्षा होना उचित भी है। किन्त 'सैन्धव' पद से 'नमक' और 'घोड़ा' दोनों अर्थ विवक्षित होते हैं। इस प्रकार से पद में लवण का बोध करा देने की जैसी योग्यता है। इसी कारण श्रोता को उस वाक्य के श्रवण करते ही 'नमक' लाने का जैसे ज्ञान होता है, वैसे ही घोड़ा लाने का भी ज्ञान होता है। क्योंकि सैन्धव शब्द दोनों अर्थों का ज्ञान कराने की योग्यता रहती ही है। फिर भी सेवक, स्वामी के उस वाक्य को सुनकर 'घोड़ा' एवं 'नमक' दोनों पदार्थों को नहीं लाता है। किन्तु उस वाक्य से उसे केवल 'नमक' लाने की ही ज्ञान होता है। अतः 'स्वरूपयोग्यत्व' को तात्पर्यलक्षण स्वीकार कर

[42] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 119.

अनेकार्थक पद वाले वाक्य में वक्ता की इच्छा का भी अर्न्तभाव न कर अद्वैत वेदान्ती उसकी कैसी उपपत्ति स्वीकार करेंगे?

परिभाषाकार के अनुसार इस प्रकार का आक्षेप करना उचित नहीं है। क्योंकि परिभाषाकार को 'तत्प्रतीतिजननयोग्यत्व' इतना ही तात्पर्यलक्षण अभिप्रेत न होकर उसमें 'तदन्यप्रतीतिच्छयाऽनुच्चरितत्व' यह तात्पर्य विशेषण भी विवक्षित है और इस विशेषण का प्रयोग करने पर तात्पर्य लक्षण का स्वरूप वक्ता के विवक्षित अर्थ की प्रतीति करा देने की योग्यता (सामर्थ्य) जिस वाक्य में होती है एवं जो वाक्य विवक्षित अर्थ से भिन्न अर्थ को बताने की इच्छा से उच्चारण नहीं किया हुआ है, यही उसका तात्पर्य है। ऐसा तात्पर्य का लक्षण करने पर 'एक ही वाक्य से दो अर्थों का ज्ञान होगा' यह आक्षेप नहीं हो सकता। भोजन के समय वक्ता के द्वारा 'सैन्धव लाओ' वाक्य का उच्चारण, श्रोता को नमक से भिन्न अश्वादि पदार्थ के बोध की इच्छा से नहीं किया जाता। उस वाक्य में 'लवणप्रतीतिजननयोग्यता' होती है और लवणेतर पदार्थ के ज्ञान की इच्छा से उसका उच्चारण भी नहीं रहता। इसलिए सेवक को उस वाक्य के सुनते ही 'लवणकर्मक आनयन' अर्थात् जिसमें लवण कर्म है ऐसी 'आनयन' क्रिया ज्ञात होता है। अश्वकर्मक आनयन रूप ससंसर्ग का ज्ञान नहीं होता।

पुनः यह आक्षेप हो सकता है कि यह श्रोता को कैसे ज्ञात हो कि वक्ता ने 'सैन्धवमानय' वाक्य, अश्वप्रतीति की इच्छा से नहीं कहा, अपितु लवणप्रतीति की इच्छा से ही कहा है? इसके प्रत्युत्तर में परिभाषाकार के मतानुसार 'प्रकरण आदि' अर्थ निश्चायक होते हैं। जैसे– भोजन प्रसंग में इस वाक्य के कहे जाने से अश्वप्रतीति की इच्छा से यह कहा गया है, यह बोध होना संभव तो नहीं..। अतः 'तदन्यप्रतीतिच्छयाऽनुच्चरितत्व' इस तात्पर्य विशेषण का लक्षण में अर्न्तभाव करने से पूर्वोक्त दोष अद्वैत में नहीं हो सकता। केवल लवणपरक अर्थ की भी उपपत्ति लग जाती है। इसीलिए तात्पर्य लक्षण में इच्छादि विशोषणों का प्रयोग करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती।

परिभाषाकार के अनुसार इस प्रकार तात्पर्यलक्षण में इच्छादि विशोषणों का सन्निवेश न करने से ही 'शुकादि' वाक्यों की व्यवस्था लगती है तथा पूर्व उद्धृत अव्युत्पन्न वक्ता के द्वारा कहे गए वेदवाक्य में भी उसकी अव्याप्ति नहीं हो सकती।

परिभाषाकार के अनुसार 'शुकादिवाक्येऽव्युत्पन्नोच्चरित–वेदवाक्यादौ च तत्प्रतीतिच्छाया एवाभावेन तदन्य प्रतीतीच्छयोच्चरित्वाभावेन लक्षण सत्वान्नाव्याप्तिः। न चोभय

प्रतीतीच्छयोच्चरितेऽव्याप्तिः। तदन्यमात्रप्रतीतीच्छयाऽनुचरित्वस्य विवक्षितत्वात्'।[43] अर्थात्– शुक से कहे गये वाक्य में एवं अव्युत्पन्न व्यक्ति से बोले गये वेदवाक्य में वक्ता की विशेषार्थप्रतीतिविषयक इच्छा ही नहीं रहती। इस कारण अन्यार्थ प्रतीति की इच्छा से उस वाक्य को बोला गया है यह नहीं कहा जा सकता, इसलिए 'तदितरप्रतीतीच्छया अनुचरितत्व' लक्षण उन वाक्यों में घटित होने से अव्याप्ति नहीं हो पाती। और जो वाक्य दोनों अर्थों की प्रतीति की इच्छा से कहा हो उसमें अव्याप्ति होगी क्योंकि उसमें 'तदितरप्रतीतीच्छया अनुचरितत्व' नहीं रहता। परन्तु यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि 'तदितरप्रतीतीच्छया अनुचरितत्व' विशेषण का 'तदन्यमात्रप्रतीतीच्छयाऽनुचरित्व' रूप अर्थ परिभाषाकार को विवक्षित है। उभयप्रतीति की इच्छा से नहीं कहा रहता, इसलिए वहाँ पर लक्षण की अव्याप्ति नहीं हो सकती।

परिभाषाकार के अनुसार 'तत्प्रतीतिजननयोग्यत्व' न होकर 'तदितरप्रतीतीच्छा से अनुचरितत्व' रूप तात्पर्य का लक्षण स्वीकार करने पर तो इस प्रकार की इच्छाघटित लक्षण को स्वीकार करने पर शुकोच्चारित वाक्य में अव्याप्ति होती है, क्योंकि उच्चारण करते समय 'अमुक अर्थ का ज्ञान हो' या तद्भिन्न अर्थ का ज्ञान न हो' इत्यादि किसी प्रकार की इच्छा शुक में नहीं होती। इसलिए आक्षेप का निराकरण इस प्रकार किया जाता है कि जब तोता 'स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणम्' आदि पढ़ाए हुए वाक्यों को बोलता है तब उसके मन में 'इस वाक्य से श्रोता को अमुक अर्थ का बोध हो' इत्याकारक इच्छा जैसे नहीं रहती वैसी ही 'इससे भिन्न अर्थ की श्रोता को प्रतीति न हो' इत्याकारक इच्छा भी नहीं रहती। अर्थात् वह वाक्य उसने तदितरप्रतीत की इच्छा से उच्चारण किया हुआ नहीं रहता, परन्तु विशिष्ट अर्थ का ज्ञान करा देने की योग्यता तो उस वाक्य में होती है, अतः परिभाषाकार कृत तात्पर्यलक्षण यहाँ घटित होने से लक्षण–समन्वय हो जाता है। इसीलिए अव्याप्ति के न होने से ही उस वाक्य में अर्थबोध होता है। इसी कारण अव्युत्पन्न वक्ता के द्वारा उच्चारण किए गए वेदवाक्य भी विवक्षित अर्थ या तद्भिन्न अर्थ की इच्छा से उच्चारण किया नहीं रहता पर 'अर्थप्रतीतिजननयोग्यत्व' इस वाक्य में होता ही है, इस कारण ऐसे वाक्य में तात्पर्य–लक्षण का समन्वय होता है और ऐसा तात्पर्य ज्ञान होने से ही 'अर्थप्रत्ययाभावप्रसंग' नहीं हो सकता।

नैयायिक यह आक्षेप करते हैं कि तात्पर्य का उक्त लक्षण स्वीकार करने से अव्युत्पन्न वक्ता के द्वारा उच्चारित वाक्य में दोष न आने पर भी अन्यत्र दोष आता है। जैसे– कोई

[43] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 120.

ज्ञानवान वक्ता जब दोनों अर्थों की इच्छा से किसी वाक्य को बोलता हो इस समय वक्ता का यह वाक्य तदितरप्रतीत की इच्छा से अनुच्चरित है, नहीं कहा जा सकता। अतः उक्त लक्षण इस वाक्य में घटित न होने से दोनों अर्थों का बोध होता है, यह अनुपपत्ति दोष अद्वैत मत में है अर्थात् तात्पर्यलक्षण की यहाँ अव्याप्ति है। जो वक्ता विवक्षित अर्थ की इच्छा से वाक्य बोल सकता है, वह इस वाक्य को भिन्नार्थप्रतीति की इच्छा से भी उच्चारण कर सकता है। अर्थज्ञान रहित वक्ता में भिन्नार्थ प्रतीति की इच्छा से उच्चारण करने की योग्यता ही नहीं रहती है।

परिभाषाकार ने इस आक्षेप का भी निराकरण किया है। परिभाषाकार के अनुसार 'तदितर–प्रतीतीच्छयाऽनुचरित्वम्' विशेषण के 'तदितर' पद का 'तदन्यमात्र' अर्थ विवक्षित है। अर्थात् वक्ता के द्वारा कहा हुआ वाक्य दोनों अर्थों की विवक्षा से उच्चारण करने पर भी कोई क्षति नहीं है, कारण यह है कि इन दोनों अर्थों में उस वाक्य का तात्पर्य है। परिभाषाकार के मत में इस विशेषण का यही अर्थ भी है कि अमुक वाक्य केवल तदन्य अर्थ की प्रतीति की इच्छा से उच्चारित नहीं होना चाहिए। जैसे– जब कोई व्यक्ति 'सैन्धव लाओ' इस एक ही वाक्य को गमनोपयोगी अश्व एवं भोजनोपयोगी लवण– इन दोनों अर्थों की प्रतीति की इच्छा से उच्चारण करता है, तब लवणभिन्न जो अश्व अथवा अश्वभिन्न जो लवण है, इनकी विवक्षा से वक्ता उस वाक्य को वैसा कहता है, केवल अश्व या केवल तदन्य लवण अर्थ से उस वाक्य का उच्चारण नहीं रहता। अतः उक्त तात्पर्यलक्षण की ऐसे स्थलों में अव्याप्ति नहीं होती।

नैयायिकों के अनुसार 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति' एक बार उच्चारण किया हुआ शब्द एक समय एक ही अर्थ का बोध कराता है। यह नियम होने से 'अन्यायश्चानेकार्थत्वम्' को परिभाषाकार स्वीकार करते हैं, और यहाँ 'सैन्धवमानय' यह एक ही वाक्य, अश्व–लवण–उभयप्रतीति की इच्छा से उच्चारित है। तब यह कैसे कहा जा सकता हैं?

परिभाषाकार यह स्वीकार नहीं करते हैं कि एक ही बार कहे हुए 'सैन्धवमानय' वाक्य से युगपत अश्व एवं लवण दोनों अर्थों का ज्ञान होता है। परन्तु वक्ता के द्वारा यह वाक्य यद्यपि एक बार ही उच्चारित रहता है, फिर भी वक्ता के तात्पर्य को समझकर श्रोता उस वाक्य की अपने मन में दुहराता है और उसे प्रथम लवण की तदनन्तर अश्व की क्रमशः प्रतीति होती है। अतः उक्त नियम के साथ परिभाषाकार के मत का कोई विरोध नहीं है। इस कारण

'तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वे' सति 'तदन्यमात्रप्रतीतीच्छयाऽनुचरित्वम्' यह तात्पर्य का निष्कृष्ट लक्षण सिद्ध होता है। अभिप्राय यह है कि 'विशिष्ट अर्थ का ज्ञान करा देने की स्वरूपयोग्यता होते हुए, इस अर्थ से भिन्न अर्थ के ज्ञान की इच्छा से इस वाक्य का उच्चारण नहीं होता। इस कारण तात्पर्य के ज्ञात होने पर ही शाब्दबोध होता है प्रश्न हो सकता है कि 'तत्प्रतीतिजननयोग्यता' का अवेच्छेदक क्या है? या विशिष्ट अर्थ का ज्ञान करा देने की योग्यता शब्द में किस कारण आती है? क्योंकि 'तत्प्रतीतीच्छयाउच्चरित्वम्' को अवच्छेदक मानें तो अव्युत्पन्न वक्ता के द्वारा कहे गए वेदवाक्य में अव्याप्ति होती है। अतः अद्वैत मत प्रकृत में 'योग्यतावच्छेदक' किसे स्वीकार करते हैं? इस आक्षेप का निराकरण करने के लिए परिभाषाकार अद्वैत मत स्वीकृत अवच्छेदक को स्पष्ट करते हैं–

'उक्त–प्रतीति–मात्रजनन–योग्यतायाश्चावच्छेदिका शक्तिः, अस्माकं तु मते सर्वत्र कारणतायाः शक्तेरेवावच्छेदकत्वान्नकोऽपि दोषः'।[44] अर्थात्– उक्त समस्त शाब्दप्रतीति जननयोग्यता की अवच्छेदक 'शक्ति' ही है। परिभाषाकार ने सर्वत्र शक्ति को ही कारणता का अवच्छेदक माना है इस कारण किसी प्रकार का दोष नहीं है।

परिभाषाकार के अनुसार 'तत्प्रतीतीच्छया उच्चरित्वम्' को योग्यता का अवच्छेदक मानने में अव्युत्पन्नोचरित वाक्य में दोष आता है, इसलिए तत्प्रतीतीच्छया उच्चरित्वम्' को अवच्छेदक स्वीकार न कर 'शक्ति' को ही समस्त शाब्दबोधों की कारणता का अवच्छेदक स्वीकार करना चाहिए। अर्थात् यह स्वीकार करना चाहिए कि शब्द में विशिष्ट शक्ति होने पर विशिष्टार्थ का ज्ञान करा देने की योग्यता तो रहती ही है। जैसे– 'सैन्धवमानय' यही वाक्य केवल लवण–विवक्षा से जब कहा गया तब 'लवणप्रतीतीच्छया उच्चरित्व' कारणतावच्छेदक होता है और यही वाक्य, जब अश्व और लवण प्रतीति की इच्छा से उच्चारित हो तब 'तदन्यमात्रप्रतीतीच्छया अनुचरित्व' आदि भिन्न–भिन्न अवच्छेदक स्वीकार करने की अपेक्षा समस्त शाब्दजन्य बोधों में 'शक्ति' को ही कारणतावच्छेदक स्वीकार करने में कमी है।

परिभाषाकार ने किं बहुना केवल शब्दजन्य ज्ञान की जो कारणता उसी का अवच्छेदक 'शक्ति' न होकर संसार की समस्त कार्यों की कारणता का भी 'कार्यानुकूलशक्ति' को ही परिभाषाकार ने अवच्छेदक स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में शाब्दज्ञान की कारणता में अवच्छेदक 'शक्ति' है, इसे पृथक्तया स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रहती। ऐसा स्वीकार करने पर तृण, अरणि, मणि आदि में दाह–जनकत्व का भिन्न–भिन्न तृणत्वादि को अवच्छेदक

[44] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 121.

स्वीकार करने में अति भी नहीं हो सकती, या अननुगमदोष भी नहीं हो सकता। यहाँ पर शाब्दबोध की अवच्छेदक शक्ति का नैयायिकों के अनुसार 'सामान्यवृत्ति' समझना चाहिए। नैयायिक जिस प्रकार शक्य और लक्ष्य अर्थों में पदों की शक्ति ही मानते हैं अर्थात् 'वृत्ति' अर्थ में 'शक्ति' शब्द को स्वीकार कर विवेचन किया है। इसीलिए 'गम्भीरायां नद्यां घोषः' आदि स्थलों में तीरादि तात्पर्य की अनुपपत्ति होती है, कारण यह है कि यहाँ पर 'गंगा शब्द की तीर अर्थ में शक्ति नहीं है'। इस आक्षेप का निराकरण हो जाता है, इा कारण तात्पर्य का यह स्वरूप निर्दोष है।

यह प्रश्न हो सकता है कि परिभाषाकार शाब्दज्ञान में तात्पर्य को कारण कैसे कहते हैं? क्योंकि विवरणाचार्य ने शाब्दबोध में तात्पर्यज्ञान की आवश्यकता का निषेध किया है। इस आक्षेप का निराकरण परिभाषाकार ने किया है कि–

'एवं तात्पर्यस्य तत्प्रतीतिजनकत्वस्वरूपस्य शाब्दज्ञान–जनकत्वे सिद्धे चतुर्थवर्णके तात्पर्यस्य शाब्दज्ञान–हेतुत्व–निराकरण वाक्यं तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वरूप तात्पर्य निराकरणपरम्, अन्यथा तात्पर्य निश्चय फलक वेदान्तविचार वैयर्थ्य प्रसंगात्'।[45] अर्थात्– इस प्रकार तत्प्रतीतिजनकत्वस्वरूप तात्पर्यज्ञान, शाब्दज्ञान में कारण सिद्ध होने से चतुर्थवर्णक में विवरणाचार्य ने 'शाब्दबोध में तात्पर्यज्ञान कारण है' इस मत के निरसनार्थ जो वाक्य लिखा है वह 'तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्व' नैयायिकोक्त लक्षण की अयुक्तता दर्शित करने के लिए है। नहीं तो उपनिषद् वाक्यों के तात्पर्य का निर्णय करने के लिए प्रवृत्त वेदान्तवाक्य–विचाररूप उत्तरमीमांसा व्यर्थ हो जायेगी।

परिभाषाकार के मतानुसार ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के चतुःसूत्री (चार सूत्रों) पर आचार्य शंकर का भाष्य है। उस पर उन्हीं के शिष्य श्री पद्मपादाचार्य की टीका है, जिसे 'पंचपादिका' कहते हैं। उस पंचपादिका पर श्रीप्रकाशत्मुनि ने व्याख्या लिखी है, उसे विवरण कहते हैं। इसमें प्रथम सूत्र के चार वर्णक कर विवरण किया है, उनमें से चतुर्थ वर्णक में 'अत्रेदं' विचार्यं, किं तात्पर्यमर्थप्रमितिहेतुः किंवा प्रतिबन्धनिरासहेतुरिति?' यहाँ यह विचार करना है कि अर्थ यथार्थ ज्ञान होने में तात्पर्य कारण है या अर्थनिश्चय के प्रतिबन्ध की निवृत्ति के लिए उसकी आवश्यकता है? ऐसा विकल्प कर 'अर्थज्ञान में तात्पर्यज्ञान कारण नहीं है' यह कहा है, और यहाँ पर तो आप तात्पर्यज्ञान को ही शाब्दबोध में कारण बता रहे हैं, यह कैसे सम्भव हो सकता है? परिभाषाकार के मत में इस आक्षेप के उद्भव होने कारण यह है कि

[45] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 121.

विवरणाचार्य के आशय को न समझने के कारण उपर्युक्त आक्षेप उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि प्रमाणसिद्ध वस्तु का कोई भी निषेध नहीं कर सकता। अर्थात् उपर्युक्त तात्पर्यज्ञान से शाब्दबोध होता है, यह अनुभव सभी को होने के कारण अनुभवसिद्ध वस्तु का निषेध विवरणाचार्य भी कैसे कर सकते हैं? फिर भी यह स्वीकार करना चाहिए कि विवरणाचार्य ने जिस तात्पर्य का निषेध किया है वह नैयायिकाभिमत 'तत्प्रतीतीच्छा उचचरितत्व' रूप तात्पर्य का ही किया है। क्योंकि वैसे तात्पर्यज्ञान को शाब्दबोध में कारण मानना सदोष है। हमारे उपर्युक्त लक्षण पर किसी प्रकार दोष न आने से उसका निषेध करने का उद्देश्य नहीं है। कारण यह है कि तात्पर्यज्ञान शाब्दबोध की कारणता सर्वथैव नहीं होती है। यदि यह विवरणाचार्य मत होता तो वे वेदान्त–उपनिषद के तात्पर्य–निर्णयार्थ प्रवृत्त–शारीरिक भाष्य के आधार पर 'विवरण' टीका ही नहीं करते। क्योंकि जिस तात्पर्यज्ञान का अर्थज्ञान में उपयोग नहीं है, उस तात्पर्य के निश्चयार्थ किया हुआ उपक्रमोपसंहारादि तात्पर्यनिर्णायक षड्विधलिंगों का विचार व्यर्थ हो जाएगा।

इसके अतिरिक्त 'तत्तु समन्वयात्'[46] सूत्र के भाष्य में आचार्य ने 'सर्वेषुवेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येणैतस्यैवार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि'[47] कहा है, उसके साथ भी विरोध होगा इसलिए ऐसी मूलोच्छेदक कल्पना न कर उक्तार्थ में विवरणाचार्य का तात्पर्य स्वीकार करना उचित है। अब रत्नकार आदि के मत से उपर्युक्त तात्पर्य–निरसनपरक विवरण ग्रन्थ की उपपत्ति को स्पष्ट करते हैं–

'केचित्तु शाब्दज्ञानत्वावच्छेदेन न तात्पर्यज्ञानं हेतुरित्येवं परं चतुर्थवर्णकवाक्यम्। तात्पर्य–संशय–विपर्ययोत्तर शाब्दज्ञानविशेषे च तात्पर्यज्ञानं हेतुरेव। इदं वाक्यमेतत्परम्? उतान्यपरमिति संशये तद्विपर्यये च तदुत्तर वाक्यार्थ–विशेषनिश्चयस्य तात्पर्यनिश्चयं विनाऽनुपपत्तेरित्याहुः'।[48] अर्थात्– कुछ लोग 'शाब्दज्ञानत्व के अवच्छेद से (यावत्–शाब्दज्ञान में) तात्पर्यज्ञान कारण नहीं है, एतत्परक वह चतुर्थ वर्णक में वाक्य है। तात्पर्य में संशय अथवा विपर्यय (भ्रम) होने पर जो विशेष शाब्दबोध होता है, उसमें तो तात्पर्यज्ञान, कारण होता ही है। यह वाक्य एतत्पर (इस अर्थ का बोधक) है, या अन्य परक है? ऐसा संशय होने पर या अन्य पर ही है, यह भ्रम होने के पश्चात् वाक्यार्थ का जो विशेष निर्णय होता है उसकी उपपत्ति तात्पर्यनिश्चय के बिना नहीं हो सकती' ऐसा कहा जा सकता है।

---

[46] शरीरिक भाष्य– 1/1/4

[47] सरस्वती, स्वामी सत्यानन्द (व्या॰), 2016. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी– 221001, पृ॰ 50.

[48] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 121.

परिभाषाकार के अनुसार शंकराचार्य एवं विवरणाचार्य आदि का मत हैं कि यद्यपि विशिष्ट स्थल पर शाब्दबोध को तात्पर्यज्ञान की अपेक्षा होती है, फिर भी शाब्दबोध में सर्वत्र तात्पर्यज्ञान कारण नहीं होता' इसी मत में ही विवरणकार के वाक्य का तत्पर्य है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि विवरणकार ने तात्पर्यज्ञान का सर्वथा निषेध किया है, और यह भी....कि स्वीकार किया है। परिभाषाकार द्वारा प्रयुक्त 'शाब्दज्ञानत्वावच्छेदेन' का यही अर्थ है कि शाब्दज्ञानत्व के अवच्छेद से (व्यप्ति से) अर्थात् शाब्दज्ञान में तात्पर्यज्ञान कारण नहीं है और जहाँ शाब्दज्ञानत्व है वहाँ तात्पर्यज्ञान भी है, इस प्रकार शाब्दज्ञानत्व और तात्पर्यज्ञान की व्याप्ति भी नहीं है। परन्तु परिभाषाकार के जहाँ वाक्यार्थज्ञान में अमुक वाक्य का यही अर्थ है या अन्य अर्थ है, जहाँ इस प्रकार का संशय हुआ हो वहाँ तात्पर्यज्ञान का वाक्यार्थज्ञान में उपयोग होता है। यदि वक्ता के आशय को न समझकर किसी को अन्यथा अर्थ का ज्ञात हुआ हो तो अन्यथा ज्ञान की निवृत्ति के लिए वहाँ पर उतना तात्पर्यज्ञान उपयुक्त होता है। जहाँ अन्यथा शाब्दज्ञान हो वहाँ तात्पर्यज्ञान कारण नहीं रहता। आशय यह है कि विशिष्ट स्थल में तात्पर्यज्ञान की शाब्दबोध में अपेक्षा होती है। परिभाषाकार के अनुसार ऐसा कोई नियम नहीं है कि समस्त शाब्दबोध, तात्पर्यज्ञान के पश्चात् ही हो। शाब्दज्ञान में तात्पर्यज्ञान की कारणता का निषेध करने में विवरणाचार्य का यही अभिप्राय हो सकता है। इस प्रकार से परिभाषाकार ने तात्पर्यज्ञान में कारणता की उपपत्ति को बताया है।

परिभाषाकार ने 'आहुः' का प्रयोग कर उपर्युक्त समाधान में स्व–अरूचि प्रदर्शित की है। कारण यह है कि सामान्यतः समस्त शाब्दबोधों में तात्पर्यज्ञान को ही कारण माना जाय तो शाब्दज्ञाननिष्ठ कार्यता का अवच्छेदक, शाब्दज्ञानत्व ही होगा, परन्तु ऐसा न स्वीकार कर संशय–विपर्ययोत्तर शाब्दज्ञान में ही तात्पर्यज्ञान कारण होता है, यदि स्वीकार करें तो 'संशयविपर्ययोत्तरशाब्दज्ञानत्व' इतना कार्यतावच्छेदक स्वीकार करना पड़ता है, फिर भी कार्यभेद से कारण का और कारणतावच्छेद आदि का भेद यदि स्वीकार हो तो परिभाषाकार के मत को भी स्वीकार किया जाए। इस प्रकार पूर्वाचार्यों के वचन से परिभाषाकार के मत का विरोध नहीं हो पाता। यह दोनों समाधानों से सिद्ध है। अतः तात्पर्यज्ञान शाब्दबोध में कारण है।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि तात्पर्यज्ञान, शाब्दबोध में कारण है। यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि तात्पर्यज्ञान किससे होता है?

परिभाषाकार के मतानुसार– 'तच्च तात्पर्यं वेदे मीमांसा परिशोधित–न्यायादेवावधार्यते, लोके तु प्रकरणादिना। तत्र लौकिक–वाक्यानां मानान्तरावगतार्थानुवादकत्वम्। वेदे तु वाक्यार्थस्यापूर्वतया नानुवादकत्वम्'।[49] अर्थात्– तात्पर्य, वेदवाक्यों में मीमांसा के द्वारा परिशोधित न्यायों से ही निश्चित होता है। परन्तु लौकिक वाक्यों में प्रकरणादिकों से (तात्पर्य का निश्चय होता है)। तत्र– लौकिक वैदिक वाक्यों में से लौकिक वाक्य तो प्रमाणान्तरों से ज्ञात हुए अर्थ का ही अनुवाद करते हैं। परन्तु वैदिक वाक्यों का अर्थ, प्रमाणान्तर से अज्ञात होने के कारण अनुवाद रूप नहीं होता।

परिभाषाकार के मत में लौकिक और वैदिक भेद से शब्द दो प्रकार के हैं। वैदिक वाक्यों के तात्पर्य का निश्चय पूर्वोत्तर–मीमांसा सम्मत् विचार से सिद्ध हुए निर्दोष न्यायों के द्वारा ही होना उचित है। क्योंकि बिना मीमांसा के वेदों का यथार्थ तात्पर्य ज्ञात होना संभव ही नहीं। इसलिए वेदों के पूर्वोत्तर भाग के तात्पर्य–निश्चयार्थ ही पूर्वोत्तर–मीमांसाएँ की प्रवृत्त हुई है। अतः वैदिक वाक्यों का तात्पर्यज्ञान मीमांसा–न्यायों के तन्त्राधीन होता है। जबकि लौकिक वाक्यों का तात्पर्य प्रकरणादि से ज्ञात होता है। जैसे– 'देवः प्रमाणम्' यह वाक्य राज प्रकरण में पठित होने से यहाँ पर देव शब्द का राजा अर्थ में तात्पर्य है, यह निश्चित होता है। प्रकरणादि के 'आदि' पद से लिंग, औचित्य, स्थल आदि का ग्रहण करना चाहिए। प्रकरणादि के निर्णय में 'वाक्यपदीयम्' के वाक्यकाण्ड से यह श्लोक उद्धृत है–

'अर्थात् प्रकरणाल्लिङगादौचित्याद्देशकालतः।

शब्दार्थास्तु विभिद्यन्ते न रूपादेव केवलात्'।।[50]

अर्थात्– अर्थ (प्रयोजन), प्रकरण, लिङग (शाब्दसामर्थ्य), औचित्य, देश और काल से शब्दार्थों का भेद होता है। केवल शब्दस्वरूप से शब्दार्थ में भेद नहीं होता। लौकिक और वैदिक वाक्यों में एक विशेषता यह भी है कि लौकिक वाक्य जिस अर्थ का बोध कराते हैं, वह प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से ज्ञात ही रहता है, वैदिक वाक्यों की भाँति अपूर्व नहीं होता। इसलिए लौकिक वाक्यों में सिद्ध वस्तुओं का अनुवादकत्व होता है। वैदिक वाक्यों की भाँति स्वतः प्रामाण्य नहीं होता। जबकि वैदिक वाक्यों में स्वतः प्रामाण्य होता है। वैदिक वाक्यों से जो अर्थ को ज्ञात होता है वह ज्ञात अर्थ पहले किसी भी अन्य प्रमाण से ज्ञात नहीं होता।

[49] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 123.
[50] वाक्यपदीयम्– 2/314.

इसी कारण वैदिक वाक्य, अनुवादरूप न होकर अपूर्व (पुरूषबुद्धि से अगम्य) अर्थबोध का प्रतिपादन करते हैं। इसी कारण वैदिक वाक्यों को अज्ञातार्थपकत्वरूप प्रामाण्य होता है।

परिभाषाकार के अनुसार पूर्व–मीमांसक साक्षात् विधि–निषेध बोधक वाक्यों को ही स्वतः प्रामाण्य स्वीकार करते हैं। जैस– व्यवहार में दिखाई देता है कि उत्तमवृद्ध पुरूष (वृद्ध आदमी), मध्यमवृद्ध (तरूण पुरूष) को 'गाय लाओ' 'बछड़ा बाँध' इत्यादि आज्ञा देता है। यह सब समीप बैठा बालक देखता रहता है और उससे उसे आनयनादि–क्रियान्वित ही 'गो' आदि पदों का अर्थबोध (शक्तिग्रह) होता है। इसलिए केवल सिद्धवस्तुप्रतिपादक शब्दों से शक्तिग्रह होना संभव ही नहीं। अतः कार्यबोधत्वेन रूपेण ही वाक्यों का प्रामाण्य सिद्ध होता है। सिद्धार्थप्रतिपादक वाक्यों में प्रामाण्य नहीं सिद्ध होता। इसी अभिप्राय से मीमांसकों ने 'आम्नायस्य क्रियार्थत्व–दानर्थक्यमतदर्थानाम्'[51] कहा है।

परिभाषाकार ने पूर्वमीमांसकों के इस मत का निराकरण किया है– 'तत्र लोके वेदे च कार्यपराणामिव सिद्धार्थानामपि प्रामाण्यम, पुत्रस्ते जात ईष्यादिषु सिद्धार्थोऽपि पदानां सामर्थ्यावधारणात्। अत एव वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मणि प्रामाण्यम्'।[52] अर्थात्–'तत्र'– लोक और वेद में कार्यबोधक वाक्यों के समान सिद्धार्थबोधक वाक्यों में प्रमाण होता है। क्योंकि 'तुम्हे पुत्र हुआ है' इत्यादि वाक्यों में सिद्ध अर्थ का ही प्रतिपादन होने पर भी उनके पदो के सामर्थ्य (शक्ति) का निश्चय कर पाते हैं इसी कारण उपनिषद्–वाक्यों को ब्रह्म के विषय में प्रामाण्य माना जाता है।

परिभाषाकार के अनुसार कार्यपरक वाक्यों के समान सिद्धार्थप्रतिपादक वाक्यों का भी प्रामाण्य अवश्य स्वीकार करना चाहिए। कारण यह है कि कार्यपरक वाक्यों से जिस प्रकार उन वाक्यों का सामर्थ्य का ज्ञान होता है उसी प्रकार 'तुम्हे पुत्र हुआ है' इत्यादि सिद्धार्थ बोधक वाक्यों का भी शक्तिग्रह होता है। जिस प्रकार 'पुत्रस्ते जातः' इस वाक्य का श्रवण करते ही श्रोता की मुखमुद्रा प्रसन्न होती है, उसी प्रकार 'कन्या ते गर्भिणी जाता' इस वाक्य का श्रवण करते ही श्रोता की मुखमुद्रा अप्रसन्न दिखती है। इस प्रसन्नता और अप्रसन्नता रूप लिंग से उसके हर्ष–विषाद का ज्ञान होता है। अतः उपर्युक्त वाक्य से उक्त अर्थ यदि श्रोता को ज्ञात न हुआ होता तो उसके मुख पर ऐसा परिणाम ही न दिखाई देता। इस अर्थापत्ति प्रमाण से श्रोता को उक्त सिद्धार्थ बोधक वाक्यों से भी शाब्दबोध होता है। इसलिए

[51] जैमनी सूत्र– 1/2/1.

[52] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 124.

कार्यपरक वाक्यों के शक्तिग्रह के समान सिद्धार्थ बोधक पदों का भी शक्तिग्रह स्वीकार करना चाहिए, जिससे सिद्धार्थ बोधक पदों में भी प्रामाण्य अर्थादेव सिद्ध हो जाता है। क्योंकि जिस प्रकार कार्य बोधक वाक्य से यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है' उसी प्रकार सिद्धार्थबोधक वाक्य से भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। अर्थात् इसके 'यथार्थत्व' रूप प्रामाण्य का कोई निषेध नहीं कर सकता। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादा.....' इत्यादि सूत्र के द्वारा पूर्व भाग के मन्त्र तथा अर्थवादरूप वेदभाग में प्रामाण्य नहीं है, इस आशय से पूर्वपक्ष को उठाया गया है। इस कारण स्वतंत्र फल रहित मन्त्रादि में विधिशेषत्वेन प्रामाण्य के प्राप्त न होने पर भी समस्त अनर्थनिवृत्तिरूप प्रयोजन (फल) से युक्त ब्रह्मप्रतिपादक उपषिद्वाक्यों में भी प्रामाण्य सिद्ध होता है। इसलिए लौकिक एवं वैदिक दोनों वाक्यों को कार्य और सिद्ध बोधक दोनों अर्थों में प्रामाण्य होता है। अतः वेदान्त के ब्रह्मप्रतिपादक वाक्यों में प्रामाण्य सिद्ध होता है।

6.4 पदजन्य पदार्थ, शक्ति एवं लक्षणादि–

परिभाषाकार के अनुसार 'पदार्थश्च द्विविधः– शक्यो लक्ष्यश्चेति। तत्र शक्तिर्नाम पदानामर्थेषु मुख्या वृत्तिः, यथा घटपदस्य पृथुबुध्नोदराद्याकृति– विशिष्ट वस्तुविशेषे वृत्तिः। सा च शक्तिः पदार्थान्तरम्। सिद्धान्ते कारणेषु कार्य्यानुकूल शक्तिमात्रस्य पदार्थान्तरत्वात्'।[53] अर्थात्– पदार्थ शक्य तथा लक्ष्य भेद से दो प्रकार का है। उनमें शक्य का अर्थ है शक्ति रूप वृत्ति से युक्त और लक्ष्य का अर्थ है लक्षणा रूप वृत्ति से युक्त) पदों के वाच्य अर्थ में स्थित मुख्य वृत्ति को ही शक्यपद की घटक शक्ति कहते हैं। जैसे– 'घट' पद की तल तथा मध्य भाग में वर्तुल आकार से युक्त वस्तु विशेष में रहने वाली वृत्ति ही शक्ति कही जाती है। वह शक्ति, पृथक् पदार्थ है। क्योंकि कारण में विद्यमान होती हुई कार्योत्पत्ति के अनुकूल समस्त शक्ति को सिद्धान्त में पृथक पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है।

परिभाषाकार के अनुसार कुछ विद्वान शक्य, लक्ष्य और गौण भेद से तीन पदार्थ स्वीकार करते हैं। इसलिए परिभाषाकार ने 'पदार्थ द्विविध है' पदों का प्रयोगकर उनका निराकरण किया है। अद्वैत मत में गौण पदार्थ का अन्तर्भाव लक्ष्य पदार्थ में ही हो जाता है। पद का अर्थ के साथ जो सम्बन्ध उसे वृत्ति कहते हैं। यह वृत्ति शक्ति या शक्य तथा लक्षणा भेद से दो प्रकार की होती है। इनमें से 'शक्ति नामक वृत्ति से युक्त पदार्थ को शक्य या वाच्य और लक्षणा नामक वृत्ति से युक्त पदार्थ को लक्ष्य कहा जाता है, यह इनकी शास्त्रीय संज्ञा है।

[53] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 98.

6.4.1 शक्ति–

वृत्तिरूप सम्बन्ध साक्षात् और परम्परा भेद से दो प्रकार का है, इनमें से पद का पदार्थ के साथ मुख्य प्रथमोपस्थित जो सम्बन्ध–वृत्ति है, उसे शक्ति कहते हैं– यह शक्ति का लक्षण है।[54] जैसे– 'घट' पद से प्रथमतः ही बड़े बर्तुल मध्यभाग वाले, कुश कण्ठ वाले पदार्थों की उपस्थिति 'शक्ति' वृत्ति से होती है। वहीं लक्ष्य पदार्थ के साथ पद का पहले जैसा साक्षात् सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् पद श्रवण होने के अनन्तर प्रथमतः ही लक्ष्य पदार्थ का ज्ञान नहीं होता, अपितु शक्य पदार्थ के द्वारा, परम्परा से (शक्य–पदार्थ–ज्ञान के व्यवधान से) होता। इस कारण शक्ति का लक्षण लक्ष्य पदार्थ में अतिव्याप्त नहीं होता।

प्राचीन नैयायिकों अनुसार कि 'पद' के साथ अर्थ का जो सम्बन्ध होता है उसे शक्ति कहते हैं। यह शक्ति द्रव्य–गुणादि सप्त पदार्थों से पृथक पदार्थ नहीं है। परन्तु 'इस पद से यह अर्थ स्वीकार करना' इस प्रकार की जो ईश्वरेच्छा हैं उसी में शक्ति का अर्न्तभाव होता है। जैसे– 'देवदत्तादि' नाम में भी शक्ति है क्योंकि कोई 'पिता ग्यारहवें दिन पुत्र का नाम रखे' ऐसी ईश्वरेच्छा वहाँ भी रहती ही है और नव्य नैयायिक– 'ईश्वरेच्छा को शक्तिरूप न स्वीकार कर उसे केवल इच्छारूप ही स्वीकार करते हैं। इस कारण आधुनिक संकेतों भी में शक्ति का होना सिद्ध है। वहीं नैयायिकों के मत का निराकरण करने के लिए परिभाषाकार ने 'सा च शक्ति' इत्यादि वाक्य से शक्ति को पृथक् पदार्थ सिद्ध किया है। फिर भी प्राचीन नैयायिकों के मतानुसार शक्ति का ईश्वरेच्छारूप होना सम्बन्ध नहीं है। कारण यह है कि मानवीय इच्छा से नदी–नगर आदि की जो संज्ञाए प्रसिद्ध हैं, उसमें ईश्वरेच्छा नहीं होती है। वहीं नव्य नैयायिकों से अनुसार सामान्य इच्छारूप शक्ति को स्वीकार करे, तो वह भी सम्भव नहीं। कारणतः मनुष्य पट आदि की इच्छा से घट आदि पद का उच्चारण करे तो वहाँ भी इच्छा के विद्यमान होने के कारण घट पद की पट में भी शक्ति का स्वीकार करना होगा। इसलिए इस वृत्तिरूप शक्ति को पृथक् पदार्थ के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए। इतना ही नहीं, अद्वैत वेदान्तियों ने संसार की समस्त वस्तुओं के कारणों में विद्यमान कार्य उत्पन्न करने को योग्यता को ही शक्ति स्वीकार किया है। सामान्य शक्ति को भी अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकृत दी है। अतः यह स्पष्ट है कि अद्वैत मत में पदनिष्ठ अर्थ बोध रूप कार्य की जनक शक्ति अद्वैत मत में पृथक पदार्थ है।[55]

---

[54] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 208.
[55] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 209.

परिभाषाकार के अनुसार अद्वैत मतानुयायी 'अर्थापत्ति' प्रमाण से शक्ति का पार्थक्यता सिद्ध करते हैं।[56] जैसे– केवल अग्नि, दाह करने में समर्थ है, परन्तु मणि के सान्निध्य से दाह नहीं होता। इस कारण मणि के सान्निध्य से दाहकारणीभूत अग्नि शक्ति नष्ट हो गई, यह कल्पना करनी पड़ती है। इस प्रकार से स्पष्ट होने वाला शक्तिरूप पदार्थ, अन्य सब पदार्थों की अपेक्षा विलक्षण पदार्थ सिद्ध होता है। अब यदि यह कहा जाए कि प्रतिबन्धक का अभाव, कार्यमात्र के प्रति कारण होता है। तो यहाँ मणिरूप प्रतिबन्धक पदार्थ के विद्यमान होने से प्रतिबन्धक अभावरूप कारण नहीं है, अपितु यहाँ पर दाहरूप कार्य नहीं होता।

परिभाषाकार के अनुसार यह कहना उचित नहीं नहीं क्योंकि है प्रतिबन्धकाभाव अभावरूप होने से उसमें किसी भाव कार्य के प्रति कारणता नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त

1. दाहादिकार्य वह्निनिष्ठ दाहानुकूल शक्तिरूप पदार्थ से युक्त है,
2. क्योंकि उसमें कार्यत्व है,
3. घटादि के समान।

यह अनुमान भी शक्ति को अतिरिक्त पदार्थ ही सिद्ध करता है। इसी तरह 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते'[57] इस परमात्मा की अनेकविध (सत्त्वादिगुणों से अनेकरूप) पर (सूक्ष्म), कार्यगम्य शक्ति है। 'शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्या ज्ञानगोचराः' सब पदार्थों में अचिन्त्य और कार्य ज्ञानैगम्य शक्तियाँ है। इस प्रकार अनेक श्रुतियाँ शक्ति को पृथक् सिद्ध करती हैं। इसलिए शक्ति, पृथक पदार्थ है और पदनिष्ठ शक्ति भी इच्छारूप नहीं है। इस पदनिष्ठ शक्ति का ज्ञान किस प्रमाण से होता है? परिभाषाकार के अनुसार पदनिष्ठ शक्ति के ज्ञान में 'अनुमान प्रमाण' ज्ञापक है।

परिभाषाकार के अनुसार 'सा च तत्तत्पदजन्य–पदार्थज्ञान–कार्य्यानुमेया। तादृशशक्ति–विषयत्वं शक्यत्वम्। तच्च जातेरेव न व्यक्तेः, व्यक्तीनामानन्त्येन गुरुत्वात्। कथं तर्हि गवादि–पदाद् व्यक्तिमानमिति चेत्, जातेर्व्यक्ति–समान–संवित्संवेद्य त्वादिति ब्रूमः'।[58] अर्थात्– वह पदनिष्ठ शक्ति, तत्तद् विशेष पदार्थ के ज्ञानरूप कार्य अनुमान प्रमाण से जानने योग्य है। पदार्थ में ऐसी शक्ति की विषयता होना उसकी शक्यता है। वह शक्यत्व जाति में ही रहता है, व्यक्ति में नहीं। क्योंकि व्यक्ति अनन्त होने से प्रत्येक व्यक्ति पृथक् शक्यत्व

---

[56] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 209.

[57] न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत् समाश्चाश्यधिकश्चदृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया।। (श्वेताश्वतर उपनिषद्– 6/8)

[58] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 100.

मानने में अति है। व्यक्ति में यदि शक्यत्व नहीं है तो 'गो' आदि पदों के श्रवण करते ही सास्नादिमान् गोव्यक्ति का ज्ञान कैसे होता है? पत्युत्तर यह कि जाति, व्यक्ति ज्ञानरूप एक ही ज्ञान से संवेद्य होने से, जाति ज्ञान के होते ही व्यक्तिज्ञान और व्यक्तिज्ञान के होते ही उसमें जातिज्ञान होता है। यह परिभाषाकार स्वीकार करते हैं।

परिभाषाकार के अनुसार 'घट' पद का श्रवण करते ही कम्बुगीवादिमान् पदार्थ का ज्ञान का स्मरण होता है। 'पट' पद का श्रवण करने पर कम्बुगीवादिमान् पदार्थ की मन में उपस्थिति नहीं होती। अतः इस अन्वयव्यतिरेक से 'घट' पद की शक्ति 'कम्बुगीवादिमान् पदार्थ में है' यह सिद्ध होता है। इस विषय में अनुमान का प्रयोग इस प्रकार है–

(1) 'पदार्थज्ञान, पदनिष्ठ–स्वबोधानुकूल–शक्तिपूर्वक है।

(2) क्योंकि वह पदार्थज्ञान पदजन्य–पदार्थज्ञान कार्यरूप है।

(3) जैसे घटरूप पदार्थ का ज्ञान 'घट' पद की 'कम्बुगीवादिमान् पदार्थ में विद्यमान शक्ति से युक्त है'।

उपर्युक्त अनुमान से पदनिष्ठ शक्ति, पृथक पदार्थ सिद्ध होती है। इस प्रकार परिभाषाकार ने शक्ति का निरूपण किया।

6.4.2 शक्य पदार्थ–

परिभाषाकार ने 'तादृशशक्ति–विषयत्वं शक्यत्वम्.....' इत्यादि वाक्य से उपर्युक्त विवेचित शक्ति से युक्त शक्य पदार्थ का स्वरूप स्पष्ट किया है। पूर्व उद्धृत शक्ति से उत्पन्न होने वाले ज्ञान का जो विषय होता है वह पदार्थ 'शक्य' होता है। अर्थात् उस पदार्थ में उस पद का शक्यत्व रहता है। जैसे– 'घट' पद से 'घटत्व' अर्थ का बोध होता है, अतः 'घट' पद की शक्ति से होने वाले इस ज्ञान में 'घटत्व' विषय रहता है। इसीलिए वह 'घटत्वविषयक' घटत्व का ज्ञान है। इस कारण घट पद का 'घटत्व' शक्य है या शक्यत्व घटनिष्ठ है।

यह प्रश्न हो सकता है कि 'पद का शक्य अर्थ कौन सा?' इस विषय में विभिन्न विद्वानों के भिन्न–भिन्न मत हैं। कतिपय विद्वान 'गो' पद की सास्नादिमान् (गाय के कण्ठ के नीचे लटकती मांसमय झालर) गोव्यक्ति में शक्ति स्वीकार करते हैं। नैयायिक के अनुसार जातिविशिष्ट व्यक्ति में शक्ति है ('गो' पद गोत्वविशिष्ट गोव्यक्ति में शक्ति रहती है अर्थात् गोत्वविशिष्ट गो, गोपद का शक्य है)। इन सब विकल्पों का निराकरण करने के उद्देश्य से परिभाषाकार ने पूर्वोत्तर मीमांसा साधारण शक्यत्व कहाँ रहता है, इसे परिभाषाकार ने 'तच्च

जातिरेव न व्यक्तेः.....' आदि वाक्य से स्पष्ट किया है। परिभाषाकार के अनुसार गो आदि पदों की शक्ति जाति में ही रहती है। क्योंकि व्यक्ति में शक्ति स्वीकार करने पर गो व्यक्तियों के अनन्त होने से उनमें रहने वाली शक्तियाँ भी अनन्त स्वीकार करनी होंगी। इस प्रकार अनन्त शक्तियों की कल्पना करने में अति होगी है। इसके अतिरिक्त एक 'गो' पद से एक व्यक्ति में शक्ति का ग्रहण होने पर भी अन्य गो व्यक्ति का उस पद से ज्ञान नहीं हो सकता, कारण यह है कि वहाँ की शक्ति भिन्न है, और उसका ज्ञान होने के लिए अन्य गोनिष्ठ शक्ति का ज्ञान आवश्यक है। इस प्रकार से असंख्य गौ की शक्ति का ज्ञान सहस्त्र युगों में भी नहीं हो सकता। इसलिए 'गो' आदि पदों की शक्तिग्रह का होना संभव ही नहीं होगा। ऐसे अनेक दोष 'व्यक्तिशक्तिवाद' में उपस्थित हैं। अतः व्यक्ति में शक्ति को नहीं स्वीकार किया जा सकता।

ऐसा नियम नहीं किया जा सकता कि नैयायिको के 'जातिविशिष्ट व्यक्तिशक्तिवाद' के पक्ष में भी अनन्त व्यक्तियों का ज्ञान न होने के कारण अमुक शब्द की अमुक अर्थ में ही शक्ति है, आदि पूर्वोक्तदोष उसी प्रकार ही हैं। इसलिए मीमांसकों का अभिमत 'जातिशक्तिवाद' को ही स्वीकार करना उचित है। यह स्वीकार करने पर गोत्व जाति के एक होने से एक व्यक्ति में गोत्व जाति का ज्ञान होने पर भी सर्वत्र गोत्व जाति के एक होने से अन्य व्यक्तियों में भी शक्तिग्रह होता है, परन्तु जातिशक्तिवाद में कमी भी है।

यह आक्षेप हो सकता है कि जब परिभाषाकार ने प्रत्यक्ष परिच्छेद में 'जातित्वोपाधित्व परिभाषायाः सकलप्रमाणागोचरतया.' इत्यादि वाक्य से जाति और उपाधि का खण्डन किया है और यहाँ पर परिभाषाकार पदों की शक्ति 'सकलप्रमाणागोचर' ऐसी जाति में है, यह स्वीकार करते हैं, अतः यह कैसे संभव हो सकता है कि जाति पदार्थ ही यदि परिभाषाकार को स्वीकार नहीं है तो परिभाषाकार जाति पदार्थ में शक्ति को भी कैसे स्वीकार कर सकतें है? श्रीगजानन शास्त्री ने परिभाषाकार सम्मत् समाधान को इस प्रकार व्यक्त किया है–

परिभाषाकार के अनुसार यह आक्षेप उचित है। परिभाषाकार ने जाति का खण्डन नहीं किया है, बल्कि नैयायिकों की 'जाति अतिरिक्त पदार्थ है' इस परिभाषा का ही खण्डन किया है अर्थात् जाति स्वतंत्र या पृथक पदार्थ नहीं, इतना हीं स्पष्ट किया है, इसलिए वहाँ 'घटोऽयमित्यादि प्रत्यक्षं हि घटत्वादिसद्भावे मानम्' यह कहकर 'घटत्वादि' धर्म के सद्भाव या अस्तित्व को स्वीकार किया है। नैयायिकों का यह मत अनुचित है कि 'घटत्व घट की अपेक्षा अतिरिक्त एवं उसमें समवाय संबन्ध से रहने वाला पदार्थ है। इसलिए यहाँ 'जाति' शब्द को

घटत्वादि आकृतियों का वाचक ही स्वीकार करना चाहिए। उल्लेखनीय है कि आचार्य शंकर ने शारीरिकभाष्य में 'अकृतिभिश्च शब्दानां सम्बन्धो न व्यक्तिभिः'[59] इत्यादि कहकर जाति शब्द के स्थान पर 'आकृति' शब्द की ही स्वीकार किया है। अतः परिभाषाकार ने भी जाति शब्द का प्रयोग आकृति को उद्देश्य करके किया है। इसलिए किसी प्रकार का विरोध नहीं है। नैयायिक जिस अनुगत धर्म को जाति कहते हैं, वह जाति शब्द अनुगत धर्मरूप अर्थ में ही यहाँ प्रयुक्त किया है।

'गोत्वादि अनुगत धर्मरूप अर्थ में शब्दों की शक्ति है' इस सिद्धान्त पर यह आक्षेप हो सकता है कि 'व्यक्ति में या जातिविशिष्ट व्यक्ति में पद की शक्ति को स्वीकार करने वाले नैयायिक मत में जैसा अद्वैत मत ने दोष प्रदर्शित किया है, वैसा दोष ही अद्वैत स्वीकृत जातिशक्तिवाद में भी हैं। इसलिए 'गामानय' 'व्रीहीन् प्रोक्षति' आदि व्यक्तिमात्रबोधक वाक्यों का अर्थ जातिशक्तिवादी अद्वैत मत में 'गोत्व जाति को लाओ' और 'वीहित्व जाति का प्रोक्षण करो होने लगता है। परन्तु ऐसा होना संभव नहीं क्योंकि अमूर्त 'जाति' पदार्थ का आनयन किंवा प्रोक्षण असंभव है इसलिए यहाँ पर जो केवल व्यक्ति का बोध होता है, उसकी अनुपत्ति होगी। यह अतिदोष जातिशक्तिवाद में आता है, ऐसी स्थिति में अद्वैती व्यक्तिबोध की उपपत्ति कैसे लगाते हैं?

व्यक्तिबोध की इस उपपत्ति को मीमांसा के विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से स्पष्ट किया है। कितने ही विद्वान अर्थापत्ति प्रमाण से व्यक्ति का ज्ञान स्वीकार करते हैं। अद्वैती 'गामानय' इस उत्तम वृद्धवाक्य को सुनकर मध्यमवृद्ध के द्वारा गोव्यक्ति को लाया जाता हुआ देखते हैं। क्योंकि यदि श्रोता को व्यक्तिबोध न हुआ होता तो 'अनायन' क्रिया में व्यक्ति का अन्वय ही न हुआ होता। इसलिए 'अर्थापत्ति' प्रमाण से ही ऐसे वाक्यों में व्यक्तियों का ज्ञान होता है। यह स्वीकार करना चाहिए।

परिभाषाकार कोयह मत स्वीकार नहीं है। कारण यह है कि 'गामनय' इस वाक्य में यद्यपि व्यक्तिज्ञान हो सकता है तथापि 'गौरस्ति' इस वाक्य में उक्त प्रकार से अन्वयानुपपत्ति संभव नहीं है। इस प्रकार यहाँ व्यक्तिबोध नहीं हो सकता, यह दोष इस पक्ष में उपस्थित है, इसलिए परिभाषाकार ने इस ग्रन्थ में उस पद का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। अपतु अन्य तीन आचार्यों के ही मतों का उल्लेख किया है। उनमें से परिभाषाकार को तीसरा कुमारिल भाट्ट का पक्ष ही विशेष रूप से सम्मत है। प्रथमतः दो पक्षों को स्पष्ट करने के बाद

[59] शरीरिक भाष्य– 1/3/28.

तीसरा पक्ष सिद्धान्त के रूप में स्पष्ट करते हैं। उक्त आक्षेप का 'न च.' इत्यादि वाक्य में 'जातेः' आदि वाक्य से प्रथम पक्ष के समान समाधान बताया है। नैयायिकों के समान अद्वैत वेदान्त में धर्म को धर्मी की अपेक्षा पृथक् नहीं स्वीकार करते, परन्तु धर्म और धर्मी का तादात्म्य स्वीकार करते हैं। वस्तुतः जाति ही शक्य है, फिर भी जाति और व्यक्तिरूप धर्म–धर्मी का अभेद होने से एक ज्ञान से ही जाति और व्यक्ति का ज्ञान हो जाता है अर्थात् जाति का ज्ञान होते ही उसमें व्यक्ति का ज्ञान होता है एवं व्यक्ति के ज्ञान में जाति का भी ज्ञान हो सकता है, यही तात्पर्य है। इसलिए जातिशक्तिवाद में व्यक्तिज्ञान की अनुपपत्ति नहीं हो सकती।

यह प्रश्न उठ सकता है कि पद से व्यक्ति का ज्ञान कैसे संभव हो सकता है? क्योंकि पद की शक्ति व्यक्ति में है ही नहीं। तब व्यक्ति का ज्ञान होता है यह भी अद्वैत वेदान्ती कैसे निश्चय करेंगे? और शक्ति के न होने पर भी पद से पदार्थ का ज्ञान होता है, ऐसा स्वीकार करने पर किसी भी शब्द से किसी भी अर्थ का ज्ञान होने लगता। परिभाषाकार ने ऐसे आक्षेप का निराकरण पूर्वोक्त समाधान के अतिरिक्त से, प्रभाकर मतानुसार व्यक्तिबोध की उपपत्ति को स्पष्ट करते हैं।

परिभाषाकार के अनुसार 'यद्वा, गवादिपदानां व्यक्तौ शक्तिः स्वरूपसती न तु ज्ञाता हेतुः। जातौ तु ज्ञाता। न व्यक्त्यंशे शक्तिज्ञानमपि कारणं गौरवात्। जातिशक्तितत्त्व–ज्ञाने सति व्यक्तिशक्तिमत्त्ज्ञानं बिना व्यक्तिधी–विलम्बाभावाच्च। अत एव न्यायमतेऽप्यन्वये शक्तिः स्वरूपसतीति सिद्धान्तः। ज्ञानमान–शक्ति–विषयत्वमेव वाच्यत्वमिति जातिरेव वाच्या'।[60] अर्थात्– 'गौः' इत्यादि पदों की व्यक्ति में स्वरूपतः विद्यमान शक्ति है (और वह व्यक्ति के ज्ञान होने में कारण है) व्यक्ति में विद्यमान वह शक्ति ज्ञात होकर व्यक्ति के बोधन में कारण नहीं होती। किन्तु जाति के बोधन में मात्र वह शक्ति ज्ञात होकर ही कारण होती है। 'व्यक्ति' के अंश में व्यक्ति शक्ति का ज्ञान भी कारण है, यह स्वीकार करना आवश्यक नहीं हैं। क्योंकि व्यक्तिशक्तिज्ञान तथा जातिशक्तिज्ञान दोनों को शाब्दबोध में कारण मानने में अतिदोष होता है। और जाति के शक्तिमत्व (शक्ति) का ज्ञान होने पर व्यक्तिशक्ति का ज्ञान होने पर भी व्यक्ति के ज्ञान न होने में विलम्ब (देर) नहीं लगती। इसलिए जहाँ शक्ति का ज्ञान न होते हुए भी वस्तु का ज्ञान होता है, वहाँ शक्तिज्ञान की कल्पना करना अनुचित है, अतएव न्यायमत में भी 'शक्ति अन्वय में स्वरूपतः विद्यमान रहती है' वह ज्ञान नहीं रहती, यह सिद्धान्त किया है।

[60] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 101–102.

यह आक्षेप हो सकता है कि व्यक्ति में शक्ति को स्वरूपतः विद्यमान स्वीकार करने पर व्यक्ति भी गवादि पदों का वाच्य होने लगता, अतः परिभाषाकार इसका समाधान करते हैं कि शक्तिजन्य ज्ञान में जो पदार्थ विषय होता है, वही वाच्य होता है। इस प्रकार 'वाच्य' का लक्षण होने से जाति ही 'गवादि' पदों का वाच्य होती है। (व्यक्ति वाच्य नहीं होती) अतः पूर्व उद्धृत दोष नहीं हो सकता है।

परिभाषाकार के अनुसार शक्ति के विषय में प्रभाकर के सिद्धान्त का यह आशय है कि कारण की सत्ता कार्य में अवश्य रहती है, परन्तु कुछ कार्यों की उत्पत्ति में कारण का स्वरूपतः रहना आवश्यक होता है, परन्तु कितने ही कार्यों में कारण के प्रत्यक्ष न होने पर भी उसके केवल ज्ञान से भी कार्य सम्पन्न हो सकता है। जैसे– घटादि कार्यों की उत्पत्ति में आवश्यक दण्ड़ादि कारणों की स्वरूपतः सत्ता आवश्यक होती है, दण्ड के ज्ञानमात्र से घट की उत्पत्ति नहीं होती आशय यह है कि दण्ड की स्वरूप सत्ता ही घट में कारण होती है। परन्तु धूम से अग्नि का अनुमान जब भी होता है उस समय अनुमिति में यद्यपि धूम कारण है फिर भी उसकी स्वरूपतः सत्ता आवश्यक नहीं होती है। धूली को ही धूम समझकर उसके सहारे से भी 'पर्वत वह्निमान् है' यह अनुमिति होती है। अतः कहीं वस्तु की स्वरूपसत्ता कारण होती है और कहीं उसका ज्ञान अर्थात् ज्ञानसत्ता कार्य की जनक होती है। इसी कारण प्रकृत में भी व्यक्ति और जाति दोनों में शक्ति स्वीकार करनी चाहिए। व्यक्ति के बोध के लिए शक्ति की स्वरूपसत्ता आवश्यक है और जाति के ज्ञान के लिए शक्ति को ज्ञान सत्ता का कारण स्वीकार कर व्यक्तिबोध की उत्पत्ति करनी चाहिए, अर्थात् 'गौः' इत्यादि पदों से गो व्यक्ति का ज्ञान होने के लिए व्यक्ति में शक्ति है' इस प्रकार के शक्तिज्ञान की अपेक्षा नहीं होती, बल्कि वह शक्ति व्यक्ति में स्वरूपतः होने पर भी व्यक्ति का ज्ञान हो सकता है, क्योंकि गवादि पदों में व्यक्तिबोधक सामर्थ्य होता ही है। किन्तु जाति का ज्ञान होने के लिए मात्र 'यह जाति शक्तिमती है' यह ज्ञान होना आवश्यक होता है।

यह आक्षेप हो सकता है कि जिस प्रकार जातिज्ञान के लिए उसकी शक्ति का ज्ञान होना आवश्यक है, उसी प्रकार यह क्यों न स्वीकार किया जाए कि व्यक्तिज्ञान के लिए भी व्यक्ति–शक्तिज्ञान कारण है? सभी जगह ज्ञान शक्ति को ही कारण मानने में लाघव भी है, वह यह है कि सर्वत्र एक ही प्रयोजक स्वीकार करना पड़ता है।

परिभाषाकार ने 'न व्यक्त्यंशे...' वाक्य से उपर्युक्त आक्षेप का समाधान किया है। परिभाषाकार के अनुसार यह स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है कि व्यक्ति अंश में उसकी

शक्ति का ज्ञान भी कारण होता है । क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर जाति ज्ञान के लिए जाति शक्तिज्ञान और व्यक्ति ज्ञान के लिए व्यक्ति शक्तिज्ञान, इस प्रकार दो ज्ञान शाब्दबोध में कारण स्वीकार करने होंगे। किन्तु एक पद के शाब्दबोधार्थ दो ज्ञानों को कारण मानने में 'अति' दोष होता है। इस कारण इसकी अपेक्षा जाति शक्तिज्ञान से जाति का ज्ञान होते ही उसमें स्वरूपतः विद्यमान शक्ति से ही व्यक्तिज्ञान हो जाता है, यह स्वीकार करने में लाघव है, कारण यह है कि इस पक्ष में दो कारणों की कल्पना नहीं करनी पड़ती।

आक्षेप यह है कि व्यक्ति अंश में शक्ति ज्ञान को कारण मानने में गौरव है फिर भी वह फलमुख है, कारण यह है कि पदगत शक्ति का ज्ञान हुए बिना उस शक्तिमान् पद के ज्ञान से भी पदार्थज्ञान कैसे सम्भव हो सकता है? अतः इस प्रकार के फलमुख गौरव दोष नहीं हुआ करते। इसलिए यह स्वीकार करना होगा कि व्यक्ति और जाति की शक्तियों का ज्ञान ही उसके बोध में कारण होता है। इसके अतिरिक्त शक्तिज्ञान के बिना, केवल पद के ज्ञान होने से पदार्थ की उपस्थिति स्वीकार कर ली जाय तो जिस व्यक्ति को संस्कृत भाषा का ज्ञान न हो उसे भी उस भाषा के शब्द सुनकर स्वरूपतः विद्यमान शक्ति से ही पदार्थज्ञान होने का प्रसंग उपस्थित होगा। अतः आवश्यक गौरव को स्वीकार करने पर भी दो शक्तियों के ज्ञान से ही पदार्थ का ज्ञान होना स्वीकार करना चाहिए।

परिभाषाकार ने 'जातिशक्ति.' आदि वाक्यों से इस आक्षेप का निराकरण किया है। श्रीगजानन शास्त्री ने परिभाषाकार के मत को इस प्रकार व्यक्त किया है कि पद का श्रवण होने पर व्यक्तिशक्ति का ज्ञान न होने पर भी जाति शक्तिज्ञान से जातिज्ञान होते ही तत्काल तद्भिन्न व्यक्ति का भी ज्ञान हो जाता है। उसके होने में विलम्ब नहीं होता। इस अबाधित अनुभव का छिपाया नहीं जा सकता। इसलिए दो ज्ञानों को कारण स्वीकार करने की भी आवश्यकता नहीं होती। परिभाषाकार इस अबाधित अनुभव के बल से स्वीकार करते हैं कि जातिशक्तिज्ञान ही व्यक्तिज्ञान के प्रति कारण है। यह स्वीकार करने से 'संस्कृत भाषा के शब्दों से अनभिज्ञ व्यक्ति को भी बोध होने लगेगा' आदि आपत्ति भी उपस्थित नहीं की जा सकती। क्योंकि संस्कृत भाषा के शब्दों की वाच्य जातियों से सम्बन्धित शक्तियों का ज्ञान न होने से ही अनभिज्ञ व्यक्ति को उससे अर्थबोध नहीं होने पाता। इसीलिए ज्ञानद्वय कल्पनारूप गौरव को भी नहीं स्वीकार करना पड़ता।

यह आक्षेप हो सकता है कि जातिज्ञान उसकी शक्ति के ज्ञान से होता है और व्यक्तिज्ञान 'स्वरूपतः विद्यमान' शक्ति से ही होता है, यह स्वीकार करने में विनिगमक क्या

है? इसके विपरीत यह क्यों न स्वीकार जाय कि शक्तिज्ञान से ही व्यक्ति का बोध होता है; और जाति में स्वरूपतः विद्यमान शक्ति से ज्ञान होता है? अर्थात् व्यक्तिज्ञान में ज्ञात शक्ति की अपेक्षा होती है और जातिज्ञान में स्वरूपतः विद्यमान ज्ञान की आवश्यकता होती है। व्यक्तिशक्तिज्ञान से ही शीघ्रतया जातिज्ञान होता है अर्थात् यह स्वीकार करने में क्या समस्या है कि व्यक्ति शक्ति ज्ञान, जातिज्ञान में प्रयोजक है? इसलिए अद्वैत पक्ष में 'विनिगमनाविरह' दोष आता है।

परिभाषाकार के मत में उपर्युक्त दोष नहीं हो सकता क्योंकि यह नियमेन अनुभव नहीं है कि व्यक्तिशक्तिज्ञान के होने पर शीघ्र ही जाति का भी ज्ञान होता है। जैसे– 'अयं गोपदवाच्यः' यह व्यक्ति 'गो' पद का वाच्य है– इस वाक्य से सामने स्थित गोव्यक्ति 'गो' पद का वाच्य है, इस प्रकार शक्ति का ज्ञान होता है, किन्तु वहाँ ज्ञान की उपस्थिति भी नहीं होती। इस प्रकार से व्यक्तिशक्तिज्ञान, जातिज्ञान में व्यभिचारी साधन है, और यह व्यभिचार ही व्यक्तिज्ञान को कारण न स्वीकार करने में तथा जातिशक्तिज्ञान को ही कारण स्वीकार करने में विनिगमक है। इसके अतिरिक्त यदि व्यक्तिशक्तिज्ञान में कारणता स्वीकार की जाय तो संसार भर के समस्त व्यक्तियों का ज्ञान होना अशक्य होने से शक्तिग्रह का सम्भव ही न होगा, और अनन्त शक्तियों के मानने में महान् गौरव है। ये सब दोष व्यक्तिशक्तिवाद पक्ष में आते हैं, इसलिए व्यक्तिशक्तिज्ञान में कारणता नहीं स्वीकार की जा सकती। परिभाषाकार का उपर्युक्त मत नैयायिकों की भी स्वीकार है। कारण यह है कि नैयायिक भी कुछ स्थलों में स्वरूपतः विद्यमान शक्ति और कुछ स्थलों में ज्ञानशक्ति को कारण स्वीकार करते हैं। इस प्रकार प्रभाकर मत का नैयायिकों द्वारा स्वीकार किया गया ही लगता है। इसी अभिप्राय से परिभाषाकार ने 'अतएव' आदि वाक्य से पद और अन्वय दोनों के शक्ति के होने पर भी पदजन्य ज्ञान के लिए शक्ति की ज्ञानसत्ता को ही कारण स्वीकार किया जाता है, परन्तु अन्वय बोधार्थमात्र उसकी स्वरूप सत्ता के रहने से भी अन्वयबोध हो सकता है। इस प्रकार से एक बार स्वरूपसत्व को स्वीकार कर लिया जाए तो उसी न्याय से जातिबोध में ज्ञायमानत्वेन शक्ति की और व्यक्तिज्ञान में स्वरूपेणैव शक्ति को कारण क्यों न माना जाय? इसलिए अन्वय में स्वरूपसत्तारूप शक्ति को नैयायिकों से स्वीकार किया जाना परिभाषाकार के मत की पुष्टि ही है।

यह आक्षेप व्यक्त करते हैं कि किसी भी प्रकार से क्यों न हो, अद्वैती व्यक्ति में शक्ति को तो स्वीकार करते ही है। अतः शक्तियुक्तत्वरूप शक्यत्व व्यक्ति में भी है। तब 'तच्च जातेरेव न व्यक्तेः' आदि वाक्य से परिभाषाकार व्यक्ति का निरास क्यों करते हैं? इस प्रकार

यह पूर्वोत्तर विरोध होगा। परिभाषाकार ने इस आक्षेप का निरसन 'ज्ञायमान.' आदि वाक्य से किया है। व्यक्ति में शक्ति मानने पर भी 'व्यक्ति' शक्य होगी, व्यक्ति में शक्यत्व होगा ऐसा अद्वैत मत को मान्य नहीं। क्योंकि 'जिस पदार्थ में शक्यत्व (शक्तियुक्तत्व) होता है वह पदार्थ शक्य होता है'। यह अद्वैत मत का नियम नहीं है। अर्थात् अद्वैत मत 'शक्तियुक्तत्वं शक्यत्वम्' शक्य पदार्थ की परिभाषा नहीं है। परन्तु यह अद्वैत मत प्रसिद्ध है कि 'ज्ञायमानशक्तिविषयत्वम्' ज्ञान का विषय होने वाली शक्ति में जो पदार्थ विषय रहता है वह 'शक्य' है। इसी आशय परिभाषाकार ने 'तादृशशक्तिविषयत्वम्' यह शक्य की परिभाषा की है। प्रकृत में व्यक्ति में शक्ति तो है परन्तु वहाँ उसका ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए व्यक्ति में शक्यत्व नहीं आ पाता। इसलिए शक्यत्व जातिनिष्ठ ही है। परिभाषाकार द्वारा शक्यत्वलक्षण में 'ज्ञायमान' पद का प्रयोग करने से सिद्धान्त में पूर्वोत्तर विरोध रूप दोष नहीं हो सकता।

उपर्युक्त प्रभाकर मत में परिभाषाकार की अरूचि इसलिए होती है कि यदि प्रभाकर मतानुयायी व्यक्ति को शक्य नहीं मानते तो उसमें शक्ति की कल्पना किसलिए करते हैं? क्योंकि एक पद में 'स्वरूपतः विद्यमान' और 'ज्ञायमाना' शक्तियों को स्वीकार करना भी कल्पना अति ही है। 'जाति और व्यक्ति के शक्तियों का ज्ञान कारण है' इस मत में जिस अतिदोष को आप देते हैं, वही दोष आपके पक्ष में भी आता है। इस पर आप (प्रभाकर) यदि कहें कि इस अतिदोष को हम स्वीकृत करते हैं, क्योंकि व्यक्ति में शक्ति के न मानने पर तो एक पद से जाति और व्यक्ति दोनों की प्रतीति सम्भव नहीं होगी। इसलिए हम अर्थापत्ति प्रमाण से पद की शक्ति व्यक्ति में भी स्वीकार करते हैं, परन्तु उसके लिए ज्ञानद्वयकल्पना करना व्यर्थ तथा अतिदोष युक्त है इसलिए हम ज्ञानद्वय का अस्वीकार करते।

परिभाषाकार के अनुसार यह प्रभाकर मत उचित नहीं है। यदि प्रभाकर मतानुयायी यहाँ पर व्यक्तिबोध के लिए शक्ति का स्वीकार करें तो 'गंगायां घोषः' यहाँ 'गंगा' पद से 'गंगातीर' का ज्ञान होने से 'गंगा शब्द की तीर अर्थ में भी शक्ति है, यह प्रभाकर मतानुयायी को स्वीकार करना होगा। तब 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' आदि वाक्यों में 'काक' पद की मार्जार आदि में भी शक्ति को स्वीकार होगा। इसके अतिरिक्त व्यक्ति में शक्यत्व न आ पाये एतदर्थ शक्यत्वलक्षण में 'ज्ञायमान' पद का प्रयोग भी प्रभाकर मतानुयायी को स्वीकार करना पड़ता है। अतः स्वरूपतः विद्यमान शक्ति को मानने वाला प्रभकर पक्ष अतिदोष युक्त होने से अनुपपन्न है। इस प्रकार प्रभाकर मत में दोष स्वीकारकर परिभाषाकार स्वाभीष्ट समाधान स्पष्ट करते हैं– 'अथवा व्यक्तेर्लक्षणयाऽवगमः। यथा नीलो घट इत्यत्र नीलशब्दस्य नीलगुण विशिष्टे लक्षणा, तथा जातिवाचकस्य तद्विशिष्टे लक्षणा। तदुक्तम् – 'अनन्यलम्यो हि शब्दार्थः' इति।

एव शक्यो निरूपितः' ।[61] अर्थात्– अथवा व्यक्ति का बोध लक्षणा से मान लीजिए। जिस प्रकार 'नील घट' इस वाक्य में नीलगुणवाचक नील शब्द की नील युक्त अर्थ में लक्षणा स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार जातिवाचक पदों की भी जातिविशिष्ट व्यक्तियों में लक्षणा कर लेनी चाहिए। अतएव मीमांसकों ने 'जो अर्थ अनन्यलभ्य (अन्य प्रकार से ज्ञात नहीं होता) हो वही शब्दार्थ होता है' यह बताया है। इस प्रकार से शक्य पदार्थ का निरूपण किया गया।

परिभाषाकार के अनुसार प्रभाकर मतानुयायी प्रथमतः व्यक्ति में स्वरूपतः विद्यमान शक्ति को स्वीकार करते हैं, जिससे व्यक्ति में भी शक्यत्व आता है। परिभाषाकार इसे दूर करने के लिए शक्यत्व के लक्षण में 'ज्ञायमान' पद का प्रयोग किया है, परन्तु इतना करने पर भी शक्तिद्वय कल्पनारूप दोष नहीं दूर होता। अतः प्रभाकर मत को स्वीकार करने की अपेक्षा भट्ट मत के अनुसार ही व्यक्तिबोध की व्यवस्था स्वीकार करना उचित है। जैसे– 'नील' शब्द गुण (नीलरूप) का वाचक है। परन्तु नीलवाच्य नीलगुण को घट द्रव्य तो नहीं कहा जा सकता। इसलिए जब 'नीलो घटः' कहा जाता हैं तब इस शब्द के वाच्यार्थ का ग्रहण न हो सकने से नील शब्द की नीलगुणयुक्त अर्थ में लक्षणा कर 'नीलो घटः' का नीलगुणविशिष्टो घटः अर्थ शास्त्रकारों द्वारा किया जाता है। अर्थात् यहाँ पर यद्यपि एक ही 'नील' पद से नील गुण और तद्विशिष्ट घट दोनों अर्थ ज्ञात होते है। फिर भी एक ही पद से दो अर्थों की प्रतीति होने के लिए 'नील' पद की नील गुण और तद्विशिष्ट दोनों अर्थों में शक्ति कोई नहीं स्वीकार करता। परन्तु लक्षणावृत्ति से ही नीलगुणविशिष्ट अर्थ का बोध होने से कारण नील शब्द की नीलगुणरूप अर्थ में ही शक्ति है और 'नीलगुणविशिष्ट' रूप अर्थ लक्षणा से जानने योग्य है। इसी प्रकार घटत्वजातिवाचक 'घट' पद की 'घटत्वजातिविशिष्ट–घट व्यक्ति' रूप अर्थ में लक्षणा स्वीकार कर लेनी चाहिए। इसी प्रकार गुणवाचक की गुणविशिष्ट में और जातिवाचक की जातिविशिष्ट अर्थ में लक्षणा स्वीकार कर 'गो' आदि एक ही पद से जाति का शक्ति से बोध होता है और गोव्यक्ति का लक्षणा से बोध होता है। इस प्रकार से व्यक्तिबोध की उपपत्ति हो जाती है। स्वरूपसत् और ज्ञायमान दो शक्तियों की कल्पना भी नहीं करनी पड़ती। साथ ही इस पक्ष में शक्यत्वलक्षण में 'ज्ञायमान' विशेषण का प्रयोग कर 'ज्ञायमानशक्तिविषयत्वम्' इस लक्षण के स्वीकार करने का भी प्रसंग नहीं उपस्थित होत। इस पक्ष में 'गंगायां घोषः' में 'गंगा' पद की 'तीर' अर्थ में शक्ति स्वीकार करने का भी प्रसंग नहीं उपस्थित होता। कारण यह है कि 'तीर' अर्थ का ज्ञान लक्षण से ही हो जाता है। इस पक्ष का स्वीकार करके ही व्यक्तिबोध की उपपत्ति माननी चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रभाकर मत के पुष्टिकर्ता के रूप में

[61] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 102.

नैयायिकों ने भी 'अन्वय में स्वरूपतः विद्यमान शक्ति को स्वीकार किया है'। परन्तु यह भी उचित नहीं है। क्योंकि नैयायिकों का स्वरूपसत्तारूप शक्तिवाद भी प्रभाकर मत ही है और अन्वय वाक्यगम्य है, पदगम्य नहीं, इस लिए पद में अन्वयबोध करा देने का सामर्थ्य नहीं होता है। अतएव पदों की केवल जाति में ही शक्ति है। व्यक्ति, अन्वय तथा गंगादि पदों से तीरादिबोध यह सबको लक्षणागम्य मानने में कमी भी है। अतः 'शक्तिविषयत्व' ही शक्यत्व का लक्षण उचित है। परिभाषाकार ने इस कथन में 'तदुक्तम्' इत्यादि वाक्य से मीमांसकों की सम्मति प्रदर्शित की है। इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि अभिधा वृत्ति से अन्य लक्षणादि वृत्ति से जिस अर्थ का ज्ञान हो सकता हो, उसमें पद की शक्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं। अन्यथा दूसरी लक्षणावृत्ति को कहीं अवकाश ही नहीं मिलेगा। क्योंकि सभी जगह शक्ति से ही पदार्थोपस्थिति हो सकेगी। अब यदि शब्द की अभिधारूप एक ही वृत्ति स्वीकार करे तो 'तुम शत्रु के घर भोजनार्थ मत जाओ' इस उद्देश्य से 'विषंभुड.क्ष्व', इस प्रकार किसी हितचिन्तक व्यक्ति के कहने पर उन पदों की 'शत्रुगृह में भोजननिवृत्ति' रूप अर्थ में भी है, यह स्वीकार करना होगा। इस अतिप्रसंग को दूर करने के लिए यदि लक्षणा नामक वृत्ति को अभिधा वृत्ति से पृथक स्वीकार करना आवश्यक हो तो जिस अर्थ में लक्षणा की प्रवृत्ति का संभव है उस अर्थ में उस शब्द की शक्ति स्वीकार करना अनुचित है। इसलिए जो अर्थ लक्षणादिलभ्य न हो उसी अर्थ में शब्द की शक्ति स्वीकार करनी चाहिए। इसी प्रकार से शब्द की एक अर्थ में शक्ति स्वीकार कर उसी शब्द से ज्ञायमान अन्य समस्त अर्थों का लक्ष्य स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि 'अन्यायश्चानेकार्यत्वम्' एक शब्द के अनेक अर्थ हैं– यह स्वीकार करना अनुचित है। परिभाषाकार के अनुसार प्रकृत में भी शब्द की जातिरूप अर्थ में शक्ति स्वीकार करने पर व्यक्तिबोध लक्षणा से होता है, यही स्वीकार करना उचित होगा।

तार्किक यह आक्षेप करते हैं यदि यह मत है तो यह क्यों न माना जाय कि व्यक्ति में शब्द की शक्ति और जाति का भान लक्षण से होता है' ?

परिभाषाकार के अनुसार शब्द की शक्ति समस्त व्यक्तियों में है या किसी एक व्यक्ति में है? यदि तार्किक इसे समस्त व्यक्तियों में स्वीकार करें तो 'गामानय' कहने पर समस्त गौओं को ले आने का प्रसंग उपस्थित होगा। इस दोष से बचने के लिए 'एक व्यक्ति में शक्ति है' कहो तो 'अन्य गोव्यक्ति में शक्ति नहीं है' यह स्वीकार करना होगा। अब यदि अन्य व्यक्ति में भी शक्ति है ऐसा स्वीकार करें, तो अश्वादि अर्थों में भी उस शब्द की शक्ति प्राप्त होगी। कारण कि व्यक्तिशक्तिवाद सर्वथा अनुपपन्न है। अतः जाति में ही पद की शक्ति और व्यक्ति आदि का बोध लक्षणजन्य है, यही अद्वैत मत युक्तिसंगत् है। इस कारण

'शक्तिविषयत्वं' शक्यत्वम्' और 'तच्च जातेरेव न व्यक्तेः' परिभाषाकार यह मत सर्वथा उपपन्न है।

6.4.3 लक्ष्य पदार्थ–

परिभाषाकार के अनुसार 'तत्र लक्षणा–विषयो लक्ष्यः। लक्षणा च द्विविधा, केवललक्षणा लक्षित–लक्षणा चेति। तत्र शक्य–साक्षात्सम्बन्धः केवल–लक्षणा, यथा गंगायां घोष' इति अत्र प्रवाह साक्षात्सम्बन्धिनि तीरे गंगापदस्य केवललक्षणा'।[62] अर्थात्– अब लक्ष्य पदार्थ का निरूपण किया जाता है तत्रेति– शक्य और लक्ष्य में से लक्ष्य वह होता है जो पदार्थ लक्षणाजन्य ज्ञान में विषय हो। केवल लक्षणा और लक्षित लक्षणा भेद से लक्षणा दो प्रकार की है। उनमें शक्य का साक्षात्सम्बन्ध जहाँ हो वह केवल लक्षणा है। जैसे– 'गंगापर घोष' इस वाक्य में गंगा पद की गंगा पदवाच्य गंगाप्रवाहरूप पदार्थ के साथ साक्षात् संयोग से सम्बद्ध रहने वाले तीररूप अर्थ में केवला लक्षणा है।

परिभाषाकार के अनुसार जिस प्रकार 'शक्ति विषयत्व' यह शक्य पदार्थ का सामान्य लक्षण है उसी प्रकार 'लक्षणा में जो पदार्थ विषय होता है वह लक्ष्य पदार्थ है' यह लक्ष्य पदार्थ का सामान्य लक्षण है। परन्तु यह प्रश्न उठता है कि क्या लक्षणा वस्तु है? इसके प्रत्युत्तर में यहाँ पर लक्षणा का लक्षण कहना उचित था। परन्तु परिभाषाकार ने विभिन्न शास्त्रों में प्रसिद्ध लक्षणा के लक्षण 'शक्य सम्बन्धों लक्षणा' को ग्रहणकर यहाँ 'लक्षणा च' इत्यादि वाक्य के द्वारा लक्षणा के प्रकारों का वर्णन किया गया है।

इसलिए प्रसंगतः लक्षणा के स्वरूप को स्पष्ट करना अनुचित आवश्यक है। परिभाषाकार के मत में शक्ति और लक्षणा ये दोनों शब्द की सम्बन्धरूप वृत्तियाँ हैं। इनमें जो पदार्थ प्रथमतः उपस्थित होता है, उसके साथ पद का मुख्य सम्बन्ध रहता है और वही शक्ति है। मुख्य सम्बन्ध कहने मात्र से अमुख्य सम्बन्ध का भी ज्ञान होता है। पद का श्रवण होते ही मुख्यत्वेन प्रथमतः जिसका ज्ञान नहीं होता, वरन् उसके लक्ष्य अर्थ का शक्यार्थ के साथ सम्बन्ध का ज्ञान होने के अनन्तर ज्ञान का होना ही अमुख्य सम्बन्ध है। यही लक्षणावृत्ति है। इसीलिए लक्षणा का 'शक्य सम्बन्धो लक्षणा' यह लक्षण किया गया है। पद के वास्तविक अर्थ का मुख्यवृत्ति से ही सर्वत्र बोध स्वीकार करना उचित है, परन्तु जहाँ यह मुख्य वृत्ति सम्भव ही नहीं रहता वहाँ इस अमुख्य वृत्ति को स्वीकार करना पड़ता है।

---

[62] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 103.

जहाँ पर मुख्य अर्थ का अन्य प्रमाणों के साथ विरोध रहने से मुख्य अर्थ का ग्रहण नहीं किया जा सकता वहाँ पर मुख्य अर्थ के साथ अविनाभूत अर्थ की कल्पना करना ही लक्षणा है। जैसे– 'गंगायां घोषः' यहाँ पर गंगा पद का मुख्य अर्थ प्रवाह है। परन्तु गंगा प्रवाह मार्ग पर किसी का घर रहना सम्भव नहीं है। अतः गंगापद का मुख्य अर्थ प्रवाह का प्रत्यक्ष प्रमाण के साथ विरोध है। इसलिए मुख्यार्थ को छोड़कर उसके साथ संयोग सम्बन्ध से नित्य सम्बद्ध 'तीर' रूप अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है और इस कल्पना लक्षणा कहा जाता हैं। क्योंकि यहाँ प्रथमतः तीर का ज्ञान नहीं होता किन्तु प्रवाह रूप मुख्य अर्थ का ज्ञान होने के के बाद होता है। इस प्रकार गंगापद का उस लक्ष्य अर्थ के साथ मुख्य सम्बन्ध न होकर अमुख्य सम्बन्ध है। प्रवाहरूप अर्थ का विद्यामान संयोग सम्बन्ध भी प्रकृत में लक्षणा है। यद्यपि यह संयोग सम्बन्ध गंगा और तीर का सम्बन्ध है और इसीलिए वहाँ पदवृत्ति नहीं है परन्तु प्रवाहवृत्ति है, फिर भी स्वप्रतियोगिवाचकत्व रूप परम्परा सम्बन्ध से तीर पद के साथ भी गंगापद का सम्बन्ध है, अतः यह अमुख्य सम्बन्ध है। इस प्रकार से लक्षणाजन्य तीरादि पदार्थों के ज्ञान में विषय होने वाला तीरादि पदार्थ लक्ष्य है। उपर्युक्त शक्य सम्बन्ध कहीं पर साक्षात् संयोगादि सम्बन्धरूप रहता है तो कहीं पर परम्परा से रहता है, इसलिए लक्षणा के भी दो प्रकार हो जाते है। सम्बन्ध के अनुरोध से 'केवललक्षणा' और 'लक्षितलक्षणा' ये दो प्रकार हैं।

6.4.3.1 केवल लक्षणा–

परिभाषाकार के अनुसार यदि पदार्थ का शक्य अर्थ से साक्षात् सम्बन्ध हो तो उसे केवललक्षणा कहते हैं। जैसे– प्रवाहरूप वाच्यार्थ का तीररूप लक्ष्यार्थ के साथ साक्षात् संयोग सम्बन्ध है, इसलिए 'गंगायां घोषः' में केवल लक्षणा है।

6.4.3.2 लक्षित लक्षणा–

परिभाषाकार के अनुसार 'यत्र शक्यपरम्परा सम्बन्धेनार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र लक्षित–लक्षणा। यथा द्विरेफ–पदस्य रेफद्वये शक्तस्य भ्रमरपदघटित परम्परा–सम्बन्धेन मधुकर वृत्तिः।[63] अर्थात्– जहाँ पर शक्यार्थ के परम्परा सम्बन्ध के द्वारा अर्थान्तर या वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती हो वहाँ लक्षितलक्षणा समझनी चाहिए। जैसे– द्विरेफ रूप में शक्त पद की भ्रमरपद से घटित परम्परा सम्बन्ध से मधुकर रूप अर्थ में वृत्ति है। (शक्यार्थ रूप दो रेफों के परम्परासम्बन्ध के द्वारा द्विरेफ पद से मधुकररूप अर्थ की प्रतीति होने से यह लक्षितलक्षणा है)

[63] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 103.

परिभाषाकार के मतानुसार द्विरेफ शब्द के सुनते ही मधुकर अर्थ का ज्ञान होता है। परन्तु द्विरेफ शब्द का वाच्यार्थ मधुकर नही है। क्योंकि 'द्वि' का अर्थ 'दो' और रेफ का अर्थ रकार, यही द्विरेफ शब्द का वाच्यार्थ है। इसलिए द्विरेफपद की 'जिस शब्द में दो रेफ हों वह शब्द इस अर्थ में लक्षणा स्वीकार करनी चाहिए। इस प्रकार यह स्वीकार करना चाहिए कि 'शर्करा' आदि दो रेफों से युक्त पदों की उपस्थिति होती है, उसके निवारणार्थ 'भ्रमर' रूप अर्थ में ही वह निरूढ़ लक्षणा है। भ्रमर पद का भ्रमररूप अर्थ शक्ति सम्बन्ध है, इस कारण मधुकर अर्थ की प्रतीति होती है। अर्थात् द्विरेफ पद का दो रेफरूप अर्थ में शक्तिरूप सम्बन्ध, और उन दो रेफों का लक्षणा के द्वारा भ्रमर पद से सम्बन्ध और उस भ्रमरपद का मधुकररूप अर्थ का शक्ति सम्बन्ध, इस प्रकार परम्परा सम्बन्ध के द्वारा द्विरेफ पद से मधुकर अर्थ की प्राप्ति होती है।

इसमें सन्देह नहीं कि 'द्विरेफ' पद से भ्रमररूप अर्थ का बोध शक्तिवृत्ति से न होकर, बल्कि लक्षणावृत्ति से होता है। परन्तु 'गंगायां घोषः' यहाँ पर जैसे प्रवाहरूप शक्यार्थ का तीररूप लक्ष्यार्थ के साथ साक्षात् संयोग सम्बन्ध है, वैसे द्विरेफ पद का जो 'दो रेफरूप' वाच्यार्थ उसका भ्रमर या मधुकर रूप से साक्षात् कोई भी सम्बन्ध नहीं है, परन्तु द्विरेफ पद से लक्षित भ्रमर पद के द्वारा 'दो रेफों का भ्रमर' अर्थ से सम्बन्ध होता है, इसलिए यह शक्य परम्परा सम्बन्ध रूप लक्षित लक्षणा है। यहाँ पर शक्ययुक्त–भ्रमरपद–प्रतिपाद्यत्व ही द्विरेफ पद का मधुकर रूप अर्थ के साथ सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में भ्रमर पद घटक है। इसलिए यह सम्बन्ध भ्रमरपद से घटित कहा जाता है। यहाँ पर दो लक्षणाएँ करनी पड़ती हैं। उनमें द्विरेफ पद की रेफद्वययुक्त भ्रमरपद में जो लक्षणा की जाती है उसे केवल लक्षणा कहते हैं। कारण यह है कि शक्य रेफद्वय का रेफद्वययुक्त भ्रमर पद के साथ 'अवयवावयविभावरूप' साक्षात् सम्बन्ध है और मधुकर रूप अर्थ का उसके साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं है परन्तु भ्रमरपद के साथ 'वाच्यवाचकभाव' सम्बन्ध है। अर्थात् यहाँ शक्य के साथ सम्बन्ध न हाकर लक्षित के साथ लक्ष्य का सम्बन्ध है। इसलिए यदि शक्य के साथ लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध करना यदि अपेक्षित हो तो वह लक्षित के द्वारा ही हो सकता है। कारण यहाँ स्वलक्ष्य पदवाच्यत्व लक्ष्य भ्रमरपद का वाच्यत्व मधुकर अर्थ में है। यहाँ पर वाच्यार्थ का सम्बन्ध न होकर वाक्यार्थ से लक्षित 'भ्रमर' पद का मधुकर रूप लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध होने के कारण इस लक्षणा को 'लक्षित लक्षणा' यह अन्वर्थ संज्ञा उपयुक्त है।

परन्तु कतिपय लोग शब्द की शक्ति, लक्षणा और गौणी रूप तीन वृत्तियों को मानकर शक्य, लक्ष्य और गौण रूप से पदार्थ को भी त्रिविध स्वीकार करते हैं। परन्तु परिभाषाकार

उसका निराकरण 'पदार्थश्च द्विविधः' कहकर कर दिया है। परिभाषाकार के मत में गौणी वृत्ति का लक्षित लक्षणा वृत्ति में ही अन्तर्भाव होने से उस वृत्ति से युक्त गौण पदार्थ को पृथकरूप से स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यथा–

'गौण्यपि लक्षित–लक्षणैव। यथा सिंहो माणवक इति अत्र सिंह शब्द वाच्य सम्बन्धि क्रौर्य्यादि सम्बन्धेन माणवकस्य प्रतीतिः'।[64] अर्थात्– गौणी वृत्ति भी लक्षितलक्षणा ही है। जैसे– यह बटु सिंह है, इस वाक्य में 'सिंह' शब्द का वाच्यार्थ जो सिंह पशु उसके साथ सम्बद्ध रहने वाले क्रूरत्वादि धर्मरूप सम्बन्ध से माणवक की प्रतीति होती है।

नैयायिकों के मतानुसार 'सिंहो माणवकः' यह बटु सिंह है, यहाँ पर सिंह शब्द का सिंह पशु वाच्यार्थ है। किन्तु उसके साथ बटु का किसी प्रकार से सम्बन्ध नहीं है, इसलिए यहाँ 'शक्यससम्बन्धरूप' लक्षणा का सम्भव नहीं है। अतएव शब्द की गौणी नामक पृथक् वृत्ति स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार गौणी–वृत्ति को स्वीकार करने वाले कह सकते हैं।

परिभाषाकार के अनुसार यहाँ शक्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ साक्षात् सम्बन्ध सम्भव न होने पर भी 'द्विरेफ' पद के समान परम्परा सम्बन्ध तो सम्भव हो सकता है। इसलिए 'लक्षित–लक्षणा' नामक लक्षणा के द्वितीय प्रकार में गौणी वृत्ति का अन्तर्भाव हो सकता है, इसलिए गौणी वृत्ति को पृथक् रूप से स्वीकार करने की कोई आवश्यकता भी नहीं है। क्योंकि 'गंगायां घोषः' और द्विरेफः इन शब्दों से प्रतीयमान तीर और मधुकररूप अर्थों की उपपत्ति लगाने के लिए शक्य–साक्षात् सम्बन्ध और शक्य–परम्परा सम्बन्धरूप द्विविध सम्बन्ध के कारण केवललक्षणा और लक्षितलक्षणा नामक लक्षणा के दो भेदों को अवश्य स्वीकार करना चाहिए। इनकों स्वीकार कर लेने पर 'सिंहो माणवकः' इत्यादि स्थलों में भासमान परम्परा सम्बन्ध से उस वाक्यार्थ की उपपत्ति लग जाने के कारण गौणी को पृथक्वृत्ति स्वीकार करना व्यर्थ है।

यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रकृत में शक्यार्थ का परम्परा सम्बन्ध कौन सा है? इसके प्रत्युत्तर परिभाषा का मत है कि प्रकृत में 'सिंह पशु' इस वाच्यार्थ का माणवक के साथ अभेद का सम्भव न होने से तात्पर्यानुपपत्ति होने के कारण लक्षणा का स्वीकार करना पड़ता है और यह लक्षणा 'यह बटु सिंह के समान क्रूरत्वादि गुणों से युक्त है' इस अर्थ में ही स्वीकार करनी चाहिए, आशय है कि प्रकृत में सिंह पशु 'सिंह' शब्द का वाच्यार्थ है और क्रौर्य्यादिगुण विशिष्ट बटु यह उस शब्द का लक्ष्यार्थ है। वाच्य अर्थ का मणावक से साक्षात्

[64] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 103.

सम्बन्ध न होने पर भी सिंहरूप वाच्यार्थ से सम्बद्ध अर्थात् उसमें तादात्म्य सम्बन्ध से विद्यमान शौर्यादि गुणों के द्वारा सिंह पशु माणवक से सम्बद्ध है। जैस– सिंह कौर्यादि गुणों से युक्त है वैसे ही माणवक भी है। अतः प्रकृति में सिंह शब्द 'स्ववाच्यवृत्ति–कौर्यादिसामानाधिकरण्य' सम्बन्ध से लक्ष्यभूत माणवक के साथ सम्बन्धित है। सिंह शब्द के वाच्य सिंह पशु में विद्यमान कौर्यादि गुणों का अधिकरण जिस प्रकार सिंह उसी प्रकार में माणवक भी है। इसलिए दोनों में क्रूरत्वादिगुणयुक्त होना ही शक्य सम्बन्ध है। यहाँ भी पूर्ववत सिंह पद की 'स्ववाच्यवृत्ति साक्षात् सम्बन्धरूप केवल लक्षणा से लक्षित कौर्यादि गुणों का माणवक के साथ सामानाधिकरण सम्बन्ध होने के कारण यह लक्षित लक्षणा है। इस प्रकार से लक्षित लक्षणा में ही गौणी वृत्ति का अन्तर्भाव होने से उस वृत्ति से विशिष्ठ गौण पदार्थ की पृथक् सत्ता नहीं है। अतः 'पदार्थ द्विविध है' परिभाषाकार यह मत उपयुक्त है।

परिभाषाकार ने प्रसिद्ध जहल्लक्षणादि भेद से लक्षणा के तीन अन्य प्रकारों को स्पष्ट करते हैं– 'प्रकारान्तरेण लक्षणा त्रिविधा– जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा चेति। तत्र शक्यमनन्तर्भाव्यं यत्रार्थान्तर प्रतीतिस्तत्र जहल्लक्षणा, यथा विषं भुंक्ष्वेति। अत्र स्वार्थ विहाय शत्रुगृहे भोजननिवृत्तिर्लक्ष्यते।[65] अर्थात्– अन्य प्रकार से यह लक्षणा– जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा– त्रिविध है। उनमें से जिस लक्षणा में वाच्यार्थ का अन्तर्भाव लक्ष्यार्थ में न होकर अन्यार्थ (शक्यभिन्न अर्थ) की प्रतीति होती है (शक्यार्थ भासित न होकर, केवल लक्ष्यार्थ भासित होता है) उसे जहल्ललक्षणा कहते हैं। जैसे– 'विष खा' इस वाक्यगत पदों से विषभक्षण रूप वाच्यार्थ का ज्ञान न होकर 'शत्रु के घर मत जाओ' इस लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है, अतः यह जहल्लक्षणा है।

परिभाषाकार के अनुसार प्रथम–लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ का कहीं भी अन्तर्भाव न होना अर्थात् वाच्यार्थ का सर्वथैव त्याग कर केवल लक्ष्यार्थ का स्वीकार करना, द्वितीय– लक्ष्यार्थ के साथ वाच्यार्थ की भी प्रतीति होना अर्थात् वाच्यार्थ का सर्वथा त्याग न कर उसका भी लक्ष्यार्थ में स्वीकार करना, तृतीय– शक्यार्थ का कुछ विरूद्ध भाग त्याग कर केवल उसके अविरूद्ध भाग को स्वीकार करना, इन तीन कारणों से लक्षण के जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा नामक तीन भेद होते हैं। लक्षणा के ये तीनों नाम अन्वर्थक हैं। 'ओहाक्'– त्यागे– त्याग करना, धातु से सर्वथा त्याग, अंशतः त्याग और विरूद्धांश का त्याग आदि अर्थों को लेकर लक्षणा के उपर्युक्त नाम प्रसिद्ध हुए हैं।

[65] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 104.

6.4.3.2.1 जहल्लक्षणा–

परिभाषाकार ने 'तत्र शक्य' इत्यादि वाक्य से जहल्लक्षणा का स्वरूप और उदाहरण स्पष्ट किया है। शक्यार्थ का लक्ष्यार्थ में अर्न्तभाव न होकर केवल लक्ष्यार्थ की ही प्रतीति जहाँ होती है वहाँ वाच्यार्थ का सर्वथैव त्याग कर्तव्य होने से प्राप्त लक्षणा को जहल्लक्षणा कहते हैं। जैसे– 'गंगायां घोषः' है। यहाँ 'गंगा' पद के प्रवाह रूप वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग कर अर्थात् लक्षणा के द्वारा बोध्य अर्थ से वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग कर लक्षणा के द्वारा बोध्य अर्थ से वाच्यार्थ को पृथक् कर केवल तत्सम्बन्धी तीररूप लक्ष्यार्थ का ही ग्रहण किया जाता है। इसलिए गंगा पद जहल्लक्षणा का उदाहरण है।

परिभाषाकार ने प्रायः सभी लोगों के द्वारा जहल्लक्षणा के उदाहरण रूप में दिखाए गये 'गंगायां घोषः' अतिरिक्त उदाहरण दिया है। द्वितीय यह कि 'गंगायां घोषः' में केवल 'तीरत्व' धर्म से तीररूप लक्ष्यार्थ का बोध नहीं होता। क्योंकि ऐसा न स्वीकार करने पर अन्य नदी के तीर में भी तीरत्व होने से उस तीर का भी 'गंगा' पद से बोध होने लगता है। इस कारण 'गंगातीरत्व' धर्म से तीर का बोध स्वीकार करना चाहिए और ऐसा स्वीकार करने पर गंगा पद के वाच्यार्थ का भी तीररूप लक्ष्यार्थ में अन्तर्भाव हो जाने से 'नीलो घटः' वाक्य के 'नील' पद के समान इसे भी अजहल्लणा कहा जा सकता है। इस कारण ऐसे विवादास्पद स्थल का उदाहरण न देकर परिभाषाकार ने 'विषं भुंक्ष्व' इस निःसंदिग्धवाक्य को ही उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। जब कोई व्यक्ति स्व–प्रिय मित्र से कहे कि विष खाओ, और मित्र हालाहल विष खाकर प्राण दे दे' ऐसा उद्देश्य तो कहने वाले का नहीं हो सकता क्योंकि वह उसे प्रिय है। इस कारण वाच्यार्थ को स्वीकार करने पर तात्पर्य की उपपत्ति सम्भव नहीं हो सकती है। इसलिए वह व्यक्ति वाक्य का यह अर्थ करता है कि देवदत्त मेरा शत्रु है और वह अपने घर भेजन के लिए बुला रहा है। जबकि यज्ञदत्त मेरा मित्र होते हुए भी विष खाओ ऐसा कह रहा है। ऐसी स्थिति में 'विष क्यों नहीं खाते' यही उसके कहने का उद्देश्य है। अतः अपने शत्रु देवदत्त के घर भोजनार्थ नहीं जाना चाहिए, वहाँ भोजनार्थ जाने पर अवश्य ही कोई संकट उपस्थित हो सकता है। ऐसा समझकर ही यह सुनने वाला व्यक्ति उस वाक्य का यह अर्थ स्वीकार करता है कि शत्रु के घर भोजन नहीं करना चाहिए।

इस स्थल में 'विषं भुंक्ष्व' इस वाक्य की 'शत्रुगृहे भोजननिवृत्तिः' रूप अर्थ में ही लक्षणा है। परन्तु इस लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ का कहीं भी अन्तर्भाव नहीं है। इसलिए यह जहल्लहणा का सम्यक उदाहरण है। इस उदाहरण से किसी को विरोध नहीं हो सकता है। यहाँ पर

प्रश्न हो सकता है कि उपर्युक्त स्थल में शक्य सम्बन्ध कौन–सा है? और यदि यह न हो तो लक्षण के न घट सकने से इसे लक्षणा ही नहीं कहा जा सकता।

प्रत्युत्तर में परिभाषाकार का मत है कि विषं भुंक्ष्व' में विष शब्द मुख्य वृत्ति से (अमिधा शक्ति से) विष बोधक न होकर अप–कारकत्वरूप शक्यसम्बन्ध से 'शत्रु का अन्न' ही विष शब्द का अर्थ है। इसी प्रकार 'भुंक्ष्व' में भुज् धातु अपनी शक्तिवृत्ति से भोजनरूप अर्थ में न होकर वह लक्षणावृत्ति सम्बन्ध से भोजन निवृत्ति का बोधक है। इसलिए यहाँ पर 'अपकारत्व' और 'वैपरीत्य' साक्षात् शक्य सम्बन्ध है। इसीलिए प्रकृति में लक्षणा का लक्षण अच्छी तरह से घटित हो जाता है। वाक्यार्थ में शब्द की शक्ति होने पर भी शक्य सम्बन्धरूप लक्षणा का सम्भव परिभाषाकार आगे स्पष्ट करेंगे। इस प्रकार से शत्रु–अन्न के भोजन की निवृत्तिरूप लक्ष्यार्थ में हालाहलादिरूप वाच्यार्थ का कहीं भी ज्ञान नहीं होता। अतः यही जहल्लक्षणा है।

6.4.3.2.2 अजहल्लक्षणा–

परिभाषाकार के अनुसार 'यत्र शक्यार्थमन्तर्भाव्यैवार्थान्तर– प्रतीतिस्तत्राजहल्लक्षणा, यथा शुक्लो घट इति। अत्र हि शुक्लशब्दः स्वार्थं शुक्लगुणमन्तर्भाव्यैव तद्वति द्रव्ये लक्षणया वर्तते'।[66] अर्थात्–जहाँ पर शक्यार्थ का अन्तर्भाव करके ही अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, वहाँ पर (वाच्यार्थ का त्याग न किया होने से) अजहल्लक्षणा होती है। जैसे– 'शुक्लो घटः' इस वाक्य में शुक्ल शब्द, अपने 'शुक्लगुण' रूप वाच्यार्थ का शुक्लगुणविशिष्ट द्रव्यरूप लक्ष्यार्थ में अन्तर्भाव करके ही शुक्लगुणवान् द्रव्य (घट) रूप अर्थ में लक्षणावृत्ति से रहता है। इसलिए उपर्युक्त अर्थ का बोधन करता है, इस कारण यह अजहल्लक्षणा का उदाहरण है।

परिभाषाकार के मत में लक्षणा से ज्ञात होने वाले लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ भी जब अन्तर्भूत होता है तब उस लक्षणा को अजहल्लक्षणा कहते हैं। शक्यार्थ विशिष्ट विषयावृत्तिरजहल्लणा' वाच्यार्थ से विशिष्ट विषय को विषय करने वाली वृत्ति को अजहल्लक्षणा कहते हैं। अजहल्लक्षणा में 'गंगायां घोषः' या 'विषं भुंक्ष्व' आदि जहल्लक्षणा के उदाहरणों में वाच्यार्थ का सर्वथा त्याग करना पड़ता है वैसे अजहल्लक्षणा में वाच्यार्थ का सर्वथा त्याग नहीं करना पड़ता। जैसे– 'शुक्लोघटः' में शुक्ल शब्द शुक्लगुण का वाचक है अर्थात् शुक्ल (शुभ्र) वर्ण उसका वाच्यार्थ है। वह गुण होने से 'घट' अर्थात् द्रव्य नहीं है यह स्पष्ट है। इस कारण शुक्ल शब्द के वाच्यार्थ की वाक्य में अनुपपत्ति होने से उस शब्द की शुक्लगुण के साथ नित्यसम्बन्ध में रहने वाले 'शुक्लगुणवान् घट' रूप अर्थ में लक्षणा स्वीकार करनी पड़ती है। परन्तु लक्षणा के

[66] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 104.

स्वीकार पर भी शुक्लगुण रूप वाच्यार्थ की अप्रतीति नहीं होती। कारण यह है कि शुक्लगुण विशिष्ट घट का ज्ञान 'शुक्लगुण' रूप विशेषण के ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। अतः यह अजहल्लक्षणा का उदाहरण है। इसी प्रकार 'रक्तो धावति' इस वाक्य में रक्त शब्द की 'रक्तगुणविशिष्ट अश्व' रूप अर्थ में वृत्ति स्वीकार कर 'लाल घोड़ा दौड़ता है' अर्थ का ज्ञान अजहल्लक्षण से ही होता है।

6.4.3.2.3 जहद्जहल्लक्षा–

परिभाषाकार के अनुसार 'यत्र हि विशिष्ट वाचकः शब्दः एकदेशं विहाय एकदेशे वर्तते तत्र जहदजहल्लक्षणा, यथा सोऽयं देवदत्त इति। अत्र हि पदद्वय वाच्ययोर्विविशिष्टयोरैक्यानुपपत्त्या पदद्वयस्य विशेष्यमात्रपरत्वम्। यथा वा तत्त्वमसीत्यादौ तत् पद–वाच्यस्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्टस्य त्वंपदवाच्येनान्तःकरण विशिष्टेनैक्या– योगादैक्यसिद्धयर्थं स्वरूपे लक्षणेति साम्प्रदायिकाः'।[67] अर्थात् जिस वाक्य में विशिष्ट वाचक शब्द अपने विशेषणरूप एक अंश को छोड़कर विशेष्यरूप एक अंश का बोधक होता है, वहाँ जहदजहल्लक्षणा होती है। जैसे– 'सोऽयं देवदत्तः' वह यह देवदत्त इस वाक्य में 'वह' पद का 'तत्कालविशिष्ट' और 'यह' पद का 'एतत्कालविशिष्ट' अर्थ है। परन्तु 'देवदत्त' परोक्ष और अपरोक्षरूप विरूद्ध दोनों कालों से विशिष्ट होकर एक ही समय में स्थित नहीं हो सकता। इसलिए 'वह' और 'यह' दोनों पद केवल देवदत्तरूप विशेष्य अर्थ के ही बोधक हैं। अर्थात् दोनों पद केवल विशेष्यपरक हैं। वाच्यार्थपरक नहीं हैं। इसलिए यह जहदजहल्लक्षणा का उदाहरण हैं। अथवा 'तत्त्वमसि' 'वह ब्रह्म तू है' आदि अभेदबोधक वाक्यों में 'तत्' पद का वाच्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य के साथ ऐक्य का सम्भव नहीं हो सकता। अतः चैतन्यों की एकता के लिए स्वरूप में (शुद्ध चैतन्य में) उनकी लक्षणा करनी पड़ती है। ऐसा प्राचीन अद्वैत वेदान्त का मत है।

अद्वैत मतानुसार जब व्यवहार में 'सोऽयं देवदत्तः' का प्रयोग किया जाता है तो इस वाक्य का वाच्यार्थ है 'वह, यही देवदत्त' है। इसमें 'सः' शब्द वह का वाच्यार्थ है 'पूर्वकाल में स्थित' और 'अयम्' शब्द यह का वाच्यार्थ है, जिसकी तरफ उंगली से निर्देश कर कहा जा सकें, ऐसे वर्तमान काल में स्थित व्यक्ति। तत्कालीन देवदत्त तत्काल से विशिष्ट होने से परोक्ष और एतत्कालीन देवदत्त, इस काल से युक्त होने से अपरोक्ष या प्रत्यक्ष है। परन्तु एक ही देवदत्त का एक ही काल में, उस काल से और इस काल से विशिष्ट रहना सम्भव नहीं है। कारण यह है कि परोक्षत्व और अपरोक्षत्व दोनों धर्म परस्पर विरोधी हैं। इसलिए पूर्वोक्त वाक्य

[67] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 105.

में तथाकथित विरूद्ध धर्मों से युक्त देवदत्त का ऐक्य सम्भव नहीं। परन्तु 'सोऽयं देवदत्तः' यह वाक्य तत्कालविशिष्ट और एतत्कालविशिष्ट देवदत्त, एक ही है, भिन्न नहीं है। इसीलिए जहाँ ऐसे विशिष्टों का ऐक्य सम्भव न हो वहाँ उनके विशेषणों को त्यागकर केवल विशेष्य ही दोनों पदों का अर्थ स्वीकृत किया जाता है। अतः ऐसी लक्षणा को ही 'जहदजहल्लक्षणा' या भागत्यागलक्षणा' कहते हैं। भागत्यागलक्षणा में विशेषण और विशेष्यवाचक पदों में से 'विशेषण' के भाग को त्याग कर 'विशेष्य' भाग का ग्रहण किया जाता है। इसलिए इस वृत्ति की जहदजहल्लक्षणा संज्ञा उपयुक्त है। प्राचीन अद्वैतियों ने अद्वयबोधक महावाक्यों के अर्थ स्पष्टीकरण के लिए लक्षणा को स्वीकार किया है। परन्तु परिभाषाकार को यह मत स्वीकार नहीं है। यह इसी प्रकरण में प्रसंगानुसार यथा स्थल में स्पष्ट किया जाएगा। फिर भी परिभाषाकार ने परम्परा अनुसरण कर 'तत्वमसि' इत्यादि महावाक्यों में इस लक्षणा के लक्षण को घटित कर दिखाया। 'तत्' का अर्थ ब्रह्मचैतन्य और 'त्वम्' का अर्थ अन्तःकरण विशिष्ट चैतन्य। इनका अभेद होना सम्भव नहीं। क्योंकि जो ब्रह्म है, वह जीव कैसे हो सकता है? अर्थात् इस वाच्यार्थ के असम्भव होने पर लक्षणा स्वीकार करनी पड़ती है। किन्तु पूर्ववत् की तरह जहत् और अजहत् लक्षणाओं का लक्षण इनमें घटित न हो सकने से इस वाक्य में उनका ग्रहण नहीं किया जा सकता। क्योंकि जहल्लक्षणा द्वारा इन शब्दों के वाच्यार्थ का त्यागकर चैतन्यरूप विषेष्यांश का भी त्याग करना पड़ता है, और ऐसा करने पर भी इस वाक्य का श्रुति विवक्षित अद्वय नहीं हो सकता और अजहल्लक्षणा के न्याय से वाच्यार्थ का सर्वथा त्याग न करने पर भी श्रुति विवक्षित ऐक्य असम्भव ही रहता है। अतः परिभाषाकार पूर्व–उद्धृत दोनों लक्षणाओं से भिन्न ऐसी तीसरी जहदजहल्लक्षणा को ही स्वीकार करना पड़ता है। अर्थात् 'तत्' पद के वाच्यार्थ में से सर्वज्ञत्वादि और 'त्वं' पद के वाच्यार्थ में से 'किंचिज्ज्ञत्वादिरूप' औपाधिक विशेषणों का त्यागकर केवल विशेष्यभूत चैतन्य अर्थ को ही दोनों पदों में से स्वीकार करना पड़ता है। इस कारण श्रुतिविवक्षित चैतन्याभेदरूप अर्थ सिद्ध हो जाता है।

साम्प्रदायिकों क मत को स्पष्टकर परिभाषाकार ने अनुसार 'सोऽयं देवदत्त' 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के अद्वयरूप वाक्यार्थ की उपपत्ति बताते हैं– 'वयन्तु ब्रूमः– सोऽयं देवदत्तः, तत्त्वमसीत्यादौ विशिष्टवाचक पदानामेकदेशपरत्वेऽपि न लक्षणा, शक्त्युपस्थितयो–र्विशिष्टयोरभेदान्वयानुपपत्तौ विशेष्ययोः शक्त्युपस्थितयोरेवाभेदान्वयाऽविरोघात्। यथा घटोऽनित्य इत्यत्र घटपदवाच्यैकदेश घटत्वस्यायोग्यत्वेऽपि योग्यघटव्यक्त्या सहानित्यत्वान्वयः'।[68] अर्थात्–

[68] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 107.

इस विषय में परिभाषाकार ऐसा कहते हैं कि 'वहीं यह देवदत्त है' 'वह ब्रह्म तु है' आदि वाक्यों में 'सः' 'अयम्' 'तत्' और 'त्वम्' ये विशिष्ट वाचक पद यद्यपि विशेष्य के एकदेश के ही बोधक हैं तथापि उस बोध के लिए उन पदों की विशेष्यांश में लक्षणा करने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि शक्तिवृत्ति से ही उपस्थित हुए विशेष्यों का अभेदान्वय करने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। यथा– 'घट अनित्य है' इस वाक्य में 'घट' पद के 'घटत्व जाति–विशिष्ट घट' रूप वाच्यार्थ का एकदेश यद्यपि–अनित्यत्व के साथ अन्वित होने के योग्य नहीं है, तथापि अन्वययोग्य घटव्यक्तिरूप विशेष्यांश के साथ उसका अन्वय हो सकता है। तात्पर्य यह है कि 'घट' व्यक्ति को ही अनित्य समझते हैं 'घटत्व' जाति को नहीं। यह ज्ञान शक्ति के द्वारा ही होता है। अतः यहाँ लक्षणा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

परिभाषाकार ने 'घट' पद की शक्ति 'घटत्वजातिविशिष्ट घट' रूप अर्थ में ग्रहणकर स्वमत प्रतिपादन किया है। शब्द की विशिष्ट में शक्ति होती है– यह स्वीकार करने सिद्ध होता है कि पर घट पद की 'घटत्व' जाति रूप अर्थ में जैसी शक्ति है वैसी ही 'घट व्यक्ति' रूप में भी है। इसीकारण जहाँ पर विशिष्टपदार्थान्वय का बाध होता हो, वहाँ जिस अंश का बाध नहीं हो रहा है, उसी अंश में उस शब्द का पर्यवसान स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि यह कोई नियम नहीं है कि जितने अंश में शक्ति रहती है उस सम्पूर्ण अंश का शब्द बोध में ज्ञान होना ही चाहिए। 'आकाश' शब्द की शब्दाश्रयत्वविशिष्ट आकाश पदार्थ में शक्ति है, इसलिए 'आकाश है' ऐसा कहने पर शब्दाश्रयत्व का बोध जैसे तात्पर्य का विषय नहीं होता उसी तरह विशिष्ट वाचक पदों का पर्यवसान एकदेश में मानने पर भी मुख्यवृत्ति से ही 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों का अद्वयार्थत्व उपपन्न होता है। अतः इसके निमित्त लक्षणा स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

अन्य दार्शनिक ने भी ऐसा ही स्वीकार किया है। 'घट अनित्य है' इस वाक्य में 'घट' पद का 'घटत्व–विशिष्ट घट' वाच्यार्थ है। किन्तु 'घटत्व' जाति होने से उनके मतानुसार वह नित्य है। हमारे मत में भी उसे व्यावहारिक अनित्यत्व का अन्वय होना भी सम्भव नहीं। कारण यह है कि 'घटत्व' जाति होने से नैयायिक मतानुसार वह नित्य है। जबकि परिभाषाकार के मत में भी जाति का व्यावहारिक नित्यत्व तो है ही। इस नैयायिक यहाँ पर वाच्य के एकदेश रूप विशेष्यांश घट के साथ ही अनित्यत्व का अन्वय स्वीकार करते हैं और 'घटव्यक्ति अनित्य है' यही उपर्युक्त वाक्य का अर्थ करते हैं। यहाँ यह बोध शक्ति के द्वारा ही होता है। इसलिए लक्षणा नहीं स्वीकार करनी पड़ती।

यह आक्षेप हो सकता है कि ऐसा स्वीकार करने पर 'घट नित्य है' इस वाक्य में घटरूप विशेष्यांश का नित्यत्व के साथ अन्वय जब बाधित होता है तब उसका घटत्व रूप विशेषणांश में पर्यवसान भी मुख्यवृत्ति से ही होने लगेगा, जिससे 'यह बोध लक्षणा से ही होता है' यह प्रमाणिक व्यवहार का बाधित होगा। परिभाषाकार इस आक्षेप का समाधान करते हैं कि– 'यत्र पदार्थैकदेशस्य विशेषणतयोपस्थितिः, तत्रैव स्वात्रन्त्र्येणोपस्थितये लक्षणाऽभ्युपगमः। यथा घटो नित्य इत्यत्र घटपदाद्घटत्वस्व शक्त्या स्वातन्त्र्येणानुपस्थितत्या तादृशोपस्थितत्यर्थं घटपदस्य घटत्वे लक्षणा'।[69] अर्थात्– जिस वाक्य में पदार्थ के एक अंश की विशेषण रूप से उपस्थित हो वहीं पर केवल विशेषण की स्वतंन्त्रतया उपस्थित होने के लिए लक्षणा को स्वीकार करना पड़ता है। जैसे– 'घट नित्य है' इस वाक्य में 'घट' पद से शक्तिवृत्ति के द्वारा केवल घटत्व की स्वतंत्रतया उपस्थिति नहीं होती, इसलिए विशेषण रूप घटत्व की उपस्थित होने के लिए घट पद की घटत्वरूप अर्थ में लक्षणा को स्वीकार करना पड़ता है।

परिभाषाकार के अनुसार शक्ति प्रथमतः विशेष्य में रहती है, इसी कारण विशेष्य का स्वतन्त्रता से होने वाला बोध, शक्तिवृत्ति से ही हो सकता है, इसलिए वहाँ लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं होती है। किन्तु विशेषण में गौणता होती है, इस कारण जिस वाक्य में स्वतन्त्रता से केवल गुणभूत विशेषण से ही पदार्थ का अन्वय होना होता है, उस वाक्य में उस विशेषण रूप अंश की ही उपस्थित के लिए लक्षणा अवश्य स्वीकार करनी पड़ती है। जैसे– 'घट नित्य है' यह कहने पर घट पद से विशेषण और विशेष्य के साथ परस्पर सम्बद्ध दोनों अर्थों की उपस्थित का सम्भव होने पर भी घटव्यक्ति रूप विशेष्यांश से नित्यत्व का अन्वय सम्भव नहीं हो सकता। कारण यह कि घटव्यक्ति में नित्यत्व के न होने से विशेष्यरूप अंश के साथ नित्यत्व का अन्वयबोध न होकर केवल विशेषणीभूत घटत्व रूप एकदेश के ही साथ नित्यत्व अन्वित होता है, इस तरह की उपस्थित के लिए घट पद की घटत्वरूप अर्थ में लक्षणा ही स्वीकार करनी पड़ती है। क्योंकि पदार्थ, पदार्थ के साथ ही अन्वित होता है। 'पदजन्य पदार्थ की प्रतीति में शक्तिवृत्ति के द्वारा विशेष्यभूत अंश के ही साथ पदार्थ का अन्वय होगा। उसके एकदेश के साथ पदार्थ अन्वित नहीं होगा। यह नियम होने से 'घट' पद से विशेष्य–निरपेक्ष 'घटत्व' इस विशेषणरूप अंश की उपस्थिति लक्षणा के बिना नहीं हो सकती। अतः ऐसे स्थल में लक्षणा स्वीकार ही करनी पड़ती है।

[69] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 107.

इस प्रकार परिभाषाकार के मतानुसार यह नियम स्पष्ट किया गया है कि विशिष्टवाचक पद से केवल विशेष्य की उपस्थिति होने के लिए लक्षणा को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, वहाँ तो केवल विशेषण की उपस्थिति के लिए लक्षणा स्वीकार करनी पड़ती है। अब इस नियम को प्रकृत में 'तत्वमसि'[70] आदि वाक्यों में लगााकार वहाँ भी लक्षणा के बिना ही अद्वयार्थ की उपपत्ति हो सकती हैं– 'एकमेव तत्त्वमसीत्यादिवाक्येऽपि न लक्षणा। शक्त्या स्वातन्त्र्येणोपस्थितयोस्तत्त्वम्पदार्थयोरभेदान्वये बाधकाभावात्। अन्यथा गेहे घटो, घटे रूपं, घटमानयेत्यादौ घटत्वगेहत्वादेरभिमतान्वयबोधा– योग्यतया तत्रापि घटादिपदानां विशेष्यमात्रपरत्वं लक्षणयैव स्यात्। तस्मात्तत्त्वमसीत्यादिवाक्येषु आचार्याणां लक्षणोक्तिरभ्युपगमवादेन बोध्या'।[71] अर्थात्– इसी नियम के अनुसार 'तत्त्वमसि' इत्यादि प्रकृत वाक्यों में भी लक्षणा करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि शक्तिवृत्ति के द्वारा स्वतन्त्रतया चैतन्यरूप से उपस्थित होने वाले 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थों का अभेद से अन्वय होने में कोई भी बाधक नहीं है। अन्यथा 'घर में घट है' 'घट में रूप है' 'घट लाओ' आदि वाक्यों में भी घटत्व, गेहत्व आदि धर्मों में गृहादि पदार्थरूप अंशो में अभिमत अन्वय–बोध करा देने की योग्यता न होने से वहाँ पर भी घटादि पदों का केवल विशेष्यपरत्व लक्षणा से ही होने लगेगा। तस्मात् पूर्वाचार्यों ने 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में जहदजहल्लणा का अभ्युपगमवाद से स्वीकार किया है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए।

परिभाषाकार के मतानुसार उपर्युक्त नियम स्वीकार करने पर यह सिद्ध होता है कि विशिष्टवाचक पदों से केवल विशेष्य का ज्ञान होने के लिए लक्षणा का स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं। इसी कारण 'तत्त्वमसि' आदि अभेदार्थक वाक्यों में भी लक्षणारूप गौण वृत्ति को नहीं स्वीकार करना पड़ता। क्योंकि 'तत्' पद से सर्वज्ञत्वविशिष्ट चैतन्य और त्वम् पद से अल्पज्ञत्व विशिष्ट चैतन्य विशिष्ट अर्थों के उपस्थित होने पर भी तथा उनका अभेदान्वय बाधित होने पर भी वे पद जहदजहल्लणा के द्वारा शुद्ध चैतन्य बोधक होते हैं यह नैयायिकों का अभिमत तो ऊपर बताए नियम से ही हो सकता है। तब लक्षणारूप गौण वृत्ति को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

यह आक्षेप हो सकता है कि घट आदि पद स्वाभाविक रूप से ही घटात्वादि विशेषण और घटाटि विशेष्य दोनों के बोधक होते हैं आशय यह कि उनकी शक्ति उन दोनों में होती है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि जहाँ पर उनमें से एक ही की उपस्थिति होती हो

---

[70] छान्दोग्य उपनिषद्– 6/7/8

[71] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 108–109.

वहाँ एक देश, उन पदों का वाच्यार्थ है। इस प्रकार 'घट नित्य है' इत्यादि वाक्यों में केवल विशेषण का ज्ञान होने के लिए आपको वहाँ पर जिस प्रकार की लक्षणा स्वीकार करनी पड़ती है, उसी प्रकार की 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों में भी लक्षणा को स्वीकार करना पड़ता है, तब यह परिभाषाकार के द्वारा कैसे कहा जा सकता है कि यहाँ पर लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं है?

परिभाषाकार ने इस आक्षेप का निराकरण 'अन्यथा....' इत्यादि वाक्य से किया है। उनके अनुसार विशेषण के समान केवल विशेष्य का बोध भी लक्षणा से ही होता है, ऐसा स्वीकार करने पर 'घर में घट है' इस वाक्य में गृहत्वविशिष्ट गृह इस प्रकार के विशिष्टार्थबोधक 'गृह' पद से केवल 'गृह' रूप विशेष्यांश का बोध होने के लिए ऐसे वाक्य में भी लक्षणा को स्वीकार करना पड़ेगा। यहाँ पर भी वाच्यैकदेशभूत घटत्वरूप के साथ 'गृह' पदार्थ का आधेयता–सम्बन्ध से अन्वय का होना असम्भव है। इसलिए गृह में घटत्व नहीं रहता। इस प्रकार घट गृह में रहता है, वह गृहत्व जाति में नहीं रह सकता। वैसे ही घट में रूप है, इस वाक्य का घटत्वविशिष्ट घट में अर्थात् घटत्व और घट इन दोनों में रूप है। यह अर्थ उपपन्न नहीं होता है, कारण यह कि रूप घट में होता है, उसका घटत्व–जाति में होना सम्भव नहीं। इस कारण घटत्व का रूप के साथ आधेयता–सम्बन्ध से अभिलाषित अन्वय हो नहीं सकता। इसलिए यह कहना होगा कि इस वाक्य से घट में रूप है, इत्याकारक जो बोध होता है। वह भी लक्षणा से ही होता है। इसी प्रकार 'गाय को लाओ' इस वाक्य में 'गो' इस विशिष्ट पद की भी केवल 'गो' इस अर्थ में लक्षणा मानकर ही विशेष्य का आगमन क्रिया में अन्वय होता है। कारण यह है कि वहाँ भी वाच्यैकदेशरूप अमूर्त गोत्व का आनयन क्रिया में कर्मत्वरूप से अन्वित होना असम्भव है।

इस पर 'गेहे घटः' आदि वाक्यों में हम लक्षणा स्वीकार करते हैं। तो उसमें क्या बाधक है। यदि कहें तो यह उचित नहीं है कि 'प्राधान्येन व्यापदेशा भवन्ति' प्राधान्य से सब व्यवहार हुआ करते हैं, इस नियम के अनुसार यह मानना उचित है कि उस वाक्य के वाच्यार्थ का प्रधानभूत एकदेशरूप विशेष्य की उपस्थिति होने पर वह अर्थ शक्य है। वाक्य में विशेषण की प्रमुखतः न होने से विशेष्य रहित विशेषण का ज्ञान लक्षणा के बिना नहीं हो सकता। इस कारण केवल विशेषणरूप अंश में लक्षणा को अवश्य स्वीकार करना पड़ता है। क्योंकि 'घट पद का घटत्व वाच्य है' ऐसा प्रमुखतः से व्यवहार नहीं होता, इस कारण 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु तदेकदेशेन' यह नियम भी विशेषण–विषयक ही है, यह स्वीकार करना चाहिए, अर्थात्

विशेषण के साथ पदार्थ का अन्वय न होकर विशेष्य के ही साथ होता है, यही नियम का अर्थ भी है।

यह आक्षेप हो सकता है कि ऐसा कहने पर वाक्यवृत्ति, पंचदशी आदि पूर्वाचार्यकृत वेदान्त ग्रन्थों के साथ विरोध होता है, क्योंकि ऐसा कहने में विरोध होगा कि 'तत्त्वमस्यादिवाक्येषु लक्षणा भाग लक्षणा' 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में भागलक्षणारूप लक्षणा स्वीकार करना चाहिए और इस विरोध का परिहार किस प्रकार होगा?'

परिभाषाकार के अनुसार आचार्य शंकर एवं विद्यारण्य आदि आचार्यों ने 'तत्वमसि' आदि वाक्यों में जो भागलक्षणा स्वीकार की है, वह पूर्वपरम्परा का अनुसरण कर स्वीकार की है। वस्तुतः उन आचार्यों को भी वैसी लक्षणा स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं थी।

अब यदि इस पर कोई ऐसा आक्षेप करे कि 'तत्वमसि' आदि वाक्य में अभेदान्वय की उपपत्ति लगाने के लिए ही यह तीसरा प्रकार अर्थात् 'जहदजहल्लणा' माना गया है। यदि आप के कथनानुसार इस वाक्य में भी उसका उपयोग न हो तो 'लक्षणा त्रिविधा' इस प्रकार लक्षणा के तीन प्रकार बताने का क्या उपयोग होगा? इस पर परिभाषाकार का यह मत है कि– 'जहदजहल्लक्षणोदाहरणं तु– काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्याद्योव। तत्र शक्यकाकपरित्या–गेनाशक्यदध्युपघातकत्वपुरस्कारेण काकेऽकाकेऽपि काकशब्दस्य प्रवृत्तेः'।[72] अर्थात्– 'कौओं से दही की रक्षा की जाए' इत्यादि वाक्य भी जहदजहल्लक्षणा के उदाहरण हैं। क्योंकि ऐसे वाक्यों में 'काक' शब्द के वाच्यार्थ का परित्याग कर और अशक्यार्थ का पुरस्कार कर 'काक' शब्द की काक तथा अकाक अर्थ में भी प्रवृत्ति है।

परिभाषाकार के मत में 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' यह जहदजहल्लक्षणा का उदाहरण है। परिभाषाकार के अनुसार 'इत्यादि' शब्द से 'छत्रिणो यान्ति' इत्यादि उदाहरणों को स्वीकार करना चाहिए। इस कारण 'लक्षणा त्रिविधा' इस वाक्य के साथ कोई विरोध नहीं हो सकता। जैसे– जब कि घर के बड़े लोग बच्चों से कहते हैं कि 'दही की ओर देखना, कौए उसे दूषित न करने पाए, तब केवल कौए दही को दूषित न करे, बिल्ली, कुत्ते आदि उसे दूषित करे, यह उस वाक्य का बोधक नहीं होता, अपितु सभी से उसका रक्षण करना ही उस वाक्य का तात्पर्य–विषयभूत अर्थ होता है। इसलिए उस वाक्य का अर्थ श्रोता यह स्वीकार करता है कि उसे सभी दध्युपघातक प्राणियों से दही की रक्षा करने को कहा गया है, इस प्रकार से श्रोता को काक शब्द की दध्युपघातक प्राणियों में लक्षणा स्वीकार करने से ही होती है। क्योंकि यहाँ

[72] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 110.

दधिरक्षण रूप तात्पर्यार्थ की केवल वाच्यार्थ से उपपत्ति न होने पर लक्षणा को स्वीकार करना पड़ता है, अतः यही जहदजहल्लक्षणा है।

यह आक्षेप हो सकता है कि उपर्युक्त वाक्य में लक्षणा का स्वीकार आवश्यक होने पर भी 'विरूद्ध विशेष अंशों का त्यागकर अविरूद्ध विशेष अंशो का स्वीकार करना' रूप जहदजहल्लक्षणा का लक्षण प्रकृत स्थल में सम्भव नहीं है, क्योंकि उसमें 'काक' पद के वाच्यार्थ का त्याग नहीं होता है। इसकारण 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' जहदजहल्लक्षणा का उदाहरण कैसे कहा जा सकता है?

परिभाषाकार इस आक्षेप का भी समाधान करते हैं कि प्राचीन साम्प्रदायिकों ने 'विरूद्धांश–त्यागपूवर्क अविरूद्ध अंश–विशेष का स्वीकार करना' यह लक्षण जहदजहल्लक्षणा का किया है। परन्तु परिभाषाकार आदि नव्य वेदान्तियों ने इस लक्षण को स्वीकार नहीं किया। उनका का कहना है कि शक्य और अशक्य अर्थ का सामान्यतया बोध करा देने वाली जो लक्षणा है, वही जहदजहल्लक्षणा है।

'काकेभ्यो दधिरक्ष्यताम्' इस उदाहरण में इस लक्षण का समन्वय होता है। क्योंकि यहाँ पर 'काक' शब्द काकत्वरूप वाच्यार्थ का त्याग कर वाच्यार्थ भिन्न 'दध्युपघाकत्व' धर्म का ग्रहण करता है और मार्जार, श्वान आदि लक्ष्यार्थों के साथ वाच्यरूप 'काक' का भी उसी धर्म से दध्युपधाकत्वरूप बोध हो जाता है। इस प्रकार से यह वाक्य शक्य काक और अशक्य मार्जार, श्वान आदि का बोधक होने से जहदजहल्लक्षणा का उदाहरण हो जाता है इसीलिए 'छत्रिणो गच्छन्ति' छाता वाले लोग जा रहे हैं आदि वाक्य भी इसी लक्षणा के उदाहरण हैं। इस वाक्य में भी 'एकसार्थवाहित्व' एक समूह का घटक होना सम्बन्ध से 'छत्रिन्' पद से शक्य छत्रवान् लोग और अशक्य छत्ररहित लोग दोनों का ही बोधक होता है।

इस प्रकार परिभाषाकार लक्षणा का स्वरूप स्पष्ट कर अब लक्षणा के मूल को स्पष्ट करते हैं– 'लक्षणाबीजं तु तात्पर्य्यानुपपत्तिरेव न त्वन्वयानुपपत्तिः, काकेभ्यो दधि रक्ष्य–तामित्यत्रान्वयानुपपत्तेरभावात्। गंगायां घोष इत्यादौ तात्पर्यानुपपत्तेरपि सम्भवात्'।[73] अर्थात्– तात्पर्य की अनुपपत्ति ही लक्षणा में बीज है। अन्वय की अनुपपत्ति, लक्षणा में बीज नहीं है। क्योंकि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' वाक्य में अन्वय की अनुपपत्ति नहीं है। (वाक्य के पदों पर परस्पर अन्वय लग सकता है) उसी प्रकार 'गंगायां घोषः' आदि वाक्यों में तात्पर्य की अनुपपत्ति

[73] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 111.

का भी सम्भव होता है। (इसलिए एकमात्र तात्पर्यानुपत्ति को ही लक्षणा में बीज मानने में लाघव है)

परिभाषाकार के मतनुसार 'तत्त्वमसि' आदि अद्वयबोधक वाक्यों में गौण लक्षणावृत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, यह ऊपर स्पष्ट किया गया है। इस पर यदि कोई यह आक्षेप करे कि 'जिस प्रकार 'शक्ति' शब्द की एक वृत्ति है, उसी प्रकार 'लक्षणा' भी शब्द की एक वृत्ति है। इसलिए से शक्ति से जैसे शाक्यार्थ का ज्ञान होता है वैसे ही लक्षणा से शक्यसम्बद्ध लक्ष्यार्थ का भी ज्ञान होता है, तब उसमें गौणत्व कैसा?

परिभाषाकार ने इस आक्षेप का निराकरण करने के लिए ही लक्षणा के बीज उल्लेख किया है। शब्द से लक्षणा के द्वारा लक्ष्यार्थ का ज्ञान होने में जो कारण हो उसे लक्षणा का बीज कहते हैं। शब्द के प्रसिद्ध अर्थ को वाच्यार्थ कहते हैं, जहाँ पर वाच्यार्थ की उपपत्ति नहीं लगती वहाँ पर अगत्या लक्षणा का स्वीकार करना चाहिए है। इसी कारण जहाँ वाक्यार्थ से ही शाब्दबोध का होना संभव हो, तो वहाँ लक्षणा को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इसके पश्चात् भी कतिपय वादी मुख्यार्थ के अन्वयानुपपत्ति को ही लक्षणा में बीज स्वीकार करते हैं। अतः इसके निराकरणार्थ ही परिभाषाकार ने 'अन्वयानुपपत्ति, को लक्षणा में बीज नहीं स्वीकार किया है। क्योंकि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इस वाक्य में दधिरक्षण का केवल 'काक' शब्द के अन्वय मानने पर भी वह अनुपन्न नहीं होता, इसलिए अन्वयानुपपत्तिरूप लक्षणाबीज की प्रकृत उदाहरण में अव्याप्ति होती है। परन्तु यदि मार्जार आदि प्राणीयों को दूषित करने दिया जाय तो 'दधिरक्षण' रूप तात्पर्य की अनुपपत्ति होती है। अतः तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा में स्वीकार करना आवश्यक है। यह स्वीकार करने पर ही सभी जगह शाब्द–बोध की उपपत्ति लग जाती है। इसी कारण पृथक्रूप से 'अन्वयानुपपत्ति' को लक्षणा में बीज स्वीकार करने की कोई आवश्यकता ही नहीं होती। अतः 'अन्वयानुपपत्ति और तात्पर्यानुपपत्ति' रूप दो लक्षणा बीज को स्वीकार करने की अपेक्षा सर्वत्र एक को ही बीज मानने में कमी भी है।

परिभाषाकार के अनुसार इसके अतिरिक्त जहाँ कहीं वाक्य में अन्वयानुपपत्ति रहती है, वहाँ तात्पर्यानुपपत्ति भी रहती है। जैसे– 'गंगायां घोषः' यह वाक्य अन्वयानुपपत्ति रूप लक्षणाबीज के उदाहरण में दिया जाता है। कारण यह है कि 'गंगा' पद का मुख्यार्थ प्रवाह का घोष के साथ आधेयता सम्बन्ध से अन्वय हो नहीं सकता। इस अन्वयानुपपत्ति को लक्षणाबीज स्वीकार करने वालों का मत है कि अन्वयानुपपत्ति के कारण गंगापद की

'गंगासम्बन्धी तीर' अर्थ में लक्षणा स्वीकार करनी पड़ती है। परन्तु परिभाषाकार के अनुसार यहाँ पर जैसी अन्वयानुपपत्ति है वैसी ही तात्पर्यानुपपत्ति भी है। क्योंकि 'गंगा' पद का 'प्रवाह' रूप मुख्य अर्थ करने पर उस वाक्य के 'तीरप्रतीतिजननयोग्यत्व' रूप तात्पर्य असंभव हो जाता है। इस प्रकार वाक्य में भी तात्पर्यानुपपत्ति होने के लिए लक्षणा को स्वीकार किया जाना चाहिए। इसलिए भिन्न–भिन्न उदाहरणों में लक्षणा के भिन्न–भिन्न प्रयोजक स्वीकार करने की अपेक्षा 'तात्पर्यानुपपत्ति' रूप एक ही लक्षणाबीज स्वीकार करना उचित है। 'गंगायां घोषः' इस उदाहरण में तात्पर्य निश्चय करने के लिए अन्वयानुपपत्ति का उपयोग किया जा सकता है। जबकि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' यहाँ प्रयोजनसिद्धि का और 'सैन्धवमानय' में देश, काल, प्रकरण आदिकों का भी तात्पर्य निश्चय करने में उपयोग होता है। इस प्रकार परिभाषाकार के मत में तात्पर्यार्थ के निश्चायक कारण भिन्न–भिन्न होते हैं।

इस पर नैयायिकों का मत है कि 'जिस प्रकार शक्ति केवल पदवृत्ति होती है उसी प्रकार लक्षणा भी पदवृत्ति ही है। कारण यह कि लक्षणा में भी शक्ति के समान वृत्तित्व है। इसलिए जो भी वृत्ति हो उसका पदनिष्ठ होना ही उचित है'। नैयायिकों के इस मत का निराकरण करते हुए परिभाषाकार का मत है– 'लक्षणा च न पदमात्रवृत्तिः, किन्तु वाक्यवृत्तिरपि। यथा गम्भीरायां नद्यामिति पदद्वयसमुदायस्य तीरे लक्षणा'।[74] अर्थात्– लक्षणा केवल पदमात्र वृत्ति नहीं है किन्तु वाक्यवृत्ति भी है। जैसे– 'गम्भीरायां नद्यां घोषः' गहरी नदी पर ग्वाले का घर है। इस वाक्य में गम्भीर और नदी दो पदों के समूह की तीर अर्थ में लक्षणा है।

परिभाषाकार के अनुसार नैयायिक यह अनुमान करते हैं कि – लक्षणा पदमात्र वृत्ति है, क्योंकि उसमें वृत्तित्व है, शक्ति के समान'। परन्तु परिभाषाकार के मतनुसार नैयायिकों का यह अनुमान उचित नहीं है। कारण यह है कि 'गम्भीरायां नद्यां घोषः' वाक्य में पदमात्र वृत्तित्व का व्यभिचार होता है। इस वाक्य में गम्भीर विशेषण से विशिष्ट नदी पद की ही तीररूप अर्थ में लक्षणा की जाती है। इस कारण यहाँ लक्षणा में पदमात्रवृत्तित्व सम्भव नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त अनुमान में 'वृत्तित्व' का हेतु सोपाधिक है, क्योंकि यहाँ 'शक्तित्व' उपाधि है। फिर भी जहाँ 'पदमात्रवृत्तित्व' रूप साध्य होता है वहाँ पर शक्तित्व भी रहता है। इस कारण 'शक्तित्व' साध्य व्यापक है और जहाँ 'वृत्तित्व' रूप हेतु हो वहाँ 'शक्तित्व' के रहने का कोई नियम नहीं है। जैसे– गंभीर और नदी दोनों पदों में लक्षणावृत्ति है किन्तु

[74] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 111.

'शक्तित्व' नहीं है, इस कारण 'शक्तित्व' साधनाव्यापक हुआ। अतः यह अनुमान सोपाधिकत्व रूप दोष से युक्त है।

'गम्भीरायां नद्यां घोषः' इस वाक्य में नदी 'गंभीर' विशेषण दिया है। किन्तु गंभीर जल धारा पर घर का होना असंभव है। अतः यह ज्ञात होता है कि इन दो पदों के उच्चारण से नदी शब्द का तीररूप अर्थ ही इस व्यक्ति को विवक्षित होगा। इस प्रकार यह स्वीकार करना होगा कि यहाँ पर दोनों पदों की तीररूप अर्थ में लक्षणा है। क्योंकि केवल 'नदी' पद की 'तीर' रूप अर्थ में यदि लक्षणा मान लें तो 'गंभीर तीर पर घोष है' यह अर्थ होने लगेगा। परन्तु तीर में 'गंभीर' विशेषण नहीं दिया जा सकता। क्योंकि तीर गंभीर नहीं होता। यदि गंभीर पद की ही तीर अर्थ में लक्षणा मानें तो वह भी नहीं हो सकता, क्योंकि 'गंभीर' और 'तीर' में अभेद का होना असम्भव है, इसी प्रकार 'तीर' और 'नदी' का भी अभेदान्वय कभी नहीं हो सकता। इसीलिए इन दोनों पदों में से किसी एक पद की तीररूप अर्थ में लक्षणा कर समीप के पद को उस तात्पर्य का केवल ज्ञापक मान लेने पर भी गंभीर और नदी दो पदों की आवृत्ति करने में कोई कारण नहीं है। अतः पुनरुक्ति की उपपत्ति ही नहीं की जा सकती।

अब यदि इस पर कोई कहें कि 'नदी' शब्द की केवल 'तीर' अर्थ में लक्षणा न कर 'नदी तीर' अर्थ में लक्षणा है, और 'नदी तीर' रूप लक्ष्यार्थ के 'नदी' रूप अंश के साथ ही गंभीर पद का अन्वय होता है, ऐसा करने पर कोई दोष नहीं है।

परिभाषाकार के मतनुसार यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि यह शाब्दबोध के विषय में नियम है कि एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ ही अन्वय होता है, उसके एकदेश के साथ नहीं। अतः 'नदी तीर' पद की नदीरूप एक अंश के साथ गंभीर पद का अन्वय हो नहीं सकता। इस कारण परिशेषन्याय से गंभीर और नदी दोनों पदों की तीररूप अर्थ में लक्षणा स्वीकार करनी पड़ती है। अतः वह अर्थ गंभीर और नदी के परस्परान्वित इन दो पदों से निष्पन्न होता है इस कारण यह वाक्यवृत्ति लक्षणा है। आशय यह है कि यह नियम नहीं बनाया जा सकता कि शक्ति के समान लक्षणा भी पदमात्रवृत्ति ही होती है। प्रत्युत परिभाषाकार के मत में लक्षणा जैसी पदवृत्ति होती है, वैसी वाक्यवृत्ति भी होती है।

यह आक्षेप है कि लक्षणा का स्वरूप तो 'शक्यसम्बन्धो लक्षणा' बताया गया है। किन्तु वाक्यार्थ में शक्ति के न होने से उसकी शक्यसम्बन्धरूप लक्षणा कैसे संभव हो सकेगी? इस प्रकार का आक्षेपकर परिभाषाकार उसका समाधान भी करते हैं– 'ननु वाक्यार्थस्याशक्यतया

कथं शक्यसम्बन्धरूपा लक्षणा?। उच्यते। शक्त्या यत्पदसम्बन्धेन ज्ञाप्यते तत्सम्बन्धो लक्षणा, शक्तिज्ञाप्यश्च यथा पदार्थस्तथा वाक्यार्थोऽपीति न काचिदनुपपत्तिः'।[75] अर्थात्– वाक्यार्थ में अशक्यता होने से उसमें शक्यसम्बन्धरूप लक्षणा है– यह कैसे कहा जा सकेगा? यदि ऐसी शंका हो तो उसका यह समाधान है– शक्ति से पद सम्बन्ध के द्वारा जिसका बोध होता है उसका सम्बन्ध ही लक्षणा है, और पदार्थ जैसे शक्ति से ज्ञाप्य (बोध्य) होता है, वैसे वाक्यार्थ भी शक्ति से ज्ञाप्य होता है। अतः वाक्य में लक्षणा के स्वीकार करने मे अनुपपत्ति नहीं है।

परिभाषाकार के अनुसार यह आक्षेप करने वालों का आशय है कि जब किसी वाच्यार्थ की उपपत्ति नहीं लगती, तब उसकी शाक्यार्थसंबद्ध अर्थ में लक्षणा करनी चाहिए है। किन्तु जो अर्थ, वाच्य ही नहीं है उसकी तत्संबद्ध अर्थ में लक्षणा स्वीकार करना तो बन्ध्यापुत्र का किसी से सम्बन्ध प्रदर्शन करने के समान ही होगा। इस आक्षेप का परिभाषाकार यह समाधान देते हैं– जिस प्रकार पदार्थ शक्य है उसी प्रकार वाक्यार्थ भी शक्य है। इसलिए शक्यसंबन्धरूप लक्षणा वाक्य में भी हो सकती है क्योंकि जिस अर्थ का शक्ति से साक्षात् बोध किया जाय वही शक्यार्थ है, इस प्रकार शक्य शब्द की यह व्याख्या यदि परिभाषाकार ने स्वीकार की होती तो उक्त आक्षेप के अनुसार अद्वैत पक्ष में भी वाक्य में लक्षणा की अनुपपत्ति हुई होती। किन्तु परिभाषाकार ने शक्यार्थ का वह लक्षण न कर 'शक्ति से साक्षात् या परस्पर से जो ज्ञात हो वही शक्यार्थ है' ऐसा लक्षण स्वीकार करते हैं। इसीलिए शक्ति से साक्षात् यद्यपि कि पदार्थ ही बोधित होता है फिर भी परंपरा से वाक्यार्थ भी बोधित होता है। इस पद से पदार्थ का ज्ञान होते ही उन पदार्थों के परस्पर अन्वय से जो अर्थ ज्ञात होता है, वही वाक्यार्थ है, वह भी शक्ति से ही परम्परा द्वारा ही ज्ञात होता है। इसलिए पदार्थ के समान वाक्यार्थ में भी शक्यता है। अतः पद के समान वाक्य की भी शक्यार्थ–सम्बद्ध अर्थ में लक्षणा हो सकती है। इसके पश्चात् परिभाषाकार यह स्पष्ट करते हैं कि जिस प्रकार लौकिक वाक्य में लक्षणा होती है उसी प्रकार वैदिक वाक्य में भी लक्षणा हो सकती है– 'एवमर्थवादवाक्यानां प्रशंसारूपाणां प्राशस्त्ये लक्षणा। सोऽरोदीदित्यादिनिन्दार्थवाक्यानां निन्दितत्वे लक्षणा। अर्थवादगतपदानां प्राशस्त्यादिलक्षणाऽभ्युपगमे एकेन पदेन लक्षणया तदुपस्थितिसम्भवे पदान्तरवैयर्थ्यं स्यात्। एवं च विध्यपेक्षित–प्राशस्त्यरूपपदार्थ–प्रत्ययकतया अर्थवाद पद समुदायस्य पदस्थानीयतया विधिवाक्येन एकवाक्यत्व भवतीत्यर्थवादानां पदैकवाक्यता'।[76] अर्थात्– इसी प्रकार प्रशंसारूप अर्थवाद–वाक्यों की विधि के प्राशस्त्य में लक्षणा एवं 'सोऽरोदीत्'

[75] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 112.
[76] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 112.

इत्यादि निन्दार्थक अर्थवाक्यों की 'निन्दित्व' रूप अर्थ में लक्षणा होती है। शंका यह कि अर्थवादवाक्य के पदों की ही प्राशस्त्यादि अर्थ में लक्षणा होती है– यह क्यों नहीं मानते? इसका समाधान है कि अर्थवादवाक्य के पदों की ही प्राशस्त्यरूप अर्थ में लक्षणा यदि मान लें तो एक ही पद से लक्षणा के द्वारा उन अर्थों की उपस्थिति हो जायेगी जिससे अन्य पद व्यर्थ होंगे अर्थात् एक ही पद से प्राशस्त्य अर्थों का लक्षणा के द्वारा यदि ज्ञान हो जाय तो अन्य पद व्यर्थ हैं, समझना पड़ेगा। इसलिए अर्थवाद–वाक्य के पदसमूह में विधि से अपेक्षित ऐसे प्राशस्त्यरूप पदार्थ की बोधकता होने के कारण पदस्थानीयत्व होता है। अर्थात् वह पदसमूह एक पद के समान ही होता है। इस कारण उनकी विधिावक्य के साथ एकवाक्यता होती है। इसलिए अर्थवादवाक्यों की पदैकवाक्यता मानी जाती है।

परिभाषाकार के मतानुसार 'गम्भीरायां नद्यां घोषः' इस वाक्य के किसी एक ही पद की लक्षणा न होकर गम्भीर एवं नदी दो पदों की तीररूप अर्थ में लक्षणा स्वीकार करनी चाहिए है। यदि इस पर यदि कोई आक्षेप करे कि 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु तदेकदेशेन' यह नियम व्यभिचारी है अर्थात् नित्य (अव्यभिचारी) नहीं। जैसे – 'चैत्रस्य गुरूकुलम्' चैत्र के गुरू का कुल इस वाक्य में 'चैत्रस्य' (इस) षष्ठ्यन्तपद का 'गुरूकुलम्' के गुरू शब्द के साथ अन्वय स्वीकार किए बिना गति ही नहीं है, इसलिए एकदेशान्वय का स्वीकार करना पड़ता है तो प्रकृत में भी उसी प्रकार एकादेशान्वय मानकर, गंभीर ऐसी जो नदी है। उसका तीररूप अर्थ करने में क्या दोष है? इसलिए परिभाषाकार ने पूर्व समाधान के अतिरिक्त 'जहाँ वाक्य की लक्षणा स्वीकार किए बिना गति नहीं है,' ऐसे वैदिक अर्थवाद वाक्यों का स्पष्टीकरण दिया है।

परिभाषाकार के मत में अर्थवाद, विधि अथवा निषेध के साक्षात् बोधक नहीं होते, किन्तु गुणवाद और अनुवाद रूप से वे अपनी व्यर्थता सिद्ध करते हैं। परन्तु वह अर्थ सदैव उपत्पन्न ही हो ऐसा नियम नहीं है। इस कारण अर्थवाद–वाक्यों में साक्षात् विधिनिषेधबोधकत्व का संभव नहीं होता। इस कारण अर्थवाद–वाक्यों के मृख्यार्थ को भी सदैव स्वीकार नहीं किया जाता। अतः लक्षणा के द्वारा विधि के प्राशस्त्यादि का ज्ञान करा देना ही अर्थवाद वाक्यों का अर्थ माना जाना चाहिए। जैसे– तैत्तरीय संहिता में 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'[77] वायु अतिवेगगामी देवता है। इत्यादि स्तुतिपरक अर्थवाद–वाक्यों की वायव्यश्वेतयागरूप विधि की स्तुति में लक्षणा स्वीकार करनी चाहिए। इसी प्रकार 'सोऽरोदीत् यदरोदीत्तद्रुदस्य रूद्रत्वम्' इत्यादि निन्दापरक

[77] तैत्तरीय संहिता– 2/1/1.

अर्थवादवाक्यों की 'बर्हिर्याग में रजत नहीं करना चाहिए' क्योंकि इस विवक्षित निषेध के लिए 'जो बर्हिर्याग में रजतदान करता है वह रोता है' इस प्रकार निन्दा के अर्थ में लक्षणा की गई है, यह स्वीकार करना ही होगा और ऐसा नहीं कहा जा सकता कि यहाँ किसी एक पद की लक्षणा है।

यह आक्षेप हो सकता है कि इस उदाहरण में भी प्राशस्त्यादि अर्थों में पदों की ही लक्षणा स्वीकार कर ली जाय। इसे समस्त वाक्य की लक्षणा स्वीकार करने आग्रह क्यों है?

परिभाषाकार के अनुसार अर्थवाद वाक्य के अन्तर्गत पदों की ही प्राशस्त्यादि अर्थ में लक्षणा मान लेने पर उनमें से एक ही पद प्राशस्त्य–द्योतक होता है तो अन्य पदों का व्यर्थ होना सिद्ध होगा। क्योंकि विधि–निषेधों के प्रतिपादक वचन ही स्वार्थ में प्रामाण्य होता है, और अर्थवाद प्रत्यक्षरूप से उनके बोधक नहीं होते। इस कारण 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्'[78] इस नियम से उस वेदभाग को अनार्थक्य प्राप्त होने लगेगा।

परिभाषाकार के अनुसार 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'[79] इस अध्ययनविधि से प्रेरित होकर अक्षरशः ग्रहण किये जाने वाले वेदसमूह का अनार्थक्य प्राप्त होना इष्ट नहीं है। इसलिए अर्थवाद–वाक्यों की प्राशस्त्यादि अर्थ में लक्षणा स्वीकार करनी चाहिए। अतः सभी वाक्य, विधेय की स्तुति कर उसकी अवश्य कर्तव्यता का ज्ञान करा देने के कारण वेद वाक्यों में अनर्थकत्व नहीं है। यह स्वीकार करना चाहिए।

महर्षि गौतम के अनुसार 'अर्थवादश्चतुविधः स्तुतिः, निदा, परकृतिः पुराकल्पश्चेति'।[80] अर्थात्– स्तुति, निदा, परकृति एवं पुराकल्प के भेद से अर्थवाद के चार प्रकार होते हैं। परिभाषाकार के अनुसार इनमें से 'पुराकल्प' और 'परकृति' इन दो प्रकारों का यथासंभव प्राशस्त्य अथवा निन्दा में ही अन्तर्भाव हो जाने से यहाँ स्तुति–निन्दापरक अर्थवाद से उनका भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

यह आक्षेप हो सकता है कि लक्षणा के द्वारा अर्थवादवाक्यों को प्राशस्त्यबोधक मानने पर भी उनकी व्यर्थता कैसे दूर होगी? क्योंकि यह मीमांसकों का मत है कि जो वाक्य, विधि–निषेध का साक्षात् बोधक हो, उसी की सार्थकता होती है। और अर्थवाद वाक्यों से साक्षात् विधि–निषेध बोध न होना तो प्रसिद्ध ही है। इस आक्षेप का समाधान परिभाषाकार ने

---

[78] जैमनीसूत्र– 1/2/1.
[79] तैत्तरीय आरण्यक– 2/15.
[80] न्यायसूत्र– 2/1/64.

'एवं च विध्यपेक्षित.' आदि वाक्य के द्वारा करते हैं। स्तुतिपरक अर्थवाद, प्राशस्त्यबोधन के द्वारा विधि के साथ और निन्दापरक अर्थवाद, निषिद्ध पदार्थ के निन्दितत्व को बताते हुए निषेध के साथ एकवाक्यता को प्राप्त होते हैं। इसीलिए अर्थवादों का परम्परा से विधि–निषेध बोधकत्व स्वीकार होता है। अतः इन्हें व्यर्थ नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार एकवाक्यता के 'पदैकवाक्यता' तथा 'वाक्यैकवाक्यता' नामक दो प्रकार हैं। इनमें से विधि एवं निषेधों को प्रशस्तत्व तथा निन्दितत्व की अपेक्षा रहती है, और समग्र अर्थवादवाक्य, विहित का प्राशस्त्य या निन्दित का निन्दितत्व अर्थ का ही बोधन करते हैं इसलिए अर्थवादवाक्यों में पदैकवाक्यता ही होती है। इस प्रकार समस्त वाक्यों से लक्षणा के द्वारा जितने अर्थ का ज्ञान होता है। उतने ही अर्थ का ज्ञान, प्राशस्त अथवा निन्द्य पदों से भी होता है। इसलिए प्राशस्त्यादि अर्थ को पदार्थरूप ही स्वीकार किया जाता है। अतः परिभाषाकार के मत में अर्थवाद भी पदरूप ही है और उसकी विधि के साथ एकवाक्यता होकर जो बोध होता है, वह पदैवाक्यता से ही होता है। इसलिए अर्थवादों में पदैकवाक्यता ही होती है, वाक्यैकवाक्यता नहीं....।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि यदि अर्थवादवाक्यों में वाक्यैकवाक्यता नहीं होती, तो वह कहाँ होती? इस प्रश्न को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित कर परिभाषाकार इसका उत्तर भी देते हैं– 'क्व तर्हि वाक्यैकवाक्यता?। यत्र प्रत्येकं भिन्न–भिन्न–संसर्ग– प्रतिपादकयोर्वाक्ययोरा–काङ्क्षावशेन महावाक्यार्थ–बोधकत्वम्। यथा 'दर्श पूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्यानां 'समिधोयजति' इत्यादि–वाक्यानां च परस्परापेक्षिताङगाङिग–बोधक–वाक्य–तदैक्कवाक्यता'। तदुक्तं भट्टापादैः–[81]

स्वार्थबोधे समाप्तनामङगङिगत्वाद्यपेक्षया।

वाक्यानामेकवाक्यत्व पुनः संहत्य जायते।। इति।

अर्थात्– अच्छा तो वाक्यैकवाक्यता कहाँ होती है? (उत्तर–) जहाँ भिन्न–भिन्न अर्थप्रतिपादक दो वाक्यों को परस्पर आकांक्षा के कारण महावाक्यार्थ–बोधकत्व होता है वहाँ वाक्यैकवाक्यता होती है। जैसे– 'स्वर्गकाम व्यक्ति दर्श पूर्णमासा याग करे' इत्यादि वाक्य और 'समाधि नामक याग करे' आदि दूसरे प्रयाजवाक्यों को परस्पर अपेक्षित अङगाङिगभावबोधकत्व होने से जो एकवाक्यता सिद्ध होती है, वही वाक्यैकवाक्यता है। अतएव भट्टपाद ने ऐसा कहा गया है–

[81] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 114.

प्रथमतः स्वार्थ का बोध कराकर चरितार्थ हुए वाक्यों की परस्पर अंगांगिभाव की अपेक्षा से पुनः समुदायरूप से एकवाक्यता होती है।

परिभाषाकार के मत में अर्थवादों के वाक्यरूप होने पर भी उनमें पदैकवाक्यता ही यदि संमत है तो वाक्यैकवाक्यता का उदाहरण क्या होगा? इस प्रश्न के प्रसंगतः प्राप्त होने पर परिभषाकार वाक्यैकवाक्यता का उदाहरण बताते हैं। 'दर्श पूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' स्वर्गेच्छु पुरूष दर्श पूर्णमास नामक याग करे– इस विधिवाक्य के सुनते ही 'दर्श पूर्णमास याग, स्वर्ग का साधन है' यह अर्थ समझ में आता है। इसी प्रकार 'समिधो यजति'– समध्संज्ञक याग करे– इत्यादि विधिवाक्य से समिध् याग का विधान भी किया जाता है परन्तु दर्श पूर्णमास याग से स्वर्ग कैसे संपादन किया जाय? इस तरह के अंगीभूत याग को अंगों की आकांक्षा होती है। उस तरह 'समिधो यजति' इत्यादि प्रयाजरूप यागों का प्रत्यक्ष फल कुछ भी न बताने के कारण इस याग से क्या साध्य है? ऐसी अंगी की आकांक्षा होती है। इस कारण प्रथमतः स्वार्थ में चरितार्थ हुए दोनों प्रकार के वाक्यों का परस्पर अन्वय होकर समिधादिरूप अंगों का अनुष्ठान कर 'दर्श पूर्णमास याग से स्वर्ग को पाना चाहिए' इस प्रकार से जो अंगांगिभावरूप महावाक्यार्थ निष्पन्न होता है– उसी को वाक्यैकवाक्यता कहा जाता हैं। यहाँ एक वाक्यार्थ का दूसरे वाक्यार्थ के साथ अन्वय होता है और उन दो वाक्यों से मिलकर एकरूप तात्पर्य निश्चित होता है, इसलिए इसे वाक्यैकवाक्यता कहते हैं। इसी न्याय के अनुसार अन्यत्र भी अंगबोधक और अंगिबोधक वाक्यों की एकवाक्यता स्वीकार करनी चाहिए।

परिभाषाकार ने इस मत में 'तदुक्तम्.' इत्यादि वाक्य से मीमांसकों के सिद्धान्त से सम्मति प्रदर्शित की है। मीमांसकों का यह आशय है कि प्रत्येक वाक्य की स्वसंनिहितपदों में कर्मतादिसम्बन्ध से अन्वय होकर पदैकवाक्यता होती है, और प्रत्येक वाक्य का भिन्न–भिन्न शाब्दबोध होने पर भी वह वाक्य यदि अंगी याग का बोधक हो तो उसे अंग की और वह वाक्य अंग प्रतिपादक हो तो अंगी की, इस प्रकार के वाक्यों में परस्पर आकांक्षा होती है। जैसे– दर्श पूर्णमास याग से स्वर्ग कैसे संपादन किया जाय, इस आकांक्षा की 'प्रयाजादि अंगों का अनुष्ठान कर दर्श पूर्णमास याग करे' इस प्रकार निवृत्ति होने से दोनों वाक्यों का परस्पर अन्वय होकर जो एकवाक्यता सिद्ध होती है। यही महावाक्यार्थ है और उसी को वाक्यैकवाक्यता कहते हैं।

इसी प्रकार 'पदार्थश्च द्विविधः..' से पदार्थ के द्विविधत्व का आरम्भ किया हुआ निरूपण समाप्त कर उसका उपसंहार करते हैं और प्रकृतप्राप्त आसत्ति में शाब्दज्ञानहेतुत्व को बताते

हैं। एवं द्विविधोऽपि पदार्थो निरूपितः। अर्थ– इस प्रकार से शक्य और लक्ष्य दोनों पदार्थों का निरूपण कर दिया।

'तदुपस्थितिश्चासत्तिः। सा च शाब्दबोधे हेतुः, तथैवान्वयव्यति–रेकदर्शनात्। एवं महावाक्यार्थ–बोधेऽवान्तरवाक्यार्थ–बोधो हेतुः, तथैवान्वयाद्यवधारणात्'।[82] अर्थात्– पदजन्य पदार्थ की अव्यवधान से उपस्थिति को ही आसत्ति कहते हैं। वह शाब्दबोध में कारण होती है। क्योंकि आसत्ति रहने पर शाब्दबोध होता है और आसत्ति के न रहने पर शाब्दबोध नहीं होता– यह अन्वय–व्यतिरेक प्रत्यक्षतः सभी के अनुभव में आता है। इसी प्रकार महावाक्यार्थ का बोध होने में अवान्तर वाक्यों के प्रत्येक वाक्य का ज्ञान कारण होता है, क्योंकि उसके अन्वयादि का भी वैसा ही निश्चय होता है।

परिभाषाकार के मत में आसत्ति का लक्षण में 'पदजन्यपदार्थोपस्थितिः' कहा गया है। अब यह प्रश्न हो सक्ता है कि पदजन्य पदार्थ क्या है? और वह कितने प्रकार का है? यह आकांक्षा हो सकती है। इसी अध्याय में प्रसंगसनुसार आगे पदजन्य पदार्थ, उसका स्वरूप, लक्षणा एवं अर्थवाद का निरूपण किया जाएगा। जबकि परिभाषाकार ने इन सबका निरूपण शाब्दबोध में कारण 'आसत्ति लक्षण' के अन्तर्गत ही किया है। आसत्ति से उसके सम्बन्ध को 'तदुपस्थितिश्च' इत्यादि वाक्यों से बताया गया और पदजन्य पदार्थ की जो अव्यवधान से उपस्थिति (प्राप्ति) है, उसी को आसत्ति कहते हैं। इस प्रकार पूर्व प्रकृत आसत्तिलक्षणा का उपसंहार किया है। उपर्युक्त स्वरूप की आसत्ति होने पर पदों से शाब्दबोध होता है और वह न हो तो शाब्दबोध नहीं होता, इस अन्वय व्यतिरेक को देखने से आसत्ति शाब्दबोध में कारण है, यह निश्चित होता है। और इसी प्रमाण के द्वारा आसत्ति और शाब्दबोध में कार्य–कारण भाव सिद्ध होता है।

इसी प्रकार आकांक्षा आदि के द्वारा अवान्तर वाक्यों का शाब्दबोध होने पर प्रकरणगत समस्त वाक्यों का मिलकर एक महावाक्यार्थ–बोध होता है, और वह न हुआ हो तो महावाक्यार्थ ज्ञात नहीं होता, इस अन्वय व्यतिरेक से उनमें भी परस्पर ऐसी ही कार्यकारणता सिद्ध होती है।

6.5 वेद प्रामाण्य की स्थापना एवं पौरुषेय का विचार–

परिभाषाकार स्वाभिमत वेद–प्रामाण्य की स्थापना के पूर्व प्रथमतः नैयायिक और पूर्व मीमांसकों के मतों का उल्लेख करते हैं– 'तत्र वेदानां नित्यसर्वज्ञ–परमेश्वर–प्राणीत्वेन

[82] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 116.

प्रामाण्यमिति नैयायिकाः। वेदानां नित्यत्वेन निरस्त–समस्त–पुंदूषणतया प्रामाण्यमित्यध्वरमीमांसकाः। अस्माकं तु मते वेदो न नित्य उत्पत्तिमत्त्वात्। उत्पत्तिमत्त्वं च 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' (बृ०–2–4–10) इत्यादि श्रुतेः'।[83] अर्थात्– यह नैयायिकों का मत है कि 'तत्र'– लोक तथा वेद इन में से वेदों को नित्य, सर्वज्ञ ईश्वर से निर्मित होने से प्रामाण्य हैं। यह पूर्व मीमांसकों का मत है कि वेद, नित्य (उत्पत्तिरहित) होने से उनमें पुरूषसुलभ किसी प्रकार के दोष न होने से ही प्रामाण्य है। परन्तु परिभाषाकार के मत में वेद नित्य नहीं हैं क्योकि वे उत्पत्तिमान् है। 'यह जो ऋग्वेदादि है वह इस महद्भूत का निःश्वसित है' इत्यादि श्रुति से उनका उत्पत्तिमत्व सिद्ध होता है।

परिभाषाकार ने प्रथमतः नैयायिकों के मत का उल्लेख किया है। नैयायिकों के अनुसार 'वेद, नित्य एवं सर्वज्ञ परमेश्वर के प्रणीत होने से वेदों में प्रामाण्य' है और 'कर्ता के दोष से वेद में अप्रामाण्य की कोई आक्षेप न करे, इसलिए वेदों के परमेश्वर–प्रणीत होने पर भी वह वेदकर्ता परमेश्वर सर्वज्ञ होने के कारण कतृदोष प्रयुक्त अप्रामाण्य वेदों में प्राप्त नहीं होता यह बात 'सर्वज्ञ' विशेषण से स्पष्ट है। सर्वज्ञत्व, मन्वादि स्मृतिकारों में भी होने से तत्प्रणीत ग्रन्थों को भी प्रामाण्य प्राप्त हो सकता है, इसलिए परमेश्वर के 'नित्य' विशेषण का प्रयोग किया है। मन्वादिकों के सर्वज्ञ होने पर भी वे नित्य न होने से उपर्युक्त शंका ही नहीं उठ सकती। 'प्रणीत्व' के कहने से वेदान्ती और नैय्यायिक के मतों में वैलक्षण्य सूचित कर दिया गया। वेदान्तमत से वेदों में उत्पत्तिमत्व के होने पर भी वे अन्य कल्प की आनुपूर्वी से विजातीय आनुपूर्वीयुक्त एवं ईश्वरप्रणीत हैं। नैयायिकों का यह मत परिभाषाकार को स्वीकार नहीं है। यह नैयायिकों का मत पूर्व कल्प के वेद का अनुक्रम भिन्न है और ईश्वर निर्मित पूर्व कल्प के वेद का अनुक्रम अत्यन्त विलक्षण है। यह अद्वैत वेदान्तियों को सम्मत नहीं है। वे आकाशादि के समान वेदों की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। परन्तु वेदों की आनुवर्ती, पूर्वकल्प की आनुपूर्वी के समान ही होती है, यह सिद्ध करते हैं।

अब परिभाषाकार मीमांसकों के मत का उल्लेख करते हैं। मीमांसकों ने वेदों की नित्यता स्वीकार होने से, उनमें पुरूषगत समस्त दोषों का अभाव है, इसलिए वेदों में प्रामाण्य है। वेदों को यदि अनित्य माना जाय तो उनमें पुरूष–प्रणीत्व समस्त दोष स्वीकार करना होगा। वेदकर्ता पुरूष में ईश्वरत्व होने पर भी उसमें भक्तपक्षपात आदि दोष होना स्वाभाविक है। इसलिए बौद्धप्रणीत आगम के समान वेदों में भी दोष हो सकते हैं। परन्तु वेदों के नित्यत्व

[83] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 125.

स्वीकार होने के कारण वेदों से समस्त पुरूषदोषों का निरसन हो जाता है। वेदो में भ्रम–प्रमादादि कोई दोष नहीं स्वीकार किया जा सकता, इसीलिए वेद प्रमाण स्वीकार किए जाते हैं।

इस प्रकार परिभाषाकार ने नैयायिकों एवं मीमांसकों के वेद प्रामाण्यविषयक मतों को स्पष्टकर स्व–मत उल्लेख करते हैं। परिभाषाकार के अनुसार वेदों की उत्पत्ति होने से अद्वैत मत में वेद नित्य नहीं है। परिभाषाकार ने यहाँ पर 'तु' शब्द का प्रयोग उभय पक्षों से स्व–मत की विलक्षणता प्रकट करने के लिए किया है। उत्पत्तिमान होने के कारण वेदों के अनित्य होने पर भी प्रलय–काल तक उनकी स्थिरता स्वरूपतः बनी रहती है। इसलिए वे पुरूषदोषों से रहित रहते हैं। उनका पुरूषदोष निर्मुक्तत्व श्रुतिसिद्ध होने से वेदों के अनित्यत्व में साधक 'उत्पत्तिमत्व' हेतु को 'स्वरूपसिद्ध' नहीं स्वीकार किया जा सकता। 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः'[84] इत्यादि श्रुतियाँ वेदों की उत्पत्ति में प्रमाण हैं। परिभाषाकार के अनुसार यहाँ के 'आदि' शब्द से पुरूषसूक्त की 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे, छंदांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत'[85] इत्यादि श्रुति का ग्रहण करना चाहिए।

परिभाषाकार के मत में 'वेद नित्य नहीं है' से यह ज्ञात होता है कि नैयायिकाभिमत त्रिक्षणावस्थायित्व भी परिभाषाकार को स्वीकार होना चाहिए। परिभाषाकार ने 'नापि०' आदि वाक्य इस आक्षेप का निराकरण किया है कि 'मीमांसकों का अभिमत 'वेदनित्यत्व' जिस प्रकार अद्वैत सम्मत नहीं उसी प्रकार नैयायिकाभिमत 'अनित्यत्व' भी स्वीकार नहीं है। परिभाषाकार के अनुसार– 'नपि वेदानां त्रिक्षणावस्थायित्वम्। य एवा वेदो देवदत्तेनाधीतः, स एव वेदो मयाऽधीत इत्यादिप्रत्यभिज्ञा–विरोधात्। अत एव गकारादि–वर्णानामापि न क्षणिकत्वं, सोऽयं गकार इति प्रत्यभिज्ञाविरोधात्'।[86] अर्थात्– वेदों में त्रिक्षणावस्थायित्व भी नहीं है। क्योंकि जिस वेद को वेदान्त ने पढ़ा, उसको मैंने भी पढ़ा' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा के साथ विरोध आता है। इसी कारण गकारादि–वर्णों को भी क्षणिकत्व नहीं है, क्योंकि 'वही यह गकार' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा के साथ विरोध आता है।

परिभाषाकार के अनुसार वर्णों के समुदाय रूप वेदों में त्रिक्षणावस्थायित्व नहीं है। जो वस्तु क्षणिक होती है वह तीन क्षण (उत्पत्ति का एक क्षण, स्थिति का दूसरा क्षण, नाश का तीसरा क्षण) ही रहती है। नैयायिक मत में ऐसी वस्तु को क्षणिक, अनित्य आदि कहा जाता

---

[84] बृहदारण्यक उपनिषद– 2/4/10.

[85] पुरूष सूक्त– 10

[86] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 125.

है। वर्ण–समुदाय रूप वेद में स्वरूपतः क्षणिकत्व नहीं होता, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में जो वेद था वही मध्यकाल में एवं वर्तमान काल में भी है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। नैयायिकों के मतानुसार उनमें त्रिक्षणावस्थायित्वरूप क्षणिकत्व रहता है, परन्तु ऐसा मानने पर भी उस प्रत्यभिज्ञा से विरोध आता है। इसलिए वर्ण–समुदायगर्भ वेदों को स्वरूपतः क्षणिक स्वीकार नहीं किया जा सकता है। परिभाषाकार ने 'अत एव' आदि वाक्य के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि वर्णों के द्वारा भी वेदो में क्षणिकत्व नहीं हो सकता है और प्रत्यभिज्ञा के साथ विरोध होने के कारण पदादि समुदायगर्भ वेद में क्षणिकत्व नहीं हो सकता। इसीलिए जो 'देवदत्त से उच्चारित जो गोकार है' यह वही देवदत्त है' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा के साथ विरोध आने के कारण वर्णों में भी क्षणिकत्व नहीं हो सकता। अतः अद्वैत मतानुसार वेदों में नैयायिकाभिमत त्रिक्षणावस्थायित्वस्वरूप क्षणिकत्व नहीं है।

यह आक्षेप हो सकता है कि यदि वर्णसमुदाय युक्त वेद के वर्णों में भी क्षणिकत्व नही ंतो परिभाषाकार के मत में वेदों में उत्पत्तिमत्व और उस कारण अनित्यत्व का स्वरूप किस प्रकार का है? परिभाषाकार इस आक्षेप का समाधान करते हैं–

'तथा च वर्ण पद वाक्यसमुदायस्य वेदस्यवियदादिवत् सृष्टि कालिनोत्पत्तिमत्वं प्रलयकालिनध्वंस–प्रतियोगित्वं च। न तु मध्ये वर्णनामुत्पत्ति विनाशौ, अनन्तगकार कल्पने गौरवात्। अनुच्चारणदशायां वर्णानामन् अभिव्यक्तिस्तदुच्चारणरूप व्यंजकभावान्न विरूध्यते। अन्धकारस्थ ले घटानुपलम्भवत्। उत्पन्नो गकार इत्यादि प्रत्ययः सोऽयं गकार इति प्रत्यभिज्ञा–विरोधादप्रमाणम्, वर्णाभिव्यक्ति जनकध्वनिगतोत्पत्ति–निरूपित–परम्परासम्बन्ध–विषयत्वेन प्रमाणं वा। तस्मान्न वेदानां क्षणिकत्वम्' ।[87] अर्थात्– वेदों में स्वरूपतः एवं वर्ण द्वारा क्षणिकत्व नहीं है, यह सिद्ध होने पर वर्णसमुदाय, पदसमुदाय और वाक्यसमुदायरूप वेदों में आकाश आदि के समान सृष्टिकालीन उत्पत्तिकामत्व और प्रलयकालीन ध्वंस का प्रतियोगित्व है। बीच में ही वर्णों की उत्पत्ति और विनाश नहीं होते, क्योंकि अनंत गकारों की कल्पना करने में गौरव होता है। वर्णों की अनुच्चारण दशा में (जबकि उनका उच्चारण नहीं किया जाता) उनकी (वर्णों की) अभिव्यक्ति न होने के कारण, उच्चारणस्वरूप व्यंजक का अभाव ही है। अतः अनुच्चरित दशा में उनकी अभिव्यक्ति न होने में कोई विरोध नहीं है। जैसे– अन्धकार स्थल में विद्यमान घट भी, अभिव्यंजक न होने से जैसे नहीं दिखाई देता उसी प्राकर वर्णों के अभिव्यंजक उच्चारण के अभाव से विद्यमान वर्ण भी अभिव्यक्त नहीं होते। अभी 'गकार उत्पन्न

[87] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 126.

हुआ' आदि जो प्रत्यय होता है, वह 'वही यह गकार' इस प्रत्यभिज्ञा के विरोध के कारण अप्रमाण है। अथवा वर्णों की अभिव्यक्ति की जनक जो ध्वनिगत उत्पत्ति, उससे निरूपित हुए परम्परा सम्बन्ध के विषयरूप में वह प्रत्यय प्रमाण है। इसलिए वेद, क्षणिक नहीं है।

परिभाषाकार के अनुसार वेदों में स्वरूपतः एवं वर्णतः भी क्षणिकत्व के सिद्ध न होने पर भी वेदों का धर्म आकाश–वायु आदि अन्य भूत भौतिक पदार्थों के समान सृष्टिकाल में उत्पन्न होना और प्रलयकाल में ध्वंस को प्राप्त होना है। इसलिए वेद भी आकाशादि के समान सृष्टि के समय वे उत्पन्न होते हैं और प्रलयकाल में नष्ट होते हैं, स्थिति काल में वे विद्यमान रहते हैं। इसी कारण वेदों के उत्पत्ति एवं प्रलयकाल के बीच वर्णों की उत्पत्ति का नाश नहीं होता। कारण यह है कि प्रतिक्षण गकारादि वर्ण उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, यह स्वीकार करने पर गकारादि अनन्त वर्णों की कल्पना करनी पड़ती है और ऐसा करने में अतिदोष होता है।

यह आक्षेप हो सकता है कि यदि वर्ण नित्य है तो वे सदैव अभिव्यक्त क्यों नहीं होते? इस आक्षेप के निराकरण में परिभाषाकार का मत है कि वर्णों के नित्य होने पर भी जिस समय उनका उच्चारण नहीं किया जाता उस समय वे अभिव्यक्त नहीं होते। कारण यह है कि वहाँ पर उच्चारण रूप अभिव्यंजक का अभाव रहता है। इसलिए वर्णों के नित्य होने पर भी उनके सदैव अभिव्यक्त न होने में कोई दोष नहीं है। जैसे– अन्धकार में विद्यमान घट, नहीं दिखाई देता, उसका अभिव्यंजक प्रकाश है, बिना उसके घट का दिखाई देना असम्भव है। अन्धकार में दिखाई न देने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि वहाँ पर घट नहीं है। उसी प्रकार यह भी नहीं कहा जा सकता कि बिना उच्चारण किये वर्णों की अभिव्यक्ति नहीं होने मात्र से वे शब्द हैं ही नहीं। 'गकार उत्पन्न हुआ' 'वह नष्ट हुआ' यह अनुभव होते रहने के कारण, उच्चारण करते ही उनकी उत्पत्ति होना और उच्चारण बन्द करते ही उनका नाश होना परिभाषाकार स्वीकार क्यों नहीं करते? ऐसा आक्षेप उद्धृतकर परिभाषाकार समाधान भी किरते है।

परिभाषाकार के अनुसार यह अनुभव अप्रमाणिक है। क्योंकि 'यह वही गकार है' इस प्रत्यभिज्ञा के साथ उसका विरोध है। अथवा यह स्वीकार करना चाहिए कि वर्णों की अभिव्यक्ति को उत्पन्न करने वाली ध्वनि की उत्पत्ति से ज्ञातव्य 'स्वाश्रयध्वन्यभिव्यंग्यत्व' रूप परम्परासम्बध से उसी प्रकार अनुभव होने के कारणपरम्परा सम्बन्धविषयत्वेन वह अनुभव प्रमाण है। जैसे– 'काला घट नष्ट हुआ और लाल घट उत्पन्न हुआ'। इत्याकारक एक ही घट में गुण के

सम्बन्ध से प्रतीति होती है, उसी प्रकार वर्ण की अभिव्यक्ति करने वाली ध्वनि की उत्पत्ति से वर्णों की उत्पत्ति का परम्परा सम्बन्ध ज्ञात होता है। इसलिए उस उत्पत्ति प्रत्यय को साक्षात् प्रमाण न मानकर परम्परा सम्बन्ध विषयरूप से प्रमाण स्वीकार करना चाहिए। अतः यह सिद्ध होता है कि वेदों में क्षणिकता नहीं है। क्योंकि वे प्रतिक्षण में उत्पन्न होकर नष्ट नहीं होते, अपितु सृष्टिकाल में आकाश आदि इतर पदार्थों के समान उत्पन्न होते हैं और प्रलयकाल में ही नाश को प्राप्त होते हैं। 'स्वाश्रयध्वन्यभिव्यंग्यत्व' का अर्थ है स्वोत्पत्ति का आशय जो ध्वनि, उसका विषयत्व ध्वनिरूप अभिव्यंजक के द्वारा अभिव्यक्त होना। ध्वनि की उत्पत्ति से वर्ण व्यक्त होते हैं।

परिभाषाकार के इस समाधान पर मीमांसक अपसिद्धान्त का आक्षेप करते हैं कि 'ननु क्षणिकत्वाभावेऽपि वियदादि–प्रपंचवदुत्पत्तिमत्वेन परमेश्वरकर्तृकतया पौरूषेयत्वाद पौरूषेयत्वं च वेदानामिति तव सिद्धान्तौ भज्येतेति चेत्। न। न हि तावत्पपुरूषेणोच्चार्यमाणत्वं पौरूषेयत्वम्। गुरूमतेऽपि अध्यापक–परम्परया पौरूषेयत्वापत्तेः। नापि पुरूषाधीनोत्पत्तिकत्वं पौरूयेयत्वम्। नैयायिकाभिमत पौरूषेयत्वानुमानेऽस्मादादिना सिद्धसाधनत्वापत्तेः। किन्तु सनातीयाच्चाणानपेक्षोच्चाराणविषयत्वम्'।[88] अर्थात्– वेदों के क्षणिक न होने पर भी आकाशादि प्रपंच के समान उनमें उत्पत्तिमत्व होने से और उनका कर्ता परमेश्वर होने से पौरूषेयत्व है। इस कारण वेदों के अपौरूषेयत्व सम्बन्धी परिभाषाकार के सिद्धान्त का बाध होता है। यदि यह मीमांसक स्वीकार करें तो उचित नहीं है। क्योंकि पुरूष के द्वारा उच्चारण किया जाना ही पौरूषेयत्व नहीं है। क्योंकि वैसा मानने पर गुरूमत में भी अध्यापक परम्परा से पौरूषेयत्व की प्राप्ती होने लगेगी। इसी प्रकार 'जिसकी उत्पत्ति पुरूष के अधीन है'– वह पौरूषेय है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नैयायिकों से सम्मत पौरूषेत्व के अनुमान पर हम वेदान्तियों के द्वारा 'सिद्ध–साधनता' दोष दिया जाता है। इसलिए 'जिसे सजातीय उच्चारण की अपेक्षा नहीं होती ऐसे उच्चारण का विषय होना' ही पौरूषेयत्व है।

परिभाषाकार अद्वैत मत के पूर्व–उद्धृत सिद्धान्त पर मीमांसकों का मत कै कि अद्वैत मत में भले ही वेदों में क्षणिकत्व न हो फिर भी आकाशादि इतर प्रपंच के समान उत्पत्तिमत्व तो है और उसकी उत्पत्ति करने वाला परमेश्वर है, इस कारण वेदों में पौरूषेयत्व है। यह अद्वैत मत के विरूद्ध सिद्ध होता है। क्योंकि अद्वैत मत के वेदापौरूषेयत्व का सिद्धान्त ईश्वर–कर्तृकत्व के कारण बाधित हो जाता है।

[88] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 127.

परिभाषाकार का मत है कि अद्वैत मतानुसार भले ही वेद की उत्पत्ति हुई हों फिर भी पौरूषेयत्व न होने से अपसिद्धान्त नहीं होता। अद्वैत मत पर मीमांसक जो पौरूषेयत्व का जो दोषारोपण करते हैं, वह कैसे पौरूषेयत्व को स्वीकार करते हैं? क्या पुरूष के द्वारा उच्चारण किया जाना पौरूषेयत्व है, या पुरूष के अधीन वेदोत्पत्ति का होना पौरूषेत्व है? प्रथम पक्ष को स्वीकार करने में मौनी पुरूष के श्लोक को भी अपौरूषेय कहने का प्रसंग उपस्थित होगा। क्योंकि जिसने मौन व्रत धारण कर लिया हो वह श्लोक को स्व–मुख से उच्चारित नहीं करता अपितु लिखकर दिखाता है। उच्चारण न करने के कारण आपके लक्षण के अनुसार उसे अपौरूषेय कहना होगा। इसके अतिरिक्त गुरूमत में भी अध्यापक परम्परा से वेदों को पौरूषेय स्वीकार करना होगा। क्योंकि उनके मत में अध्यापकों की परम्परा से ही वेदों का उच्चारण किया जाता है। इसलिए 'पुरूषेणोच्चार्यमाणत्वं पौरूषेयत्वम्' इस प्रथम लक्षण को स्वीकार न कर, 'पुरूषाधीनोत्पत्तिकत्वम्' जिसकी उत्पत्ति पुरूष के अधीन होती है, वह पौरूषेय इस द्वितीय लक्षण को स्वीकार करे तो इस पक्ष में सिद्धसाधन दोष प्राप्त होता है। नैयायिक के अनुसार 'वेदाः पौरूषेयाः वाक्यत्वात् भारतादिवत्' अर्थात् वेद पौरूषेय है,[89] क्योंकि वे वाक्य है, भारतादि के समान हैं। यह अनुमान कर वेदों का पौरूषेयत्व साधन करते हैं। परन्तु अन्य कुछ वादी भी नैयायिक सम्मत् अनुमान के द्वारा ही स्वीकृत पौरुषेत्व को साधन स्वीकार करते हैं। इसलिए नैयायिकों पौरूषेयत्वानुमान पर 'सिद्धसाधन' दोष उपस्थित होता है।

प्रश्न हो सकता है कि परिभाषाकार को कैसा पौरूषेयत्व स्वीकार है? जिसके घटित न होने के कारण वेदों के उत्पत्तिमान् होने पर भी वेदों का अपौरूषेयत्व सिद्ध हो जाता है? इस आक्षेप का समाधान परिभाषाकार 'किन्तु...' वाक्य के द्वारा करते हैं। परिभाषाकार के अनुसार जिसे सजातीय उच्चारण की अपेक्षा नहीं होती, ऐसे उच्चारण का विषय होना ही परिभाषाकार के मत में पौरूषेयत्व है। भारतादि ग्रन्थों के उच्चारण में पूर्व सजातीय उच्चारण की अपेक्षा नहीं होती। जबकि परमेश्वर सुष्टि के प्रारम्भ में सजातीय उच्चारण की अपेक्षा से ही वेदों का उच्चरण करता है इसी कारण वेदों में अपौरूषेयत्व है। उपर्युक्त मत परिभाषाकार के इसी सिद्धान्त को पुष्ट करते हैं कि

'तथा च सर्गाद्यकाले परमेश्वरः पूर्वसर्गसिद्धिवेदानुपूर्वी समानानुपूर्वीकं वेदं विरचितवान्, न तु तद्विजातीय वेदमिति न सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारण विषयत्वं पौरूषेयत्वं वेदानाम्। भारतादीनां तु सजातीयोच्चारण मनपेक्ष्यैवोच्चारणमिति तेषां पौरूषेयत्वम्ः एवं पौरूषेयापौरूषेय

[89] तिवारी, नागेन्द्र,''अद्वैत वेदान्त में शब्द प्रमाण'' में शर्मा, अम्बिकादत्त आदि (सम्पा॰), 2013. वेदान्त दर्शन के आयाम, अखिल भारतीय दर्शन परिषद् सह न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, नई दिल्ली, पृ॰ 285.

भेदेनागमो द्विधा निरूपितः'।[90] अर्थात्– ऐसा होने से परमेश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में पूर्वसर्ग के समय वेदों की सिद्धि आनुपूर्वी के समान ही जिसकी आनुपूर्वी है ऐसे वेद की रचना की। उस आनुपूर्वी से भिन्न (विजातीय) विलक्षण आनुपूर्वीवाले वेद की रचना उसने नहीं की। अतः उसमें (वेद में) सजातीय उच्चारण की अपेक्षा जिसे नहीं ऐसे उच्चारण का विषयत्व नहीं है। और भारतादि पौरूषेय ग्रन्थों का उच्चारण, सजातीय उच्चारण की बिना अपेक्षा किये ही होती है। अतः उनमें पौरूषेयत्व है। इस प्रकार पौरूषेय अपौरूषेय भेद से आगम दो प्रकार का है। यह । यह हमने इस प्रकरण में निरूपण किया।

परिभाषाकार के अनुसार उपर्युक्त स्वरूप का पौरूषेयत्व होने के कारण वेदों में पौरूषेयत्व नहीं है। कारण यह है कि सृष्टि प्रारम्भ के समय पर ईश्वर ने पूर्व कल्प सिद्ध के अनुक्रम के अनुसार ही जिसका अनुक्रम है ऐसे वेद की रचना की है। इससे भिन्न अनुक्रम से वेद की रचना नहीं की हे। ईश्वर ने जिस प्रकार पूर्वकल्प में वेद था उसी प्रकार रचना की है, वेदों में कहीं भी एक अक्षर का भी परिवर्तन नहीं किया है। इसी कारण उसमें पौरूषेयत्व नहीं है परन्तु सजातीय उच्चारण की जिन्हें अपेक्षा नहीं होती ऐसे उच्चारण किये जाने वाले अर्थात् विजातीय आनुपूर्वी वाले ग्रन्थ ही पौरूषेय होते है। वेद की रचना में परमेश्वर भी स्वतन्त्र नहीं है, वह भी 'यथापूर्वम्' के नियम से वेद को उत्पन्न करता है इसलिए सृष्टिकाल में वेद उत्पन्न होता है एवं प्रलय काल में नष्ट हो जाते है।[91] इसी कारण वेदों को अपौरुषेय कहा जाता है। अतः वेद अपौरुषेय है। जबकि महाभारतादि ग्रन्थों में पूर्वकल्प का सजातीय उच्चारण नहीं रहता इसलिए वे पौरूषेय है। इस प्रकार आगम नामक प्रमाण पौरूषेय एवं अपौरूषेय भेद से दो प्रकार का होता है। इस प्रकार लौकिक वाक्यों को पौरुषेय एवं वैदिक वाक्यों को अपौरुषेय कह सकते हैं।

[90] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 128–129.

[91] तिवारी, नागेन्द्र,''अद्वैत वेदान्त में शब्द प्रमाण'' में शर्मा, अम्बिकादत्त आदि(सम्पा॰), 2013. वेदान्त दर्शन के आयाम, अखिल भारतीय दर्शन परिषद् सह न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, नई दिल्ली, पृ॰ 285.

सप्तम् अध्याय

अद्वैत–वेदान्त दर्शन में अर्थापत्ति प्रमाण का स्वरूप

7.1 प्रस्तावना

7.2 स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में अर्थापत्ति प्रमाण

7.2.1 अर्थापत्ति प्रमाण और प्रत्यक्ष प्रमाण

7.2.2 अर्थापत्ति प्रमाण और अनुमान प्रमाण

7.2.3 अर्थापत्ति प्रमाण और उपमान प्रमाण

7.2.4 अर्थापत्ति प्रमाण और शब्द प्रमाण

7.2.5 अर्थापत्ति प्रमाण और प्राक्कल्पना

7.3 अर्थापत्ति प्रमाण की परिभाषा एवं वर्गीकरण

7.3.1 अर्थापत्ति प्रमाण का वर्गीकरण

7.3.1.1 दृष्टार्थापत्ति का स्वरूप

7.3.1.2 श्रुतार्थापत्ति का स्वरूप

7.3.1.2.1 अभिधानानुपपत्ति का स्वरूप

7.3.1.2.2 अभिहितानुपपत्ति का स्वरूप

7.4 अर्थापत्ति प्रमाण की महत्व

सप्तम् अध्याय

अद्वैत–वेदान्त दर्शन में अर्थापत्ति प्रमाण का स्वरूप

7.1 प्रस्तावना–

वेदान्त परिभाषाकार श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र ने पंचम् प्रमाण के रूप में 'अर्थापत्ति परिच्छेदः' इस अध्याय के अर्न्तगत अर्थापत्ति प्रमाण के स्वरूप एवं लक्षण की व्याख्या की है। भारतीय दर्शन के मीमांसकों एवं अद्वैत वेदान्तियों ने ही अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। प्रसिद्ध नैयायिक आचार्य जयन्तभट्ट ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'न्यायमंजरी' में स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में अर्थापत्ति प्रमाण का प्रबल खण्डन किया तथा अर्थापत्ति प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में करने की चेष्टा की।[1]

इसी प्रकार चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य–योग, न्याय–वैशेषिक आदि दार्शनिकों ने अर्थापत्ति प्रमाण का खण्डन किया और अर्थापत्ति प्रमाण का अन्तर्भाव स्व–सम्प्रदाय स्वीकृत प्रमाण के अन्तर्गत करने की चेष्टा की है। 'कालान्तर में अद्वैत मतानुयायी आचार्य श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र ने अर्थापत्ति प्रमाण की वैज्ञानिक विवेचना एवं सर्वाधिक पुष्ट व्याख्या प्रस्तुत की, जिसके कारण ही प्रमाणमीमांसा में अर्थापत्ति प्रमा और प्रमाण के रूप में निर्विवाद रूप से प्रतिष्ठित हुआ' ।[2]

7.2 स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में अर्थापत्ति प्रमाण–

भारतीय दर्शन के समस्त सम्प्रदायों में प्रभाकर, कुमारिल भट्ट तथा अद्वैत वेदान्तियों के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों में 'अर्थापत्ति प्रमाण' को ज्ञान के स्वतंत्र साधन के रूप में अस्वीकार किया गया है। अर्थापत्ति प्रमाण को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार अथवा अस्वीकार करने वाले सम्प्रदायों के अपने पृथक–पृथक तर्क है। जैसा कि प्रस्तावना में उद्धृत किया गया है कि अर्थापत्ति प्रमाण के विरूद्ध सर्वाधिक सबल आक्षेप नैयायिकों विशेषतः आचार्य जयन्त भट्ट के है, आचार्य जयन्त भट्ट ने अर्थापत्ति प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में करने की चेष्टा की है। वहीं दूसरी तरफ अर्थापत्ति प्रमाण के समर्थक प्रभाकर, कुमारिल तथा अद्वैत वेदान्तियों ने भी अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकृत करने के लिए सबल तर्क प्रस्तुत किये हैं। अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्थापित करने के लिए, अर्थापत्ति

[1] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 287.
[2] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 287.

प्रमाण का अर्न्तभाव अन्य प्रमाणों में करने वाली चेष्टाओं का निराकरण आवश्यक है। उन चेष्टाओं के निराकरण की प्रवृत्तियों की विवेचना निम्नवत् है–

7.2.1 अर्थापत्ति प्रमाण और प्रत्यक्ष प्रमाण–

मीमांसकों के मतानुसार 'अर्थापत्ति' प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न है। जैसे– देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता फिर भी मोटा दिखता है। इस प्रकार के दृष्ट या श्रुत विषय की व्याख्या जिस कल्पना (आपत्ति) के आधार पर करते हैं कि 'देवदत्त रात्रि में भोजन करता है', तो यहाँ इस विषय का ज्ञान कि 'देवदत्त रात्रि में भोजन करता है'। यह ज्ञान प्रत्यक्ष आधारित न होकर कल्पना आधारित ज्ञान होता है। जो ज्ञान अर्थापत्ति से ज्ञात होता है वह साधारणतया प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो पाता अतः अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है।[1]

7.2.2 अर्थापत्ति प्रमाण और अनुमान प्रमाण–

प्रभाकर मिश्र, कुमारिल भट्ट एवं अद्वैत वेदान्तियों द्वारा स्वीकृत अर्थापत्ति प्रमाण को सांख्य एवं न्याय दार्शनिक एक प्रकार का अनुमान सिद्ध करते हैं। 'सांख्य दार्शनिक अर्थापत्ति प्रमाण को वैकल्पिक न्याय की कोटि में रखतें है, जबकि नैयायिक अर्थापत्ति प्रमाण को व्यतिरेक व्याप्ति पर आधारित अनुमान कहते है'।[2] आचार्य केशव मिश्र अपने ग्रन्थ 'तर्कभाषा' में अर्थापत्ति प्रमाण का अन्तर्भाव केवल व्यतिरेकी अनुमान के रूप में दिखाने की चेष्टा करते हैं।[3] जिसका निरूपण इस प्रकार है–

प्रतिज्ञा– देवदत्त रात्रि में भोजन करता है।

हेतु– वह दिन में भोजन नहीं करता किन्तु मोटा है।

व्यतिरेक व्याप्ति– जो रात्रि में भोजन नहीं करता वह दिन में भोजन नहीं करने पर भी मोटा नहीं रहता। जैसे– नवरात्रि का उपवासी पुरूष।

उपनय– देवदत्त नवरात्रि उपवासी की तरह दुर्बल नहीं है।

निगमन– देवदत्त रात्रि में भोजन करता है।

---

[1] अग्रवाल, गीतारानी, 2006. भारतीय एवं पाश्चात्य ज्ञान मीमांसा, भारतीय विद्या संस्थान, वाराणसी, पृ॰ 69.
[2] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 287.
[3] शुक्ल, बदरीनाथ (व्या॰), 2014. केशवमिश्र प्रणीत तर्कभाषा, मोतीलाल बनारसी दास, चौक वाराणसी, पृ॰ 159.

अद्वैत वेदान्त मत के अनुसार सांख्य एवं न्याय मत का यह आक्षेप दोषपूर्ण है। अद्वैत वेदान्त मत के अनुसार व्याप्ति अन्वय (जहाँ–जहाँ धुआँ वहाँ–वहाँ आग) तथा व्यतिरेक (जहाँ–जहाँ आग नहीं वहाँ–वहाँ धुआँ नहीं) दोनों के संयोग से प्राप्त होता है।[1] अर्थापत्ति प्रमाण को अन्वय व्याप्ति वाला अनुमान भी नहीं स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि यहाँ उपपाद्य और उपपादक में हेतु और साध्य के समान अन्वय व्याप्ति सम्भव नहीं है।[2] जैसे– 'जहाँ–जहाँ धूम है, वहाँ–वहाँ अग्नि है' उसी प्रकार यह नहीं कहा जा सकता है कि 'जहाँ–जहाँ मोटापन है, वहाँ–वहाँ रात्रि का भोजन है। अतः अन्वय व्याप्ति आधरित अनुमान में अर्थापत्ति प्रमाण का अर्न्तभाव सम्भव नहीं हो सकता। पुनश्च अद्वैत वेदान्त मत के अनुसार केवल व्यतिरेकी व्याप्ति अनुमान में अर्थापत्ति का अर्न्तभाव दोषपूर्ण है। अद्वैत वेदान्त मत में केवल व्यतिरेक के द्वारा भी व्याप्ति सम्भव नहीं है।[3] व्याप्ति के अभाव में अनुमान सम्भव नहीं है क्योंकि भारतीय प्रमाणमीमांसा में 'अनुमान व्याप्ति पर आश्रित प्रमाण है'।[4]

सांख्य दार्शनिक अर्थापत्ति प्रमाण का अर्न्तभाव व्यतिरेक अनुमान करने की चेष्टा करते हैं।[5] सांख्य मत में अनुमान निरूपण इस प्रकार है–

जीवित देवदत्त या तो घर में है या घर के बाहर है।

देवदत्त घर में नहीं है।

इसलिए देवदत्त घर के बाहर है।

अद्वैत वेदान्त मत के अनुसार सांख्य दार्शनिकों का उपर्युक्त मत दोषपूर्ण है। इस आक्षेप का निराकरण नैयायिकों के साथ ही हो जाता है। डॉ॰ डी॰ एम॰ दत्त ने सांख्य दार्शनिकों के उपर्युक्त मत में 'आत्माश्रय दोष' को दिखाया है।[6] इनके अनुसार उपरोक्त अनुमान का वृहत वाक्य 'जीवित देवदत्त या तो घर में है या घर के बाहर है' यह कैसे प्राप्त हुआ? इस वाक्य का श्रवण करने पर यह ज्ञात होता है कि देवदत्त जीवित है और घर में नहीं है। 'देवदत्त घर के बाहर है' यह ज्ञान तो निष्कर्ष के रूप में प्राप्त होता है। अतः आधार वाक्य के रूप में 'देवदत्त घर के बाहर है' का प्रयोग अनुमान के नियमों का उल्लंघन है। पुनश्च जहाँ अर्थापत्ति प्रमाण से ज्ञान होता है वहाँ ज्ञाता को यह अनुभव नहीं होता कि 'मैं

[1] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 293.

[2] अग्रवाल, गीतारानी, 2006. भारतीय एवं पाश्चात्य ज्ञान मीमांसा, भारतीय विद्या संस्थान, वाराणसी, पृ॰ 69.

[3] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 164.

[4] शर्मा, चन्द्रधर, 2013. भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 24–25.

[5] मिश्र, वाचस्पति, सांख्यकारिका टीका 5.

[6] Datta, D. M., 2017. The Six Ways of Knowing, Motilal Banarsidass Publishers Pvt Ltd, Delhi, pp. 201-203.

अनुमान द्वारा यह जान रहा हूँ' (अहम् अनुमानोमि) अपितु यह अनुभव होता है कि मैं 'इसके आधार पर यह कल्पना कर रहा हूँ' (अहम् कल्पयामि)।[1] इस प्रकार मीमांसक एवं अद्वैत वेदान्ती अर्थापत्ति को ज्ञान के स्वतंत्र प्रमाण के रूप में सिद्ध है।

7.2.3 अर्थापत्ति प्रमाण और उपमान प्रमाण–

मीमांसक और अद्वैत वेदान्त मत के अनुसार अर्थापत्ति से उपमान प्रमाण का भेद स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि अर्थापत्ति उपमान नहीं है क्योंकि अर्थापत्ति से उपमान प्रमाण का भेद परिभाषा के आधार पर स्पष्ट हो जाता है। अद्वैत वेदान्त मत में सादृश्य प्रमा के करण को उपमान कहते है, जबकि उपपाद्य (कार्य) के ज्ञान से उपपादक (कारण) की कल्पना ही अर्थापत्ति है।[2] अद्वैत वेदान्त मतानुसार उपमान प्रमाण में 'अहम् उपमिनोमि' ऐसा अनुव्यवसाय होता है, जबकि अर्थापत्ति प्रमाण में 'अनेन इदं कल्पयामि' ऐसा अनुव्यवसाय होता है।

7.2.4 अर्थापत्ति प्रमाण और शब्द प्रमाण–

शाबारभाष्य में अर्थापत्ति प्रमाण की परिभाषा करते हुए लिखा गया है कि 'अर्थापत्तिरपि दृष्टतः श्रुतोवार्थोन्यथानोपपयते इत्यार्थ कल्पना'[3] अर्थात्– उस अर्थ के ज्ञान को अर्थापत्ति कहते है, जिस अर्थ के अभाव में उस दृष्ट अथवा श्रुत विषय की व्याख्या अथवा उपपत्ति न हो सके। अर्थापत्ति प्रमाण को इस अर्थ में परिभाषित करने से यह प्रतीत होता है कि 'अर्थापत्ति प्रमाण अर्थ का बोध है' चूंकि अर्थ बोध 'शब्द प्रमाण' में भी होता है इसलिए यह प्रतीत हो सकती है कि अर्थापत्ति प्रमाण और शब्द प्रमाण में साम्य है।

अद्वैत वेदान्त मत के अनुसार यह धारणा भ्रामक है। अर्थापत्ति प्रमाण और शब्द प्रमाण में पर्याप्त भेद है। अर्थापत्ति प्रमाण में अर्थ के बोध के लिए कल्पना की आवश्यकता होती है जबकि शब्द प्रमाण में अर्थबोध के लिए आप्त पुरूष के वचन की आवश्यकता होती है। अतः यह कहा जा सकता है कि अर्थापत्ति प्रमाण और शब्द प्रमाण में पर्याप्त भेद है। इस प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण ज्ञान के स्वतन्त्र साधन के रूप में सिद्ध होता है।

7.2.5 अर्थापत्ति प्रमाण और प्राक्कल्पना–

पाश्चात्य तर्कशास्त्र में प्राक्कल्पना की आवधारणा का वर्णन किया गया है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र में कार्य–कारण सम्बन्ध को स्थापित करने के लिए प्राक्कल्पना की महत्ता स्वीकार

---

[1] अग्रवाल, गीतारानी, 2006. भारतीय एवं पाश्चात्य ज्ञान मीमांसा, भारतीय विद्या संस्थान, वाराणसी, पृ॰ 69.

[2] R. Balasubramanian & S. Revathy, 2014. Vedanta Sangraha of Ramaraya kavi, Chinmaya Foundation, kerala, pp 47-48.

[3] अर्थापत्तिरपि दृष्टतः श्रुतोवार्थोन्यथानोपपयते इत्यार्थ कल्पना। (शाबरभाष्य– 1.1.5)

की गई है। किसी उपस्थित विषय की व्याख्या के लिए वास्तविक कारण के अभाव में पूर्व कल्पना की जाती है और जब प्राक्कल्पना की सिद्धि हो जाती है तो उसे कारण या सिद्धान्त में परिणत किया जाता है।[1] डॉ॰ डी॰ एम॰ दत्त ने अर्थापत्ति प्रमाण को पाश्चात्य तर्कशास्त्र में वर्णित प्राक्कल्पना के समकक्ष किन्तु उससे भिन्न बतलाया है।[2] अर्थापत्ति प्रमाण और प्राकल्पना में यह समानता है कि किसी भी दृश्य या श्रुत समस्या के समाधान के लिए अर्थापत्ति भी की जाती है और प्राक्कल्पना भी की जाती है। अपनी पुस्तक 'भारतीय ज्ञानमीमांसा' में नीलिमा सिन्हा ने अर्थापत्ति प्रमाण और प्राक्कल्पना 'तीन भेद' करती है।[3] जो इस प्रकार है–

1. प्राक्कल्पना में निश्चितता नहीं होती है। प्राक्कल्पना को एक संभाव्य अटकल के तौर पर ही स्वीकार किया जाता है, जिसके प्रमाणीकरण की आवश्यकता अनुभव की जाती है। वहीं अर्थापत्ति प्रमाण को एक निश्चित प्रमाण की तरह स्वीकार किया जाता है तथा अर्थापत्ति प्रमाण के लिए किसी अन्य प्रमाणीकरण की आवश्यकता नही अनुभव की जाती है।
2. अर्थापत्ति प्रायः किसी विरोधाभास की स्थिति में की जाती है। जैसे– दिन में उपवास रहने और मोटे होने में विरोधाभास दिखता है, जिसकी व्याख्या के लिए अर्थापत्ति प्रमाण का प्रयोग किया जाता है। वहीं प्राक्कल्पना के लिए यह आवश्यक नहीं जैसे– बालू पर पड़े पैरों के निशान की व्याख्या के लिए यह प्राक्कल्पना की जाती है कि यहाँ से कोई गया है।
3. भारतीय दार्शनिकों में मीमांसक और अद्वैत वेदान्तियों ने अर्थापत्ति प्रमाण को ज्ञान के स्वतन्त्र साधन के रूप में स्वीकार किया है। वहीं पाश्चात्य दार्शनिकों ने प्राकल्पना को कहीं भी प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया है।

अस्तु उपर्युक्त विवेचनाओं से यह स्पष्ट अवगति होती है कि प्रभाकर मिश्र, कुमारिल भट्ट और अद्वैत वेदान्ती सबल एवं पुष्ट तर्कों से अर्थापत्ति को एक स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्थापित करते हैं। साथ ही इस प्रमाण की उपयोगिता को भी रेखाकिंत करते है।

प्रभाकर मिश्र, कुमारिल भट्ट और अद्वैत वेदान्तियों का मत है कि अर्थापत्ति प्रमाण में ऐसे तथ्य का ज्ञान होता है, जिसका ज्ञान किसी अन्य प्रमाण से नहीं हो सकता। मीमांसक वैदिक मंत्रों की व्याख्या करने एवं उसके अर्थ को समझने के लिए अर्थापत्ति प्रमाण का

[1] सिन्हा, हरेन्द्र प्रसाद, 2016. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली– 110007, पृ॰ 284.
[2] Datta, D. M., 2017. The Six Ways of Knowing, Motilal Banarsidass Publishers Pvt Ltd, Delhi, pp. 205-206.
[3] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 293.

उपयोग करते हैं। मीमांसक मृत्यु के अन्नतर आत्मा की अमरता में विश्वास भी अर्थापत्ति प्रमाण के आधार पर ही करते हैं। अद्वैत वेदान्तियों का माया सिद्धान्त भी बहुत कुछ अर्थापत्ति पर ही आधारित है। यह तत्वमीमांसीय विविधता का विषय है कि अन्य दार्शनिक अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में नहीं स्वीकार करते हैं, परन्तु अर्थापत्ति प्रमाण की प्रक्रिया, स्वरूप व महत्ता को ध्यान मे रखकर विचार किया जाये तो अर्थापत्ति एक वैध एवं स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करने में कोई तार्किक विसंगति नहीं दिखाई देती है।

7.3 अर्थापत्ति प्रमाण की परिभाषा एवं वर्गीकरण–

प्रभाकर मिश्र, कुमारिल भट्ट और अद्वैत वेदान्तियों ने अर्थापत्ति प्रमाण को ज्ञान के स्वतन्त्र साधन के रूप में स्वीकार किया है।[1] इसका तात्पर्य यह है कि अन्य दार्शनिक सम्प्रदाय में अर्थापत्ति को कहीं न कहीं अन्य प्रमाणों में समाविष्ट मान लेते हैं। वहीं मीमांसको एवं वेदान्तियों ने अर्थापत्ति को ज्ञान का एक प्रमाण माना है और विधिवत् इसके स्वरूप का निरूपण भी किया है। इस अध्याय में मुख्य रूप से अद्वैत वेदान्त सम्मत् अभिमत का ही निरूपण किया गया है।

शब्दार्थ की दृष्टि से अर्थापत्ति को अर्थ–आपत्ति के रूप में व्याख्यायित किया जाता है और जहाँ अर्थ से तात्पर्य विषय और आपत्ति से तात्पर्य कल्पना है, अर्थात् अर्थापत्ति का अर्थ है 'किसी विषय की कल्पना करना'।[2] इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रभाकर, कुमारिल भट्ट और अद्वैत वेदान्तियों ने कल्पना के आधार पर विषय की व्याख्या करने वाले प्रमाण के रूप में अर्थापत्ति प्रमाण की परिभाषित किया है। फिर भी अर्थापत्ति के स्वरूप के सन्दर्भ में प्रभाकर, कुमारिल भट्ट और अद्वैत वेदान्तियों के विचारों में कुछ भिन्नता दिखाई पड़ती है। प्रश्न उठता है कि प्रभाकर एवं कुमारिल भट्ट के मत में अर्थापत्ति का स्वरूप क्या है? अर्थापत्ति को परिभाषित करते हुए आचार्य जैमिनी ने 'शाबरभाष्य' में लिखा है कि 'अर्थापत्ति दृष्टः श्रुतोवाऽर्थोन्यथानोपपद्यते इत्यार्थ कल्पना'[3] अर्थात्– अर्थापत्ति 'उस अर्थ या विषय की कल्पना है, जिसके बिना श्रुत अथवा दृष्ट विषय की उपपत्ति न हो'। जैसे– जब कोई पुरूष यह कहता है कि 'वह दिन में भोजन नहीं करता है' तथापि 'वह प्रचुर स्वस्थ है' तो दिन के भोजन त्याग और प्रचुर स्वास्थ्य में स्पष्ट विरोधाभाष दिखता है। इन दो विरोधी तथ्यों के सहधर्मिता की व्याख्या तभी सम्भव है, जब यह कल्पना कर ली जाये कि 'वह पुरूष रात्रि में

[1] R. Balasubramanian & S. Revathy, 2014. Vedanta Sangraha of Ramaraya kavi, Chinmaya Foundation, kerala, pp 50.
[2] सिन्हा, हरेन्द्र प्रसाद, 2016. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 282.
[3] शाबरभाष्य 1.1.5.

भोजन करता है'। यह स्वीकृत्ति या कल्पना ही अर्थापत्ति है। इस कल्पना के परिणाम स्वरूप ही उस पुरूष के दिन में भोजन न करने फिर प्रचुर स्वस्थ होने की व्याख्या सम्भव हो पाती है। अतः यह कल्पना करना ही अर्थापत्ति प्रमाण है कि 'वह पुरूष रात्रि में भोजन ग्रहण करता है'।

उल्लेखनीय है कि मीमांसा मत के दोनो आचार्य कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र इन दोनों ने ही अर्थापत्ति प्रमाण को ज्ञान के स्वतंत्र साधन के रूप में स्वीकार किया है और दोनों ही अर्थापत्ति प्रमाण सम्बन्धी अपनी अवधारणा का विकास 'शाबरभाष्य' के आधार पर ही करते हैं। फिर भी दोनों की अर्थापत्ति प्रमाण सम्बन्धी विवेचना में पर्याप्त भिन्नता है। कुमारिल भट्ट ने अर्थापत्ति प्रमाण की विवेचना में शाबरभाष्योक्त 'दृष्ट श्रुतोवाऽर्थोन्यथानोपपद्यते इत्यार्थ कल्पना'[1] की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'अर्थापत्ति वह ज्ञान है, जिसमें एक कल्पना के द्वारा किसी दृष्ट या किसी श्रुत विषय की व्याख्या सम्भव हो पाती है और जिसकी व्याख्या इस कल्पना के अभाव में अन्य किसी दृष्ट या श्रुत प्रमाण के द्वारा सम्भव न हो तो इस कल्पना को अर्थापत्ति कहते है'। जैसे– 'माना कोई व्यक्ति देवदत्त जो दिन में भोजन नहीं करता तथापि वह मोटा दिखता है' इस दृष्ट अथवा श्रुत विषय की व्याख्या इस कल्पना (आपत्ति) के अतिरिक्त शेष अन्य प्रमाणों के द्वारा सम्भव नहीं कि 'देवदत्त रात्रि में भोजन करता है'। अतः 'देवदत्त रात्रि में भोजन करता है' यह कल्पना ही अर्थापत्ति है और इस प्रकार यह कल्पना प्रमा अथवा प्रमाण है।

वहीं प्रभाकर मिश्र शाबरभाष्योक्त अर्थापत्ति प्रमाण की व्याख्या के शब्दों के स्थान में परिवर्तन करते हुए अर्थापत्ति प्रमाण की जो व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, उस व्याख्या और कुमारिल भट्ट प्रदत्त अर्थापत्ति प्रमाण की व्याख्या में भिन्नता है। प्रभाकर मिश्र शाबरकृत 'अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतोवाऽर्थोन्यथानोपपद्यते इत्यार्थ कल्पना' के स्थान पर 'अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतोवार्थोत्यर्थकल्पना अन्यथानोपपद्यते इति' को रखते हुए अर्थापत्ति प्रमाण की व्याख्या करते हैं कि 'अर्थापत्ति वह दृष्ट अथवा श्रुत कल्पना है जिसके द्वारा किसी एक ऐसे विषय की व्याख्या की जाती है जिस विषय की व्याख्या इस कल्पना के अभाव में सम्भव न हो'।[2] जैसे– देवदत्त के दिन में भोजन नहीं करने तथा फिर भी पुष्ट दिखने की व्याख्या इस कल्पना के बिना सम्भव नहीं कि 'वह रात्रि में भोजन करता है'। 'देवदत्त रात्रि में भोजन करता है' इस

[1] श्लोकवार्तिक– 1.2.

[2] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 288.

विषय का ज्ञान न तो प्रत्यक्षगम्य है, न अनुमानगम्य, न उपमानगम्य और न ही आगम है बल्कि यह कल्पनागम्य है।

ध्यातव्य है कि कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र द्वारा की गई अर्थापत्ति प्रमाण की व्याख्या में मूल भेद यह है कि जहाँ कुमारिल भट्ट अर्थापत्ति प्रमाण को 'किसी दृष्ट अथवा श्रुत विषय की व्याख्या के लिए की गई कल्पना कहते है' वहीं प्रभाकर मिश्र अर्थापत्ति प्रमाण को किसी ऐसे विषय की व्याख्या के लिए की गयी एक ऐसी व्याख्या के रूप में परिभाषित करते हैं जो व्याख्या दृष्ट अथवा श्रुत न होकर कल्पना प्रसूत हो तथा जिस कल्पना प्रसूत व्याख्या के अभाव में प्रदत्त विषय की अन्य व्याख्या संभव न हो। जैसे– 'देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता फिर भी मोटा है' इस विषय की व्याख्या के लिए जब यह कल्पना की जाती है कि 'देवदत्त रात्रि में भोजन करता है' तो यह व्याख्या न तो प्रत्यक्ष से प्राप्त होती है, न अनुमान से, न शब्द से और न ही उपमान से बल्कि यह विशुद्ध रूप से कल्पना प्रसूत है। अब प्रश्न उठता है कि अद्वैत वेदान्त मत में अर्थापत्ति प्रमाण का स्वरूप क्या है? वेदान्त परिभाषा के आधार अर्थापत्ति प्रमाण का निरूपण किया जायेगा। वेदान्त परिभाषाकार ने 'इदानीमर्थापत्तिर्निरूप्यते' इस वाक्य से अर्थापत्ति प्रमाण के निरूपण को प्रारम्भ किया है। धर्मराजाध्वरीन्द्र अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ वेदान्त परिभाषा में अर्थापत्ति की वैज्ञानिक विवेचना प्रस्तुत की है।

वेदान्त परिभाषाकार के मत में 'तत्रोपपाद्यज्ञानेनोपपादक–कल्पनामर्थापत्तिः। तत्रोपपाद्य ज्ञानं करणम्। उपपादक ज्ञानं फलम्। येन बिना यदनुपपन्नं तत्तत्रोपपाद्यम्, यस्याभावे यस्यानुपपत्तिस्तत्तत्रोपपादकम्' ।[1] अर्थात्– प्रमाणरूप अर्थापत्ति में उपपाद्य (कार्य) के ज्ञान से उपपादक (कारण) की कल्पना (ज्ञान) ही अर्थापत्ति है। इनमें उपपाद्य का ज्ञान प्रमाण (कारण, साधन) है और उपपादक का ज्ञान प्रमा (फल) है। जिसके बिना जो अनुपपन्न होता है, वह उपपाद्य है और जिसके अभाव में जिसकी अनुपपत्ति होती है, वह वहाँ उपपादक होता है। वेदान्त परिभाषाकार के मत में अर्थापत्ति के दो अंग है, 'उपपाद्य (कार्य) तथा उपपादक (कारण)। जिस विषय की व्याख्या करनी होती है, उसे उपपाद्य कहते है तथा जो व्याख्या प्रस्तुत की जाती है, उसे उपपादक की संज्ञा दी जाती है' ।[2] जैसे– 'देवदत्त का दिन में भोजन न करना फिर भी स्वस्थ रहना' कार्य है तथा इसके ज्ञान से इसके कारण 'देवदत्त के रात्रि भोजन करने की कल्पना' ही अर्थापत्ति प्रमा है। इस प्रमा के प्रमाण को भी अर्थापत्ति कहते

[1] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 266.

[2] R. Balasubramanian & S. Revathy, 2014. Vedanta Sangraha of Ramaraya kavi, Chinmaya Foundation, kerala, pp 47.

है। सारांशतः वेदान्त परिभाषाकार के मत में 'एक ही अर्थापत्ति शब्द, प्रमा और प्रमाण का वाचक है'। यह प्रश्न उठ सकता है कि 'एक ही अर्थापत्ति शब्द, प्रमा और प्रमाण का वाचक कैसे हो सकता है?

परिभाषाकार इसका उत्तर देते हैं– 'रात्रिभोजन–कल्पना–रूपायां प्रमितावर्थस्यापत्तिः कल्पनेति षष्ठी समासेन अर्थापत्तिशब्दो वर्तते, कल्पनाकरण पीनत्वादि ज्ञाने त्वर्थस्यापत्तिः कल्पना यस्मादिति बहुब्रीहि समासेन वर्तते इति फलकरणयोरुभयोस्तत्पद प्रयोगः'।[1] अर्थात्– अर्थ (विषय) की आपत्ति (कल्पना) इस षष्ठी तत्पुरुष समास से 'अर्थापत्ति' शब्द, रात्रि–भेजन कल्पनारूप प्रमा अर्थ रहता है और जिससे पदार्थ की कल्पना होती है, वह अर्थपत्ति प्रमाण है। बहुब्रीहि समास से अर्थपत्ति शब्द, उस कल्पना के साधनभूत पीनत्वादि ज्ञान रूप अर्थ में रहता है। इसी कारण 'एक ही अर्थापत्ति शब्द, प्रमा और प्रमाण दोनों का वाचक है'। यदि किसी शब्द का प्रवृत्ति–निमित्त एक ही हो, तो एक शब्द दो अर्थों का वाचक नहीं होगा। प्रकृत में प्रमा एवं प्रमाण अर्थ में अर्थापत्ति शब्द की प्रवृत्ति–निमित्त भिन्न–भिन्न है। परिभाषाकार ने स्पष्ट किया है कि 'अर्थस्य आपत्तिः अर्थापत्तिः' ऐसा षष्ठी तत्पुरूष समास करने पर अर्थापत्ति शब्द का अर्थ 'कल्पना' होने से, यहाँ अर्थापत्ति का अर्थ 'प्रमा' होता है। अब यदि अर्थापत्ति शब्द की 'अर्थस्य आपत्तिः यस्मात् तत् अर्थापत्तिः' की व्युत्पत्ति बहुब्रीहि समास से मानी जाय तो अर्थापत्ति का अर्थ 'प्रमाण' होता है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त मत में प्रवृत्ति–निमित्त का भे होने से एक ही अर्थापत्ति शब्द 'प्रमा एवं प्रमाण' दोनों का वाचक होता है।

अस्तु वेदान्त परिभाषाकार के मत में उपपाद्य के ज्ञान से उपपादक का ज्ञान ही अर्थापत्ति है। जैसै– देवदत्त के दिन में भोजन न करने फिर भी मोटा दिखने के ज्ञान से देवदत्त के रात्रि में भोजन करने का ज्ञान ही अर्थापत्ति है। उल्लेखनीय है कि 'अर्थापत्ति की मीमांसा कृत व्याख्या तथा वेदान्त परिभाषा कृत व्याख्या में एक भिन्नता है'। दोनों में भिन्नता यह है कि मीमांसक कृत विषय की व्याख्या के लिए अर्थापत्ति प्रमाण की उपादेयता को स्वीकार करते है, जबकि दूसरी ओर वेदान्त परिभाषा में विषय के ज्ञान के आधार पर काल्पनिक विषय के ज्ञान को अर्थापत्ति के आधार पर सिद्ध करते है। अद्वैत वेदान्ती 'देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता फिर भी स्वस्थ दिखता है' इस उपपाद्य के आधार पर इस उपपादक कि 'देवदत्त रात्रि में भोजन करता है' की कल्पना को संपुष्टि प्रदान करते है।[2] इस प्रकार

[1] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 267.
[2] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 289.

परिभाषाकार ने अर्थापत्ति 'प्रमा एवं प्रमाण' के स्वरूप एवं लक्षण स्पष्ट करने के बाद उसके भेद का निरूपण करते है।

7.3.1 अर्थापत्ति प्रमाण का वर्गीकरण–

कुमारिल भट्ट की तरह वेदान्त परिभाषाकार भी अर्थापत्ति के दो प्रकार का उल्लेख करते हैं– 'सा चार्थापत्तिर्द्विविधा, दृष्टार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिश्चेति'।[1] अर्थात्– परिभाषाकार के मत में अर्थापत्ति दो प्रकार है, दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति। वेदान्त परिभाषाकार ने अर्थापत्ति के दोनों प्रकार को उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट किया है।

7.3.1.1 दृष्टार्थापत्ति का स्वरूप–

दृष्टार्थापत्ति का शाब्दिक अर्थ है– 'किसी दृष्ट विषय की व्याख्या के लिए की गई कल्पना को दृष्टार्थापत्ति कहते हैं'।[2] जिस अर्थापत्ति का विषय दृष्ट होता है, उसे दृष्टार्थापत्ति कहते हैं। जैसे– 'यह रजत है' जब ऐसा ज्ञान होता है। परन्तु किसी विश्वसनीय के कहने या वहाँ जाकर देखने के पश्चात् 'यह रजत नहीं है' ऐसा निश्चायक ज्ञान होता है। तब यह कल्पना की जाती है कि इस स्थान पर रजत की सत्ता वास्तविक नहीं है। इस स्थान पर रजत का दिखाई देना मिथ्या है। इस प्रकार उसके सत्यत्वात्यन्ताभाववत्वरूपं मिथ्यात्व की कल्पना की जाती है। यह कल्पना निषेध के कारण सम्भव होती है और रजत तथा शुक्ति दोनों विषय दृष्ट हैं। रजत की मिथ्यात्व कल्पना को दृष्टार्थापत्ति कहते हैं।

7.3.1.2 श्रुतार्थापत्ति का स्वरूप–

परिभाषाकार के मत में 'यत्र श्रूयमाणवाक्यस्य स्वार्थानुपपत्तिमुखेनार्थान्तर कल्पनम्'।[3] अर्थात्– जब सुनाई देने वाले वाक्य की स्वार्थानुपत्ति के द्वारा (वाक्यार्थ की अनुपपत्ति के लिए) अन्य अर्थ की कल्पना करना ही श्रुतार्थापत्ति है। श्रुतार्थापत्ति का शाब्दिक अर्थ है 'सुने हुए वाक्य के भाग का वाक्यार्थ की उपपत्ति के लिए की गई कल्पना को श्रुतार्थापत्ति कहते हैं'।[4] जब सुने हुए वाक्य के मुख्य अर्थ का असम्भव होने पर उस अर्थ की उपपत्ति लगाने के लिए जो अन्य अर्थ की कल्पना की जाती है, उसे श्रुतार्थापत्ति कहते हैं। जैसे– 'छान्दोग्य उपनिषद्' में 'तरति शोकमात्मवित्' अर्थात्– 'आत्मवेत्ता समस्त शोक को पार कर जाता है'

---

[1] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 131.

[2] Datta, D. M., 2017. The Six Ways of Knowing, Motilal Banarsidass Publishers Pvt Ltd, Delhi, pp. 199.

[3] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 132.

[4] Datta, D. M., 2017. The Six Ways of Knowing, Motilal Banarsidass Publishers Pvt Ltd, Delhi, pp. 199.

कहा गया है। यहाँ शोक शब्द का अर्थ 'कर्तृत्वादि समस्त बन्धन' है और आत्मज्ञान से उसकी निवृत्ति होती है, ऐसा श्रुति का तात्पर्य है।

यह शंका हो सकती कि श्रुति का यह अर्थ उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि किसी विषय की निवृत्ति उसके ज्ञान से नहीं हुआ करती। जैसे– किसी को ऐसा अनुभव नहीं होता कि 'पुस्तक का ज्ञान होने पर वह पुस्तक नष्ट हो जाए'। इसलिए इस श्रुतार्थ की अनुपपत्ति होती है। अद्वैत वेदान्तियों ने इस शंका का समाधान किया है कि ज्ञान केवल अज्ञान का निवर्तक होता है।[1] अतः 'आत्मवेत्ता समस्त शोक को पार कर जाता है' इसकी उपपत्ति लगाने के लिए यह कल्पना करनी पड़ती है कि 'समस्त बन्धन अज्ञानमूलक हैं' और ज्ञान से नष्ट होने योग्य है। यह अभीष्ट कल्पना ही श्रुतार्थापत्ति है। वेदान्त परिभाषाकार ने लौकिक उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। जैसे– 'देवदत्त जीवित है किन्तु घर में नहीं है' इस वाक्य के सुनने पर जो व्यक्ति घर में नहीं है और घ्र के बाहर भी नहीं है, उसका जीवित रहना सम्भव नहीं है। इसलिए यह कल्पना करनी पड़ती है कि 'देवदत्त जीवित होते हुए घर में नहीं है, तब देवदत्त को घर से बाहर होना चाहिए। इस प्रकार की कल्पना करना ही श्रुतार्थापत्ति है।

वेदान्त परिभाषाकार ने दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति के स्वरूप व लक्षण का निरूपण करने के उपरान्त श्रुतार्थापत्ति के दो प्रकार का निरूपण किया है। वेदान्त परिभाषाकार के मत में 'श्रुतार्थापत्तिश्च द्विविधा– अभिधनानुपपत्तिरभिहितानुपपत्तिश्च'।[2] अर्थात्– श्रुतार्थापत्ति के दो प्रकार होते हैं, अभिधानानुपपत्ति और अभिहितानुपपत्ति। इनका स्वरूप इस प्रकार है–

7.3.1.2.1 अभिधानानुपपत्ति का स्वरूप–

परिभाकार के मतानुसार 'तत्र, यत्र वाक्यैकदेश श्रवणेऽन्वय अभिधनानुपपत्याऽन्वयाभिधान उपयोगि पदान्तर कल्प्यते तत्राभिधनानुपपत्तिः'। यथा द्वारमित्यत्र 'पिधेहि' इत्याध्याहारः, यथा वा 'विश्वजिता यजेत' इत्यत्र 'स्वर्ग–काम' इति पदाध्याहारः'।[3] अर्थात्– जब हम वाक्य का एक भाग सुन लेते हैं, किन्तु वाक्य के एक पद के अन्वय की अनुपपत्ति होने पर उस पद के साथ अन्वित होने योग्य किसी दूसरे पद की कल्पना करते हैं, तो इस दूसरे पद की कल्पना ही अभिधानानुपपत्ति कहते हैं। या जब वाक्य के विशेष भाग को सुनकर सम्पूर्ण वाक्य की कल्पना करना ही अभिधानानुपत्ति है।[4]

---

[1] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर(हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 270.
[2] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 133.
[3] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर(हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 271.
[4] Datta, D. M., 2017. The Six Ways of Knowing, Motilal Banarsidass Publishers Pvt Ltd, Delhi, pp. 200.

परिभाषाकार ने स्पष्ट किया कि 'क्रियावाचक पदों को कारकों की आकांक्षा रहती है और कारकों को क्रिया की अक्षेपा रहती है। बिना आकांक्षा और अपेक्षा के केवल क्रियार्थक या कारकार्थक पद विवक्षित अर्थ नहीं दिखा सकते। आकांक्षा और अपेक्षा से युक्त पद श्रुत न रहने पर भाी वक्ता के तात्पर्य विषयभूत अर्थ की उपपत्ति के लिए उनकी कल्पना करके अन्वय बोध कर लेना होता है। ऐसी अध्याहार कल्पना को अभिधानानुपपत्ति रूप श्रुतार्थापत्ति कहते हैं'। जैसे– किसी कार्य में संलग्न व्यक्ति शीघ्रता के कारण 'द्वार–द्वार' कहकर चुप कार्य में संलग्न हो जाता है। वहाँ की तात्कालिक परिस्थित को देखकर वक्ता के तात्पर्य विषयीभूत अर्थ की उपपत्ति लगाने के लिए 'द्वार' इस कर्मवाचक पद को 'इस समय द्वार लगा दो' (पिधेहि) इस क्रियावाचक पद की आकांक्षा है। इस प्रकार पद का अध्याहार कर वाक्य को पूर्ण करना ही अभिधनानुपपत्ति है।

वेदान्त परिभाषाकार ने इससे सम्बन्धित वैदकि सम्मत् उदाहरण को 'विश्वजिता यजेत' वाक्य निरूपित किया है। सामान्यतः किसी किसी पुरूष की फलरहित कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती है। वहीं 'विश्वजिता यजेत' इस श्रुति में 'विश्वजित संज्ञक यज्ञ करे' ऐसे कर्म का विधान किया है। परन्तु 'वायव्यं श्वेतमालभेत पशुकामः' अर्थात्– 'जिसे पशु की कामना हो, वह वायु देवता को उद्देश्य कर श्वेत पशु का आलंभन करे' इत्यादि विधि के समान प्रत्यक्ष कोई फल नहीं कहा है। 'विश्वजिता यजेत' की सफलता के लिए एवं यज्ञ में पुरूष की प्रवृत्ति कराने के लिए स्वर्ग–सुख फलत्वेन की कल्पना करनी चाहिए। स्वर्गेच्छु को विश्वजित् करना चाहिए। यहाँ क्रियावाचक पद की कर्तृवाचक पद के बिना अनुपपत्ति होती है, इसलिए कर्तृवाचक पद का अध्याहार या कल्पना करना पड़ता है। अन्यथा श्रुत्यर्थ की उपपत्ति सम्भव नहीं है। यही अभिधनानुपपत्ति है। परिभाषाकार से भिन्न मतावलम्बी बहुधा इस अभिधनानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति में कुछ दोष प्रदर्शित करते हैं। वेदान्त परिभाषाकार ने इन दोषों का समाधान प्रस्तुत किया है।

अभिधान का अर्थ है 'अन्वय' और उसकी अनुपपत्ति का अर्थ है 'अन्वय–बोधाभाव'। प्रथम 'द्वारकर्मक पिधान' जिसमें द्वार कर्म है, पिधान क्रिया है। अब यदि अद्वैत वेदान्त मत में अन्वय बोध होगा तो वह अन्वय बोध पिधानार्थक पद के अभाव में कैसे होगा? माना अन्वय बोध ही न हो तो अमुक अन्वय बोध की, अमुक पद के न होने से अनुपपत्ति हुई है 'यह ज्ञान कैसे होगा'? यदि ज्ञान का होना सम्भव नहीं है तो अद्वैत वेदान्त मत में पिधानार्थक पद के बिना 'अन्वय बोध' के अनुपपन्न होने से 'पिधेहि' पद का अध्याहार कीने की कल्पना किस आधार पर करते हैं?

वेदान्त परिभाषाकार के मत में उपर्युक्त दोष उचित नहीं है क्योंकि 'भावे व्युत्पत्ति' को स्वीकार करें तो उपर्युक्त दोष अद्वैत वेदान्त मत में उपस्थित होता है। परन्तु अद्वैत वेदान्त मत में 'भावे व्युत्पत्ति' के अर्थ में 'अभिधान' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, अपितु 'अभिधीयते अनेन इति अभिधानम्' इस 'करण व्युत्पत्ति' को स्वीकार करते हुए 'अभिधनानुपपत्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है। अभिधान का अर्थ है 'तात्पर्य बोध'। वक्ता ने जिसे तात्पर्य बोध से शब्द का उच्चारण किया हो, उसी तात्पर्य बोध की अनुपपत्ति होना ही 'अभिधनानुपपत्ति'।[1] जैसे– 'द्वारम्' अनुपपत्ति का परिहार करने के लिए 'पिधेहि' पद का अध्याहार किया जाता है। इस कल्पना को ही अभिधानानुपत्ति रूप श्रुतार्थापत्ति कहते हैं। अतः स्पष्ट है कि अद्वैत वेदान्त मत में दोष नहीं है।

7.3.1.2.2 अभिहितानुपपत्ति का स्वरूप–

वेदान्त परिभाषाकार का मत है 'अभिहितानुपपत्तिस्तु यत्र वाक्यावगातोऽर्थोऽनुपपन्नत्वेन ज्ञातः सन्नर्थान्तरं कल्पयति, तत्र द्रष्टव्या'। यथा 'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत' इत्यत्र स्वर्गसाधनत्वस्य क्षणिक–ज्यातिष्टोमयाग–गततयाऽवगतस्यानुपपत्या मध्यवर्त्यपूर्व कल्पयते।[2] अर्थात्– जहाँ पर वाक्य से ज्ञात हुआ अर्थ अनुपपन्न है, यह ज्ञात होने पर वाक्य अन्य अर्थ की कल्पना कराता है, वहाँ पर 'अभिहितानुपपत्ति' संज्ञक अर्थापत्ति है। प्रमाणभूत वाक्य का अर्थ उपपन्न होने केलिए उस वाक्यार्थ से बहिर्भूत अर्थ की कल्पना के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है। कारण यह कि बहिर्भूत अर्थ की कल्पना के बिना उस वाक्यार्थ में पुरूष–प्रवृत्ति का होना संम्भव ही नहीं। अतः ऐसे वाक्य का अर्थ लगाने के लिए अन्य बहिर्भूत अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है। यही 'अभिहितानुपपत्ति' संज्ञक अर्थापत्ति है। जैसे– 'स्वर्गेच्छुक पुरूष ज्योतिष्टोम याग करे' इस उदाहरण में याग, स्वर्ग का साधन है, ऐसा ज्ञान होता है।

परन्तु कतिपय मतावलम्बियों के अनुसार श्रुति का यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि याग क्रिया क्षणिक होती है। याग के समाप्त होते ही यजमान स्वर्गस्थ हुआ दिखाई नहीं देता। अब यदि स्वर्ग का साधन विनाशी है तो विनाशी साधन से स्वर्ग कैसे प्राप्त हो सकता है? तात्पर्यार्थ कि 'कारण के ही नष्ट हो जाने पर कार्य कैसे सिद्ध हो सकता है'? अतः श्रुति का यह अर्थ ठीक नहीं है। अद्वैत वेदान्त मतानुसार उपर्युक्त आक्षेप ठीक नहीं है, क्योंकि यदि श्रुति में बताया हुआ अर्थ अनुपपन्न होता है। इसलिए श्रुति के अर्थ की उपपत्ति जिस प्रकार

[1] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर(हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 272.
[2] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 135.

हो ऐसे अर्थ की कल्पना करनी चाहिए। वैदिक मत में वह पदार्थ 'अपूर्व' है। यह जागतिक सत्य है कि याग विनाशी है तथापि याग स्थिति क्षण में ही स्वर्ग के साधनभूत एक विलक्षण अपूर्व को उत्पन्न करता है, तब नष्ट होता है। वेदिक मत में 'अपूर्व' याग और स्वर्ग का मध्यवर्ती व्यापार है। अतः 'याग स्वर्ग का साधन है' श्रुति के अर्थ की अनुपपत्ति नहीं हो पाती है। इस प्रकार साधन की अन्यथासिद्धि नहीं होती। अतः पुरूष के स्वर्गगामित्व की उपपत्ति लगाने के लिए 'आत्मा देह से भिन्न है' इस तरह कल्पना करना भी 'अभिहितानुपपत्ति' है।

अब वेदान्त परिभाषाकार अर्थापत्ति प्रमाण पर नैयायिकों द्वारा उठाये गये आक्षेपों का समाधान प्रस्तुत किया है। इन आक्षेपों का विवेचन इस अध्याय के द्वितीय बिन्दु के अन्तर्गत किया जा चुका है। उस स्थल पर जिन आक्षेपों का निराकरण नहीं किया गया, इस स्थल पर केवल उन्हीं आक्षेपों का समाधान किया जाएगा। नैयायिक मतानुसार व्यतिरेक व्याप्ति से ही अर्थापत्ति चरितार्थ हो जाती है। इसलिए अर्थापत्ति को पृथक प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।

वेदान्त परिभाषाकार के मत में उपर्युक्त आक्षेप उचित नहीं है, क्योकि 'न चैवमर्थापत्तिरनुमानेऽन्तर्भवितुमर्हति। अन्वयव्याप्त्यज्ञानेनान्वयिन्यनन्तर्भावाात्। व्यतिरेकिणश्च अनुमानत्वं प्रागेव निरस्तम्। अत एवार्थापत्तिस्थलेऽनुमिनोमीति नानुव्यवसायः, किं तु अनेनदं कल्पयामीति'।[1] अर्थात्– अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में नहीं हो सकता। अन्वय–व्याप्ति का ज्ञान न होने से अन्वयी लिंग (अनुमान) में इसका अन्तर्भाव नहीं होता, और व्यतिरेकी लिंग के अनुमानत्व का तो इस शोध कार्य अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत पहले ही निराकरण कर दिया गया है। जहाँ अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान होता है, वहाँ 'में अनुमान करता हूँ' ऐसा अनुव्यवसाय नही होता बल्कि 'मैं इसकी कल्पना करता हूँ' ऐसा ही अनुव्यवसाय होता है। इस प्रकार अर्थापत्ति का अनुमान में अर्न्तभाव नहीं हो सकता है।

नैयायिकों का मत है कि किसी वाक्य के अर्थ की अनुपपत्ति हुए बिना उसके भिन्न अर्थ की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए अद्वैत वेदान्तियों के अर्थापत्ति ज्ञान में अनुपपत्ति का स्वरूप क्या होगा?

वेदान्त परिभाषाकार के मत में अनुपपत्ति का स्वरूप है, 'नन्वर्थापत्तिस्थले इदमनेन विनाऽनुपपन्नमिति ज्ञानं करणमित्युक्तं, तत्र किमिदं तेन विनाऽनुपपन्नत्वम्?। तदभावव्यापका

[1] शास्त्री, केशवलाल वि., 2009. वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 135.

भावप्रतियोगित्वमिति ब्रूमः' ।[1] अर्थात्– अपने अभाव का व्यापक जो अभाव है, उसका प्रतियोगित्व ही अनुपपत्ति है। जैसे– जहाँ भेजन का अभाव रहता है, वहाँ पीनत्व का भी अभाव रहता है, क्योंकि यह कभी सम्भव नहीं है कि 'भोजन के बिना पुष्टत्व हो'। यहाँ पर 'पीनत्वाभाव' भोजनाभाव का व्यापक है और 'भोजनाभाव' पीनत्वाभाव का व्याप्त है। इस प्रकार जहाँ रात्रि भोजन का अभाव हो वहाँ दिन में भोजन न करने वाले पुरुष के पीनत्व का भी अभाव रहता है। दिन में भोजन न करने वाले पुरुष के पीनत्वाभाव, रात्रि भोजन का व्यापक है। ऐसे व्यापक अभाव का प्रतियोगित्व 'पीनत्व' में होना ही अनुपपन्नत्व है। अद्वैत वेदान्त मत में यही उपपाद्य ज्ञान है। देवदत्त में पीनत्वाभाव नहीं है। किन्तु देवदत्त में पीनत्वाभाव का अभाव है, देवदत्त पुष्ट है। देवदत्त के पुष्टत्व का कारण रात्रि भोजन का अभाव होना सम्भव नहीं है। इसमें पीनत्व रात्रि भोजन का उपपाद्य है। रात्रि भोजनाभाव का व्यापक जो पीनत्वाभाव उसका प्रतियोगी पीनत्व है। इसी ज्ञान को अनुपपत्ति है। इसी अनुपपत्ति के आधार पर कल्पना की जाती है।

परिभाषाकार के मत में 'एवमर्थापत्तेर्मानान्तरत्वसिद्धौ व्यतिरेकि नानुमान्तरम्, पृथिवीरेभ्यो भिद्यते इत्यादौ गन्धवत्त्वमितरभेदं बिनाऽनुपपन्नमित्यादि ज्ञानस्य करणत्वात्। अत एवानुव्यवसायः पृथिव्यामितरभेदं कल्पयामीति' ।[2] अर्थात्– अर्थापत्ति के पृथक प्रमाण सिद्ध हो जाने पर व्यतिरेकी अनुमान को मानने की आवश्यकता नहीं रहती है। पृथ्वी अन्य पदार्थों से भिन्न है,आदि में पृथ्वी का 'गन्धत्व' इतर भेद के बिना अनुपपन्न है। वह पृथ्वी से भिन्न पदार्थों में ही हो सकता है, पृथ्वी में नहीं। यही ज्ञानकरण है। इसी कारण 'मैं पृथ्वी में इतर भेद की कल्पना करता हूँ। ऐसा ही अनुव्यवसाय हासेता है। विवरणकार ने स्पष्ट किया है कि 'अनेन इदं कल्पयामि' इस अनुव्यवसाय से अर्थापत्ति पृथक प्रमाण सिद्ध होता है। ऐसा मानने पर अन्वयरूप एक ही अनुमान स्वीकार करन योग्य रहता है। क्योंकि अन्वयी लिंग से ही अनुमित्यात्मक ज्ञान हो जाता है।

अद्वैत वेदान्त मतानुसार नैयायिक जिसे व्यतिरेकी अनुमान कहते है और उससे प्राप्त ज्ञान को अनुमिति ज्ञान कहते है। वह अनुमिति ज्ञान न होकर अर्थापत्ति ज्ञान है और उस ज्ञान का कारण भी अर्थापत्ति प्रमाण है। जैसे– पृथ्वी, जलादि अन्य पदार्थों से भिन्न है, क्योंकि उसमें गन्ध है, व्यतिरेकी अनुमान द्वारा जल से तुलना। इस उदाहरण में प्रश्न है कि वह कौन सा अनुपपत्ति ज्ञान है? जिसके आधार पर उसे अर्थापत्ति कहा जा सके। प्रत्युत्तर में वेदान्त

[1] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर(हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 276.
[2] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर(हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 277.

परिभाषाकार कहते हैं कि 'पृथ्वी का गन्धत्व ही उसका उपदक है। इतर पदार्थों से भिन्न हुए बिना पृथ्वी में गन्धत्व का होना अनुपपन्न है। यह अनुपपत्ति ज्ञान ही करण है क्योंकि इतर भेद के अभाव का व्यापक जो गन्धाभाव है, उसका प्रतियोगी गन्ध है। जल में इतर भेद नहीं होता तो वहाँ गन्ध भी नहीं रहता। इस प्रकार इतर भेद ज्ञान अर्थापत्ति ही है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त की प्रमाणमीमांसा में अर्थापत्ति प्रमा और प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित है।

7.4 **अर्थापत्ति प्रमाण की महत्व–**

अद्वैत वेदान्त मत में अर्थापत्ति प्रमाण का प्रयोग 'ब्रह्मज्ञान में किया जाता है'।[1] अद्वैत वेदान्त दर्शन में ज्ञानमीमांसीय, तत्वमीमांसीय और दैनिक जीवन की घटनाओं की व्याख्या के करने लिए अर्थापत्ति प्रमाण का प्रयोग किया जाता है। सांकेतिक और कवित्वपूर्ण वेद के गूढ़ शब्दों की व्याख्या के लिए भी अर्थापत्ति प्रमाण (कल्पनाओं) का सहारा लेना पड़ता है। जैसे– श्रुतियों में उल्लेख है कि 'जगत ब्रह्म का रूपान्तरण है' पुनश्च यह भी कि 'ब्रह्म शाश्वत, चिरन्तन तथा ऐसी सत्ता है, जिसका परिवर्तित रूप यह जगत है'। चूँकि इन दोनों वाक्यों में एक ही साथ ब्रह्म को चिरन्तन तथा परिवर्तनशील कहा जा रहा है। ये दोनों वाक्यों में एक–दूसरे के विरोधी हैं, इन दो विरोधाभासी वाक्यों की सम्यक् व्याख्या के लिए अर्थापत्ति प्रमाण प्रयोग किया जाता है। अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा ही यह अर्थ ज्ञा होता है कि 'ब्रह्म का जगत में परिवर्तन विवर्तमात्र है'।

अद्वैत वेदान्ती दृश्य और आभासिक जगत के तथ्यों की व्याख्या के लिए भी अर्थापत्ति प्रमाण का प्रयोग करते हैं।[2] जैसे – जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि 'मेरा गाँव गंगा में है' या 'मेरा घर सड़क पर है'। इन दोनों कथनों में स्पष्ट विरोधाभास दिखाई पड़ता है कि 'गंगा की प्रवाहित धारा के बीच में गाँव कैसे स्थित हो सकता है? या सड़क के बीच किसी का घर कैसे स्थित हो सकता है ? इन वाक्यों में दिखाई देने वाले विरोधाभास से बचने के लिए अर्थापत्ति प्रमाण का प्रयोग कर यह कल्पना की जाती है कि 'गंगा के किनारे पर गाँव स्थित है' या 'घर सड़क के किनारे पर बना हुआ है'। अस्तु यह कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदान्त दर्शन ज्ञानमीमांसीय, तत्वमीमांसीय और दैनिक जीवन की घटनाओं की व्याख्या के करने लिए अर्थापत्ति प्रमाण का प्रयोग किया जाता है।

---

[1] उपाध्याय, बलदेव(प्र.सम्पा.), 1996. संस्कृत–वाङ्मय का बृहद इतिहास(दशम–खण्ड), उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, पृ॰ 182.
[2] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 296.

अष्टम् अध्याय

अद्वैत–वेदान्त दर्शन में अनुपलब्धि प्रमाण का स्वरूप

8.1 प्रस्तावना

8.2 स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में अनुपलब्धि प्रमाण

8.2.1 अनुपलब्धि प्रमाण एवं प्रत्यक्ष प्रमाण
8.2.2 अनुपलब्धि प्रमाण एवं अनुमान प्रमाण
8.2.3 अनुपलब्धि प्रमाण एवं उपमान प्रमाण

8.3 अनुपलब्धि प्रमाण का स्वरूप एवं लक्षण

8.3.1 अभाव ग्राहक योग्यानुपलब्धि
8.3.2 योग्यानुपलब्धि में योग्यता का स्वरूप
8.3.3 अनुपलब्धि को पृथक प्रमाण स्वीकाने के पक्ष में परिभाषाकार का मत

8.4 अनुपलब्धि एवं अभाव

8.4.1 प्रागभाव का स्वरूप
8.4.2 प्रध्वंसाभाव का स्वरूप
8.4.3 अत्यन्ताभाव का स्वरूप
8.4.4 अन्योन्याभाव का स्वरूप

अष्टम् अध्याय

अद्वैत–वेदान्त दर्शन में अनुपलब्धि प्रमाण का स्वरूप

8.1 प्रस्तावना–

वेदान्त परिभाषाकार श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र ने पष्ठम् प्रमाण के रूप में 'अथानुपलब्धि परिच्छेदः' इस अध्याय के अर्न्तगत अनुपलब्धि प्रमाण के स्वरूप एवं लक्षण की व्याख्या की है। कुमारिल भट्ट और अद्वैत–वेदान्त दर्शन ही अनुपलब्धि प्रमाण को ज्ञान के स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। कुछ भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय अभाव को स्वतन्त्र पदार्थ मानने के उपरान्त भी 'अनुपलब्धि' को प्रमाण नहीं मानते हैं। गीतारानी अग्रवाल के अनुसार 'सांख्य दर्शन, प्रभाकर मिश्र तथा न्याय–वैशैषिक दर्शन में अभाव को पदार्थ माना गया है, किन्तु इन दर्शनों में अभाव के ज्ञान के लिए 'अनुपलब्धि' का प्रमाण नहीं मानते हैं'।[1] कुमारिल भट्ट और अद्वैत–वेदान्त दर्शन के अतिरिक्त अन्य भारतीय दर्शनिकों ने अभाव के ज्ञान को प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत स्वीकार किया है।

इसी प्रकार चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य–योग, न्याय–वैशेषिक आदि दार्शनिकों ने अनुपलब्धि प्रमाण का खण्डन किया और अनुपलब्धि प्रमाण का अन्तर्भाव स्व–सम्प्रदाय स्वीकृत प्रमाण के अन्तर्गत करने की चेष्टा की है। अनुपलब्धि को प्रमाण के रूप में स्वीकार करने का कारण प्रस्तुत करते हुए नीलिमा सिन्हा ने लिखा है कि 'कुमारिल भट्ट एवं अद्वैत वेदान्त मत में भाव और अभाव एक ही सत्ता के दो पक्ष हैं, इनमें से भाव का ज्ञान प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों से तथा अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है'।[2] अद्वैत मतानुयायी आचार्य श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र ने 'वेदान्त–परिभाषा' नामक ग्रन्थ में अनुपलब्धि प्रमाण की वैज्ञानिक विवेचना एवं सर्वाधिक पुष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है, जिसके कारण ही 'अनुपलब्धि' स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में भारतीय प्रमाणमीमांसा में प्रतिष्ठित हुआ।

8.2 स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में अनुपलब्धि प्रमाण–

कुमारिल भट्ट एवं अद्वैत वेदान्त का अनुपलब्धि प्रमाण विषयक मत भारतीय दर्शन परम्परा में विवाद का विषय है। भारतीय दर्शन के समस्त सम्प्रदायों में कुमारिल भट्ट तथा अद्वैत वेदान्तियों के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों में 'अनुपलब्धि प्रमाण' को ज्ञान के स्वतंत्र साधन

---

[1] अग्रवाल, गीतारानी, 2006. भारतीय एवं पाश्चात्य ज्ञान मीमांसा, भारतीय विद्या संस्थान, वाराणसी, पृ॰ 88.

[2] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 301.

के रूप में अस्वीकार किया गया है। अनुपलब्धि प्रमाण को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार अथवा अस्वीकार करने वालों सम्प्रदायों के अपने पृथक–पृथक तर्क हैं। अनुपलब्धि प्रमाण के विरूद्ध सबल आक्षेप प्रभाकर मिश्र, सांख्य एवं नैयायिकों ने किया है, इसके साथ ही अनुपलब्धि प्रमाण का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाण के अन्तर्गत करने की चेष्टा की है। वहीं दूसरी तरफ अनुपलब्धि प्रमाण के समर्थक कुमारिल भट्ट तथा अद्वैत वेदान्तियों ने भी अनुपलब्धि प्रमाण को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्थापित करने के लिए सबल तर्क प्रस्तुत किये हैं। अनुपलब्धि प्रमाण को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्थापित करने के लिए, अनुपलब्धि प्रमाण का अन्तर्भाव अन्य प्रमाणों में करने वाली चेष्टाओं का निराकरण आवश्यक है। उन चेष्टाओं के निराकरण की प्रवृत्तियों की विवेचना निम्नवत् है–

8.2.1 अनुपलब्धि प्रमाण एवं प्रत्यक्ष प्रमाण–

कुमारिल भट्ट एवं अद्वैत वेदान्त के अनुसार अनुपब्धि प्रमाण का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष प्रमाण में नहीं हो सकता। संगमलाल पाण्डेय के अनुसार 'प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए इन्द्रिय का विषय से सन्निकर्ष होना अत्यावश्यक है। इन्द्रियों का सम्पर्क उन विषयों से हो सकता है, जिनका अस्तित्व है, लेकिन अभाव का इन्द्रिय से सन्निकर्ष नहीं होता है'।[3] जो अविद्यमान है उसका सम्पर्क इन्द्रियों से कैसे सम्भव है? इन्द्रिय का सन्निकर्ष घट के साथ सम्भव है परन्तु घटाभाव के साथ नहीं। इसीलिए कुमारिल भट्ट एवं अद्वैत वेदान्ती अभाव विषय के ज्ञान के लिए स्वतन्त्र प्रमाण की आवश्यकता पर बल देते हैं। अभाव ज्ञान के लिए अनुपलब्धि प्रमाण को स्वीकार करते हैं।

8.2.2 अनुपलब्धि प्रमाण एवं अनुमान प्रमाण–

अनुपलब्धि प्रमाण से जिस प्रमेयभूत अभाव का ज्ञान होता है, उस अभाव का ज्ञान अनुमान प्रमाण से भी सम्भव नहीं है। भारतीय प्रमाणमीमांसा में अनुमान का आधार व्याप्ति है और अनुमान की सम्भावना व्याप्ति सम्बन्ध के पूर्व ज्ञान पर निर्भर करती है। अनुपलब्धि का अन्तर्भाव अनुमान में करने में आत्माश्रय दोष निहित है। हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा के अग्रलिखित कथनों से इसकी पुष्टि होती है। घट के अदर्शन से घटाभाव का अनुमान तभी सम्भव हो सकता है, 'जब अदर्शन और अभाव के बीच व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान हो, परन्तु अदर्शन और अभाव के बीच व्याप्ति ज्ञान को स्वीकार करें तो इस व्याप्ति ज्ञान में 'आत्माश्रय दोष' का

[3] पाण्डेय, संगम लाल, 2002. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, प्रयागराज, पृ॰ 267.

प्रसंग उपस्थित होगा'।[4] इस प्रकार अनुपलब्धि के प्रमेयभूत अभाव का ज्ञान अनुमान से सम्भव नहीं है। अतएव यह मानना कि घट के अभाव का ज्ञान अनुमान के द्वारा जाना जा सकता है, यह असंगत है।

8.2.3 अनुपलब्धि प्रमाण एवं उपमान प्रमाण–

घट के अभाव का ज्ञान उपमान प्रमाण के द्वारा हो सकता है, यह स्वीकार करना भी असंगत है। कारण यह कि विषयों के सादृश्य बोध के लिए उपमान प्रमाण की आवश्यकता होती है जबकि अभाव का ज्ञान होने के लिए सादृश्य ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिए अभाव ज्ञान के लिए अनुपलब्धि प्रमाण की स्वीकृति उचित ही है।

इसी प्रकार अनुपलब्धि के प्रमेयभूत अभाव का ज्ञान शब्द और अर्थापत्ति से भी सम्भव नहीं है क्योंकि शब्द ज्ञान में आप्त वाक्य की एवं अर्थापत्ति ज्ञान में विरोध परिहार के लिए अन्य अर्थ की कल्पना आवश्यक है, जबकि अनुपलब्धि प्रमाण के लिए 'आप्त वाक्य या अन्य अर्थ की कल्पना की' कोई आवश्यकता नहीं है। अतः अनुपलब्धि को स्वतन्त्र प्रमाण मानना उचित ही है।

8.3 अनुपलब्धि प्रमाण का स्वरूप एवं लक्षण–

कुमारिल भट्ट और अद्वैत वेदान्ती दोनों अनुपलब्धि प्रमाण को ज्ञान के स्वतन्त्र साधन के रूप में मानते है और किसी विषय के आभाव का साक्षात् ज्ञान अनुपलब्धि के द्वारा होता है। इसका तात्पर्य यह है कि अन्य दार्शनिक सम्प्रदाय अनुपलब्धि प्रमाण को कहीं न कहीं अन्य प्रमाणों में समाविष्ट मान लेते हैं। वहीं कुमारिल भट्ट एवं अद्वैत वेदान्तीयों ने अनुपलब्धि प्रमाण को ज्ञान का एक स्वतन्त्र प्रमाण माना है और विधिवत् इसके स्वरूप का निरूपण करते हैं। गीतारानी अग्रवाल ने निम्नवत् रूप से अनुपलब्धि का विवरण प्रस्तुत किया है–

> 'अनुपलब्धि का शाब्दिक अर्थ है– उपलब्धि का न होना या उपलब्धि का अभाव। उपलब्धि का अर्थ है– ज्ञान। इस प्रकार अनुपलब्धि का अर्थ होता है– ज्ञान का न होना या ज्ञान का अभाव। यही कारण है कि अनुपलब्धि को अभाव प्रमाण भी कहा जाता है। अभाव प्रमाण की व्याख्या भी दो प्रकार से की जा सकती है। पहली अभाव रूप प्रमाण अर्थात् जो अभाव होते हुए किसी प्रमा ज्ञान का साधन हो और दूसरी अभाव का प्रमाण अर्थात् जिस प्रमाण से केवल अभाव पदार्थों का ज्ञान हो। अनुपलब्धि

[4] सिन्हा, हरेन्द्र प्रसाद, 2016. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 285.

में इन दोनों व्याख्याओं का समावेश हो जाता है, क्योंकि वह ज्ञान के अभाव रूप होकर प्रमाण बनती है और उससे केवल अभाव पदार्थों का ही यथार्थ ज्ञान होता है'।[5]

अस्तु कुमारिल भट्ट और अद्वैत वेदान्त मत में ज्ञान (उपलब्धि) का न होना ही 'अनुपलब्धि' है। इन दोनों के मत में अभाव पदार्थों का यथार्थ ज्ञान 'अनुपलब्धि प्रमाण' से ही सम्भव है। इस अध्याय में मुख्य रूप से अद्वैत–वेदान्त सम्मत् अनुपलब्धि प्रमाण का ही निरूपण किया जाएगा। परिभाषाकार ने 'इदानीं षष्ठं प्रमाणं निरूप्यते' इस वाक्य से अनुपलब्धि प्रमाण का निरूपण किया है। अर्थात् परिभाषाकार अनुपलब्धि नामक छठें (अन्तिम) प्रमाण का निरूपण प्रारम्भ किया है। धर्मराजाध्वरीन्द्र अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ वेदान्त परिभाषा में अनुपलब्धि प्रमाण की पुष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है।

परिभाषाकार के मत में 'ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकरणम् अनुपलब्धिरूपं प्रमाणम्'। अनुमान जन्यातीन्द्रियाभावानुभव हेतावनुमानादावति व्याप्तिवारणाय अजन्यान्तं पदम्। अदृष्टादौ साधारणंकारणेऽतिव्याप्तिवारणाय असाधारणेति पदम्। अभाव– स्मृत्यसाधारणहेतु संस्कारेऽतिव्याप्ति वारणाय अनुभवेत विशेषणम्'।[6] अर्थात्– ज्ञानरूप करण से न उत्पन्न होने वाला जो अभाव अनुभव का असाधारण कारण हो, वही अनुपलब्धि प्रमाण है। अनुमान प्रमाण जन्य जो अतीन्द्रिय अभाव का अनुमिति रूप अनुभव है, उसका कारण अनुमानादि प्रमाण होता है। अनुमानादि में अतिव्याप्ति न हो इसलिए परिभाषाकार ने अनुपलब्धि के लक्षण में 'अजन्यान्त' (ज्ञानाकरणाजन्य) पद आवश्यक बताया है एवं अदृष्टादि कारणों में अतिव्याप्ति न हो इसलिए 'असाधारण' (कारण) पद का प्रयोग किया है। अभाव स्मृति के असाधारण कारण संस्कार में अतिव्याप्त न हो, इसलिए परिभाषाकार ने अनुपलब्धि के लक्षण में 'अनुभव' पद का प्रयोग आवश्यक है।

अद्वैत वेदान्त के मतानुसार ज्ञानरूपी करण जिसका जनक न हो, ऐसे अभाव का जो अनुभव है, उस अनुभव का जो असाधारण कारण है, उसे अनुपलब्धि प्रमाण कहते हैं।[7] अनुमिति प्रमा में व्याप्ति ज्ञान, उपमिति प्रमा में सादृश्य ज्ञान तथा शाब्द प्रमा में पद ज्ञान करण होता है और उससे क्रमशः अनुमिति, उपमिति तथा शाब्द प्रमा उपलब्ध होती है। परन्तु अभाव प्रमा, ज्ञानकरणजन्य नहीं है। अभाव का अनुभव प्रत्यक्ष ज्ञान से नहीं होता। इसलिए

[5] अग्रवाल, गीतारानी, 2006. भारतीय एवं पाश्चात्य ज्ञान मीमांसा, भारतीय विद्या संस्थान, वाराणसी, पृ॰ 88.
[6] शास्त्री, केशवलाल वि॰ (हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 139.
[7] R. Balasubramanian & S. Revathy, 2014. Vedanta Sangraha of Ramaraya kavi, Chinmaya Foundation, kerala, pp 50.

अभाव ज्ञानकरणाजन्य होता है। ऐसे अनुभव का असाधारण कारण अनुपलब्धि है। यहाँ उपलब्धि का अर्थ 'ज्ञान' और अनुपलब्धि का अर्थ 'ज्ञान का अभाव' है।[8]

यदि परिभाषाकार अनुपलब्धि के लक्षण में 'अभावानुभव' पद का प्रयोग न करके 'ज्ञानकरणाजन्य अनुभवासाधारण' इतना ही लक्षण करते तो अनुपलब्धि की अतिव्याप्ति प्रत्यक्ष प्रमाण में होती, क्योंकि नव्य नैयायिकों ने 'ज्ञानकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्'[9] ऐसा प्रत्यक्ष का लक्षण किया है। इसलिए परिभाषाकार द्वारा अनुपलब्धि के लक्षण में 'अभाव' पद का प्रयोग करने पर अतिव्याप्ति का निराकरण हो जाता है, क्योंकि अद्वैत मत में प्रत्यक्ष (चक्षुरादि प्रमाण) अभावज्ञान के करण नहीं होते। अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान, अनुपलब्धि से होता है। अर्थात् घट के ज्ञानाभाव के कारण 'घटाभाव' का ज्ञान होता है। 'अत्र भूतले घटः स्यात्, तर्हि उपलभ्येत नोपलभ्यते तस्मान्नास्ति'[10] अर्थात् यदि इस भूतल पर घट होता तो दिखाई देता, जबकि घट नहीं दिखाई देता, अतः इस भूतल पर घट नहीं है। इस प्रकार अभाव का साक्षात् ज्ञान होता। इसी कारण उस पदार्थ के ज्ञान का अभाव, उस पदार्थ के अभाव ज्ञान में कारण होता है। इसलिए इस प्रमाण की 'अनुपलब्धि' संज्ञा अन्वर्थक है।

कतिपय वादी यह आक्षेप करते हैं कि 'अभावानुव असाधारण कारणम्' इतना ही अनुपलब्धि का लक्षण किया जाए। उसमें 'ज्ञानकरणाजन्य' पद किसलिए निविष्ट किया है? ऐसा कौन सा 'अभावानुभव' है कि जो ज्ञानकरणजन्य है, जिसमें अतिव्याप्ति हो जाने के भय से परिभाषाकार को 'अजन्यान्त' पद की आवश्यकता होती है।

परिभाषाकार के अनुसार यदि अनुपलब्धि के लक्षण में 'ज्ञानकरणाजन्य' पद का निवेश न किया जाए तो अतीन्द्रिय अभाव की जो अनुमित्यात्मक प्रमा उसके करण रूप अनुमान में अनुपलब्धि लक्षण की अतिव्याप्ति होगी क्योंकि अद्वैत मतानुसार अभाव की अनुमिति में अनुमान असाधारण कारण है।[11] परिभाषाकार ने इस अतिव्याप्ति का निराकरण करने के लिए 'ज्ञानकरणाजन्य' इस विशेषण शब्द का प्रयोग किया है। अभावानुमिति, अनुभव व्याप्तिज्ञान अनुमान जन्य है अर्थात् उस अनुमिति में व्याप्तिज्ञान करण है। इसलिए वह ज्ञानकरणाजन्य नहीं है। अतः परिभाषाकार के मत में उक्त दोष का प्रसंग नहीं उपस्थित होता। यहाँ पर शंका हो सकती है कि अभाव की अनुमिति कौन सी है?

---

[8] अग्रवाल, गीतारानी, 2006. भारतीय एवं पाश्चात्य ज्ञान मीमांसा, भारतीय विद्या संस्थान, वाराणसी, पृ॰ 88.

[9] भार्गव, दयानन्द, 2012. तर्क–संग्रह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 102.

[10] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 280.

[11] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 280.

इसके प्रत्युत्तर अद्वैत वेदान्त का मत है कि जब किसी व्यक्ति को दुःखी देखकर उसके धर्माभाव का अनुमान करते हैं। जैसे–

1.देवदत्तादि काई व्यक्ति दुःखी है।

2. 'यह धर्माभाववान् है।

3. क्योंकि यह दुःखी है'।

इस प्रकार यहाँ पर व्यक्ति के धर्माभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि धर्मादि पदार्थों के अतीन्द्रिय होने से उनका अभाव भी अतीन्द्रिय ही होता है। अद्वैत मत में यही अतीन्द्रिय विषयक अनुमिति है। परिभाषोार के 'अनुमानादि' के आदि पद से यहाँ आगम तथा अर्थापत्ति प्रमाण का ग्रहण करना चाहिए। जैसे– 'चान्द्रायण से समस्त पापों का क्षय हो जाता है' इस आगम से ही समस्त पापों के क्षय का ज्ञान होता है। यहाँ पापाभाव का अनुभव शब्द प्रमाणजन्य है'। इसी प्रकार 'द्वयणुक सावयव है' अर्थात् 'द्वयणुक परमाणु से भिन्न है' यह ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाणजन्य है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अनुपलब्धि के लक्षण में 'ज्ञानाकरणाजन्य' पद का प्रयोग करने से उपर्युक्त दोनों स्थलों की अतिव्याप्ति का निराकरण हो जाता है। अतः परिभाषाकार द्वारा प्रयुक्त 'ज्ञानाकरणाजन्य' पद का प्रयोग उचित एवं आवश्यक है।

परिभाषाकार ने अनुपलब्धि के लक्षण में 'असाधारण' पद के प्रयोग को 'अदृष्टादि.' वाक्य से प्रस्तुत किया है। क्योंकि अद्वैत मतानुसार प्रागभाव, अदृष्ट, काल आदि पदार्थ समस्त कार्यों में साधारण कारण माने गये हैं।[12] इसलिए अभाव के अनुभव में भी अदृष्टादि कारण है। यदि परिभाषाकार ने 'असाधारण कारण' का प्रयोग न करके केवल 'अभावानुभवकारणम्' इतना ही लक्षण किया होता तो अदृष्टादि साधारण कारणों को भी 'अनुपलब्धि' स्वीकारना पड़ता। इस अतिव्याप्ति का निराकरण करने के लिए परिभाषाकार ने अनुपलब्धि के लक्षण में 'असाधारण' पद का प्रयोग किया है। अद्वैत मत में अभाव के प्रत्यक्ष में अदृष्टादि साधारण कारण होते हैं, केवल अनुपलब्धि ही अभाव में असाधारण कारण है।

यदि परिभाषाकार ने 'अभावानुभवासाधारणकरणम्' इस अनुपलब्धि लक्षण में 'अनुभव' के स्थान पर 'ज्ञान' पद का प्रयोगकर 'अभावज्ञानासाधारणकरणम्' यह लक्षण किया होता तो अभावस्मृति के कारणभूत संस्कार में अतिव्याप्ति होती, क्योंकि अभाव के स्मृत्यात्मक ज्ञान में 'संस्कार' असाधारण कारण होते हैं।[13] 'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' यही स्मृति का लक्षण

[12] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 281.
[13] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 281.

है।[14] पूर्वानुभूत पदार्थ का पूर्वज्ञान संस्कार से ही स्मरण होता है। अतः संस्कार में अनुपलब्धि के लक्षण की अतिव्याप्ति न हो इसलिए परिभाषाकार ने लक्षण में 'ज्ञान' पद का प्रयोग न करके 'अनुभव' शब्द का प्रयोग किया है।

जिस प्रकार घटादि पदार्थों का अभाव अनुपलब्धि प्रमाण से ज्ञात होता है, उसी प्रकार अतीन्द्रिय धर्माधर्मादि का अभाव भी अनुपलब्धि प्रमाण से ही ज्ञात होता है क्योंकि दोनों स्थलों में अनुपलब्धि तो समान ही है। ऐसी अवस्था में परिभाषाकार द्वारा 'ज्ञाकरणाजन्य' पद के प्रयोग क्या प्रयोजन है? पभिाषाकार पूर्वपक्ष के रूप में इस शंका को उठाते हैं और फिर उसका समाधान भी करते हैं।

8.3.1 अभाव ग्राहक योग्यानुपलब्धि–

परिभाषाकार के मत में 'न चातीन्द्रियाभावानुमिति–स्थलेऽप्यनुपलब्ध्यैवाभावो गृह्यतां विशेषाभावादिति वाच्यम्। धर्माधर्माद्यनुपलब्धिसत्वेऽपि तदभावानिश्येन योग्यानुपलब्धेरेवाभाव ग्राहकत्वात्'।[15] अर्थात्– अतीन्द्रिय पदार्थ के अभावानुमिति स्थल में भी अभाव का ग्रहण अनुपलब्धि प्रमाण से ही माना जाए, क्योंकि अतीन्द्रिय भाव पदार्थ की अनुपलब्धि और अभाव की अनुपलब्धि में कोई विशेष अन्तर नहीं है। परिभाषाकार के मत में उपरोक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि धर्माधर्म की अनुपलब्धि होने पर भीउनके अभाव का निश्चय नहीं हो पाता। इसलिए 'योग्यानुपलब्धि' ही अभाव ग्राहक है। अभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोग्यानुपलब्धि को कारण मानते हैं। धर्मादिकों का भी प्रत्यक्षज्ञान न होने से उनके अभाव का ज्ञान, इस अनुपलब्धि प्रमाण से ही माना जाए। सर्वत्र अभाव प्रमा में केवल एक अनुपलब्धि को ही कारण मानना दोषप्रद है। यह कैसे कहा जा सकता है कि ऐसी स्थिति में धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों का अभाव अनुमानादि प्रमाणों से ज्ञात होता है? जैसी घटादिकों की अनुपलब्धि होती है वैसी ही धर्म–अधर्मादिकों की भी अनुपलब्धि है। इस प्रकार से अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा धर्मादिकों के अभाव का ज्ञान होता है। यह स्वीकार करने पर लक्षण में 'ज्ञानकरणाजन्य' विशेषण देने की भी कोई आवश्यकता नहीं है।

अद्वैत मतानुयायी अभाव प्रमा में प्रतियोग्यनुपलब्धि को अनुपलब्धित्वेन रूपेण कारण नहीं मानते अपितु योग्यानुपलब्धित्वेन रूपेण (योग्यानुपलब्धित्वधर्म) अनुपलब्धि को अभावानुभव में कारण स्वीकार करते हैं।[16] अर्थात् जिस प्रतियोगी में प्रत्यक्षयोग्यता होती है, ऐसे ही

---

[14] 'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' (तर्कसंग्रह)

[15] शास्त्री, केशवलाल वि॰ (हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 140.

[16] R. Balasubramanian & S. Revathy, 2014. Vedanta Sangraha of Ramaraya kavi, Chinmaya Foundation, kerala, pp 51.

प्रतियोगी की अनुपलब्धि, प्रतियोगी के अभाव की प्रमापक होती है।[17] धर्माधर्म की चक्षुरादि से अनुपलब्धि होती है, परन्तु इतने ही से उनके अभाव का निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि उस अभाव के प्रतियोगी स्वरूप अतीन्द्रिय धर्माधर्मादि पदार्थों में प्रत्यक्ष योग्यता नहीं होती। इस कारण उनके अभावों का एवं उनका भी ज्ञान केवल अनुमानादि प्रमाणों से ही स्वीकार करना चाहिए। इसीलिए अद्वैत–वेदान्त मत में अभाव की ग्राहक योग्यानुपलब्धि ही है। वादी के मतानुसार ऐसी योग्यानुपलब्धि का होना असम्भव है।

इसी आशय से परिभाषाकार वादी से विकल्पपूर्वक प्रश्न करता है कि 'ननु केयं योग्यानुपलब्धि?। किं योग्यस्य प्रतियोगिनोऽनुपलब्धिरूत योग्याधिकरणे प्रतियोग्यनुपलब्धि?। नाद्यः, स्तम्भे पिशाचादि भेदस्याप्रत्यक्षात्वापत्तेः। नान्त्यः, आत्मनि धर्माधर्माद्य भावस्यापि प्रत्यक्षतापत्तेः'।[18] अर्थात्– अद्वैत वेदान्त में योग्यानुपलब्धि क्या है? योग्यानुपलब्धि का स्वरूप है? 1. योग्य–प्रतियोगी की अनुपलब्धि अर्थात् ज्ञान न होना, इसे योग्यानुपलब्धि कहते हो 2. अथवा योग्य = प्रत्यक्षयोग्य अधिकरण में प्रतियोगी की अनुपलब्धि को योग्यानुपलब्धि कहते हो।

नैयायिकों के अनुसार उपरोक्त में से प्रथम पक्ष सम्भव नहीं, क्योंकि प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर स्तम्भ में पिचाशादि के भेद की अप्रत्यक्षत्वापत्ति होगी (स्तम्भ में 'यह पिशाच नहीं' इस प्रकार का प्रत्यक्ष नहीं होगा)। इसी तरह 'अधिकरण योग्य चाहिए' यह द्वितीय पक्ष भी सम्भव नहीं, क्योंकि द्वितीय पक्ष स्वीकार करने पर आत्मा में धर्माधर्मादि के अभाव का भी प्रत्यक्ष होने लगेगा। इस कारण दोनों पक्ष के सम्भव न होने से योग्यानुपलब्धि का निरूपण नहीं किया जा सकता। श्रीगजानन शास्त्री ने नैयायिकों के इस मत को पूर्वपक्ष के रूप में इस प्रकार व्यक्त किया है–

> 'अद्वैत वेदान्त मत के अनुसार अनुपलब्धि में प्रत्यक्ष योग्यता चाहिए और ऐसी योग्यानुपलब्धि ही अभाव ज्ञान में कारण होती है। तो प्रश्न उठता है कि योग्यानुपलब्धि का स्वरूप क्या है? अनुपलब्धि का अर्थ है– 'ज्ञान का अभाव'। इस अभाव के बल पर पदार्थ में योग्यता क्या होगी? क्या यह परिभाषाकार को सम्मत् है कि जिस पदार्थ का ज्ञान नहीं होता वह पदार्थ अनुपलब्धि का प्रतियोगी और प्रत्यक्ष योग्य होना चाहिए? या यह सम्मत है कि उस प्रतियोगी की जिस अधिकरण में प्रतीति होती है,

[17] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 282.
[18] शास्त्री, केशवलाल वि॰ (हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 141.

वह अधिकरण प्रत्यक्षयोग्य होता है? नैयायिकों के अनुसार उपरोक्त दोनों पक्ष नहीं बन सकते क्योंकि यदि अद्वैती यह कहते हैं कि प्रतियोगी योग्य होना चाहिए, 'योग्यस्य अनुपलब्धिः' ऐसा षष्ठी तत्पुरूष समास यदि किया जाए तो यह अर्थ होगा 'प्रत्यक्ष योग्य प्रतियोगी की अनुपलब्धि'। परन्तु यह उचित नहीं, क्योंकि प्रतियोगी को सर्वत्र प्रत्यक्षयोग्य होना चाहिए। यदि यह स्वीकार करें तो जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता ऐसे (प्रत्यक्षायोग्य) पिशाच का भेद प्रत्यक्षतः ज्ञात नहीं होगा। नैयायिकों के अनुसार किसी स्तम्भ को देखने के पश्चात् प्रथमतः भ्रम से भासित हुए पिशाच की निवृत्ति होकर 'यह स्तम्भ है, पिचाश नहीं' इस प्रकार स्तम्भ में पिचाश के भेद का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, इस ज्ञान की अनुपपत्ति होगी। अर्थात् यह स्वीकार करना होगा कि इसका ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता, यह कहना तो अनुभव के विरुद्ध है। ऐसा नहीं कह जा सकता कि इस कारण योग्यता प्रतियोगी में होती है और उसकी अनुपलब्धि, अभाव प्रत्यक्ष में कारण है। इस दोष के परिहारार्थ अद्वैत वेदान्ती यदि यह कहें कि प्रतियोगी प्रत्यक्ष रहे चाहे न रहे, केवल उस प्रतियोगी का अधिकरण प्रत्यक्ष योग्य होने पर तन्निष्ठ पदार्थ के अभाव का प्रत्यक्ष होता है, ऐसा सप्तमी तत्पुरूष (योग्ये अनुपलब्धिः) मान ले। जैसे– स्तम्भ में 'यह पिशाच है' ऐसा ज्ञान होने पर भी पिशाच प्रत्यक्ष योग्य नहीं होता, यह प्रसिद्ध ही है। किन्तु उस पिशाच का कल्पित अधिकरण जो स्तम्भ है वह प्रत्यक्ष योग्य रहता है, इस कारण उसका यथार्थ ज्ञान हुआ, अर्थात् यह पिशाच नहीं है, पिशाच भिन्न स्तम्भ है इत्याकारक पिशाच भेद का प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है। यह स्तम्भ पिशाच से भिन्न है, पिशाच नहीं है– ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इसलिए अधिकरण में ही प्रत्यक्ष योग्यता का होना उचित है, उसके कारण ही तन्निष्ठ पदार्थ के अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। 'योग्ये अधिकरणे अनुपलब्धिः' योग्य अधिकरण में प्रतियोगी की प्रतीति न होना इस प्रकार 'योग्यानुपलब्धि' शब्द की व्युत्पत्ति मानकर अधिकरण की जो योग्यता है, वही अनुपलब्धि की योग्यता है, यदि कहे तो भी ठीक नहीं है। कारण यह कि 'योगस्य अनुपलब्धि' षष्ठी तत्पुरुष और 'योग्ये अनुपलब्धि' सप्तमी तत्पुरुष मानकर दोष देने का प्रयत्न किया है, क्योंकि प्रथम पक्ष में पिशाच भेद अप्रत्यक्ष होने का प्रसंग आवेगा। दूसरे पक्ष में स्तम्भ आदि में पिशाच के भेद प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति न होने पर भी धर्माधर्मादि परोक्ष पदार्थों के अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इस तुम्हारे सिद्धान्त पर दोष आता है क्योंकि उस अभाव के प्रतियोगीरूप धर्माधर्म प्रत्यक्ष योग्य नहीं है, किन्तु उनका अधिकरण भूत आत्मा

प्रत्यक्षयोग्य है। 'अहम्' इस रूप से आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है कि बहुना वह साक्षात् अपरोक्ष है। इस कारण अधिकरण योग्यता को स्वीकार करने पर तन्निष्ठ धर्माधर्मों के अभाव का भी प्रत्यक्ष होने लगेगा, क्योंकि अभाव–प्रत्यक्ष में आवश्यक अधिकरण योग्यता और धर्मादि की अनुपलब्धि रूप सामग्री वहाँ भी रहती है। परन्तु आप वैसा नहीं मानते। अतीन्द्रिय वस्तुओं के अभाव का ज्ञान अनुमान से ही होता है, अनुपलब्धि से नहीं– यह तुम्हारा मत योग्य है, क्योंकि जहाँ प्रतियोगी का ही प्रत्यक्ष नहीं होता वहाँ प्रतियोगी के अभाव का ज्ञान भी होना सम्भव नहीं, तस्मात् ये दोनो पक्ष सम्भव नहीं है'।[19]

इन आक्षेपों का आशय है कि भेद का प्रत्यक्षज्ञान करने के लिए उसका, प्रत्यक्ष योग्य होना आवश्यक है और अत्यन्ताभाव के प्रत्यक्ष के लिए प्रतियोगी की प्रत्यक्ष योग्यता आवश्यक है। इसलिए स्तम्भ में पिशाच भेद का प्रत्यक्ष करने के लिए उसके अधिकरण रूप स्तम्भ के प्रत्यक्ष योग्य होने से स्तम्भ और पिशाच के अन्योन्याभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। क्योंकि स्तम्भ में स्थित जो त्रैकालिक पिशाच भेद है, वह अन्योन्याभाव है।[20] इस कारण अनुपलब्धि का जो पिशाच है, वह प्रत्यक्ष योग्य हो या न हो तथापि उसका अधिकरण स्तम्भ, प्रत्यक्ष योग्य होने से उस अन्योन्याभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है।

परन्तु अद्वैत–वेदान्त मतानुसार आत्मा में धर्माधर्म का अत्यन्ताभाव रहता है। इसलिए धर्माधर्म का अधिकरण प्रत्यक्ष हो या न हो फिर भी अनुपलब्धि का प्रतियोगी जो धर्माधर्म, उसमें प्रत्यक्ष योग्यता न होने से उसके अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से हो नहीं सकता। इसलिए नैयायिकों का मानना है कि यदि अद्वैत वेदान्तियों के प्रतियोगी की योग्यता का पक्ष स्वीकार किया जाए तो उसका उपयोग, अत्यन्ताभाव के प्रत्यक्ष में होता है। किन्तु अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष स्थल में उसकी अव्याप्ति होती है और यदि अधिकरण योग्यता का पक्ष स्वीकार कर योग्यता का निरूपण करें तो अतीन्द्रिय पदार्थों के अत्यन्ताभाव में भी प्रत्यक्षत्वापत्ति होती है। इस प्रकार योग्यानुपलब्धि की अतिव्याप्ति होगी एवं उसकी योग्यता का निरूपण नहीं किया जा सकता। परिभाषाकार, नैयायिकों के आक्षेप का भी समाधान करते हैं।

---

[19] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 283–285.

[20] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 304.

8.3.2 योग्यानुपलब्धि में योग्यता का स्वरूप–

परिभाषाकार के अनुसार 'योग्य चासावनुपलब्धिश्चेति कर्मधारयाश्रयणात्। अनुपलब्धेर्योग्यता च तर्कित प्रतियोगिसत्त्वप्रसंजित प्रतियोगिकत्वम्। यस्याभावो गृह्यते, तसय यः प्रतियोगी, तस्य सत्त्वेनाधिकरणे तर्कितेन प्रसंजनयोग्यमापादनयोग्यं यत्प्रतियोग्युपलब्धिस्वरूपं यस्या नुपलम्भस्य तदनुपलब्धेर्योग्यत्वमित्यर्थः। तथा हि, स्फीतोलोकवति भूतले यदि घटः स्यात्तदा घटोपलम्भः स्यादित्यापादन सम्भवात्तादृश–भूतले घटाभावोऽनुपलब्धिगम्यः। अन्धकारे तु तादृशापादना सम्भवान्नुपलब्धि गम्यता। अत एव स्तम्भे पिशाचसत्वे स्तम्भत्प्रत्यक्षतापत्त्या तदभावोऽनुपलब्धिगम्यः। आत्मनि धर्मादिसत्त्वेऽप्यास्य अतीन्द्रियतया निरुक्तोपलम्भापादनाऽसम्भवात् न धर्माद्यभावस्य अनुपलब्धिगम्यत्वम्'।[21] अर्थात्– परिभाषाकार के मतानुसार उपरोक्त आक्षेप उचति नहीं है, क्योंकि परिभाषाकार ने 'योग्य जो अनुपलब्धि है– वह योग्यानुपलब्धि है' इसमें कर्मधारय समास का आश्रय लिया है। तर्कित प्रतियोगी के सत्व से प्राप्त हुआ प्रतियोगिकत्व ही अनुपलब्धि की योग्यता है। तात्पर्य यह कि 'यदि यहाँ होता' इस रीति से तर्कित (जो), अभाव के प्रतियोगी का सत्व, उसके योग से अनुपलब्धि का प्रतियोगी प्रसंजित होता है– 'तो वह उपलब्ध हुआ होता' इस रीति से प्राप्त होता है, इसी ज्ञान को योग्यता कहते हैं। जिसका अभाव ग्रहण किया जाता है उसके प्रतियोगी के अधिकरण में कल्पित – (कदाचित् हुआ हो इस आधार में कल्पना किया हुआ) सत्त्व (अस्तित्व, सत्ता) योग से अनुपलब्धि का प्रतियोगी रूप उपलंभ (उपलब्धि) (तो दिखाई देता इस ज्ञान के योग्य होना) ही अनुपलब्धि की योग्यता है। जैसे– स्पष्ट प्रकाश वाले भूतल पर 'यहाँ यदि घट होता तो वह दिखाई देता' कह सकते हैं, अतः ऐसे स्पष्ट प्रकाश से युक्त भूतल पर घटाभाव का जो प्रत्यक्षज्ञान होता है, वह अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। किन्तु अन्धकार में 'घट होता तो दिखाई देता' ऐसे आपादन संभव नहीं है। इसलिए वहाँ पर घटाभाव का ज्ञान, अनुपलब्धि से नहीं होता। इसी कारण पिशाच का प्रत्यक्ष ज्ञान न होने पर भी 'स्तंभ में यदि वह होता तो उसका स्तंभ के समान ही प्रत्यक्ष हुआ होता' परन्तु वह होता नहीं, इसलिए स्तंभ में भी पिशाच का अभाव अनुपलब्धिप्रमाणगम्य है। किन्तु आत्मा में धर्माधर्मादि–यदि होते तो दिखाई देते' ऐसा ज्ञानापादन (उसमें धर्माधर्मादि होने पर भी) नहीं सकता इसलिए उन जैसे पदार्थों का अभाव, अनुपलब्धि प्रमाण वैध नहीं है।

[21] शास्त्री, केशवलाल वि॰ (हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 142.

परिभाषाकार के मतानुसार नैयायिकों का यह आक्षेप है कि 'योग्यानुपलब्धि में षष्ठी या सप्तमी तत्पुरूष समास मानने पर अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोष आते हैं। परन्तु नैयायिकों का यह आक्षेप उचित नहीं है, क्योंकि परिभाषाकार अनुपलब्धि में षष्ठी, या सप्तमी समास नहीं स्वीकार करते बल्कि परिभाषाकार ने अनुपलब्धिर में कर्मधारय–समास (योग्य ऐसी जो अनुपलब्धि) का आश्रय लिया है।[22] इसीलिए परिभाषाकार के मत में उक्त दोष सम्भव नहीं हो सकते क्योंकि उसका उपयोग, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव दोनो अभावों के प्रत्यक्षज्ञान में होता है।

यदि कोई यह प्रश्न करे कि जब अनुपलब्धि का अर्थ ज्ञानाभाव है तो उस अभाव में योग्यता कैसी है? जिस योग्यता के न होने से 'योग्य जो अनुपलब्धि' यह अर्थ भी कैसे सम्भव हो सकेगा? इसके प्रत्युत्तर में परिभाषाकार का मत है कि तर्क से अनुपलब्धि के प्रतियोगी की उपलब्धि को प्राप्त करना ही अनुपलब्धि की योग्यता है। अनुपलब्धि के सर्वत्र समान होने पर भी जिस अनुपलब्धि के प्रतियोगी की (उपलब्धि की) 'यहाँ होता' तर्क के द्वारा कल्पित सत्ता से 'तो दिखाई देता' जिस विषय के सन्दर्भ में यह आपादन किया जा सकता हो, वही योग्यानुपलब्धि है। इस अनुपलब्धि से अभाव का प्रत्यक्ष–ज्ञान होता है।

परिभाषकार के अनुसार वही अनुपलब्धि योग्यानुपलब्धि है, जिस अनुपलब्धि के विषय में यह कहा जा सकता हो कि 'अमुक पदार्थ यहाँ होता तो दिखाई देता परन्तु अमुक पदार्थ यहाँ नहीं दिखाई देता, अतः अमुक पदार्थ यहाँ नहीं है' और यही अद्वैत मत में अभाव नामक छठा प्रमाण है।[23] जैसे– स्पष्ट प्रकाश वाले भूतल पर 'यहाँ घट होता तो दिखाई देता, परन्तु घट यहाँ नहीं दिखाई देता, अतः घट यहाँ नहीं है'। इसलिए यह स्वीकार करना चाहिए कि ऐसे भूतल पर जो घटाभाव का ज्ञान होता है वह अनुपलब्धि प्रमाण से ही होता है। उपरोक्त उदाहरण में घटाभाव अनुपलब्धि प्रमाण से ग्राह्य है और 'घट' उसका प्रतियोगी है। घट प्रतियोगी के विषय में यदि 'घट होता' इत्याकारक तर्क से कल्पना किये हुए अस्तित्व से 'तो दिखाई देता, किन्तु घट दिखाई नहीं देता है, अतः घट नहीं है'। इस प्रकार की घटानुपलब्धि की प्रतियोगिनी को जो घटोपलब्धि है, उसका अपादान किया जा सकता है। अतः योग्य घट की अनुपलब्धि, अनुपलब्धि प्रमाण से ही ज्ञात होती है।

[22] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 287.
[23] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 287.

जैसे– अन्धकार में स्थित घट का भी ज्ञान नहीं होता, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि अन्धकार में स्थित घट का ज्ञान भी अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। कारण यह कि यहाँ 'घट होता' इस तार्किक प्रतियोगी के सत्व से 'तो दिखाई देता' इस प्रकार अनुपलब्धि के प्रतियोगी का (घटोपलब्धि का) आपादान (घट होता तो दिखाई देता) नहीं कर सकते। इसलिए अंधकार में अनुपलब्धि के होने पर भी वह योग्य नहीं होती। इसके आधार पर 'इस भूतल पर घटाभाव है' ऐसा भी निश्चित ज्ञान नहीं होता। कदाचित् 'यहाँ घटाभाव है' इस निश्चित ज्ञान से घटाभाव का ज्ञान होने पर भी उसे प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। अतः ऐसे स्थलों में अनुपलब्धि को कारण नहीं मान सकते। अद्वैत मतानुसार इस प्रकार का ज्ञान अनुमित्यादि रूप हो सकता है और उसमें अनुमानादि को कारण भी कहा जा सकता है।

परिभाषाकार के अनुसार अद्वैत वेदान्त स्वीकृत 'योग्यानुपलब्धि' के स्वरूप में नैयायिक प्रदत्त वैकल्पिक दोष भी सम्भव नहीं हैं। जैसे– 'यह स्तम्भ है, पिशाच नहीं है' इस प्रकार से स्तम्भ में पिचाश के भेद का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और ऐसा नहीं कहा जा सकता कि यदि यहाँ पिचाश होता तो स्तम्भ के समान दिखाई देता। इसलिए योग्यानुपलब्धि में लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती। इसी प्रकार 'आत्मा में धर्मादि के अभाव का भी प्रत्यक्ष होगा और उस कारण लक्षण की अतिव्याप्ति होगी' जबकि कर्मधारय समास का आश्रय लेने पर यह दूसरा आक्षेप भी परिभाषाकार के मत में नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा में धर्माधर्मादि रहते हैं, यह स्वीकार कर लेने पर भी उनके अतीन्द्रिय होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि 'धर्माधर्म होते तो दिखाई देते'। कारण यह कि धर्माधर्मादि में इन्द्रिय प्रत्यक्ष होने की योग्यता नहीं है और योग्यानुपलब्धि के अभाव के कारण उनके अभाव का प्रत्यक्ष भी नहीं होता है, इसीलिए अतिव्याप्ति दोष का प्रसंग भी नहीं उपस्थित होता। जिसके विषय में कह सके कि 'होता तो दिखाई देता' इस अनुपलब्धि को ही अद्वैत मत में योग्यानुपलब्धि कहते हैं और यही अभाव प्रत्यक्ष में कारण होती है। इस प्रकार से पदार्थों के ज्ञानाभाव से 'योग्य पदार्थों के अभाव' का प्रत्यक्ष होता है। इस पर भी नैयायिकों का आक्षेप है कि जिस इन्द्रिय से पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसी इन्द्रिय से उसके अभाव का भी प्रत्यक्ष होता है। अतः अनुपलब्धि को पृथक प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं। परिभाषाकार इस आक्षेप का भी समाधान करते हैं।

8.3.3 अनुपलब्धि को पृथक प्रमाण स्वीकाने के पक्ष में अद्वैत–वेदान्त का मत–

परिभाषाकार के अनुसार 'ननूक्तरीत्याऽधिकरणेन्द्रिय–सन्निकर्ष–स्थले अभावस्यानुपलब्धि गम्यत्व मनुमतं। तत्र क्लृप्तेन्द्रियमूवाभावाकार–वृत्तावपि करणम्,

इन्द्रियान्वय–व्यतिरेकानुविधानादिति चेत्। न, तत्प्रतियोग्यनुपलब्धिरपि अभावग्रहे हेतुत्वेन क्लृप्तत्वेन करणत्वमात्रस्य कल्पनात्। इन्द्रियस्य चाभावेन समं सन्निकर्ष अभावेन अभावग्रह अहेतुत्वात्। इन्द्रियान्वय–व्यतिरेकयोरधिकरण ज्ञानाद्युपक्षीणत्वेनान्यथासिद्धेः'।[24] अर्थात्– 'जहाँ अधिकरण और इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है वहाँ अभाव, अनुपलब्धिगम्य होता है' यह अद्वैत सम्मत् है। 'किन्तु वहाँ निश्चित इन्द्रिय ही अभावाकारवृत्ति के विषय में भी करण होती है, वहाँ इन्द्रिय के अन्वयव्यतिरेक का अनुविधान रहता है। 'इन्द्रिय होगी तो अभाव का प्रत्यक्षज्ञान होगा और वह न हो तो नहीं होगा' इन्द्रिय के इस अन्वयव्यतिरेक का अनुरोध अनुभूत है, ऐसा कहें तो ठीक नहीं क्योंकि अभाव प्रत्यक्ष के प्रतियोगी की उपलब्धि तो कल्पित है, अब केवल करणत्व की ही कल्पना करनी है। 'तो क्यों न इन्द्रिय की कल्पना की जाय?' यहाँ तो इन्द्रिय का अभाव के साथ सन्निकर्ष नहीं होता। इस कारण से अभावज्ञान में इन्द्रिय का हेतुत्व भी नहीं है। 'तब इन्द्रिय के अन्वयव्यतिरेक की क्या गति है?' यदि पूछो तो अधिकरण ज्ञान से अन्वय–व्यतिरेक उपक्षीण होते हैं, इसलिए वे अभाव–प्रत्यक्ष के विषय में अन्यथासिद्ध है। श्रीगजानन शास्त्री ने नैयायिकों के इस आक्षेप को पूर्वपक्ष के रूप में इस प्रकार व्यक्त करते हैं–

> 'नैयायिकों के अनुसार 'जिस इन्द्रिय से पदार्थ का ज्ञान होता है, उसी इन्द्रिय पदार्थ के अभाव का भी ज्ञान होता है, नील–घट में पीतरूप के अभाव का जो ज्ञान होता है वह चक्षुरिन्द्रिय से ही होता है क्योंकि नील–घट में पीतरूप है या नहीं, यह जानने के लिए चक्षु से ही देखना पड़ता है। चक्षुर्भिन्न किसी इन्द्रिय से रूप का या रूप के अभाव का प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता। अतः इन्द्रिय का अधिकरण के साथ सन्निकर्ष होने पर उस इन्द्रिय से ही तन्निष्ठ अभाव का प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि 'यह भूतल घटाभाववत् है' इस प्रकार जब हमें भूतल का ज्ञान होता है, तब हमे भूतल के विशेषण–रूप में घटाभाव भासित होता है। वहाँ पर भूतल के साथ चक्षुरिन्द्रिय का 'संयोगसंबन्ध' होता है और भूतल के विशेषणरूप घटाभाव के साथ चक्षु का 'विशेषण संबन्ध' रहता है अर्थात् चक्षु का घटाभाव के साथ 'संयुक्त–विशेषणता' संबन्ध होता है, तब प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार रूपाभाव प्रत्यक्ष 'संयुक्त समवेत–विशेषणता' सम्बन्ध से, रूपत्वभाव का प्रत्यक्ष 'संयुक्तसमवेतसमवेत–विशेषणता' संबन्ध से, ककारादिशब्दों में खकारादिकों के अभाव का प्रत्यक्ष– 'समवेतसमवेत–विशेषणता' संबन्ध से होता है। उसी प्रकार अनुपलब्धि के होने पर इन्द्रिय का अधिकरण के साथ संन्निकर्ष यदि हो

[24] शास्त्री, केशवलाल वि॰ (हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 144.

तो तनिष्ठ अभाव का प्रत्यक्ष होता है।– यह अन्वय है, और इन्द्रिय का अधिकरण के साथ संन्निकर्ष न हो तो अनुपलब्धि के होने पर भी रूपादि के अभाव का चक्षुरहित घ्राणादिकों से प्रत्यक्ष न होना– यह व्यतिरेक है इस अन्वय व्यतिरेक से भी अभाव–प्रमा में करण इन्द्रिय ही सिद्ध होता है। तस्मात् जहाँ पर 'यदि घट होता तो दीखता' यह ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है– ऐसा आप कहते हैं। वहाँ अधिकरणज्ञान के साथ इन्द्रिय को ही क्लृप्तकरण मानना उचित है। क्योंकि घट होता तो दीखता' यह आपादान भी इन्द्रिय का अधिकरण के साथ सन्निकर्ष हुए बिना हो नहीं सकता, अतः तुम्हें अनुपलब्धवादियों को भी इन्द्रिय संन्निकर्ष का तो अवश्य स्वीकार करना ही पड़ता है। और इस कल्पना में दोष भी है, क्योंकि इन्द्रिय में 'विषयाकारवृत्तिजनकत्व' कल्पित है और 'अनुपलब्धि' कल्प्य है। इस कारण से उसमें अभावप्रत्यक्ष करणत्व भी कल्प्य है। इसलिए जैसे अधिकरणा–कार–वृत्ति, चक्षुरादि से ही उत्पन्न होती है, वैसे ही अभावाकार–वृत्ति को भी इन्द्रिय–जन्य ही मानना युक्त है। अतः अभाव–प्रमा के लिए अनुपलब्धि–प्रमाण का अभ्युपगम करने की कोई आवश्यकता नहीं– ऐसा नैयायिक कहते हैं'।[25]

परिभाषाकार नैयायिकों उपर्युक्त आक्षेप का निराकरण करते हैं। परिभाषाकार के अनुसार नैयायिकों ने 'इन्द्रियों में अभाव–प्रमापकत्व क्लृप्त हैं, अनुपलब्धि में अभाव–ग्राहकत्व कल्प्य है, जो नैयायिकों को मान्य है, वह उचित नहीं है, कारण यह है कि इन्द्रियों के समान प्रतियोगी की अनुपलब्धि में 'अभावप्रत्यक्षहेतुत्व' भी निश्चित ही है, क्योंकि अधिकरण के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष के होने पर भी यदि वहाँ प्रतियोगी का ज्ञान हो तो उसके अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता। यदि अनुपलब्धि हो तो अभाव का प्रत्यक्ष होता है, यह अन्वय है। जबकि इन्द्रिय सन्निकर्ष होते हुए भी यदि अनुपलब्धि न हो तो अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता, यह व्यतिरेक है। 'अन्वय–व्यतिरेक' अनुपलब्धि में प्रमाण होने से इन्द्रियों के समान अनुपलब्धि में भी कारणत्व निश्चित है, कल्पना नहीं।[26]

नैयायिकों के अनुसार इन्द्रियाँ और अनुपलब्धि दोनों के निश्चित होने पर भी उनमें से अनुपलब्धि में ही कारणत्व मानने में विनिगमक (एक पक्ष का ही आश्रय करने में युक्ति) क्या है? इसके विपरीत अभाव प्रमा में इन्द्रिय सन्निकर्ष ही कारण है, यह मानकर इन्द्रियों में ही

[25] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 289–290.

[26] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 290.

कारणत्व क्यों न माना जाए? इस पक्ष में पृथक छठे प्रमाण की कल्पना नहीं करनी पड़ती। इस दोष के विनिगमक होने से इन्द्रियों में ही कारणत्व स्वीकार किया जाए। श्री गजानन शास्त्री ने परिभाषाकार के मत इस प्रकार व्यक्त किया है कि 'परिभाषाकार के अनुसार यह आक्षेप उचित नहीं है क्योंकि इन्द्रियों में अभाव प्रमा का कारणत्व ही असिद्ध होने से करणत्व भी असम्भव है। जिसमें कारणत्व होगा उसी में करणत्व का संम्भव हो सकता है। जबकि अभाव प्रमा में इन्द्रियों की कारणता ही असिद्ध है तो फिर भी नैयायिक अभाव के साथ इन्द्रियों का 'संयुक्त विशेषणता' सन्निकर्ष बताते हैं। किन्तु वास्तव में इन्द्रियों का अधिकरण से ही सम्बन्ध रहता है, अभाव से नहीं। नैयायिकों को मान्य 'इन्द्रिय–सम्बन्ध–विशेषणता' सम्बन्ध नहीं बन सकता, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर परमाणुओं के साथ चक्षु का संयोग सन्निकर्ष होने से उस इन्द्रिय सम्बद्ध पृथ्वी परमाणुओं में जलत्वाभाव का प्रत्यक्ष होना नैयायिकों को मानना होगा। इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि अभाव प्रमा का जनक विशेषणता सम्बन्ध है। अतः अभाव के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष नहीं हो सकता और अभावानुभव की इन्द्रियों में कारणता नहीं मानी जा सकती। तस्मात् परिभाषाकार सम्मत् अभावप्रमा में अनुपलब्धि ही प्रमाण है'।

नैयायिकों के मतानुसार यदि इन्द्रियों से अभाव का अनुभव नहीं होता तो अधिकरण के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होने पर ही भूतलनिष्ठ अभाव का प्रत्यक्ष होता है, अन्यथा नहीं होता, इस अन्वय–व्यतिरेक की क्या व्यवस्था होगी? यह अद्वैत सम्मत् है कि कार्य कारण भाव में निश्चायक अन्वय–व्यतिरेक ही होते हैं। तब इस अन्वय–व्यतिरेक से इन्द्रियाँ अभाव प्रमा में जनक है, यह क्यों नहीं कह जा सकता?

परिभाषाकार के मतानुसार केवल अन्वय–व्यतिरेक से ही कार्य–कारण–भाव का निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि दण्डरूप के होने पर घट होता है और उसके न होने पर नहीं होता, ऐसे अन्वय–व्यतिरेक के सम्भव होने से दण्ड के तुल्य दण्डरूप को भी घट के प्रति कारण स्वीकार करना होगा। इसलिए नैयायिकों को भी कारण का यह स्वरूप स्वीकार करना पड़ता कि 'जो अन्यथासिद्ध होता हुआ अन्वय–व्यतिरेकशाली हो, वही कारण होता है'। जबकि अन्वय–व्यतिरेक के रहते हुए भी जो पदार्थ अन्यथासिद्ध हो अर्थात् कार्य निष्पत्ति में यदि उस पदार्थ का वास्तविक उपयोग न हो तो उस पदार्थ को नैयायिक कार्य के प्रति कारण नहीं स्वीकार करते हैं। इसी कारण घटरूप कार्य के प्रति दण्डरूप कारण में कारणता सिद्ध नहीं होती। परिभाषाकार के अनुसार अधिकरण के साथ इन्द्रियों का अन्वय–व्यतिरेक होने पर भी अधिकरण के ज्ञान में ही इन्द्रियाँ असाधारण कारण होती हैं, इसलिए अभाव प्रमा में वे इन्द्रियाँ

अन्यथा सिद्ध हैं। क्योंकि परिभाषाकार के उपर्युक्त कथनानुसार अभाव के साथ इन्द्रियों का विशेषणतादि कोई सम्बन्ध हो नहीं सकता। इस कारण इन्द्रियाँ अभाव के अधिकरण भूत भूतलादि का ज्ञान कराकर चरितार्थ हो जाती है और उनका अभाव में कोई उपयोग नहीं। इसलिए अद्वैत मतानुसार में अभाव प्रमा में इन्द्रियों का करणत्व न होने से ही वे अभाव ग्राहक प्रमाण के रूप में नहीं है बल्कि प्रतियोगी की अनुपलब्धि को ही अभाव प्रमापक छठा प्रमाण स्वीकार करना उचित है। इस प्रकार परिभाषाकार द्वारा नैयायिकों के मत का निरासन करने पर भी, नैयायिक इस आशय से आक्षेप करते हैं कि 'अद्वैत मत के अनुसार अधिकरण ज्ञान में इन्द्रिय को कारण मानने पर वह अभाव ज्ञान में भी कारण हो सकता है'–

'ननु भूतले घटो नेत्याद्यभावानुभवस्थले भूतलांशे प्रत्यक्षत्वमुभय सिद्धमिति तत्र वृत्ति निर्गमनस्यावश्यकत्वेन भूतलावच्छिन्न चैतन्यवत्तन्निष्ठ घटाभावावच्छिन्न चैतन्यस्यापि प्रमात्र भिन्नतया घटाभावस्य प्रत्यक्षतैव सिद्धान्तेऽपि'।[27] अर्थात्– भूतल पर घट नहीं है' इस अभावानुभव स्थल में भूतल का प्रत्यक्ष तो उभयवादि सिद्ध है। अतः वहाँ पर या भूतल पर वृत्ति का निर्गमन तो अवश्य ही है। अतः भूतलावच्छिन्न चैतन्य के समान भूतलनिष्ठ अभावाच्छिन्न चैतन्य भी प्रमाता से अभिन्न होने के कारण सिद्धान्त में घटाभाव में प्रत्यक्षता है ही।

नैयायिकों के अनुसार 'भूतलो घटो नास्ति'[28] इस अभाव के ज्ञान में अद्वैत और न्याय मत में विवाद रहने पर भी भूतलरूप अधिकरण के अंश में प्रत्यक्ष तो दोनों को सम्मत ही है। इस पर नैयायिकों कहना है कि अद्वैत मतानुसार विषय के प्रत्यक्ष से तात्पर्य यह है कि घटादि विषय का प्रमातृ–चैतन्य के साथ अभेद रहता है। इस प्रकार से भूतल के प्रत्यक्ष में भूतलरूप विषयावच्छिन्न चैतन्य का प्रमातृ–चैतन्य के साथ अभेद होता है। आशय यह है कि भूतलनिष्ठ जो घटाभाव, उससे अवच्छिन्न चैतन्य के साथ भी प्रमाता का अभेद होता है। इसलिए जिस प्रकार अद्वैत मत में 'भूतल' अंश में प्रत्यक्षात्मक ज्ञान स्वीकार करते हैं उसी प्रकार घटाभाव–ज्ञानांश में भी अद्वैत मतावलम्बियों को प्रत्यक्षज्ञान ही स्वीकार करना चाहिए। इस स्पष्ट है कि घटाभाव का ज्ञान भी प्रत्यक्षात्मक है। नैयायिकों का मत है कि यह अद्वैत मत सम्मत् है कि प्रत्यक्षज्ञान का करण तो प्रत्यक्ष ही होता है, तो क्या घटाभावप्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष, कारण सिद्ध नहीं होता है? ऐसी स्थिति में अभावानुभाव का कारण इन्द्रिय को न मानकर यह

---

[27] शास्त्री, केशवलाल वि॰ (हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 145.

[28] 'त्रैकालिक संसर्गाऽवच्छिन्न प्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभावः'। यथा भूतले घटो नाऽस्तीति। (तर्कसंग्रह)

कैसे कहा जा सकता है कि अभावानुभव में अनुपलब्धि ही कारण है? परिभाषाकार नैयायिकों के इस आक्षेप का भी निराकरण करते हैं।

परिभाषाकार के अनुसार 'इति चेत्। सत्यम्। अभावप्रतीतेः प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करण स्यानुपलब्धेर्मानान्तरत्वात्। न हि फलीभूत– ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वे तत्करणस्य प्रत्यक्षप्रमाणता नियतवमस्ति, दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्य वाक्यस्य प्रत्यक्षप्रमाणभिन्न प्रमाणत्वाभ्युपगमात्'।[29] अर्थात्– नैयायिकों का कहना सत्य है कि अभावप्रतीत प्रत्यक्ष होने पर भी उसमें करण अनुपलब्धिसंज्ञक पृथक् प्रमाण ही है (ऐसा परिभाषाकार कहते हैं) क्योंकि फलभूत (साध्यभूत) ज्ञान के प्रत्यक्ष होने से उसका कारण (साधन) प्रत्यक्ष ही हो–यह नियम नहीं। 'तू दशवाँ है' इत्यादि वाक्य से उत्पन्न हुए ('मैं दसवाँ हूँ') ज्ञान में प्रत्यक्षत्व होने पर भी उसका (ज्ञान का) कारण जो वाक्य है, वह प्रत्यक्षप्रमाण से भिन्न (शब्द रूप) प्रमाण है– ऐसा परिभाषाकार को मान्य है।

परिभाषाकार के अनुसार नैयायिकों का यह कथन उचित है कि 'अनुपलब्धिजन्य अभावज्ञान प्रत्यक्षात्मक होना चाहिए' किन्तु अभावज्ञान के प्रत्यक्ष होने पर भी उसका कारण 'प्रत्यक्षप्रमाण' नहीं हो सकता, अपितु अनुपलब्धि ही अभाव की ज्ञापिका है।[30] नैयायिकों ने यह आक्षेप इस नियम को स्वीकार किया है कि 'साध्य–प्रमा–प्रत्यक्षात्मक होने पर उसका साधनभूत प्रमाण भी प्रत्यक्ष होना चाहिए'। परन्तु परिभाषाकार के अनुसार यह नियम नहीं हो सकता कि फलभूत ज्ञानप्रमा यदि प्रत्यक्ष हो तो फलभूत ज्ञान का प्रमाण भी प्रत्यक्ष ही होना चाहिए। परिभाषाकार इसका स्पष्टीकरण 'दशम्शत्त्वमसि न्याय' के आधार पर करते है।

जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने को छोड़कर शेष नौ को गिने और अपना दसवाँ मित्र नष्ट हुआ ऐसी कल्पना कर रोने लगे। ऐसी स्थिति में कहीं से दूसरा आदमी आकर कहे कि 'अरे, तेरा दसवाँ मित्र मरा नहीं किन्तु 'तू ही दसवाँ है' अपने को गिनकर देखो, तब तुम्हें विश्वास होगा। यहाँ पर उस आदमी को 'तू दसवाँ है' इस वाक्य से ही 'मैं दसवाँ हूँ' इस प्रकार दसवें का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रमा के प्रत्यक्ष रहने पर भी उसका प्रमाण प्रत्यक्ष (इन्द्रिय) नहीं किन्तू 'तू दसवाँ है' इस प्रकार उस आदमी का वाक्य (शब्द) ही है, अर्थात् यह प्रत्यक्ष, प्रत्यक्षप्रमाण जन्य नहीं किन्तु शब्दजन्य है। इसीलिए 'प्रमा के प्रत्यक्ष रहने पर भी उसका प्रमाण भी प्रत्यक्ष रहना चाहिए' यह नियम का बाधित हो जाता है। परिभाषाकार का

[29] शास्त्री, केशवलाल वि॰ (हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 145.
[30] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 293.

मत है कि अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष रहने पर भी उसका प्रमाण प्रत्यक्ष (इन्द्रिय) नहीं। अतः अनुपलब्धि ही अभाव प्रत्यक्ष में करण है। इस प्रकार अभाव को प्रत्यक्ष स्वीकार करने पर भी परिभाषाकार का मत में दोषग्रस्त नहीं है। परिभाषाकार वादी के इस आक्षेप का भी (यदि प्रमा प्रत्यक्षात्मक है तो उसके लिए दो प्रमाण क्यों मानते हो) निराकरण करते हैं।

परिभाषाकार के अनुसार 'फलवैजात्यं विना कथं प्रमाणभेद इति चेत्। न। वृत्तिवैजात्यमात्रैण प्रमाणवैजात्योपपत्तैः। तथा च घटाद्यभावाकार वृत्तिर्नेन्द्रियजन्या, इन्द्रियस्य विषयेणाऽसन्निकर्षात्। किन्तु घटानुपलब्धिरूपमानान्तरजन्या इति भवत्यनुपलब्धेर्मानान्तरत्वम्'।[31] अर्थात्– 'फलों में वैजात्य (भिन्नता) के बिना रहे, उनके प्रमाणों में कैसे भेद होगा! यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि वृत्ति में भिन्नता होने से ही प्रमाणों में भेद उपपन्न होता है। इसलिए घटाभावाकारवृत्ति, इन्द्रियजन्य नहीं है, क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रिय का घटाभावादि विषयों के साथ संनिकर्ष नहीं होता, अपितु घट की अनुपलब्धि (ज्ञान का अभाव) प्रमाण से ही वह (अभावाकार वृत्ति) जन्य है। इसलिए अभावाकारवृत्ति का जनक अनुपलब्धिसंज्ञक पृथक प्रमाण है।

नैयायिकों के अनुसार यदि अभावज्ञान प्रत्यक्षात्मक ही है तो एक ही प्रत्यक्षप्रमा के लिए प्रत्यक्ष और अनुपलब्धि दो पृथक प्रमाणों को क्यों स्वीकार किया जाए। प्रत्यक्ष प्रमा की अपेक्षा अनुमिति प्रमा भिन्न होने से उन प्रमाओं के साधक प्रत्यक्ष और अनुमान दो पृथक प्रमाण स्वीकार करने पड़ते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रमाओं में भेद होने पर प्रमाणों में भी भेद होता है। इसलिए घट प्रत्यक्ष और उसके अभाव के प्रत्यक्ष में प्रत्यक्षरूपता समान होने पर उनके ग्राहक प्रमाणों को अलग–अलग स्वीकार करना उचित नहीं। अतः अद्वैत सम्मत् 'प्रत्यक्ष प्रमाकरणं प्रत्यक्षम्' प्रत्यक्ष का लक्षण बाधित होता है। इसलिए अभाव प्रमा में प्रत्यक्ष को ही प्रमाण स्वीकार करना उचित है, परिभाषाकार के मत में यह कमी है। इस आक्षेप के प्रत्युत्तर परिभाषाकार का मत है कि 'यह कोई स्थापित नियम नहीं है कि प्रमाओं में भेद होने पर प्रमाणों में भेद होना चाहिए क्योंकि प्रमाओं का भेद, प्रमाणों के भेद में प्रयोजक नहीं होता, अपितु वृत्तियों में भेद होने पर प्रमाणों में भेद हो सकता है'।[32] जैसे– 'दशमस्त्वमसि' इस शब्द से प्रमा प्रत्यक्षात्मक ही होती है, फिर भी इसका प्रमाण प्रत्यक्ष न होकर शब्दजन्य है, इस तरह से प्रमा में भेद के न होने पर भी प्रमाणों में भेद हो सकता है। इस प्रकार का अनुभव होने से वृत्ति की भिन्नता को ही प्रमाण के भेद में प्रयोजक स्वीकार करना चाहिए।

---

[31] शास्त्री, केशवलाल वि॰ (हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 146.

[32] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 294.

इस विषय में परिभाषाकार का मत है कि प्रत्यक्षता में भेद न होने पर भी अभावाकारवृत्ति का जनक प्रमाण अनुपलब्धि है और इतर विषयाकार वृत्तियों में इन्द्रिय ही प्रमाण है।

अब यदि कोई यह प्रश्न करे कि 'अभावाकार वृत्ति और इतर विषयाकार वृत्ति में भी भिन्नता किस प्रकार है? इसके प्रत्युत्तर में परिभाषाकार का मत है कि इतर विषयाकारवृत्तियाँ इन्द्रियजन्य होती हैं, वैसी अभावाकार वृत्ति नहीं होती, यही उनकी भिन्नता है और इन्द्रियों का अभाव के साथ सन्निकर्ष नहीं होता क्योंकि इन्द्रियाँ अधिकरणों के साथ सम्बद्ध होकर भूतलादि अधिकरणाकार वृत्ति को उत्पन्न करने के पश्चात् कृतकार्य हो जाती हैं।[33] नैयायिक स्वीकृत किया हुआ विशेषणतादि संनिकर्ष नहीं रहता। अतः इन्द्रियों से अभावाकारवृत्ति के उत्पन्न न होने के कारण अभावाकार वृत्ति का जनक अनुपलब्धि–प्रमाण को ही स्वीकार करना चाहिए। जैसे– 'घट होता तो दिखाई देता, जबकि घट नहीं दिखाई देता, अतः यहाँ धट नहीं है' इस प्रकार से घट की अनुपलब्धि से ही घटाभाव का ज्ञान होता है और अनुपलब्धि से ही अभावाकार वृत्ति उत्पन्न होती है। इसलिए फलभूत ज्ञान में भेद न होने पर भी उनकी वृत्तियों में भेद होने से अभावाकार वृत्ति का जनक अनुपलब्धि–प्रमाण पृथक रूप से स्वीकार करना चाहिए। इस पर तार्किक आक्षेप करते हैं–

'नन्वनुपलब्धिरूप–मानान्तर–पक्षेऽप्यभाव–प्रतीतेः प्रत्यक्षत्वे घटवति घटाभाव–भ्रमस्यापि प्रत्यक्षत्वापत्तौ तत्राप्यनिर्वचनीय–घटाभावोऽभ्युपगम्येत। न चेष्टापत्तिः, तस्य मायोपादान कत्वेऽभावानुपपत्तेः, मायोपादानकत्वेऽभावे मायायाः सकल–कार्योपादानत्वानुपपत्तिः।[34] अर्थात्– अनुपलब्धि को पृथक रूप से प्रमाण मानने वाले के पक्ष में भी अभाव प्रतीति का प्रत्यक्ष होने से घटवद्भूतल पर जो घटाभाव (यहाँ घट नहीं है) का भ्रम होता है, उसमें भी प्रत्यक्षत्व प्राप्त होता है। तब अद्वैत सम्मत् ऐसे अभावभ्रम के स्थल में भी अर्निवचनीय घटाभाव वहाँ उत्पन्न होता है, यह मानना पड़ेगा। उसे अद्वैत इष्ट (अभिमत) नहीं कह सकते। क्योंकि वह घटाभाव मायोपादनक है, अर्थात् 'उसका उपादान–कारण माया है' ऐसा माने तो उस अभाव में अभावत्व उत्पन्न नहीं होगा। यदि ऐसा कहें कि वह मायोपादानक नहीं है तो 'माया समस्त कार्य का उपादान (कारण) है, इस अद्वैत सिद्धान्त की अनुपपत्ति होती है।

परिभाषाकार के उपरोक्त मत पर यह आक्षेप हो सकता है कि अनुपलब्धि को अभाव–प्रमा का पृथक प्रमाण स्वीकर लेते हैं, तो फिर भी इस पक्ष में भी अनेक दोषों का

---

[33] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 294.
[34] शास्त्री, केशवलाल वि॰ (हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 147.

प्रसंग उपस्थित होता है। जैसे– जब अद्वैत मत में भी घटाभावज्ञान, प्रत्यक्षात्मक ही है, इस अवस्था में यदि किसी व्यक्ति को भूतल पर घट के रहते हुए भी वह नहीं दिखाई दिया तो 'इस भूतल पर घट नहीं है' इस प्रकार घटाभाव का जो भ्रमात्मक ज्ञान होता है। इस भ्रमात्मक ज्ञान को प्रत्यक्षात्मक स्वीकार करना होगा, क्योंकि यह घटाभावज्ञान, अनुपलब्धिजन्य ही है। प्रत्यक्ष परिच्छेद के अन्तर्गत परिभाषाकार ने यह सिद्ध किया है कि भ्रम का विषयभूत पदार्थ उस समय में अर्निवचनीय उत्पन्न होता है। उसी प्रकार इस भ्रम के विषयभूत घटाभाव को भी अर्निवचनीय उत्पन्न हुआ ही स्वीकार करना होगा। यदि इस पर कदाचित् अद्वैत मतानुयायी यह कहें कि घटाभाव–भ्रम–स्थल में घटाभाव का अर्निवचनीय उत्पन्न होना ही स्वीकार करते हैं। अतः तार्किक का आक्षेप अद्वैत मत के लिए तो इष्टापत्ति है। परन्तु तार्किकों के अनुसार अद्वैत मतानुयायी ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि तार्किक अद्वैत मतानुयायी से प्रश्न करते हैं कि उस अर्निवचनीय घटाभाव का उपादान कारण माया है या नहीं? माया को अद्वैत मतानुयायी घटाभाव में कारण नहीं मान सकते, क्योंकि 'माया तो भावरूप पदार्थ है'।[35] भावरूप पदार्थ होने के कारण माया से 'घटाभाव' इस अभाव रूप कार्य की उत्पत्ति होना संभव नहीं क्योंकि अभाव में भावरूप पदार्थ को कारण मानने पर असत्कार्यवाद की सिद्ध होती है और यदि अद्वैत मतानुयायी इस दोष को दूर करने के लिए माया को घटाभाव में कारण न स्वीकार करें तो 'माया समस्त कार्य के प्रति उपादान कारण है' उनका यह सिद्धान्त का बाधित होता है। ऐसी स्थिति में अद्वैत मतानुयायी इस अनुपपत्ति का परिहार कैसे कर सकते हैं? परिभाषाकार के मत में उपरोक्त आक्षेप का परिहार इस प्रकार है–

परिभाषाकार के अनुसार 'इति चेत्। न। घटवति घटाभावभ्रमो न तत्कालोत्पन्नघटाभाव विषयकः, किन्तु भूतलरूपादौ विद्यमानो लौकिको घटाभावो भूतले आरोप्यत इत्यन्यथाख्यातिरेव। आरोप्यसन्निकर्ष–स्थले सर्वत्रान्यथाख्यातेरेव व्यवस्थापनात्।[36] अर्थात्– वादी ऐसा कहें तो वह उचित नहीं क्योंकि 'घटवद्–भूतल' पर घटाभाव का जो भ्रम होता है उसका उस समय में उत्पन्न हुआ (अर्निवचनीय) घटाभाव विषय नहीं होता किन्तु भूतल के रूप आदि में स्थित लौकिक (व्यावहारिक) घटाभाव, भूतल पर आरोपित किया जाता है, अतः वह अन्यथाख्याति ही है। क्योंकि जहाँ पर आरोग्य पदार्थ के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष होता है वहाँ पर अन्यथाख्याति को मानकर ही हम व्यवस्था करते हैं।

[35] शर्मा, चन्द्रधर, 2013. भारतीय दर्शन (आलोचन एवं अनुशीलन), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 239.
[36] शास्त्री, केशवलाल वि॰ (हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 148.

परिभाषाकार के अनुसार यदि अद्वैत मतानुयायी अनिर्वचनीय घटाभाव का स्वीकार करें तो नैयायिकों द्वारा प्रदत्त दोष अद्वैत मत में संभव है। परन्तु भूतल पर घट के रहते हुए भी 'यह भूतल घटाभाववत् है' इस भ्रम में अर्निवचनीय एवं उस समय पैदा हुए घटाभाव (अर्थात् प्रातिभासिक सत्ता वाले) को अद्वैत मत में विषय नहीं स्वीकार करते हैं। तार्किकों द्वारा पूर्व उद्धृत 'भ्रमस्थल में भ्रम का विषय प्रातिभासिक एवं तत्कालोत्पन्न घटाभाव ही रहता है' इसका तात्पर्य क्या होगा? परिभाषाकार ने प्रत्यक्षपरिच्छेद में ही स्पष्ट किया है कि 'जहाँ जपापुष्प इन्द्रिय सन्निकर्ष होगा वहाँ स्फटिक में भासमान रक्तत्व प्रातिभासिक उत्पन्न नहीं होता, अपितु पुष्पगत लौहित्य ही स्फटिक में भासता है, ऐसे स्थल में अन्यथाख्याति स्वीकार कर ही व्यवस्था लगानी चाहिए, इसी प्रकार प्रकृत में भी भ्रम में भासमान जो घटाभाव, वह प्रातिभासिकसत्ताक उत्पन्न नहीं होता अपितु भूतल के रूप में जो घटाभाव है और जिसकी अनुपलब्धि प्रमाण से 'इस भूतल के रूप में घट नहीं है, इस प्रकार की प्रतीति होती है, उसी घटाभाव का भूतल में आरोप किया जाता है'।[37] अतः यह घटाभाव–भ्रम अन्यथाख्याति ही है, कारण यह है कि यहाँ पर भी भ्रम का विषय जो घटाभाव, वह सन्निकृष्ट ही है, और जहाँ आरोप्य पदार्थ प्रत्यक्षतः ज्ञात होता है वहाँ परिभाषाकार को अन्यथाख्याति का मत स्वीकार है। अतः इसमें कोई दोष नहीं है। इसलिए अद्वैत मत में उक्त दोष नहीं हो सकते, क्योंकि अन्यथाख्याति पक्ष में घटाभाव प्रातिभासिक नहीं होता, अपितु लौकिक (पारमार्थिक, व्यावहारिक) होता है। अद्वैत मतानुसार जहाँ आरोप्यपदार्थ इन्द्रिय से असन्निकर्ष होता है, वहीं पर प्रातिभासिक वस्तु की उत्पत्ति होती है।

इस पर तार्किक यह आक्षेप करते है कि यह अद्वैत स्वीकृत है कि अन्यथाख्याति में 'भ्रमविषयभूत पदार्थ इन्द्रिय–सन्निकर्ष होना चाहिए। परन्तु यहाँ घटाभावरूप आरोग्य पदार्थ, इन्द्रिय के साथ सन्निकृष्ट कहाँ है? क्योंकि यह परिभाषाकार को स्वीकार है कि 'अभाव के साथ इन्द्रिय का संनिकर्ष नहीं होता'। इसलिए अभावाकार वृत्ति की जनक अनुपलब्धि को प्रमाण के रूप में स्वीकार करना पड़ता है। ऐसे स्थल में इन्द्रियसंनिकर्ष के न होने पर भी घटाभाव भ्रम को अद्वैत मत में अन्यथाख्याति कैसे कहते हैं? अतः प्रकृत में परिभाषाकार अन्यथाख्याति के द्वारा व्यवस्था नहीं लगा सकते। परिभाषाकार पूर्वोक्त समाधान के इस अरूचि से ही अब घटाभावभ्रमस्थल में घटाभाव की अर्निवचनीय उत्पत्ति को आधार मानकर ही अद्वैत सम्मत् परम समाधान को व्यक्त करते हैं–

[37] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 296.

परिभाषाकार के अनुसार 'अस्तु वा प्रतियोगिमति तदभाव–भ्रमस्थले तदभावस्यार्निवचनीयत्वम्, तथाऽपि तदुपादानं मायैव। न ह्यु पादानुपादेययोरत्यन्तसाजात्यम्, तन्तुपटयोरपि तन्तुत्व–पटत्वादिना वैजात्यात्। यत्किन्चित्साजात्यस्य मायाया अर्निवचनीयत्वस्य घटाभावस्य च मिथ्याधर्मस्य विद्यमानत्वात्। अन्यथा व्यावहारिक घटाद्यभावं प्रति कथं मायोपादानमिति कुतो नाशङ्केथाः।[38] अर्थात्– अथवा प्रतियोगिमिद् भूतल पर उसके (प्रतियोगी) अभाव का जो भ्रम होता है, वहाँ पर उस अभाव का भले ही अनिर्वचनीयत्व रहे (वह अभाव अर्निवचनीय भले ही हो) तथापि उसका उपादान कारण माया ही है। यह कोई नियम नहीं है कि उपादानकारण और उपादेय (कार्य) का अत्यन्त साजात्य (सादृश्य) रहना चाहिए। क्योंकि तन्तु और पट ये कारण–कार्यरूप पदार्थ भी तन्तुत्व और पटत्व धर्म से विजातीय ही हैं। यत्किंचित् (कुछ अंश में) (कार्य–कारण का) सादृश्य यदि कहो तो मिथ्यात्व धर्म का सादृश्य, माया और अर्निवचनीय घटाभाव में भी है। यह न माने तो माया को व्यावहारिक (लौकिक) घटाभाव का उपादानत्व कैसे माना जाए ? यह शंका नैयायिकों क्यों नहीं की?

परिभाषाकार के अनुसार नैयायिकों का यह स्वीकार करना हो कि 'भ्रमस्थल में घटाभाव इन्द्रियसन्निकृष्ट न होने से अन्यथाख्याति नहीं स्वीकार की जा सकती है' इस पर परिभाषाकार का मत है कि यहाँ प्रतियोगीमत् (घटादिमत्) भूतल पर जो घटाभाव भासता है, उसमें अन्यथाख्याति नहीं स्वीकार करते, किन्तु शुक्तिरजत के तुल्य अर्निवचनीय घटाभाव ही उस समय उत्पन्न होता है और नैयायिकों ने जो विकल्प किया था कि इस घटाभाव का उपादान माया है या नहीं? उनमें से अद्वैत मत को प्रथम पक्ष का ही स्वीकार है अर्थात् 'अर्निवचनीय घटाभाव का उपादान माया ही है'।[39] अन्यथाख्याति के न स्वीकार करने पर भी परिभाषाकार का मत में दोष रहित है।

परिभाषाकार के मतानुसार नैयायिकों यह मानना अनुचित है कि 'माया को उपादान कारण मानने पर 'माया' संज्ञक भावरूप पदार्थ से 'अर्निवचनीय घटाभाव' यह अभावरूप कार्य नहीं हो सकता और यह अनुपपत्ति रूप दोष अद्वैत मत में उपस्थित होता है', क्योंकि 'कारण अपने सजातीय कार्य को ही पैदा करता है, इसलिए कार्य–कारण के सादृश्य की अपेक्षा रखनेवाले नैयायिकों से परिभाषाकार प्रश्न करते हैं कि कार्य–कारण का अत्यन्त साजात्य होना चाहिए, या यत्किंचित् साजात्य होना चाहिए? इनमें से प्रथम पक्ष (अत्यन्त साजात्य) तो संभव नहीं हो सकता। जैसे– तन्तु और पट ये कारण और कार्यरूप पदार्थ, द्रव्यत्व या पृथ्वीत्व

[38] शास्त्री, केशवलाल वि॰ (हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 148.
[39] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 298.

धर्म से तो सजातीय हो सकते हैं। परन्तु तन्तु में तन्तुत्व जाति रहती है, और पट में पटत्व जाति रहती है। अतः कार्य–कारणभाव साजात्य के प्रसिद्ध उदाहरण तन्तुपट में भिन्न धर्म के कारण विजातीयता को प्राप्त होती है, इसलिए तन्तु और पट भी विजातीय होने से उनमें भी कार्यकारणभाव सम्भव नहीं हो सकता। द्वितीय यह है कि यदि कार्यकारण अत्यन्त सजातीय हों तो उनका कार्यकारणभाव ही नष्ट हो जाएगा। इसलिए परिभाषाकार के अनुसार अत्यन्त साजात्य पक्ष सर्वथा अनुपपन्न है।

परिभाषाकार के अनुसार अब यदि द्वितीय पक्ष (यत्किंचित्साजात्य कुछ अंशों में सादृश्य) को यदि नैयायिक स्वीकार करें तो वह भी परिभाषाकार को इष्ट नहीं है। जिस प्रकार तन्तु और पट में शुभ्रत्वादि सादृश्य होता है उस प्रकार भावरूप 'माया' कारण का 'घटाभाव' इस अभावरूप कार्य से किसी प्रकार का सादृश्य नहीं हो सकता, तब प्रकृत में नैयायिक इनमें कार्य–कारणभाव कैसे स्वीकार करते हैं? इसका प्रत्युत्तर यह है कि 'अर्निवचनीय घटाभावरूप कार्य का और मायारूप कारण का 'मिथ्यात्व' यह सजातीय धर्म है, इसलिए 'मिथ्यात्व' धर्म से ही माया और घटाभाव में साजात्य है'।[40] अतः वे भावत्व और अभावत्व धर्म से विजातीय होने पर भी मिथ्यात्व धर्म से तो सजातीय हैं। इसलिए उनमें कार्यकारणभाव बन जाता है। अतः अर्निवचनीय घटाभाव को स्वीकार कर उसका कारण 'माया' ही है। यह स्वीकार करने में कोई दोष नहीं है। परिभाषाकार के उपरोक्त समाधान पर नैयायिकों का आक्षेप और उसका समाधान–

'न च विजातीययोरप्युपादानोपादेयभावे ब्रह्मैव जगदुपादानं स्यादिति वाच्यम्। प्रपंच विभ्रम अधिष्ठानत्वरूपेण तस्येष्टत्वात्। परिमाणित्व–रूपस्योपादानत्वस्य निरवयवे ब्रह्मण्यनुपपत्तेः। तथा च प्रपंचस्य परिणाभ्युपादानं माया न ब्रह्म इति सिद्धान्त इत्यलमतिप्रसंगेन'।[41] अर्थात्– विजातीय पदार्थों में भी यदि कार्यकारणभाव को नैयायिक स्वीकार करते हैं तो ब्रह्म को ही जगत् का उपादान कारण मान लीजिए 'माया' को मानने की क्या आवश्यकता? परन्तु यह आक्षेप उचित नहीं। क्योंकि प्रवंचरूप विभ्रम के अधिष्ठानत्व स्वरूप से ब्रह्म में जगदुपादानत्व परिभाषाकार को इष्ट ही है। प्रपंच का परिणामी उपादान कारण ब्रह्म नहीं हो सकता क्योंकि परिणामित्वरूप उपादानकारणत्व की निरवयव ब्रह्म में

[40] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 299.
[41] शास्त्री, केशवलाल वि॰ (हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 149.

अनुपपत्ति है। यह अद्वैत वेदान्त का मत है कि प्रपंच का परिणामी उपादान कारण माया ही है, ब्रह्म नहीं। अतः इस वाद–विवाद के अतिप्रसंग को अब यहीं समाप्त करना चाहिए।

परिभाषाकार के अनुसार विजातीय पदार्थों में कार्यकारणभाव के न बन सकने से चेतन ब्रह्म, अचेतन जगत् का कारण नहीं होता, परन्तु तार्किक यदि विजातीय पदार्थों में भी यत्किंचित्साजात्य से उपादानोपादेयभाव (कार्य–कारण–भाव) स्वीकार कर सकते हैं तो ब्रह्म को ही समस्त जगत् का उपादान कारण क्यों नहीं मानते? जबकि तार्किकों का मानना है कि माया को जगत का उपादान कारण स्वीकार कर अद्वैत मतानुयायी माया की निरर्थक कल्पना क्यों करते हैं?

परिभाषाकार के अनुसार यह अद्वैत मत को इष्ट है कि 'ब्रह्म प्रपंच का उपादान कारण है', परन्तु ब्रह्म प्रपंच का परिणामी उपादान' नहीं है, बल्कि प्रपंच भ्रमाधिष्ठान रूप 'विवर्तोपादान कारण' है।[42] परिभाषाकार के अनुसार उपादान तीन प्रकार का होता है– आरम्भ, परिणाम, विवर्त। इनमें 'नैयायिकों को आरम्भवाद या असत्कार्यवाद अभीष्ट है जैसे– तन्तु, पट के आरंभोपादान। सांख्य को परिणामवाद या सत्कार्यवाद अभीष्ट है जैसे– दूध से दही का जमना है और अद्वैत वेदान्तियों के मत में रज्जु जैसे सर्प–भ्रम का अधिष्ठान है अर्थात् अधिष्ठान के रूप में रज्जु सर्पभ्रम का उपादान कारण है–यह विवर्तोपादान का कारण है'।[43] अतः सच्चिदानन्द ब्रह्म में उसकी सत्ता से भासमान जगद्रूपी मिथ्या–प्रपंच का बाह्य, अधिष्ठान हैं अर्थात् विवर्तोपादान है।

परिभाषाकार के अनुसार ब्रह्म के विवर्तोपादान होने पर कार्य के लिए आवश्यक 'परिणामि उपादानत्व' ब्रह्म में नहीं संभव हो सकता, क्योंकि परिणाम सावयव वस्तु का ही हुआ करता है। अवयवों के उपचयापचय से ही (वृद्धि और ह्रास) परिणाम होता है। परन्तु ब्रह्म में अवयव नहीं है, इसलिए निरवयव ब्रह्म में अवयव–विकृतिरूपी परिणाम संभव नहीं। अतः प्रपंच के परिणाम्युपादान के रूप में माया को स्वीकार करना पड़ता है, एवं च ब्रह्म, प्रपंच का परिणामी–उपादान नहीं, किन्तु माया ही उसका परिणामी–उपादान है। इसलिए अद्वैत मत में ब्रह्म में परिणाम्युपादान स्वीकार करने का तथा माया की व्यर्थता आदि का कोई दोष प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार परिभाषाकार ने अनुपलब्धि प्रमाण के स्वरूप एवं लक्षण आदि का

[42] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 300.
[43] शर्मा, चन्द्रधर, 2013. भारतीय दर्शन (आलोचन एवं अनुशीलन), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 140–141.

निरूपण किया है। अब इस अनुपलब्धि के द्वारा जिसका प्रत्यक्ष होता है, उस प्रमेयभूत–अभाव का भी निरूपण परिभाषाकार ने किया है।

8.4 अनुपलब्धि एवं अभाव–

उपर्युक्त अद्वैत वेदान्त सम्मत् अनुपलब्धि प्रमाण का निरूपण वेदान्त परिभाषा में प्राप्त होता है। अब प्रश्न उठता है कि अनुपलब्धि प्रमाण से किस प्रमेय का ज्ञान होता है? वह प्रमेय कितने प्रकार का है? इसके प्रत्युत्तर में अद्वैत वेदान्त का मत है कि अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा प्रमेयभूत–अभाव का ज्ञान होता है। किसी स्थान विशेष में, काल विशेष में, विशिष्ट विषय का न होना ही अभावरूपी प्रमेय है। अद्वैत वेदान्त मत में भी नैयायिक सम्मत् चार प्रकार के अभाव हैं। परिभाषाकार के अनुसार 'स चाभावश्चतुर्विधः– प्रागभावः प्रध्वंसाभावोऽन्योन्याभावश्चेति।[44] अर्थात्– अद्वैत वेदान्त मत में 'अभाव' चार प्रकार के होते हैं। यथाक्रम– प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव।[45] इस प्रकार अनुपलब्धि प्रमाण के प्रमेयभूत अभाव के चार भेद होते है। जिनका विवरण इस प्रकार है–

8.4.1 प्रागभाव का स्वरूप–

परिभाषाकार के अनुसार 'तत्र मृत्पिण्डादौ कारणे कार्यस्य घटादेरूत्पत्तेः पूर्व योऽभावः स प्रागभावः, स च भविष्यतीति प्रतीतिविषयः'।[46] अर्थात्– मृत्पिण्डादि कारणों में घटरूप कार्य की उत्पत्ति से पूर्व अभाव ही प्रागभाव है। वह भविष्यति होगा इत्याकारक प्रतीति का विषय होता है। प्राक् (कार्य उत्पन्न होने के पूर्व) उस कार्य का जो अभाव रहता है उसे प्रागभाव कहते हैं।[47] जैसे– घटरूप कार्य उत्पन्न होने के पूर्व जो घट का अभाव है, वह घटाभाव प्रागभाव है। प्रागभाव, कार्य के उपादान कारण में रहता है। जैसे– घटरूप कार्य का अभाव मृत्पिण्डरूप कारण में रहता है। क्योंकि प्रागभाव की प्रतीति 'भविष्यति' है कि 'यहाँ कार्य होगा'। इस प्रतीति की उत्पत्ति के लिए ही प्रागभाव को स्वीकार करना पड़ता है।

इस प्रकार कार्य उत्पन्न होने से अव्यवहित पूर्वक्षण तक कार्य का कारण में जो अभाव प्रतीत होता है, वह प्रागभाव है। अन्नभट्ट ने तर्कसंग्रह में प्रागभाव को अनादि एवं सान्त माना है।[48] अद्वैत मत में भी प्रागभाव अनादि एवं सान्त है।

---

[44] शास्त्री, केशवलाल वि॰ (हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 150.
[45] Datta, D. M., 2017. The Six Ways of Knowing, Motilal Banarsidass Publishers Pvt Ltd, Delhi, pp 147.
[46] शास्त्री, केशवलाल वि॰ (हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 150.
[47] भार्गव, दयानन्द, 2012. तर्क–संग्रह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 22.
[48] 'अनादिः सान्तः प्रागभावः। उत्पत्ते पूर्व कार्यस्य।' (तर्कसंग्रह)

8.4.2 प्रध्वंसाभाव का स्वरूप–

परिभाषाकार के अनुसार 'तत्रैव घटस्य मुद्गर–पातानन्तरं योऽभावः स प्रध्वंसाभावः ध्वस्यापि स्वाधिकरणकपालनाशे नाश एव। न चैवं घटोन्मज्जनापत्तिः घटध्वंसस्यापि घटप्रतियोगिक–ध्वंसत्वात्। अन्यथा प्रागभावध्वंसात्मक घटस्य विनाशे प्रागभावोन्मज्जनापत्तिः'।[49] अर्थात्– प्रागभाव से उत्पन्न घट पर डण्डे से हुए प्रहार के बाद उस घट का जो अभाव होता है, वह प्रध्वंसाभाव है। ध्वंस का भी (प्रध्वंसाभाव का) अपने अधिकरणभूत कपाल के नाश होने पर नाश होता ही है। इस प्रकार ध्वंस का ध्वंस मानने पर घट का ध्वंस नष्ट होने के कारण पुनः घट उत्पन्न होने का प्रसंग प्राप्त होगा। परन्तु यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि घटध्वंस का जो ध्वंस होता है, उसका प्रतियोगी घट ही होता है। अन्यथा यह स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रागभावध्वंस रूप जो घट है, उसका विनाश होने पर पुनः घट का प्रागभाव उत्पन्न होगा।

कार्य के नष्ट होने के बाद उसका जो अभाव होता है, वह प्रध्वंसाभाव है।[50] अद्वैत मतानुसार प्रागभाव के समान ही प्रध्वंसाभाव का भी अधिकरण, कार्य का उपादान कारण ही होता है। जैसे– मिट्टी के घट पर डण्डा मारने पर वह नष्ट जाता है। या उस मृत्तिका को, जो घट का आकार प्राप्त हुआ था वह नष्ट होता है। घट के इस ध्वंस को प्रध्वंसाभाव कहते हैं। उसका आधार घट के उपादान कारण कपाल ही हैं। क्योंकि कपाल की ओर देखकर ही 'यह घट नष्ट हुआ' यह अनुभव होता है। इसलिए इस प्रध्वंसाभाव का अधिकरण भी घट का उपादान कारण मृत्तिका ही है।

नैयायिकों का मत है कि 'घटो ध्वस्तः' ही प्रध्वंसाभाव की प्रतीति है। 'सादिरनन्तःप्रध्वंसः' सादि (उत्पत्तिमान्) होता हुआ जो अनन्त (नाशरहित) अभाव है, वही प्रध्वंसाभाव है।[51] अर्थात् प्रध्वंसाभाव का कभी नाश नहीं होता। परन्तु परिभाषाकार ने 'ध्वंसस्यापि घटप्रतियोगिक–ध्वंसत्वात्' से नैयायिकों के मत का निराकरण किया है। उनके मतानुसार प्रध्वंसाभाव को विनाशरहित नहीं स्वीकार कर सकते क्योंकि यह स्वीकार करने पर 'प्रध्वंसाभाव एवं ब्रह्म' ये दो पदार्थ अविनाशी सिद्ध होंगे, इससे द्वैतापत्ति होगी और अद्वैत मत बाधित होगा। इसीलिए परिभाषाकार का मत है कि 'प्रध्वंसाभाव का जिस मृत्तिकादि अधिकरण में ध्वस्तः' इस प्रकार का बोध होता है, उस मृत्तिकादि उपादान कारण का नाश होने पर उसमें स्थित 'घटध्वंस' का भी स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि ध्वंस के अधिकरण का ही नाश होने

---

[49] शास्त्री, केशवलाल वि॰ (हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 150.
[50] पण्डेय, संगमलाल, 2002. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, हेल्सियन प्रेस, प्रयागराज, पृ॰ 147.
[51] 'सादिरनन्तः प्रध्वंसः। उत्पत्यन्तरं कार्यस्य।' (तर्कसंग्रह)

पर निराधार ध्वंस की स्थिति संभव नहीं एवं कपालों के नाश होने पर वहाँ 'घटो ध्वस्तः' की प्रतीति भी नहीं होती। इस कारण ध्वंस के आधारभूत कपालों का नाश होने पर उस पर स्थित प्रध्वंस का भी ध्वंस स्वीकार करना उचित है। अद्वैत मत में ध्वंसाभाव को सादि तो स्वीकार करते हैं। किन्तु सदैव अनन्त नहीं स्वीकार करते, उनके अनुसार वस्तु का भाव और अभाव मात्र उसके अधिष्ठान के सन्दर्भ में होता है।[52] अद्वैत मत में ब्रह्म के अतिरिक्त सभी वस्तुएं सान्त है।

नैयायिकों का मत है कि ध्वंस का भी ध्वंस मानने पर पुनः घटोत्पत्ति का प्रसंग होगा। क्योंकि घटाभाव का अभाव घटस्वरूप ही होगा। अद्वैत मतानुसार नैयायिकों का यह आक्षेप उचित नहीं, क्योंकि घट ध्वंस का जो ध्वंस होता है उसका प्रतियोगी घटध्वंस नहीं हेता, किन्तु घट ही होता है। अर्थात् जिस प्रकार घटाभावरूप ध्वंस का घट प्रतियोगी होता है उसी प्रकार घटध्वंस के (अभाव) का भी घट प्रतियोगी होता है। इस कारण दूसरा अभाव, प्रथम अभाव के प्रतियोगी स्वरूप होता है। इस सिद्धान्त के होने पर भी अनुभव के आधार पर घटध्वंस के ध्वंस का प्रतियोगी घट को ही स्वीकार करने पर उपर्युक्त आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि कार्य तो प्रागभाव–ध्वंसरूप होता है। नैयायिक स्वीकृत 'घटप्रागभाव–ध्वंस ही घट है'। तब नैयायिक ऐसा क्यों नहीं स्वीकार करते कि घट प्रागभावध्वंसरूप घट पदार्थ का ध्वंस होने पर पुनः घट का प्रागभाव उत्पन्न होता है? अद्वैत वेदान्त मतानुसार ऐसा स्वीकार करने पर घट के नष्ट होने के कारण इन कपोलों का घट होगा' ऐसी प्रागभाव की प्रतीति होनी चाहिए, परन्तु इस प्रकार का अनुभव नहीं होता। परिभाषाकार के अनुसार यह अनुभव के आधार पर माना जाना चाहिए कि मूलध्वंस का जो प्रतियोगी होता है, वही ध्वंस के ध्वंस का भी प्रतियोगी होता है। आशय यह है कि घट पर मुद्गरपात के अनन्तर कपाल रूप ध्वंस होता है और उसका भी कपालनाश के बाद जो ध्वंस होता है, वह घट का ही चूर्णरूप से ध्वंस है। इसलिए घटध्वंस–ध्वंसस्थल में भी यह अनुभव होता है कि 'घटो विनष्टः' घट नष्ट हुआ। इस प्रकार प्रागभाव के ध्वंस रूप घट का जो नाश होता है, उसका भी प्रतियोगी प्रागभाव को ही स्वीकार करना उचित है। नैयायिकों के अनुसार ध्वंस का ध्वंस स्वीकार करने पर भी एक दूसरी आपत्ति होती है। नैयायिकों की इस शंका का समाधान परिभाषाकार इस प्रकार से करते हैं–

परिभाषाकार के अनुसार 'न चैवमपि यत्र ध्वंसाधिकरणं नित्यं तत्र कथं ध्वंसनाश इति वाच्यम् तादृशाधिकरणं यदि चैतन्यव्यतिरिक्तं, तदा तस्य नित्यत्वमसिद्धम्, ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य

[52] सिन्हा, नीलिमा, 2016. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ॰ 313.

सर्वस्य ब्रह्मज्ञान–निवत्यताया वक्ष्यमाणत्वात्। यदि च ध्वंसाधिकरणं चैतन्यं, तदाऽसिद्धिः, आरोपित प्रतियोगिक–ध्वंसस्याधिष्ठाने प्रतियमानस्य अधिष्ठानमात्रत्वात्। तदुक्तम्– 'अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः,। इति। एवं शुक्तिरूप्य–विनाशोऽपीदवच्छिन्नं चैतन्यमेव'।[53] अर्थात् नैयायिकों के अनुसार जहाँ ध्वंस का अधिकरण नित्य होता है वहाँ उस ध्वंस का नाश कैसे होता है? परन्तु वेदान्त मतानुसार यह शंका करना ठीक नहीं है। क्योंकि वैसा अधिकरण चैतन्य के अतिरिक्त (भिन्न) यदि हो तो उसमें नित्यत्व असिद्ध हैं। क्योंकि ब्रह्म से भिन्न समस्त जगत् में ब्रह्मज्ञाननिवर्त्यत्व (ब्रह्मज्ञान से निवृत्त होने की योग्यता) है, ऐसा आगे बतावेंगे। और वह ध्वंसाधिकरण यदि चैतन्य हो तो (उस ध्वंस में नित्यत्व की असिद्धि है। क्योंकि जिसका (ध्वंस का) प्रतियोगी आरोपित (मिथ्या) होता है, ऐसे अधिष्ठान में प्रतियमान ध्वंस, अधिष्ठानस्वरूप रहता है। इसलिए अभियुक्तों का वचन है कि 'कल्पित वस्तु का नाश, अधिष्ठानावशेष (जिसमें केवल अधिष्ठान अवशिष्ट रहता है) रहता है'। इस प्रकार शुक्तिरूप्य का विनाश भी 'इदम्वृत्ति' से अवच्छिन्न चैतन्य ही है।

ध्वंस का अधिकरण जो कपाल के समान अनित्य होता है, उस अधिकरण का ध्वंस होने पर तन्निष्ठ घटध्वंस का भी ध्वंस होता है। इस कारण घटादि पदार्थों का ध्वंस नित्य न होकर विनाशी होता है। इसलिए उस ध्वंस के नित्यत्व के प्राप्त न होने पर भी जिस ध्वंस का अधिकरण नित्य रहता है उसके ध्वंस का नाश नहीं होता। क्योंकि नित्य–अधिकरणस्थित ध्वंस का नाश कैसे हो सकेगा? जैसे– आकाश नित्य है, उस आकाश में घटित जो–आकाशकार्यभूत शब्द का ध्वंस, उसका नाश कैसे संभव होगा? क्योंकि शब्द के अधिकरणभूत आकाश का कभी नाश ही नहीं होता और प्रतियोगी के उपादान कारण का नाश होने पर उस ध्वंस का भी नाश होता है, यह अद्वैत वेदान्त मत सम्मत् है। तो जब आकाश का नाश ही नहीं होता तो उस ध्वंस का भी नाश कैसे होगा? इसलिए अद्वैत वेदान्त मत को ऐसे शब्दादि के ध्वंस में अविनाशित्व ही स्वीकार करना चाहिए। नैयायिकों का मत है कि ऐसी स्थिति में 'ध्वंस और ब्रह्म' दोनों नित्य पदार्थ सिद्ध होगें और द्वैत की उपपत्ति होगी एवं अद्वैत मत बाधित होगा। पुनश्च नैयायिकों के अनुसार अद्वैत वेदान्त मत में समस्त जगत् का लय ब्रह्म में स्वीकार करते हैं, ऐसी अवस्था में जगत के अधिष्ठानभूत ब्रह्मनित्य होने से तन्निष्ठ जगत् का ध्वंस भी नित्य ही होगा, जिससे प्रलयावस्था में ब्रह्म और जगत् का ध्वंस दो पदार्थ अस्तित्त्वान होगें। यह स्वीकार करने पर अद्वैत मत का बाधित होगा। इसके प्रत्युत्तर में परिभाषाकार का मत है कि 'जिस ध्वंस का अधिकरण नित्य होता है, तन्निष्ठ

[53] शास्त्री, केशवलाल वि॰ (हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 151.

ध्वंस का नाश कैसे होगा'? यह नैयायिक जिस अधिकरण को उद्देश्य कर आक्षेप करते हैं, 'उस ध्वंस का नित्य अधिष्ठान, चैतन्य से भिन्न विवक्षित है। या चैतन्य रूप ब्रह्म ही जगत् के ध्वंस का आधार होने से 'जगत् के ध्वंस में नित्यत्व प्राप्त होगा' यह विवक्षित है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार इसमें प्रथम पक्ष तो नहीं हो सकता क्योंकि अद्वैत वेदान्त मतानुसार 'ब्रह्म ही एकमात्र अविनाशी तत्व है' या 'चैतन्यस्वरूप ब्रह्म को छोड़ संसार के किसी भी पदार्थ में अविनाशित्व नहीं है'।[54] कारण यह कि ब्रह्म में कल्पित जगत् की ब्रह्मज्ञान से निवृत्ति हो जाती है। इस कारण आकाशनिष्ठ शब्दध्वंस में या 'अन्तरिक्ष में घट का ध्वंश हुआ' इस प्रकार से आकाश में प्रतीयमान घटध्वंस में नित्यत्व प्राप्त होने की आपत्ति अद्वैत मत में नहीं हो सकती।

परिभाषाकार के द्वितीय पक्ष (चैतन्य ही ध्वंस का अधिकरण है) को स्वीकार करें तो 'जगत् के ध्वंस में नित्यत्वापत्ति होगी' यह द्वितीय पक्ष भी अनुचित है क्योंकि जिस ध्वंस का प्रतियोगी मिथ्या होता है, ऐसा ध्वंस जो कि अधिष्ठान रूप से भासित होता है, वह अधिष्ठान रूप ही होता है।[55] जैसे– शुक्ति में 'यह रजत है' इस प्रकार से मिथ्या रजत का ज्ञान होता है। परन्तु यह ज्ञान, इस पदार्थ का प्रत्यक्ष करने पर बाधित हो जाता है और 'यह रजत नहीं है' इस प्रकार उसके विपरीत ज्ञान होता है। अर्थात् यह अनुभव होता है कि इस ज्ञान में पूर्वभासित रजत नष्ट हुआ। यहाँ रजतध्वंस का प्रतियोगी जो रजत है, 'उस रजत का अधिष्ठान 'इदम्' इस आकार से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य ही है। इसी प्रकार जगत् मिथ्या है और ब्रह्म उस जगदाकार भ्रम का अधिष्ठान है'। ब्रह्म में जगत् का जो ध्वंस होता है, वह अधिष्ठानरूप होता है, उससे पृथक नहीं। कारण यह कि चैतन्यात्मक ब्रह्म में चैतन्यात्मकता का अभाव भासित होना ही प्रपंचाभान है। प्रपंच ध्वंस के समय उस चैतन्यात्मकता के अभाव का अभाव होता है। इसी कारण चैतन्यात्मकता भासित होती है। अतएव सुरेश्वराचार्य ने कहा है कि 'कल्पितवस्तु का नाश अधिष्ठानरूप होता है'। इसीलिए चैतन्य में होने वाले ध्वंस में भी नित्यत्व प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार रज्जु पर भासमान सर्प के ध्वंस को भी रज्जु से अवच्छिन्न चैतन्य ही स्वीकार करना चाहिए। इसलिए अद्वैत वेदान्त मत में द्वैतापत्ति सम्भव नहीं हो सकते।

[54] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 305.
[55] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 305.

8.4.3 अत्यन्ताभाव का स्वरूप–

परिभाषाकार के मतानुसार 'यत्राधिकरणे यस्य कालत्रयेऽप्यभावः, सोऽत्यन्ताभावः। यथा वायौ रूपात्यान्ताभावः। सोऽपि घटादिवद् ध्वंसप्रतियोग्येव'।[56] अर्थात्– जिस अधिकरण में जिसका तीनों काल में भी अभाव रहता है, उसे अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं। जैसे– वायु में रूप का अत्यन्ताभाव है, वह भी घटादि के समान ध्वंस का प्रतियोगी ही होता है। जहाँ पर जिस वस्तु की तीनों काल में प्रतीति न होती हो, वहाँ उस वस्तु का अत्यन्ताभाव समझना चाहिए। यहाँ के 'सोऽत्यन्ताभावः' से पूर्व 'तत्र' पद का अध्याहार करना चाहिए और 'सः' पद का 'तदीय' उसका अर्थ समझना चाहिए। तीनो काल में वर्तमान जो अभाव है, उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं।

नैयायिक त्रैकालिक अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं। जैसे– 'इह भूतले घटो नास्ति' इस भूतल पर घट नहीं है।[57] अद्वैत वेदान्त मतानुसार नैयायिकों का यह उदाहरण सर्वसम्मत न होने से, अत्यन्ताभाव का निर्विवाद उदाहरण परिभाषाकार ने बताया है। जैसे– 'वायु में रूप का अभाव' वायु में रूप किसी काल में भी नहीं हो सकता, इसलिए वायु में जो रूप का अभाव है, वह अत्यन्ताभाव है। 'यहाँ अमुक नहीं है' इत्याकार में ही अत्यान्ताभाव की प्रतीति होती है। नैयायिक अत्यन्ताभाव को नित्य मानते हैं, जबकि अत्यन्ताभाव के विषय में परिभाषाकार का मत है– जिस प्रकार घटादि पदार्थ ध्वंस के प्रतियोगी होते हैं (उनका ध्वंस होता है), उसी प्रकार अत्यन्ताभाव भी ध्वंस प्रतियोगी ही है। अद्वैत वेदान्त मतानुसार अत्यन्ताभाव का भी प्रलयकाल में ध्वंस होता ही है। इस कारण ध्वंसाप्रतियोगित्वरूप नित्यत्व अत्यन्ताभाव में नहीं होता है। कुछ पुस्तकों में 'घटादिवत्' के स्थान में 'वियदादिवत्' पद है, यह उचित है। अद्वैत वेदान्त मतानुसार जिस प्रकार 'वियदादिक' (आकाशदिक) समस्त पदार्थ प्रपंचभावी है, किन्तु प्रलयकाल में नष्ट होते हैं, उसी प्रकार यह अत्यन्ताभाव भी जब तक जगत् है तब तक ही रहता है, और प्रलयावस्था में समस्त पदार्थों का ध्वंस होने पर उन पर अवलंम्बित होकर रहने वाले अत्यन्ताभाव का नाश हो जाता है। प्रलयकाल में ब्रह्मातिरिक्त किसी की भी सत्ता ही नहीं होती है। इस प्रकार द्वैतापत्ति भी नहीं होती और अद्वैत मत बाधित भी नहीं होता। न्याय मतानुसार अत्यन्ताभाव अनादि एवं अनन्त है, जबकि अद्वैत मतानुसार

---

[56] शास्त्री, केशवलाल वि॰ (हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 151.

[57] 'त्रैकालिक संसर्गाऽवच्छिन्न प्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभावः। यथा भूतले घटो नाऽस्तीति।' (तर्कसंग्रह)

अभाव सदैव अधिष्ठान के सन्दर्भ में ज्ञेय होता है जब अधिष्ठान शाश्वत नहीं है तब अभाव कैसे शाश्वत होगा? ब्रह्म के अतिरिक्त सभी वस्तुएं सान्त हैं।[58]

8.4.4 अन्योन्याभाव का स्वरूप–

परिभाषाकार के मतानुसार 'इदमिदं नेति प्रतीतिविषयोऽन्योऽन्याभावः। अयमेव विभागो भेदः पृथक्त्वं चेति व्यवह्रियते। भेदातिरिक्तविभागादौ प्रमाणाभावात्। अयं चान्योऽन्याभावो ऽधिकरणस्य सादित्वे सादिः, यथा घटे पटभेदः। अधिकरणस्यानादित्वेऽनादिरेव, यथा जीवे ब्रह्मभेदः ब्रह्मणि वा जीवभेदः। द्विविधोऽपि भेदो ध्वंसप्रतियोग्येव, अविद्याया निवृत्तौ तत्परतन्त्राणां निवृत्त्यवश्यम्भावात्'।[59] अर्थात्– 'यह, यह नहीं' ऐसी प्रतीति का विषय जो अभाव, वह अन्येन्याभाव है। विभाग, भेद, पृथक्त्व आदि शब्दों से अन्योन्याभाव के लिए व्यवहार में प्रयुक्त होते हैं क्योंकि विभागादिकों को भेद से (अन्योन्याभाव से) पृथक् मानने में कोई प्रमाण नहीं है। इस अन्योन्याभाव का अधिकरण यदि सादि (उत्पत्तिमत्) हो तो वह सादि (उत्पत्तिमान्) होता है। जैसे– घट में पट का भेद। परन्तु अधिकरण यदि अनादि हो तो वह भी अनादि ही होता है। जैसे– जीव में ब्रह्म का भेद या ब्रह्म में जीव का भेद। यह दोनो प्रकार का भेद ध्वंस का प्रतियोगी (विनाशी) होता है। क्योंकि मूल अविद्या की निवृत्ति होने पर उसके अधीन रहने वाले भेदों की निवृत्ति होना अवश्यम्भावी है।

नैयायिकों के अनुसार अन्योन्याभाव दो वस्तुओं के बीच तदात्म्य का अभाव है।[60] परिभाषाकार के अनुसार 'यह घट पट नहीं है' इस रीति से घट में वर्तमान जो पटरूपता का अभाव है, वह अन्योन्याभाव है। परिभाषाकार ने इसको ध्यान में रखकर ही 'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक' जो अभाव है, उसे अन्योन्याभाव कहा है और यह अन्योन्याभाव का लक्षण किया गया है'।[61] अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता, घटादि अनेक प्रतियोगियों के संयोग, समवाय आदि अनेक सम्बन्धों से अविच्छन्न होती है जबकि अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता केवल तादात्म्य–सम्बन्ध से ही अवच्छिन्न रहती है। जैसे– 'यह घट, पट नहीं है' ऐसे स्थल में यह ज्ञान होता है कि यह घट स्वरूपतः पट नहीं है, अर्थात् पट–भेद का प्रतियोगी जो पट है, जिस प्रकार उसका पट से तादात्म्य (तद्रूप) है, उस प्रकार घट से

---

[58] Datta, D. M., 2017. The Six Ways of Knowing, Motilal Banarsidass Publishers Pvt Ltd, Delhi, pp 151.

[59] शास्त्री, केशवलाल वि॰ (हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 151.

[60] 'तदात्म्यसम्बन्धोऽवच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽन्योन्याभावः। यथा घटः पटो नेति।' (तर्कसंग्रह)

[61] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 307.

नहीं है। इस कारण आद्वैत मत में तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगितावाला अन्योन्याभाव स्वीकार किया गया है।

परिभाषाकार के अनुसार भेद, विभाग एवं पृथक्त्व ये सब अन्योन्याभाव के पर्याय शब्द हैं। जबकि नैयायिकों का मत है कि विभाग और पृथक्त्व गुण है, और वे अन्योन्याभाव से भिन्न हैं। अद्वैत वेदान्त मतानुसार यह उचित नहीं है क्योंकि यह स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है। यहाँ परिभाषाकार का मत है कि– 'घट, पट से विभक्त है' और 'घट, पट से पृथक् है'। जबकि नैयायिकों के अनुसार ये दोनों अनुभूतियाँ क्रमशः विभाग और पृथक्त्व की हैं। परिभाषाकार का मन्तव्य है कि वास्तव में इन दोनों ज्ञानों में कोई विलक्षणता नहीं है बल्कि उपर्युक्त दोनों वाक्य एक ही अनुभूति का बोधक हैं। जिस प्रकार हस्त और कर, एक ही विषय की अनुभूति कराने वाले शब्दों में भेद होने पर भी उनका अर्थ एक ही रहता है, उसी प्रकार विभाग और पृथक्त्व इन दोनों शब्दों के अर्थ में भी परस्पर एकता स्वीकार करनी चाहिए। इसलिए परिभाषाकार के मत में विभाग और पृथक्त्व को परस्पर भिन्न एवं गुण नहीं कह सकते, क्योंकि पृथक्त्व को अन्योन्याभाव से भिन्न स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है। 'घट, पट से पृथक है' पृथक्त्व की इस अनुभूति में और 'यह घट, पट नहीं है' अन्योन्याभाव की इस अनुभूति में केवल शब्दो की ही विलक्षणता है, जबकि उनके अर्थों में एकता है। श्रीगजानन शास्त्री नैयायिकों के मत को इस प्रकार व्यक्त किया है–

नैयायिकों के अनुसार ऐसा मानने पर 'इदमस्मात् पृथक' प्रयोग के समान 'इदंमिदं न' प्रतीति के स्थान में 'इदमस्मात् न' प्रयोग भी होने लगेगा। इसके प्रत्युत्तर में परिभाषाकार का मत है कि 'नैयायिकों का यह आक्षेप उचित नहीं है, क्योंकि पाणिनी सूत्र के द्वारा 'अन्य' पद से अन्यार्थक 'पृथक्' इत्यादि पदों का भी ग्रहण किया होने से 'पृथक' शब्द के योग में जैसे पंचमी का विधान नहीं किया गया।[62] इस कासरण 'न' निपात के योग में 'अस्मात् न' ऐसा पंचमी का प्रसंग नहीं आता। अन्य पृथक, विभक्त, भिन्न आदि शब्दों में ही भेद है। वस्तुतः ये शब्द अन्योन्याभाव के ही बोधक हैं'।

परिभाषाकार के अनुसार 'अन्योन्याभाव' के कुछ उदाहरण सादि होते हैं और कुछ उदाहरण अनादि होते हैं। जिस अन्योन्याभाव का अधिकरण उत्पत्तिशील होता है, वह अन्योन्याभाव उस अधिकरण की उत्पत्ति के साथ ही उत्पन्न के साथ ही उत्पन्न होता है। जैसे– पटान्योन्याभाव का अधिकरण घट, सादि है। इसलिए 'घट' उत्पन्न होते ही 'पटभेद'

[62] 'अन्यारादितरर्तेदिक्छब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते'। (पाणिनीसूत्र– 2/3/39)

भी उत्पन्न होता है। अतः यह भेद सादि है। जिस अन्योन्याभाव का अधिकरण अनादि होता है, वह अन्योन्याभाव भी अनादि होता है। जैसे– जीव, ब्रह्म इत्यादि पदार्थ अनादि होते हैं। क्योंकि अद्वैत मत में जीव, ईश्वर, शुद्ध चैतन्य, जीव–ईश्वर भेद, अविद्या या माया और उसका चैतन्य के साथ सम्बन्ध, ये छः पदार्थ अनादि माने गये हैं।[63]

इसलिए जीव में 'जीव, ब्रह्म नहीं है' इस प्रकार से प्रतीयमान ब्रह्म भेद या ब्रह्म में भासमान 'ब्रह्म, जीवो न'– 'ब्रह्म, जीव नहीं है', यह जीव भेद, अनादि अन्योन्याभाव हैं। फिर भी सादि और अनादि दोनों प्रकार के अन्योन्याभाव नित्य नहीं है, अपितु आकाशादि के समान विनाशी हैं। क्योंकि अद्वैत वेदान्त मतानुसार समस्त जगत् की मूलकारण अविद्या की विद्या से निवृत्ति होने पर उसके कार्यभूत समस्त भेदों की निवृत्ति हो जाती है। इस कारण 'नेह नानास्ति किंचन' और 'अहं ब्रह्मास्मि' को जानने वाले विद्वान की दृष्टि से घट–पट–भेद या 'जीवेश्वर भेद' यह द्विविध भेद भी नहीं है। इसलिए जीव और ईश्वर भेद के अनादि होने पर भी आविद्यक होने से उसका नाश हो ही जाता है। इसलिए परिभाषाकार का मत है कि पहले जो जीव और ईश्वर भेद बताया गया था वह संसारदशा में ही स्वीकार करना चाहिए। परिभाषाकार ने अन्योन्याभाव के दो भेदो का भी वर्णन किया है।

परिभाषाकार के अनुसार 'पुनरपि भेदो द्विविधः– सोपाधिको निरूपाधिकश्चेति। तत्रोपाधि सत्ताव्याप्य सत्ताकत्वं सोपधिकत्वं, तच्छून्यत्वं निरुपाधिकत्वम्। तत्राद्यो यथा– एक स्यैवाकाशस्य घटाद्युपाधिभेदेन भेदः। यदा वा एकस्यैव सूर्यस्य जलभाजनभेदेन भेदः। तथा च एकस्यैव ब्रह्मणोऽन्तःकरण भेदाद्भेदः। निरूपाधिकभेदो यथा घटे पटभेदः'।[64] अर्थात्– सोपाधिक और निरुपाधिक भेद से अन्योन्याभाव दो प्रकार का है। इन दोनों में से जिसकी सत्ता, उपाधि की सत्ता से व्याप्य होती है, वह सोपाधिक भेद है और वैसी सत्ता से रहित जो भेद है, वह निरुपाधिक भेद है। उनमें से प्रथम भेद का उदाहरण इस प्रकार है– एक ही आकाश का घटादि उपाधियों के भेद से जो (वस्तुतः घटाकाश, मठाकाश नहीं है) भेद होता है या एक ही सूर्य का पात्रों के भेद से जो भेद होता है, वह सोपाधिक भेद है। इसी प्रकार एक ही ब्रह्म का अन्तःकरण भेद से जो भेद होता है, वह भी सोपाधिक भेद ही होता है। निरुपाधिक भेद का उदाहरण इस प्रकार है। घट में पट का भेद निरुपाधिक होता है।

---

[63]'जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः।। .

[64] शास्त्री, केशवलाल वि॰ (हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 152.

परिभाषाकार के अनुसार जिस प्रकार सादि एवं अनादि के भेद से अन्योन्याभाव दो प्रकार का होता है, उसी प्रकार सोपाधिक एवं निरुपाधिक भेद से अन्येन्याभाव के दो प्रकार और भी हैं। परिभाषतः जिसकी सत्ता उपाधि की सत्ता से व्याप्य हो वह सोपाधिक भेद है या जब तक उपाधि की सत्ता है और तब तक जिसकी सत्ता हो ऐसे अन्योन्याभाव को सोपाधिक कहते हैं।[65] जैसे– 'आकाश एक ही है, जिसमें वस्तुतः भेद नहीं है' फिर भी उस आकाश का घटादि के कारण भेद हो जाता है। जब तक घटमठादि उपाधियाँ है तब तक 'जो घटाकाश है, वह मठाकाश नहीं है और जो मठाकाश है, वह करकाकाश नहीं है'। इस प्रकार से आकाश के भेद की अनुभूति होती है। परन्तु वास्तविकता यह है कि यदि उपाधियों का विवेकपूर्वक विचार किया जाए तो आकाश सर्वत्र एक ही है। घटाकाशादि व्यवहार केवल घटादि उपाधियों के भेद से होते हैं और घटादि उपाधियों के अधीन रहते हैं या एक सूर्य के होते हुए भिन्न–भिन्न जलपात्रों में उसका प्रतिबिम्ब गिरने पर आकाशस्थ सूर्य, तडागस्थ सूर्य आदि भेद होते हैं। वे भी सब सोपाधिक ही हैं। ये भेद उपाधि भेद के कारण ही होते हैं। जब तक उपाधि की सत्ता होगी तभी तक इनकी सत्ता रहेगी। किन्तु वास्तव में एक आकाशस्थ सूर्य ही सत्य है। इस प्रकार जहाँ पर आकाशादिकों के भेद की सत्ता है, वहाँ घटादि उपाधियों की सत्ता है। घटादि उपाधियों के न रहने पर आकाश, सूर्य आदि का भेद दृष्टि से व्यवहार नहीं होता है। इस कारण भेद और उपाधियों की सत्ता में व्याप्य–व्यापक–भाव रहता है। तात्पर्य यह कि भेद–सत्ता व्याप्य और उपाधि–सत्ता उसकी व्यापक होती है। सोपाधि भेद का वेदान्त सम्मत् उदाहरण इस प्रकार है– वास्तव में ब्रह्म, अखण्डैकरस एक होते हुए भी भिन्न–भिन्न अन्तःकरणरूप उपाधियों के कारण ब्रह्म में नाना जीव रूप से भेद व्यवहार होता है। घटाकाश के समान अन्तःकरण से अवच्छिन्न हुए अथवा पात्रस्थ सूर्य के समान भिन्न–भिन्न अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बित हुए चैतन्य को ही देवदत्त, यज्ञदत्त आदि संज्ञाएं प्राप्त होती हैं। किन्तु ये प्रयोग उपाधि सत्ता के अधीन होते हैं। ज्ञान के द्वारा इस अविद्या के निवृत्ति होते ही (उपाधि का त्याग करते ही) शुद्ध चैतन्यरूप ब्रह्म 'एकमेवाद्वितीयं' ही शेष रहता है। जिस भेद में उपाधि सत्ता की अपेक्षा नहीं होती, उसे निरुपाधिक भेद कहते हें। जैसे– घट, पट से स्वाभाविक ही भिन्न है। उनका भेद उपाधि के अधीन नहीं है। इस कारण घट में विद्यमान पट का भेद या पट में विद्यमान घट का भेद निरुपाधिक (उपाधिरहित) भेद है। इनकी अनुभूति 'घटः पटो न' के रूप में होती है। परिभाषाकार उपरोक्त मत पर वादी कतिपय आक्षेप उठाते हैं, उन आक्षेपों का निराकरण इस प्रकार से है।

[65] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 309.

परिभाषाकार के अनुसार 'न च ब्रह्मण्यपि प्रपंचभेदाभ्युपगमेऽद्वैतविरोधः। तात्त्विकभेदा देरनभ्युपगमेन वियदादिवदद्वैताव्याघात कत्वात्। प्रपंचस्याद्वैते ब्रह्मणि कल्पितत्वाङ्गीकारात्। तदुक्तं सुरेश्वराचार्यैः— अक्षमा भवतः केयं साधकत्व—प्रकल्पने।

किन्न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञान—कल्पित्।।[66]

अर्थात्— यदि ब्रह्म में प्रपंच भेद को स्वीकार करें तो अद्वैत के साथ विरोध होगा। यह शंका करना उचित नहीं है क्योंकि परिभाषाकार का पारमार्थतः भेदादि पदार्थों का स्वीकार नहीं करने से आकाशादिकों के समान प्रपंच भेद अद्वैत का व्याघातक नहीं होता। कारण यह कि अद्वैत ब्रह्म में प्रपंच कल्पित है, यह अद्वैत सिद्धान्त है। इसलिए सुरेश्वराचार्य ने कहा है कि (ब्रह्म के) साधकत्व की कल्पना के विषय में (जगदुत्पादकत्व की कल्पना करने में) तुम्हारी यह अक्षमा (असहिष्णुता) क्यों? क्या तुम उस ब्रह्म में ही अज्ञानकल्पित संसार को नहीं देखते हो?

परिभाषाकार के मत पर यह आक्षेप हो सकता है कि उक्त प्रकार से चैतन्य जीव और ब्रह्म का जो भेद है, वह अन्तःकरण और माया की उपाधि के कारण होते रहने से सोपाधिक है और उस उपाधि की ब्रह्मज्ञान के द्वारा निवृत्ति होते ही उस भेद की भी निवृत्ति होनी चाहिए। किन्तु जड़ प्रपंच और चेतन ब्रह्म का जो भेद है उसमें किसी प्रकार की कोई उपाधि नहीं है। इस कारण वह जड़—चेतन भेद निरूपाधिक है अद्वैत मत को यह स्वीकार करना चाहिए और इस भेद के स्वीकार करने पर प्रपंचभेद और ब्रह्म दो वस्तुओं की सिद्धि होने से द्वैतापत्ति हो जाती है।

परिभाषाकार ने इस आक्षेप का निराकरण किया कि ब्रह्म में प्रपंच का भेद स्वीकार करने पर भी अद्वैत मत में द्वैतापत्ति नहीं होती है क्योंकि जिस प्रकार ब्रह्म में समस्त जगत् कल्पित है, उसी प्रकार उस प्रपंच भेद का भेद भी तात्त्विक न होकर कल्पित ही है। इस कारण आकाशादि के तुल्य ही यह भेद भी प्रलय तक ही रहने वाला है। प्रलय की अवस्था में या ज्ञान से संसारमिथ्यात्व का अनुभव होने पर ब्रह्म, एकमेवद्वितीय ही रहता है। उसी प्रकार प्रपंच के कल्पित होने के कारण ही रज्जु या शुक्ति के समान अधिष्ठानभूत ब्रह्म के अद्वैत का कोई बाध नहीं हो सकता क्योंकि जगत् की उत्पित्ति, स्थिति, संहार रूप तीनों अवस्थाओं में 'ब्रह्म' रज्जु आदि के समान निर्विकार ही रहता है। इसलिए ऐसे हजारों कल्पित

[66] शास्त्री, केशवलाल वि॰ (हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 152—153.

पदार्थों के अंगीकार से भी 'ब्रह्म' के अद्वैत में कोई व्याघात नहीं हो सकता, क्योंकि कल्पित प्रपंच का भेद कभी तात्त्विक नहीं हो सकता।

अद्वैत ब्रह्म में प्रपंच के कल्पित होने में वार्तिककार सुरेश्वराचार्य की सम्मति[67] स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'ब्रह्म जगत् का साधक (उत्पादक) है' ऐसी कल्पना करने में ही तुम्हें इतनी असूया क्यों होती है? यहाँ नैयायिकों की असहिष्णुता उचित नहीं है क्योंकि ब्रह्म में ही यह प्रपंच, अज्ञान से कल्पित है, क्या यह प्रत्यक्ष दिखता नहीं है? और मिथ्या ज्ञान से ही प्रपंच कल्पित है' यह समझते हो तो उस भ्रम के अधिष्ठानभूत ब्रह्म को कारण स्वीकार करने में क्या आपत्ति है? अर्थात् 'अज्ञानकल्पित संसार का अधिष्ठानभूत ब्रह्म कारण है' यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए। सारांशतः सुरेश्वराचार्य के वचन से भी संसार का अज्ञानकल्पितत्व सिद्ध होता है। अतः आकाश आदि अनेक पदार्थों को स्वीकार करने पर भी इन व्यावाहारिक पदार्थों से पारमार्थिक ब्रह्म के अद्वैत में कोई बाधा नहीं होती'।

मीमांसक तो अभाव पदार्थ को ही नहीं स्वीकार करते तो अद्वैत मत में अभाव का वर्णन कैसे कर रहे हैं? कुमारिल भट्ट चार ही पदार्थ 'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य' मानते हैं और प्रभाकर द्रव्यादि छह, सादृश्य और शक्ति–ऐसे आठ पदार्थ मानते हैं। मीमांसकों के मत में घटादिकों का अभाव तो भूतलादि अधिकरणों का एक विशेष परिणाम है। कदाचित् अभाव को स्वीकार कर भी लें तो उसे चतुर्विध स्वीकार करना अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त के विरूद्ध है क्योंकि नृसिंहाश्रम मुनि ने 'अद्वैतदीपिका' नामक ग्रन्थ में प्रागभाव का खण्डन किया है। ऐसी स्थिति में परिभाषाकार अभाव को चतुर्विध कैसे बता रहे हैं? यदि कोई यह आक्षेप करे तो परिभाषाकार पूर्वाचार्यों की सम्मति सिद्ध करते हैं–

परिभाषाकार के अनुसार 'अत एव विवरणेऽविद्यानुमाने प्रागभाव–व्यतिरिक्तत्व विशेषणम् तत्त्वप्रदीपिकायामविद्यालक्षणे भावत्वविशेषणं च सुङगच्छते। एवं चतुर्विधाभावानां योग्यानुपलब्ध्या प्रतीतिः तत्र अनुपलब्धिर्मानान्तरम्'।[68] अर्थात्– (अभाव के चार प्रकार स्वीकार करने के कारण ही) विवरण में अविद्या के अनुमान में दिए हुए 'प्रागभावव्यतिरिक्त' विशेषण की और तत्वदीपिका के अविद्यालक्षण में निविष्ट किये हुए 'भावत्व' विशेषण की संगति लग जाती है। इस प्रकार इन चतुर्विध अभावों की योग्यानुपलब्धि के द्वारा अनुभूति होती है और इन अभावों की अनुभूति के लिए 'अनुपलब्धि' नामक पृथम प्रमाण उचित है।

---

[67] अक्षमा भवतः केयं साधकत्व–प्रकल्पने।
किन्न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञान–कल्पित्।।

[68] शास्त्री, केशवलाल वि॰ (हि॰ व्या॰), 2009, वेदान्त परिभाषा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ॰ 154.

'शङ्करचार्य के शारीरिक भाष्य के प्रथम चतुःसूत्री पर पद्मपादाचार्य की 'पंचपादिका' नाम की टीका है। उस पर प्राशात्ममुनि ने 'विवरण' नाम की टीका लिखी है, इसी को 'अहङ्कारटीका' के नाम से पूर्व में परिभाषाकार ने सम्बोधित किया है। उसमें अविद्या का सद्भाव सिद्ध करने के लिए अनुमान बताया है। इसको श्रीगजानन शास्त्री न इस प्रकार व्यक्त किया है। यथा– (1) 'विवादगोचरापन्नं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्त स्वविषयावरण स्वनिवर्त्य–स्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकं भावितुमर्हति (2) अप्रकाशितार्थ प्रकाशकत्वात् (3) अन्धकारे प्रथमोत्पन्न प्रदीपप्रभावत्' इस अनुमान की साध्य कोटि में 'स्वप्रागभावव्यतिरिक्त' यह विशेषण 'वस्त्वन्तर' में दिया है। इससे यह सिद्ध होता है कि विवरणाचार्य को 'प्रागभाव' स्वीकार था। क्योंकि उन्हें यदि प्रागभाव स्वीकार न होता तो उस पर होने वाली अतिप्रसक्ति (व्यभिचार) का निवारण करने के लिए उन्हें 'स्वप्रागभावव्यतिरिक्त' विशेषण देने की आवश्यकता नहीं होती। अतः यह सिद्ध होता है कि अभाव की चतुर्विधता पूर्वाचार्यों को भी सम्मत थी। अभाव के चार प्रकार को स्वीकार करने पर ही उसका विशेषण सफल होता है। अतः अद्वैत मत में अभाव के चार प्रकार स्वीकार किए गए है'।

परिभाषाकार के अनुसार यदि अभाव पदार्थ वेदान्तियों को स्वीकार न होता तो श्रीचित्सुखाचार्य ने अपनी तत्त्वदीपिका में 'अनादिभाव–रूपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वमविद्यात्वम्'[69] अर्थात्– अनादि भावरूप होकर जो ज्ञान से निवृत्त होने योग्य हो वह अविद्या है। इस अविद्या के लक्षण में दिया हुआ 'भावत्व' विशेषण व्यर्थ हुआ होता, क्योंकि यदि 'अभाव' नामक पदार्थ ही न हो तो उस पर अतिव्याप्ति कैसे हो सकती है और उसके निराकरणार्थ 'भावरूपत्व' विशेषण की भी आवश्यकता नही होती।[70] इसलिए 'भविष्यति', 'ध्वस्तः', 'नास्ति' और 'न' इन प्रतीतियों की उपपत्ति लगाने के लिए 'अभाव' पृथक पदार्थ है और वह प्रागभावादि भेद से चतुर्विध है। इन चारों अभावों की अनुभूति इन्द्रियादि किसी भी प्रमाण से नहीं होती। इसलिए परिभाषाकार सम्मत् 'योग्यानुपलब्धि' ही अभावग्राहक प्रमाण है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि 'अनुपलब्धि' नामक छठा प्रमाण है,।

[69] 'अनादिभाव–रूपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वमविद्यात्वम्'। (चित्सुखी)

[70] शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्या॰), 2013. श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचित वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ॰ 313.

उपसंहार

उपसंहार

भारतीय दर्शन में प्रमाणमीमांसा का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रमाणमीमांसा का अभिप्राय 'प्रमा विषयक चिन्तन' है। भारतीय दर्शन परम्परा में प्रमाणमीमांसा का इतिहास वेद एवं उपनिषद के समय से ही प्राप्त होता है। जैसा कि ऋग्वेद में 'कासीत् प्रमा' (ऋ.– 10.130. 1) और अथर्ववेद में 'यस्य भूमि प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्' (अथर्व.– 10.7.32) इन ऋचाओं में प्रमा का उल्लेख मिलता है। कलान्तार दार्शनिक सम्प्रदायों में व्यवस्थित रूप से 'प्रमाण विषयक चिन्तन' प्राप्त होता है। प्रमाणमीमांसा के प्रमुख्य तत्त्व प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण एवं प्रमिति हैं। प्रमाता, प्रमा, प्रमिति, प्रमाण एवं प्रमेय आदि पद में 'प्र' उपसर्ग है और 'माङ्' धातु से पृथक्–पृथ्क प्रत्यय है। 'मा' धातु का अर्थ मापना है। इस प्रकार जो मापे जाए, वे प्रमा है। जिससे मापा जाए, वह प्रमाण है। जो मापता है, वह प्रमाता है। जो मापने का ज्ञान है, वह प्रमिति है। जिसे मापा जाए, वह प्रमेय है। प्रमा, प्रमेय, प्रमाण, प्रमिति आदि प्रमाणमीमांसा के मुख्य प्रत्यय है।

सभी दर्शनिक सम्प्रदायों के प्रमा विषयक चिन्तन में विविधताएं है। प्रमाणमीमांसीय अध्ययन को लेकर दो तरह के मत उपलब्ध है–

प्रथम– इस मत के अनुसार प्रमाणमीमांसा भारतीय दर्शन का केन्द्रिय विषय है, क्योंकि प्रमा के स्वरूप का निर्धारण किए बिना तत्त्वमीमांसा एवं मूल्यमीमांसा का निर्धारण सम्भव नहीं हो सकता।

द्वितीय– इस मत में तत्त्वमीमांसा एवं मूल्यमीमांसा को प्राथमिक स्वीकार करते हुए, उसकी स्थापना के प्रमुख साधन के रूप में प्रमाणमीमांसा के महत्व को स्वीकार करते है।

जबकि इन दोनों मत से विलक्षण वेदान्त परिभाषाकार ने अपने ग्रन्थ 'वेदान्त–परिभाषा' में दोनों को समान महत्व दिया है। इस निष्कर्ष की पुष्टि के सन्दर्भ डॉ. नीलिमा सिन्हा का मत उल्लेखनीय है। उन्होनें अपनी पुस्तक 'भारतीय ज्ञानमीमांसा' के प्राक्कथन में लिखा है कि 'तर्कनिष्ठ ज्ञानमीमांसा के काल में अद्वैत–वेदान्त परम्परा में धर्मराजाध्वरीन्द्र के साथ नव्य–वेदान्त का भी उदय हुआ। धर्मराजाध्वरीन्द्र कृत 'वेदान्त–परिभाषा' में तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों के साथ ज्ञानमीमांसीय प्रश्नों की भी समुचित विवेचना मिलती है'। इस कथन के साथ ही धर्मराजाध्वरीन्द्र कृत 'वेदान्त–परिभाषा' ग्रन्थ अद्वैत–वेदान्त के प्रमाणमीमांसा का प्रतिनिधि प्रकरण ग्रन्थ है, इसकी मौलिकता और उपादेयता की भी पुष्टि हो जाती है।

प्रो. एस. एन. दासगुप्त भी वेदान्त–परिभाषा को अद्वैत–वेदान्त के प्रमुख्य विषयों तथा ज्ञानमीमांसा का निन्तान्त मौलिक और उच्चकोटि का ग्रन्थ स्वीकार करते हैं। इसी सन्दर्भ में 'भारतीय दर्शन' में उल्लिखित डॉ. राधाकृष्णन का मत भी उल्लेखनीय है कि 'चूंकि शंकर के प्रत्यक्ष तथा अनुमान विषयक मनोविज्ञान के विषय में विचारविमार्श नहीं किया है, हम उसके मत के विषय में कुछ नहीं कह सकते 'वेदान्त–परिभाषा' में दिए वर्णन से ही हमें सन्तोष करना पड़ेगा'। आशय यह कि अद्वैत–वेदान्त के प्रमाण विषयक चिन्तन के लिए हमें 'वेदान्त–परिभाषा' ग्रन्थ से ही सन्तुष्ट होना पड़ेगा।

वेदान्त–परिभाषा के पूर्व भी अद्वैत–वेदान्त परम्परा में प्रमा विषयक चिन्तन किया गया है। जैसे– रामाद्वयाचार्य प्रणीत ग्रन्थ 'वेदान्तकौमुदी' में भी प्रमाण विषयक चिन्तन मिलता है। वेदान्तकौमुदी में 'तत्त्वानुभूति को ही प्रमा' कहा गया है। कलान्तर प्रो. दासगुप्त 'वेदान्तकौमुदी' के अध्ययन से इतना प्रभावित हुए की, उन्होंने 'वेदान्त–परिभाषा' में विवेचित सम्पूर्ण प्रतिपाद्य विषय को 'वेदान्तकौमुदी' का पिष्टपेषण मात्र स्वीकार किया है। स्वामी माधवानन्द ने 'वेदान्त–परिभाषा' के अंग्रेजी अनुवाद के प्राक्कथन में तथा संस्कृत वाङ्मय का बृहत इतिहास (वेदान्त खण्ड) के 'वेदान्तपरिभाषा' नामक शीर्षक के लेखक प्रो. राम लाल सिंह ने प्रो. एस. एन. दासगुप्त के मत का खण्डन किया है। उनका मत है कि प्रो. दासगुप्त की आलोचना क्षोदमय है, क्योंकि सूक्ष्मतापूर्वक विचार करे तो पाते हैं कि रामद्वय की अपेक्षा धर्मराज नव्यन्याय की शैली, सादृश्यानुमान, रूपकों तथा अप्रमाणन की शैली का प्रयोग अधिक कुशलता से किया है। इनके पूर्व कोई विद्वान इनका इतनी कुशलता से नहीं किया था।

यद्यपि वेदान्तकौमुदी से वेदान्त–परिभाषा का वैशिष्ट्य दिखाना या उनका तुलनात्मक अध्ययन करना, प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का उद्देश्य नहीं है। परन्तु शोध कार्य की प्राक्कल्पना 'वेदान्त–परिभाषा' ग्रन्थ अद्वैत–वेदान्त की प्रमाणमीमांसा का प्रतिनिधि प्रकरण ग्रन्थ है, इसकी सिद्धि के लिए और 'वेदान्त–परिभाषा' की मौलिकता को पुष्ट करने के लिए प्रो. एस. एन. दासगुप्त के मन्तव्य का और उसके खण्डन का उल्लेख अवाश्यक था। इसलिए इनका उल्लेख किया गया है। प्रो. रामलाल सिंह के मत में वेदान्त–परिभाषा धर्ममीमांसा, सृष्टिमीमांसा, नीतिमीमांसा या इन्द्रियानुभव का विज्ञान नहीं अपितु वेदान्तिक ज्ञानमीमांसा का मौलिक प्रकरण ग्रन्थ मानते हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध की प्राक्कल्पना के पूर्वाद्ध की पुष्टि होती है कि 'अद्वैत–वेदान्त दर्शन से सम्बद्ध ग्रन्थ, 'वेदान्त–परिभाषा' अद्वैत–वेदान्त दर्शन की प्रमाणमीमांसा

का प्रतिनिधि प्रकरण ग्रन्थ है। शोध–प्रबन्ध की प्राक्कल्पना का उत्तरार्द्ध की पुष्टि शोध कार्य के 'अध्याय क्रम' में होती है। जिसके निष्कर्ष का विवरण अध्याय क्रमानुसार अधोलिखित है।

शोध–प्रबन्ध के प्रथम अध्याय का शीर्षक 'अद्वैत–वेदान्त परम्परा एवं वेदान्त–परिभाषा' है। प्रथम अध्याय का चार बिन्दुओं में 'ऐतिहासिक एवं विवरणात्मक' अध्ययन किया गया है। इस अध्याय के प्रथम बिन्दु के अर्न्तगत अद्वैत–वेदान्त के प्रमुख आचार्यों उनकी कृतियों को शंकर पूर्व–अद्वैत वेदान्त, आचार्य शंकर का वेदान्त एवं इसके पश्चात् अद्वैत–वेदान्त के प्रस्थान भेद का अध्ययन किया गया है। द्वितीय बिन्दु में वेदान्त परिभाषाकार श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र का परिचय एवं उनकी कृतियों का उल्लेख एवं तृतीय बिन्दु में वेदान्त–परिभाषा एवं उस की गई टीकाओं, व्याख्याओं एवं अनुवाद का तथा चतुर्थ बिन्दु में वेदान्त–परिभाषा की विषयवस्तु, उस पर आक्षेप एवं उसके निराकरण का संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से वेद–सम्मत् विचारों का सुव्यवस्थित प्रतिपादन के कारण उपनिषद को 'वेदान्त' कहा जाता है। उपनिषद के सिद्धान्तों में वाक्यबोध के उद्देश्य से सूत्रकार बादरायण व्यास ने 'ब्रह्मसूत्र' की रचना की, जिसे 'वेदान्त–सूत्र' भी कहा जाता है। ब्रम्हसूत्र के प्रसिद्ध भाष्यों का उल्लेख है। 7वीं शताब्दी में आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र, गीता एवं उपनिषदों पर भाष्य लिखकर अद्वैतवाद की स्थापना की। आचार्य शंकर के बाद उनके शिष्यों ने शारीरकभाष्य पर अनेक टीका लिखी एवं अद्वैत–वेदान्त के विभिन्न प्रस्थानों की स्थापना की। 'शारीरकभाष्य' पर वाचस्पति मिश्र की 'भामती' के नाम से 'भामती–प्रस्थान', अचार्य पद्मपाद की 'पंचपादिकाटीका' के व्याख्याकार आचार्य प्रकाशात्मन का 'पंचपादिका–विवरण–टीका' के नाम से 'विवरण–प्रस्थान', ब्रह्मसिद्धि की परम्परा से 'वार्तिक–प्रस्थान' तथा खण्डन–विधि द्वारा अद्वैत–स्थापन से 'वाद–प्रस्थान' का विकास हुआ। इसके अतिरिक्त 'पारम्भिक–प्रस्थान' भी माना जाता है, जिसमें 'प्रकरण–ग्रन्थों' की रचना हुई। इसी प्रारम्भिक–प्रस्थान का प्रमुख ग्रन्थ वेदान्त–परिभाषा है। वेदान्त–परिभाषा का रचनाकाल 17वीं शताब्दी के आस–पास हुआ था। इसे लेखक श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र है। वेदान्त–परिभाषा और परिभाषाकार का विस्तृत विवरण प्रथम अध्याय में दिया गया है।

शोध–प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय का शीर्षक 'अद्वैत–वेदान्त दर्शन में ज्ञान एवं उसके साधन' है। इस अध्याय को मुख्यतः चार बिन्दुओं को क्रमशः भारतीय दर्शन में ज्ञान एवं उसका स्वरूप, भारतीय दर्शन में प्रमा एवं प्रमाण, ख्यातिवाद एवं प्रामाण्यवाद लिखा गया है। 'ज्ञान, ज्ञा धातु में ल्युट् प्रत्यय लगाने से बनता है। इसके शाब्दिक अर्थ है– जानना, सम्यक्

बोध, शास्त्रानुशीलन, पदार्थ का ग्रहण करने वाली मन की वृत्ति, आत्मसाक्षात्कार आदि।' भारतीय परम्परा में ज्ञान पर दो दृष्टिकोण से विचार किया गया है। प्रथम– व्यूत्पत्ति की दृष्टि 'जानने के अर्थ में' एवं द्वितीय– लक्ष्य की दृष्टि से 'तत्व साक्षात्कार' की संज्ञा दी गई है।

भारतीय दर्शन में ज्ञान को सरल प्रत्यय कहा गया है, जिसकी यत्किंच व्याख्या सम्भव है किन्तु परिभाषा नहीं'। भारतीय दर्शन में साधारणतः लौकिक एवं पारलौकिक ज्ञान में भेद किया जाता है। लौकिक ज्ञान के लिए ही बोध, अवबोध या जानना शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह लौकिक ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ भी हो सकता है। प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय ने अपनी–अपनी तत्वमीमांसा के अनुरूप ही ज्ञान के स्वरूप का निरूपण किया है। इसलिए भारतीय दर्शन के प्रमाणमीमांसीय विवेचन में विविधता दृष्टिगत होती है। इसी विविधता के कारण अद्वैत–वेदान्त एवं साख्य मत में ज्ञान को द्रव्य के रूप में, शून्यवादी बौद्ध मत में ज्ञान को शून्यता के रूप में, चार्वाक, न्याय–वैशेषिक मत में ज्ञान को गुण के रूप में तथा मीमासक ज्ञान को क्रिया के रूप में स्वीकार करते हैं। भारतीय दर्शन में यथार्थ ज्ञान को प्रमा और अयथार्थ ज्ञान को अप्रमा कहा जाता है।

प्रायः प्रमा के स्वरुप को लेकर भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में मतैक्य नहीं है।प्रमा पद पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है– लक्ष्य की दृष्टि से तथा व्युत्पत्ति की दृष्टि से। यथा लक्षितिमूलक दृष्टि से 'तत्व की अनुभूति ही प्रमा है' या तत्व साक्षात्कार ही प्रमा है। व्यूत्पत्तिमूलक दृष्टि से 'प्र पूर्वक मा धातु से निष्पन्न प्रमा पद का अर्थ होता है– प्रकृष्ट ज्ञान अर्थात् यथार्थ ज्ञान।' प्रमा का शाब्दिक अर्थ है– प्रमाणों से उत्पन्न अर्थात् सही ज्ञान। इस प्रकार भारतीय दर्शन में प्रमा को व्यूत्पत्ति की दृष्टि 'यथार्थ ज्ञान' एवं लक्ष्य की दृष्टि से 'तत्व साक्षात्कार' की संज्ञा दी गई है। सामान्यतः भारतीय दर्शन में लक्ष्य की दृष्टि ज्ञान एवं प्रमा दोनों प्रयोग एक ही अर्थ किया जाता है।

वेदान्त परिभाषा में भी एक प्रकार से ब्रह्मज्ञान ही प्रमा है तो व्यावहारिक दृष्टि से प्रमा को उसके व्यापक अर्थ स्मृतिव्यावृत्तं एवं स्मृतिसाधारणं के अर्थ में किया गया है। स्मृतिव्यावृत्त के अर्थ में अबाधित एवं अनधिगत विषय का ज्ञान प्रमा है। वेदान्त परिभाषा की विशेषता यह कि 'वह अबाधित स्मृति प्रमा की कोटि में लाने का प्रयास करता हैं। स्मृति तथा अनुभव इन दोनों ज्ञानों में जो साधारण अबाधित विषय का ज्ञान ही प्रमा है, यही स्मृति साधारण प्रमा है।

प्रमा के साधन को प्रमाण कहा जाता है। प्रमाण शब्द का प्रयोग मूलतः तीन अर्थों में किया गया है। यथाक्रम– सम्यक् ज्ञान के रूप में, प्रमा के करण के रूप में एवं प्रमा के अनावरण के रूप में। भारतीय प्रमाणमीमांसा में इन तीनों अर्थों के आधार पर प्रमाण सम्बन्धी तीन परम्पराएं प्राप्त होती हैं। जिनका वर्णन दिया गया है। प्रमाण की संख्या को लेकर भी मतैक्य नहीं है। विविध सम्प्रदायों में प्रमाण की सख्या का वर्णन एवं प्रमाण व्यवस्था का अध्ययन भी इसी अध्याय किया गया है। वेदान्त–परिभाषा में छह प्रकार के प्रमाण को स्वीकार किया गया हैं।

ख्यातिवाद के अन्तर्गत अद्वैत मत के भ्रम या अप्रमा सम्बन्धी सिद्धान्त का विवेचन किया गया है। वेदान्त परिभाषाकार ने अनिर्वचनीय ख्यातिवाद का ही प्रतिपादन किया है। प्रामाण्यवाद के अन्तर्गत ज्ञान की प्रामणिकता या अप्रमाणिकता से सम्बन्धित स्वतः एवं परतः प्रामाण्यवाद एवं अप्रामाण्यवाद का विवेचन किया गया है। वेदान्त परिभाषाकार को ज्ञान की प्रमाणिकता के विषय में स्वतः प्रामाण्यवाद का एवं अप्रमाणिकता के सन्दर्भ परतः अप्रामाण्यवाद का सिद्धान्त स्वीकार है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के तृतीय अध्याय का शीर्षक 'अद्वैत वेदान्त में प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूप' है। इस अध्याय के प्रारम्भ में प्रत्यक्ष की परिभाषा के चार प्रकार का उल्लेख करते हुए उनका अवसान किस साक्षात् ज्ञान के रूप में होता है, का विवेचन किया गया है। इसके पश्चात् अद्वैत मत प्रतिपादित प्रत्यक्ष प्रमाण एवं उसके प्रयोजक, अन्तःकरण और उसकी वृत्तियों का, प्रत्यक्ष के वर्गीकरण आदि का अध्ययन किया गया है। जिसका साराशं इस प्रकार है– अद्वैत–वेदान्त दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमा चैतन्य ही है क्योंकि 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म ही है। यह श्रुति का अर्थ है। इस श्रुति वाक्य में 'अपरोक्षात्' ऐसा पंचमी विभक्ति होने पर भी 'अपरोक्षम्' ऐसा नपुंसकलिग प्रथमान्त स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि 'साक्षात्' यह शब्द अव्यय होने से सदैव एक सदृश ही रहेगा। परन्तु अपरोक्ष शब्द ब्रह्म का विशेषण होने से वेदान्त–परिभाषा में प्रत्यक्ष प्रमा चैतन्य ही है।

प्रमा एवं प्रमाण इन दोनों अर्थों के लिए एक ही 'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे– किसी घट का चक्षुरिन्द्रिय से सन्निकर्ष होने पर 'यह घट है' इस आकार का ज्ञान होता है। इस ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं और इस ज्ञान का करण चक्षुरिन्द्रिय है, अतः उसे भी प्रत्यक्ष कहते हैं। इसलिए एक ही प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग प्रत्यक्ष प्रमा एवं प्रत्यक्ष प्रमाण इन दोनों अर्थें में किया जाता है।

अद्वैत–मत में पाँच प्रकार का प्रत्यक्ष होता है। जबकि न्याय दर्शन में छह प्रकार का प्रत्यक्ष होता है। न्याय दर्शन में पंच ज्ञानेन्द्रियों से होने वाला पाँच प्रकार का प्रत्यक्ष एवं मन नामक इन्द्रिय से मानस प्रत्यक्ष, इस प्रकार छह प्रकार का प्रत्यक्ष होता है। वेदान्त–परिभाषा में मन के इन्द्रियत्व निराकरण किया गया है। इसलिए अद्वैत मत में पंच ज्ञानेन्द्रियों से होने वाला पाँच प्रकार का प्रत्यक्ष ही मान्य है। अद्वैत मत के 'चैतन्य ही प्रत्यक्ष प्रमा है' इस कतिपय शंकाएं भी की गई हैं। जो इस प्रकार है–

अनादि का अर्थ है कारण रहित, इसलिए उत्पन्न न होने वाला अकार्य है। जो नित्य वस्तु है उसके कारण की तो सभावना ही नहीं की जा सकती क्योंकि 'कारण' का अर्थ है– विशिष्ट कारण। कार्य को उसकी अपेक्षा रहती है। अकार्य को उसकी अपेक्षा नहीं होती। ऐसी स्थिति तें प्रत्यक्ष प्रमा रूप चैतन्य में इन्द्रियां प्रमाण कैसे हो सकती है? इसके समाधान में परिभाषाकार का मत है कि साक्षात् ब्रह्मभूत चैतन्य अनादि 'नित्य' है। इसमें कहीं भी सन्देह नहीं है क्योंकि अन्तःकरण वृत्ति नित्य चैतन्य को प्रकट करती है। अन्तःकरण वृत्ति में नित्य चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है। इसी को अद्वैत मत में चिदाभास कहा जाता है। अन्तःकरण की वृत्ति स्वभावतःजन्य होती है। इसलिए इन्द्रियों में उस चैतन्य के प्रति करणत्व प्रतीत होता है। अतः इसे प्रमाण कहा जा सकता है।

इस समाधान पर पुनः शंका हो सकती है कि तब वृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमा क्यों न कहा जाए? क्योंकि व्यवहार में ज्ञान के लिए वृत्ति शब्द का प्रयोग किया जाता है और वृत्ति स्वरूपतः इन्द्रियों से उत्पन्न होती है तब वृत्ति को प्रत्यक्ष प्रम न कहकर चैतन्य को प्रत्यक्ष प्रमा क्यों कहा जाता है? परिभाषाकार ने इसका समाधन 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि श्रुति से चैतन्य में ही ज्ञानत्व सिद्ध होता है। वृत्ति जड़ अन्तःकरण का धर्म होने से जड़ है। इसलिए उसे प्रत्यक्ष प्रमा नही कहा जा सकता। परन्तु वृत्ति में चैतन्य रू॰ ज्ञान का अवच्छेदकत्व होने से ज्ञानत्व का उपचार किया जाता है, अतः वृत्ति को 'ज्ञानावच्छेदकत्वाच्च' कहा गया है। अतः चैतन्य को ही प्रत्यक्ष प्रमा कहा गया है। यह विचारणीय हो जाता है कि चैतन्य तो नित्य है और जो नित्य होता है, वह अजन्य होता है। अजन्य वस्तु को करण विशेष की अपेक्षा नहीं होती है। क्रिया के जनक को कारक कहते हैं 'क्रियां करोतीति कारकः' इसलिए कारक कहलाने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा यदि चैतन्य में कोई विशेषता उत्पन्न न की गई तो कारण कहता ही व्यर्थ है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा अतिविशिष्ट चैतन्य में कोई विशेष उत्पन्न न किए जाने पर भी अन्तःकरण वृत्तिः विशिष्ट चैतन्य में उसके द्वारा अतिशयाधान किया जा सकता है। परिभाषाकार का मत है कि 'अन्तःकरणवृत्ति' में ज्ञानत्व का उपचार किया जाता है। तब निरवयव अन्तःकरण की परिणात्मक वृत्ति की सम्भावना कैसे की जा सकती है? नैयायिकों के यह अनुमान करने से अन्तःकरण की परिणाम स्वरूप वृत्ति नहीं हो सकती। दूध से दही के समान तथा मिट्टी में घट के समान यह वृत्ति परिणाम न होकर सूर्य के प्रकाश के समान विकास रूप है। निरवयव वस्तु का आकाश के समा नही विकास रूप परिणाम नहीं हो सकता। इसलिए अन्तःकरण वृत्ति विशिष्ट चैतन्य को ज्ञानरूप नहीं माना जा सकता। इसलिए ज्ञान आत्मा से भिन्न है और इन्द्रिय जन्य होने से वह प्रत्यक्ष भी है। नैयायिक ज्ञान को आत्मा का गुण मानते हैं।

परिभाषाकार के मत में वृत्तिविशिष्ट चैतन्य को जन्य ज्ञान कहा जाता है। यह जन्य ज्ञान आत्मा का गुण नहीं है। न्याय दर्शन में अन्तःकरण निरवयव, अणुपरिणाम एक और नित्य है। जबकि अद्वैत मत में अन्तःकरण सावयव, विरल एवं सादिद्रव्य है।

यदि इन्द्रियजन्यत्व प्रत्यक्षता में प्रयोजक नहीं है तो अद्वैत मत में प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक क्या है? इसका प्रत्युत्तर परिभाषाकार विकल्प कोटिक प्रश्न करके देते हैं कि ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक या विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक पूछ रहे हो? अद्वैत मत ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक 'प्रमाणचैतन्य का विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभेद' होना ही प्रयोजकत्व है। परन्तु एक ही अद्वितीय चैतन्य का भेद कैसे सम्भव हो सकता है?

वस्तुतः चैतन्य के एक होने पर भी उसका उपाधि के कारण तीन प्रकार का भेद होता है। यथा– विषयचैतन्य, प्रमाणचैतन्य एवं पमातृचैतन्य। इन तीन प्रकार के चैतन्यों में से घटादि से अवच्छिन्न चैतन्य विषयचैतन्य, अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य प्रमाणचैतन्य एवं अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य प्रमातृचैतन्य है।

नैयायिक मत इन्द्रियजन्यत्व को प्रत्यक्ष का प्रयोजक कहत हैं। परन्तु अद्वैत मत में मन के इन्द्रियत्व का निराकरण किया गया है। जैसे– 'मै सुखी हूँ' इस प्रकार के प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाले साधारण ज्ञानों में अनुवृत्त होने वाला दूसरा प्रयोजक उपलब्ध न हाने से सुखादि में प्रत्यक्षत्व नहीं है, यह अनुभव के विरूद्ध स्वीकार करना होगा। इस आशय से अद्वैत मत में प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक क्या है? अर्थात् प्रयोजक ही नहीं है। तार्किकों के इस मत पर परिभाषा स्वमत में प्रत्यक्षता का प्रयोजक बताने के उछ्देश्य से तार्किकों के उपर्युक्त

आक्षेप का निराकरण करने के लिए प्रश्न करते हैं कि तार्किक ज्ञानगत प्रत्यक्षता का प्रयोजक या विषयगत प्रत्यक्षता का प्रयोजक पूछ रहे हो? यदि ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व के प्रयोजक का प्रश्न है तो अद्वैत मत में ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक प्रमाणचैतन्य और प्रमेयचैतन्य, इन दोनों का ऐक्य ही ज्ञानगत प्रयक्षत्व का प्रयोजक है। जैसे– तालाब का जल किसी नाली के रास्ते से जिस खेत में जाता है उसी आकार का हो जाता है। पूर्वोक्त तीन उपाधियों में से 'तेजस अन्तःकरण' भी इन्द्रियों के द्वारा शरीर से बाहर निकलकर घटादि विषय तक जाता है और उसका आकार ग्रहण कर लेता है।

अन्तःकरण की वृत्तियाँ (अनिश्चिय, निश्चिय, गर्व एवं स्मृति) चार प्रकार की होती है। इन वृत्तियों मे भेद के होने से अन्तःकरण भी मन, बुद्धि, अंहकार एवं चित्त रूप से चार प्रकार का होता है। व्यावहारिक एवं पारमार्थिक रूप से दो प्रकार के प्रत्यक्ष के विषय हो सकते हैं। अद्वैत मत में काल का प्रत्यक्ष होता है। इनके अनुसार इन्द्रिय प्रत्यक्षों के साथ ही साथ विषय का भी प्रत्यक्ष होता है। अद्वैत मत में गुण, कर्म, सामान्य एवं विशेष की स्थिति पृथक पदार्थ के रूप में न होकर द्रव्य में द्रव्यगत अंश के रूप में है। परिभाषाकार को जाति एवं सम्बन्ध का प्रत्यक्ष स्वीकार है। अद्वैत मत में अभाव ज्ञान में प्रत्यक्षता का खण्डन किया है। अद्वैत मत में जीवसाक्षी एवं ईश्वरसाक्षी भेद से द्विविध है।

परिभाषाकार ने तीन प्रकार से प्रत्यक्ष का वर्गीकरण किया है। प्रथम– सविकल्पक एवं निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, द्वितीय– जीवसाक्षी एवं ईश्वर साक्षी प्रत्यक्ष, तृतीय– इन्द्रियजन्य एवं इन्द्रियाजन्य। अद्वैत मत में पारमार्थिक, व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक के भेद से तीन प्रकार की सत्त्ता स्वीकार है।

अनुमान प्रमाण का अध्ययन इस शोध–प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में किया गया है। इस अध्याय के प्रारम्भ में अनुमान को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में अस्वीकार करने वाले तर्कों का निराकरण है। साथ ही अन्य भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के अनुमान सम्बन्धी अवधारणाओं का संक्षिप्त विवेचन है। इन सम्प्रदायों के अनुमान प्रमाण से अद्वैत–वेदान्त के अनुमान की विलक्षणता और उनके लाघव का वर्णन है। इस अध्याय के मुख्य भाग में अद्वैत–वेदान्त सम्मत् अनुमान प्रमाण के स्वरूप एवं लक्षण, अनुमान का आधार व्याप्ति, पक्षधर्मता, अनुमान के त्रिविध हेतुत्व का निराकरण, अन्वयरूप लिंग का प्रतिपादन, मिथ्यात्व के निराकरण में अनुमान प्रमाण की महत्ता एवं अनुमान का वर्गीकरण आदि का अध्ययन उपलब्ध है।

अद्वैत मत में अनुमिति प्रमा के करण को अनुमान प्रमाण कहा जाता है। अनुमिति ज्ञान व्याप्तिज्ञान जन्य है। इसलिए अनुव्यवसाय, स्मृति, शाब्दज्ञान को अनुमिति नहीं कहा जाता है। जिस व्याप्तिज्ञान से अनुमिति प्रमा उत्पन्न होती है, वह व्याप्तिज्ञान अनुमान है। परिभाषाकार के मत में व्युत्पन्न अनुमान लक्षण है और अव्युत्पन्न अनुमान लक्ष्य है। अनुमिति का साधन व्याप्तिज्ञान है। व्याप्तिज्ञान का संस्कार अनुमिति का अवान्तर व्यापार है। अद्वैत मत में तृतीय लिंग परामर्श अनुमिति का करण नहीं है, क्योंकि तृतीय लिंग परामर्श में अनुमिति का हेतुत्व असद्धि है। परिभाषाकार के मतानुसार यदि कारणत्व तथा तरणत्व परस्पर विरोधी होते तो एक ही व्याप्तिज्ञान को कारण तथा करण नहीं कहा जा सकता। परन्तु कारण और करण परस्पर विरोधी नहीं है, क्योंकि असाधारण कारण को ही करण की संज्ञा दी जाती है।

न्याय दर्शन में केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि एवं अन्वयव्यतिरेकि भेद से हेतु तीन प्रकार का होता है। जबकि अद्वैत मत में अन्वयिरूप एक ही हेतु को स्वीकार किया जाता है। अनुमान–प्रमाण का प्रयोग मिथ्यात्व के निराकरण एवं ब्रह्मज्ञान के लिए सहायक होता है।

शोध–प्रबन्ध का पंचम् अध्याय 'अद्वैत–वेदान्त दर्शन में उपमान प्रमाण का स्वरूप' है। इस अध्याय में प्रथमतः 'उपमान' को ज्ञान के स्वतन्त्र प्रमाण के स्थापित करने के लिए 'उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में अस्वीकार करने एवं 'उपमान' का अन्तर्भाव स्व–सम्प्रदाय स्वीकृत प्रमाण के अन्तर्गत करने वाली चार्वाक, बौद्ध, वैशेषिक एवं सांख्य दार्शनिकों की चेष्टाओं का निराकरण किया है। साथ ही न्याय एवं मीमांसा दर्शन में विवेचित उपमान प्रमाण के लक्षण से अद्वैत–वेदान्त दर्शन में विवेचित उपमान प्रमाण की विलक्षणता प्रकट की करते हुए उपमान प्रमाण का स्वरूप, लक्षण एवं उपमान प्रमाण के महत्व का विवेचन है।

अद्वैत मत में सादृश्य प्रमा के करण को उपमान कहा जाता है। जैसे– गो तथा गवय का सादृश्य। किसी व्यक्ति के जंगल में जाने पर गवय को देखते ही 'यह गवय गो के सदृश्य है', इस ज्ञान को उपमान कहते हैं। इसके पश्चात् 'गवय के समान मेरी गाय है', इस ज्ञान को उपमिति कहते हैं। अद्वैत मत में उपमान का विषय गवय या गो न होकर इन दोनों का साम्य विषय होता है। अद्वैत मतनुयायी ब्रह्म की व्यापकता में आकाश का एवं स्वप्रकाशता में सूर्य की उपमा देकर उपमान की उपादेयता को स्वीकार किया है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के षष्ठम् अध्याय का शीर्षक 'अद्वैत–वेदान्त दर्शन में शब्द प्रमाण का स्वरूप' है। इस अध्याय के प्रारम्भ में शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव स्व–सम्प्रदाय स्वीकृत प्रमाण के अन्तर्गत करने वाली चार्वाक, बौद्ध एवं वैशेषिक दार्शनिकों की चेष्टाओं एवं ज्ञान के

स्वतन्त्र साधन के रूप में अस्वीकार करने वाले आक्षेपों का निराकरण किया गया है। न्याय, मीमांसादि दर्शनों से विलक्षणता का उल्लेख करते हुए अद्वैत–वेदान्त दर्शन सम्मत् शब्द प्रमाण के स्वरूप एवं लक्षण का निरूपण है। जिसके अन्तर्गत शाब्दज्ञान के चार कारण आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति एवं तात्पर्य का विवेचन है। साथ ही लौकिक एवं श्रुति वाक्यों पर बलबलाधिकरण के आधार पर विचार, श्रुति की प्राबल्य, पदार्थ का स्वरूप एवं भेद, शक्य पदार्थ, लक्ष्य पदार्थ, पद, पद की शक्ति, लक्षणा एवं लक्षणा का प्रकार, लक्षित लक्षणा, गौणी लक्षणा, प्रकारान्तर से लक्षणा के तीन प्रकार, जहत् लक्षणा का स्वरूप और उदाहरण, अजहत् लक्षणा का स्वरूप और उदाहरण, जहतजह लक्षणा का स्वरूप और उदाहरण, सिद्धार्थ प्रतिपादक वाक्यों की प्रमाणिकता, वेदवाक्यों की उत्पत्तिमत्ता (अनित्यता) एवं उनके आपौरूषेयत्व का प्रतिपादित हैं।

परिभाषाकार के अनुसार जिस वाक्य में तात्पर्य का विषय होने वाला संसर्ग अन्य प्रमाणों से बाधित नहीं होता, वह वाक्य शब्द प्रमाण है। वाक्यजन्य ज्ञान के चार कारण है– आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति एवं तात्पर्य। वाक्यजन्य ज्ञान में अनेक पद होते है। उनमें से क्रिया एवं कारक अर्थ के वाचक पदों में से क्रिया का श्रवण करने पर कारक तथा कारक का श्रवण करने पर क्रिया की अपेक्षा होती है। जैसे– 'गमानय' इस वाक्य के आनय पद का श्रवण करने से क्रिया का बोध होते ही कारक की जिज्ञासा होती है, इसी को आकांक्षा कहा जाता है। इसी प्रकार 'गौ' पद का श्रवण करने पर क्रिया की जिज्ञासा होती है। जिज्ञासा के अभाव में व्युत्पन्न श्रोता को वाक्य से वाक्यार्थबोध हो जाता है। जिज्ञासा रहित व्यक्ति को वाक्यार्थ का बोध होने से उसमें आकांक्षा का लक्षण अव्याप्त न हो इसलिए परिभाषाकार ने आकांक्षा के लक्षण में योग्यत्व पद का प्रयोग किया है।

परिभाषाकार के मत में तात्पर्य के अर्थ का बाधित न होना ही योग्यता है। जैसे– 'आग से सीचो' इस वाक्य में तात्पर्य अर्थ के बाधित हो जाने के कारण योग्यता नहीं है। पद से पदार्थ की मानसिक उपस्थिति का बिना व्यवधान के होना ही आसत्ति है। प्रत्यक्षादि प्रमाण से अर्थ की उपस्थिति होने पर भी उस पदार्थ का अन्वयबोध शब्दज्ञान में नहीं होता, बल्कि ऐसे स्थान पर पद का अध्याहार करना पड़ता है अध्याहृत पदार्थ का श्रौत पद के साथ अन्वय होने पर वाक्य बोध होता है। अद्वैत मतानुसार तात्पर्य पद का स्वभाव न कि वक्ता की इच्छा। इन चार सहकारी रिणें के होने पर ही शाब्दबोध होता है।

तात्पर्य सिद्धि के लिए लक्षणा की आवश्यकता होती है। इसलिए जहाँ तात्पर्य सिद्धि न हो वहाँ जहदजह एवं भागत्याग लक्षणा के द्वारा उसे सिद्ध किया जाना चाहिए। अद्वैत मत में पदार्थ दो प्रकार का होता है– शक्य एवं लक्ष्य पदार्थ। शक्ति रूप वृत्ति से युक्त पदार्थ, शक्य पदार्थ है। लक्षणारूप वृत्ति से युक्त पदार्थ, लक्ष्य पदार्थ है। अद्वैत–वेदान्त में लक्षण तीन प्रकार है– जहद्लक्षणा, अजहद्लक्षण, जहदजहलक्षणा। जब वाक्य अपने वाच्य अर्थ का त्यागकर केवल लक्ष्य अर्थ का ज्ञान कराता है तो उसे जहद्लक्षणा कहते हैं। परिभाषाकार इसे 'विष खाओ' इस प्रकरण से दर्शाते हैं। लक्षणा से प्रतीत होने वाले लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ भी जब अन्तर्भूत होता है तो उस लक्षणा को अजहद्लक्षणा कहते हैं। जैसे– शुक्लो घटः। जिस वाक्य में विशिष्टता वाचक शब्द अपनक विशेषण रूप एक देश को त्यागकर विशेष्यरूप एक अंश का बोधक होता है तो वहाँ जहदजहलक्षणा होती है। जैसे– सोऽयं देवदत्तः, तत्त्वमसि आदि।

परिभाषाकार ने 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' को भागत्यागलक्षणा का उदाहरण माना है। परिभाषाकार के अनुसार जहाँ भिन्न–भिन्न अर्थ प्रतिपादक दो वाक्यों को परस्पर आकांक्षा के कारण महावाक्यार्थ बोधकत्व होता है, वहाँ वाक्यैकवाक्यता होती है। जैसे– स्वर्गकामोयजेत्। अद्वैत मत में आगम प्रमाण के दो भेद होते हैं– लौकिक एवं वैदिक। लौकिक पौरूषेय एवं वैदिक वाक्य अपौरूषेय होते है। परिभाषाकार के मतानुसार सृष्टि काल में वेदों का प्रादुर्भाव होता है एवं प्रलय काल में नष्ट हो जाता है। अतः अद्वैत मतानुसार वेद उत्पत्तिमान है। वेद आकाश के समान हैं। ईश्वर ने सृष्टि के प्रारम्भ में पूर्व में जैसा था वैसे ही वेद की रचना की है। इसलिए अद्वैत मत में वेद उत्पत्तिमान होते हुए भी अपौरूषेय हैं।

मीमांसा एवं अद्वैत मत स्वीकृत 'अर्थापत्ति' प्रमाण का विवेचन प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के सप्तम् अध्याय में किया है। प्रथमतः इस अध्याय में 'अर्थापत्ति' को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में अस्वीकार करने एवं 'अर्थापत्ति' का अन्तर्भाव स्व–सम्प्रदाय स्वीकृत प्रमाण के अन्तर्गत करने वाली सांख्य एवं न्यायादि दार्शनिकों की चेष्टाओं का निराकरण कर, 'अर्थापत्ति' की स्थापना प्रमा के स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में है। इस अध्याय के अन्तर्गत मीमांसा दर्शन से विलक्षण अद्वैत–वेदान्त दर्शन स्वीकृत 'अर्थापत्ति प्रमा एवं प्रमाण' का स्वरूप एवं लक्षण, व्यतिरेक–व्याप्ति अनुमान का निराकरण, अर्थापत्ति के दो प्रकार, दृष्टार्थापत्ति का स्वरूप एवं उदाहरण, श्रुतार्थापत्ति का स्वरूप एवं उदाहरण, श्रुतार्थापत्ति के दो प्रकार, अभिधनानुपपत्ति रूप श्रुतार्थापत्ति का लक्षण एवं उदाहरण, अभिहितानुपपत्ति रूप श्रुतार्थापत्ति का लक्षण एवं उदाहरण और अर्थापत्ति प्रमाण के महत्व का विवेचन है।

अदृश अर्थ की कल्पना अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा की जाती है। जो व्यक्ति दिन में भोजन नहीं करता, फिर भी पुष्ट दिखता है तो उस व्यक्ति के रात्रिभोजन की कल्पना ही अर्थापत्ति है। अद्वैत मत में अर्थापत्ति के दो प्रकार है। प्रथम– जिस अर्थापत्ति के द्वारा श्रुत विषय की व्याख्या की जाती है, उसे श्रुतार्थापत्ति कहते हैं। द्वितीय– जिस अर्थापत्ति से दृष्टि विषय की व्याख्या की जाती है, उसे दृष्टार्थापत्ति कहते हैं। परिभाषाकार ने श्रुतार्थापत्ति के दो भेद बताएं है। प्रथम– जब किसी वाक्य का एक भाग सुनकर सम्पूर्ण वाक्य की कल्पना की जाती है तो उसे अभिधानानुपत्ति कहते हैं। द्वितीय– स्वतोव्याघाती वाक्य की व्याख्या करने के लिए जो कल्पना की जाती है, उसे अभिहितानुपपत्ति कहते हैं।

कुमारिल भट्ट और अद्वैत–वेदान्त दर्शन में प्रमा के स्वतन्त्र साधन के रूप में स्वीकृत 'अनुपलब्धि प्रमाण' का विवेचन प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के अन्तिम (अष्टम्) अध्याय में किया है। 'अद्वैत–वेदान्त दर्शन में अनुपलब्धि प्रमाण का स्वरूप' नामक अष्टम् अध्याय के प्रारम्भ में 'अनुपलब्धि' प्रमाण का अन्तर्भाव स्व–सम्प्रदाय स्वीकृत प्रमाण के अन्तर्गत करने वाली चार्वाक, बौद्ध, वैशेषिक, सांख्य, न्याय एवं प्रभाकर मीमांसक आदि दार्शनिकों की चेष्टाओं एवं ज्ञान के स्वतन्त्र साधन के रूप में अस्वीकार करने वाले आक्षेपों का निराकरण किया है। इस अध्याय के अन्तर्गत पूर्ववत् अन्य प्रमाणों के स्वरूप एवं लक्षण की भाँति, अनुपलब्धि प्रमाण के स्वरूप एवं लक्षण, विशेष प्रकार की योग्यानुपलब्धि का स्वरूप, उसकी योग्यता का स्वरूप, अनुपलब्धि का विषय अभाव, अभाव का स्वरूप एवं प्रकार, प्रागभाग, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव एवं अन्योन्याभाव का विवेचन है।

अभाव पदार्थ के ज्ञान के लिए अद्वैत–वेदान्त में अनुपलबिध को ज्ञान के साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। उपलब्धि का न होना या अभाव को ही अनुपलब्धि कहा जाता है। अद्वैत मत योग्यानुपलब्धि को ही प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। परिभाषाकार ने अनुपलब्धि प्रमाण के विषय में अनेक आक्षेपों का समाधान करते हुए तर्क प्रस्तुत किए हैं– 'योग्यस्य प्रतियोगिनः' अर्थात् प्रत्यक्ष योग्य विषय की अनुपलब्धि और 'योग्याधिकरणे प्रतियोग्यनुपलब्धिः' अर्थात् प्रत्यक्ष योग्य आधार पर विषय की अनुपलब्धि। प्रथम के अनुसार यदि विषय प्रत्यक्ष योग्य है परन्तु वह अनुपलब्ध है तो उसका अभाव माना जाएगा। यह अर्थ उचित नहीं है। दूसरे अर्थ को स्वीकार किया जाए तो यह भी उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर आत्मा का प्रत्यक्ष योग्य है, क्योकि उसका मानस प्रत्यक्ष होता है। यह स्वीकार करना होगा।

वेदान्त परिभाषाकार ने योग्यानुपलब्धि के उक्त दोनो अर्थ से भिन्न कर्मधारय समास का आश्रय लेकर तीसरा अर्थ स्वीकार किया है। ऐसे विषय की अनुपलब्धि जो उन विशेष परिस्तियों में वहाँ होता तो उपलब्ध हो जाता। इसी को परिभाषाकार ने योग्यानुपलब्धि कहा है। अनुपलब्धि का विषय अभाव चार प्रकार का होता है– प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव एवं अन्योन्याभाव। परिभाषाकार के अनुसार वस्तु भाव या अभाव उसके अधिष्ठान के सन्दर्भ होता है। यदि अधिष्ठान सान्त है तो अधिष्ठान के अन्त के साथ अभाव का भी अन्त हो जाता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वेदान्त–परिभाषा में प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में मुख्यतः उन्हीं विषयों का विवेचन प्राप्त होता है, जिन विषयो पर अद्वैत मत नैयायिक मत से विलक्षण है। अद्वैत–वेदान्त दर्शन अन्य दर्शनों के चिन्तन की न्यूनतरओं का परिष्कार करता है। प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध अगामी या भविष्य के शोधार्थियों के लिए विशेषतः प्रमाणमीमांसा, तुलनात्मक प्रमाणमीमांसा एवं अद्वैत–वेदान्त की प्रमाणमीमांसा के नए शोध कार्य को सरलता, उचित दिशा, एवं निष्कर्ष प्रदान कर सकता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

प्राथमिक ग्रन्थ–

- **ईशादि नौ उपनिषद्** (शांकरभाष्य) 2017. श्री हरिकृष्णदास, गीताप्रेस, गोरखपुर।
- **श्रीमद्भगवगीता** (शांकरभाष्य) 2017. श्री हरिकृष्णदास, गीताप्रेस, गोरखपुर।
- **छांदोग्य उपनिषद्** (शांकरभाष्य) 2017. श्री हरिकृष्णदास, गीताप्रेस, गोरखपुर।
- **तर्कसंग्रह** (अन्नभट्ट) 2001. (हि. व्या.) दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली।
- **तत्त्वार्थसूत्र** (उमास्वाति) 1952. (हि. व्या.) श्रुतसागर, ज्ञानपीठ, वाराणसी।
- **न्यायसूत्र भाष्य** (वात्स्यायन) 1938. (सम्पा.) ओरियन्टल सीरीज, पूना।
- **न्यायभाष्यवार्तिक** (उद्योतकर) 1994. (सम्पा.) विन्ध्येश्वरी प्रसाद, काशी संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
- **पंचदशी** (विद्यारण्य) 1949. (व्या.) रामकृष्ण, विद्यारण्य निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई।
- **प्रमाणमीमांसा** (हेमचन्द्र) 1939. (सम्पा.) सुखलाल, वर्धा।
- **प्रमाणसमुच्चय** (दिङ्नाक) 1949. (सम्पा.) अडयार लाईब्रेरी।
- **प्रमाणवार्तिक** (धर्मकीर्ति) 1936 (सम्पा.) राहुल सांकृत्यायन, जे. बी. ओ. आर. एस., पटना।
- **बृहदारण्यक उपनिषद्** (शांकरभाष्य) 2017. श्री हरिकृष्णदास, गीताप्रेस, गोरखपुर।
- **योगसूत्रभाष्य** (व्यास) 1980. (सम्पा.) रामशंकर भट्टाचार्य, मोतीलाल, बनारसीदास, दिल्ली।
- **वेदान्तकौमुदी** (रामाद्वय) 1973. (सम्पा.) चतुर्वेदी, राधेश्याम, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
- **वेदान्तसार** (सदानन्द) 2004. (हि. व्या.) राकेश शास्त्री, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली।

- **वेदान्त परिभाषा** (धर्मराजाध्वरीन्द्र) 2015. श्रीगजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
- **वेदान्त परिभाषा** (धर्मराजाध्वरीन्द्र) 2009. केशवलाल वि. शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
- **वेदान्त परिभाषा** (धर्मराजाध्वरीन्द्र) 2013. अनन्तकृष्ण शास्त्री, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली।
- **वैशेषिकसूत्रभाष्य** (प्रशस्तपाद) 1963. (सम्पा.) संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी।
- **श्लोकवार्तिक** (कुमारिल भट्ट) 1940. रामशास्त्री, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।
- **शारीरकभाष्य** (शांकरभाष्य) 2015. स्वामी सत्यानन्द, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।
- **षड्दर्शन सूत्र संग्रह** (हरिभद्रसूरि) 2012. (सम्पा.) गुप्त, जे. एल., चौखम्बा प्रतिष्ठान, दिल्ली।
- **सांख्यकारिका** (ईश्वरकृष्ण) 1967. (हि. व्या.) ब्रजमोहन चतुर्वेदी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
- **सांख्य–तत्त्व–कौमुदी** (वाचस्पति मिश्र) 1987. (हि. व्या.) आद्याप्रसाद मिश्र, इलाहाबाद।
- **सिद्धान्तमुक्तावली** (विश्वनाथ पंचानन) 1959. (सम्पा.) ज्वालाप्रसाद गौड़, वाराणसी।
- **समयसार** (कुन्दकुन्दाचार्य) 1959. (हि. व्या.) जयचन्द्र, अहिंसा मन्दिर, दिल्ली।
- **सर्वदर्शन संग्रह** (माधवाचार्य) 2014. उमाशंकर शर्मा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
- **संक्षेपशारीरिक** (सर्वज्ञात्ममुनि) 1957. (हि. व्या.) स्वामी रामानन्द, वाराणसी।

द्वितायक ग्रन्थ–

- अग्रवाल, गीतारानी, 2006, भारतीय एवं पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा, भारतीय विद्या संस्थान वाराणसी।
- उपाध्याय, बलदेव, 1996. भारतीय दर्शन, शारदा मंदिर, वाराणसी।

- उपाध्याय, बलदेव, 1996. संस्कृत–वाङ्मय का बृहत इतिहास, उ. प्र. संस्कृत संस्थान, लखनऊ।
- गाँधी, शारदा, 1975. भारतीय दर्शन में प्रमाण्यवाद, साहित्य भण्डार, मेरठ।
- गुप्त, एस.एन.दास., 1972. भारतीय दर्शन का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
- चट्टर्जी, सतीशचन्द्र एवं दत्त, धीरेन्द्र मोहन, 1994. भारतीय दर्शन, पुस्तक भण्डार, पटना।
- जैन, जगदीशचन्द्र 2008. भारतीय दर्शनःएक नयी दृष्टि, चौखम्बा सुरभारती, वाराणसी।
- झा, रामनाथ. शुक्ल, संतोष कुमार. एवं कुमार, शशिप्रभा, 2014. दार्शनिक सम्प्रत्यय–कोश, डी. के. प्रिंटवर्ल्ड (प्रा.) लि., दिल्ली।
- दयाकृष्ण, 1973. ज्ञानमीमांसा, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ आकादमी, जयपुर।
- पाण्डेय, संगम लाल, 2002. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, सेण्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद।
- पाण्डेय, संगम लाल, 2002. मूलशांकर वेदान्त, सेण्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद।
- बारलिंगे, सुरेन्द्र, 1976. भारतीय तर्कशास्त्र की रुपरेखा, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
- मिश्र, जगदीशचन्द्र, 2013. भारतीय दर्शन, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
- यशदेव शल्य, 1967. ज्ञान और सत्, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
- लाल, बसन्त कुमार, 1996. भारतीय दर्शन, भारती भवन, पटना।
- वेदालंकार, जयदेव, 2106. भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, दिल्ली।

- वेदालंकार, जयदेव, 2010. भारतीय दर्शन (तत्त्व और ज्ञानमीमांसा के मौलिक सम्प्रत्यय), न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, दिल्ली।
- शर्मा, नन्द किशोर. भारतीय दार्शनिक समस्याएँ. जयपुरः राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी. शर्मा, ब्रज नारायण, 1973. भारतीय दर्शन में अनुमान, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल।
- शर्मा, चंद्रधर, 2013. भारतीय दर्शन(आलोचन और अनुशीलन), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
- शर्मा, राममूर्ति, 1998. अद्वैत–वेदांत (इतिहास तथा सिद्धांत), ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली।
- शुक्ल, बलिराम, 1986. अनुमान–प्रमाण, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली।
- सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, 2106. भारतीय दर्शन, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली।
- सिन्हा, जदुनाथ, 2000. भारतीय दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
- सिन्हा, हरेन्द्र प्रसाद, 2012. भारतीय दर्शन की रुपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
- सिन्हा, नीलिमा, 2016. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
- सुशील, मैत्रेय. शुक्ल, संजय कुमार. पाण्डेय, श्रीप्रकाश. एवं शर्मा, अम्बिकादत्त, 2013. वेदांत दर्शन के आयाम, न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, दिल्ली।
- हरियान्ना, मैसूर, 2011. भारतीय दर्शन की रुपरेखा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
- Bijalwan, C. D., 1973. Indian Theory of Knowledge, Heritage Publication, New Delhi.
- Chatterjee, Satishchandra, 2015. The Nayay Theory of Knowledge, Rupa Publication India Pvt. Ltd., New Delhi.

- Datta, D. M., 2017, The Six Ways of Knowing (A Critical Study of the Adwaita Theory of Knowledge), Motilal Banarsidas Publisher Pvt. Ltd., Delhi.
- Hobhouse, L. T., 1905. Theory of Knowledge, Motilal Banarsidas Publisher Pvt. Ltd., Delhi.
- Joshi, Rasic Vihari, 1979. Studies in Indian Logic & Metaphysics, Bhartiya Vidya Prakashan, Varanasi.
- Prasad, Jawala, 1958. History of Indian Epistemology, Munshiram Manohar lal, Delhi.
- Ranade, R. D. & Belvalkar, S. K., 2012. History of Indian Philosophy, New Bharatiya Book Corporation, Delhi.
- R. Balasubramanian & S. Revathy, 2014. Vedanta Sangraha of Ramaraya kavi, Chinmaya Foundation, kerala.
- Swami, Madhavanand, 2015. Vedanta Paribhasha of Dharmarajadhvarindra, Adwaita Ashram, Kolkata. Swami, Satprakashanand, 1941. Methods of Knowledge, Allen and Unwin Ltd. Landan.
- Vidhabhushan, S. C., 2016. History of Indian Logic, Motilal Banarsidas Publisher Pvt. Ltd., Delhi.

शोध–पत्रिकाएं–

- उन्मीलन, दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर, राजस्थान।
- दार्शनिक त्रैमासिक, अखिल भारतीय दर्शन परिषद, बहादुरपुर, पटना।
- दार्शनिकी, दर्शनशास्त्र विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।
- परामर्श, दर्शनशास्त्र विभाग, सावित्री बाई फुले पुणे विश्वविद्यालय, पुणे।

- मध्य भारती, डॉ. हरि सिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर।
- Journal of Indian Council of Philosophical Research (JICPR), New Delhi.

अन्तर्जालीय–सामग्री स्रोत–

- www.hindunet.com
- http://www.sacred-texts.com/hin/
- http://www.maanavta.com/vedas
- http://aksharsah.blogspot.com/
- http://dw.com/p/19Z6V
- www.worldCat.inflibnet.nic.in
- www.sanskrit.nic.in

परिशिष्ट

GOVT. OF INDIA- RNI NO. UPBIL/2014/56766
ISSN 2348-2397
UGC Approved Care Listed Journal

HHS

शोध सरिता

An International Multidisciplinary Quarterly
Bilingual Peer Reviewed Refereed Research Journal

• Vol. 7 • Issue 28 • October to December 2020



Editor in Chief
Dr. Vinay Kumar Sharma
D. Litt. - Gold Medalist

sanchar
Educational & Research Foundation

19.	बी0 एड0 महिला एवं पुरूष प्रशिक्षुओं के मानसिक स्वास्थ्य का तुलनात्मक अध्ययन	डॉ0 राजेश पालीवाल रश्मि जादौन	70
20.	नई शिक्षा नीति – 2020 एवं छात्र	डॉ0 अंजना अग्रवाल डॉ0 रामकुमार	73
21.	असमिया कहानी 'हृदय' में चित्रित द्वंद्व : एक विवेचन	डॉ0 कुल प्रसाद उपाध्याय	76
22.	स्वच्छ भारत अभियान का समाजशास्त्रीय अध्ययन (सांसद आदर्श ग्राम मोहलाई, जिला दुर्ग (छ.ग.) के विशेष संदर्भ में)	डॉ0 श्रद्धा गिरोलकर शैलेन्द्र कुमार देवांगन	80
23.	भारत में मानवाधिकार एवं महिला सशक्तिकरण : एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण	परेश द्विवेदी	84
24.	बैगा जनजातीय में परंपरागत चिकित्सा पद्धति (जड़ी–बूटियों) का अध्ययन	उमेश कुमार	88
25.	मानव सभ्यता के विकास में अभ्यास एवं वैराग्य की भूमिका	मनीषा वैद अरूण कुमार सिंह	93
26.	पंचतन्त्रम् द्वितीयतन्त्रम् अथ मित्र सम्प्राप्ति : एक अध्ययन	डॉ0 कंचन शर्मा	97
27.	वर्तमान सूचना प्रौद्योगिकी युग में पुस्तकालय विज्ञान के पाँच सूत्रों का महत्व	डॉ0 भारती एल. वाजा पारमेष्ट विष्णु कुमार शर्मा	101
28.	अद्वैत–वेदान्त का प्रास्थानिक विकास एवं उनके प्रमुख्य आचार्य	विनय कुमार तिवारी	104
29.	स्वतन्त्रता आन्दोलन में इलाहाबाद की महिलाओं का योगदान	सिद्धार्थ सिंह	109
30.	पूर्वी उत्तर प्रदेश में किसान आन्दोलन का स्वरूप	कुमार गौरव सिंह	113
31.	'नारी सशक्तिकरण' 21वीं शताब्दी का बहुचर्चित विषय	डॉ0 दिनेश कुमार सिंह	117
32.	मध्यकालीन सामाजिक जीवन में जयपुर की विभिन्न प्रथाएं एवं रीतियाँ	डॉ0 अरुण कुमार सिंह	120
33.	अध्यापकों के शैक्षिक तकनीकी के प्रति अभिवृत्ति का अध्ययन	नगनारायण उपाध्याय	124
34.	हिंदी न्यूज पोर्टल में खबरों का प्रस्तुतीकरण एवं स्पष्टता : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन	मो0 अलीम खान डॉ0 सुभाष कुमार	129
35.	राजपूत महत्वाकांक्षा के दौर में मुगल–राजपूत संबंध : मालवा क्षेत्र के संदर्भ में (1730 से 1741 ई. के मध्य)	प्रेमपाल यादव	133

ISSN - 2348-2397
APPROVED UGC CARE
JIS
SHODH SARITA
SHODH SARITA
Vol. 7, Issue 28, October-December 2020
Page Nos. 104 - 108
AN INTERNATIONAL BILINGUAL PEER REVIEWED REFEREED RESEARCH JOURNAL

अद्वैत-वेदान्त का प्रास्थानिक विकास एवं उनके प्रमुख्य आचार्य

विनय कुमार तिवारी*

शोध सारांश

अद्वैत–वेदान्त सामान्य जन, शिक्षार्थियों एवं मनीशियों के मध्य एक जीवन्त दर्शन है। सामयिक आवश्यकतानुसार अद्वैत–वेदान्त दर्शन में नये–नये आयाम जुड़ते चले जा रहें हैं। अद्वैत–वेदान्त दर्शन ने एक प्रकार की तर्क प्रणाली विकसित की, जिसे अद्वैत–द्वन्द्व–न्याय कहा जाता है। जिसके अर्न्तगत इन प्रास्थानिक आचार्यों द्वारा उन ग्रन्थो, भाश्यों तथा टीकाओं का परम्परानुशीलन किया है। पस्तुत शोधपत्र में उन आचार्यों, ग्रन्थों एवं टीकाओं का नामोल्लेख किया गया है। इस शोधपत्र में प्रस्थानों का, उनके आचार्यों का या उनके सिद्धान्तो का न तो विस्तृतरूप से उल्लेख किया गया है, न ही तुलना की गई है। आवश्यक स्थलों पर प्रस्थानों का, उनके आचार्यों का या उनके सिद्धान्तो का संक्षेपतः वर्णन मात्र किया गया है। पस्तुत शोधपत्र में मुख्यतः अद्वैत–वेदान्त के प्रास्थानिक विकास एवं उनके प्रमुख्य आचार्यों का विवरण दिया गया है।

Keywords : अद्वैत–वेदान्त, प्रस्थान, विवरण, भामती, वाद, प्रकरण आदि।

अद्वैत–वेदान्त का प्रास्थानिक विकास एवं उनके प्रमुख्य आचार्य

सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक दृश्टि से वेद–सम्मत् विचारों का सुव्यवस्थित प्रतिपादन के कारण उपनिशद को 'वेदान्त' कहा जाता है। परन्तु कालान्तर में 'वेदान्त' शब्द का प्रयोग उपनिशदों के व्याख्यान के लिए होने लगा तथा औपनिशदिक् भर्तृप्रपंच, ब्रह्मानन्द गिरि, द्रविडाचार्य प्रभृति विद्वानों का 'वेदान्ती' कहा जाने लगा।

उपनिशद के सिद्धान्तों में आपातिक विरोधों के परिहार तथा वाक्यबोध के उद्देश्य से सूत्रकार बादरायण व्यास ने 'ब्रह्मसूत्र' की रचना की। ब्रह्मसूत्र उपनिशद्मूलक होने के कारण 'वेदान्त–सूत्र' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कालान्तर 'ब्रह्मसूत्र' को लक्ष्य–दृश्टि में रखकर अनेक आचार्यों द्वारा स्व–साम्प्रदायिक सिद्धान्त वर्धन के लिए परस्पर विरोध को उभारकर अनेक भाश्यों, वृत्तियों तथा टीकाओं का रचना हुई। इस सन्दर्भ में ब्रह्मसूत्र के 10प्रसिद्ध भाश्य निम्नलिखित हैं–

क्रम	भाश्यकार	समय	भाश्य का नाम	सिद्धान्त
1.	शंकराचार्य	788–820ई॰	शारीरकभाष्य	अद्वैतवाद
2.	भास्कराचार्य	850ई॰	भास्करभाष्य	भेदाभेदवाद
3.	रामानुजाचार्य	1040ई॰	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैतवाद
4.	मध्वाचार्य	1238ई॰	पूर्णप्रज्ञभाष्य	द्वैतवाद
5.	निम्बार्काचार्य	1250ई॰	वेदान्तपरिजातभाष्य	द्वैताद्वैतवाद
6.	श्रीकण्ठ	1270ई॰	शैवभाष्य	शैवविशिष्टाद्वैतवाद
7.	श्रीपति	1400ई॰	श्रीकरभाष्य	वीरशैववाद
8.	वल्लाभाचार्य	1544ई॰	अणुभाष्य	शुद्धाद्वैतवाद
9.	विज्ञानभिक्षु	1600ई॰	विज्ञानामृतभाष्य	अविभागाद्वैतवाद
10.	बलदेवविद्याभूषण	1725ई॰	गोविन्दभाष्य	अचिन्त्यभेदाभेदवाद

*शोधार्थी (भारतीय दर्शन विभाग) साँची बौद्ध–भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, बारला, रायसेन (म.प्र.)

अन्य सम्प्रदायों की भाँति ही वेदान्त दर्शन का प्रभेदक विविध–विचित्र रचना सम्पन्न जगत् के मूलान्वेशण में आरम्भवाद, संघातवाद, परिणामवाद, विवर्तवाद इत्यादि तत्व है। शंकराचार्य के 'शारीरकभाश्य' पर वाचस्पति मिश्र की 'भामती' के नाम से 'भामती–प्रस्थान', पद्मपादाचार्य की 'पंचपादिकाटीका' के व्याख्याकार प्रकाशात्मनयति का 'पंचपादिका–विवरण–टीका' के नाम से 'विवरण–प्रस्थान', ब्रह्मसिद्धि की परम्परा से 'वार्तिक–प्रस्थान' तथा खण्डन–विधि द्वारा अद्वैत–स्थापन से 'वाद–प्रस्थान' का विकास हुआ। इसके अतिरिक्त 'पारम्भिक–प्रस्थान' भी माना जाता है, जिसमें 'प्रकरण–ग्रन्थों' की रचना हुई।

अद्वैत–वेदान्त के प्रस्थानिक विकास एवं उनके आचार्यों के विवरण को अध्ययन की सुविधा की दृश्टि से अधोलिखित रूप में रेखांकित कर सकतें हैं–

शंकर–पूर्व–वेदान्त– शंकर–पूर्व–वेदान्त की समृद्ध परंपरा दृष्टिगत होती है। जैन दार्शनिक समन्तभद्र जो शंकर पूर्व थे, वह अपने ग्रन्थ 'आप्तमीमांसा' में अद्वैतवाद का उल्लेख करते हैं। बौद्ध दार्शनिक कमलशील ने भी 'तत्त्वसंग्रह' की टीका में अद्वैत दर्शनावल्मिनश्च औपनिशदिकाः' कहकर अद्वैत–वेदान्त का उल्लेख किया है।

बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में आत्रेय, आश्मर्थ्य, औडुलोमि, बादरि, जैमिनी, काश्र्णाजनि, और काशकृत्स्न इन वेदान्तियों का उल्लेख उनके नाम से किया है। कदाचित् इनमें से प्रत्येक ने अपने–अपने ब्रह्मसूत्र लिखे थे। किंतु बादरायण के ब्रह्मसूत्र को छोड़कर अन्य सभी अनुपलब्ध हैं। शंकराचार्य ने अपने पूर्ववर्ती वेदान्तियों में सुंदरपांड्य, द्रविडाचार्य, उपवर्श, भर्तृप्रपंच, गौडपाद तथा ब्रह्मदत्त के मतों का उल्लेख किया है, मण्डनमिश्र उनके वरिष्ठ समकालीन माने जाते हैं।

उपवर्श – वृत्तिकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनकी वृत्ति का कुछ अंश मीमांसा भाश्यकार शबरस्वामी ने 1.1.5 में सूत्र–भाष्य में वृत्तिकार–ग्रन्थ के रूप में उद्धृत किया है। शंकराचार्य ने उन्हें स्फोटवाद का विरोधी और वर्णवाद का समर्थक माना है।

भर्तृप्रपंच – यह प्रख्यात 'वेदान्ती' थे। उन्होंने बृहदारण्यक उपनिषद पर भाश्य लिखा था। जो वर्तमान में अनुपलब्ध है। शंकर, सुरेश्वर और आनंदगिरि ने क्रमशः बृहदारण्यक उपनिषद के भाष्य, वार्तिक और टीका में इनके मतों का उल्लेख तथा खण्डन–मण्डन किया है। भर्तृप्रपंच सत् की आठ अवस्थाओं को मानते थे, जैसे– अंतर्यामी, साक्षी, अव्याकृत, सूत्र, आत्मा, विराट, देवता, जाति और पिण्ड।

भर्तृमित्र– भर्तृमित्र ने बादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' पर एक वृत्ति लिखी थी। मण्डनमिश्र ने ब्रह्मसिद्धि के चतुर्थकाण्ड में उनकी आलोचना की है। कुमारिलभट्ट ने भर्तृमित्र को मीमांसा में 'लोकायती कृतकृर्ता' कहा है। शंकर के पूर्व ब्रह्मदत्त 'वेदान्ती' थे। जो जीवन मुक्ति को नहीं मानते थे। इनके मत को 'भावाद्वैतवाद' कहा जाता है। ये प्रपंचविलय के समर्थक और नियोगवादी थे। जिनका खण्डन शंकर, मण्डनमिश्र, तथा सुरेश्वराचार्य ने भी किया है।

गौड़पाद– गौडपाद निर्विवाद रूप से 'अद्वैतवादी' थे। जर्मन विद्वान मैक्समूलर के सन्देह का आधुनिक विद्वानों के निराकरण किया है। इनकी रचना माण्डूक्यकारिका(आगमशास्त्र) है। जिसमें 4प्रकरण है :– आगम, वैतथ्य, अद्वैत और आलात्शान्ति। गौडपाद के जिन सिद्धांतों का प्रभाव अद्वैत के परवर्ती चिन्तन पर विशेष रूप से पड़ा उनमें आत्मवाद, अजातिवाद, मायावाद, अद्वैताविरोधवाद इत्यादि हैं। इन्होंने सत्कार्यवाद–असत्कार्यवाद दोनों का खंडन करते हुए अजातिवाद को स्थापित किया। इनके अनुसार द्वयाभास 'मायिक' है। जिसका कारण मन को माना है।

मण्डनमिश्र– मण्डनमिश्र तथा सुरेश्वर इनकी भिन्नता–अभिन्नता सर्वसम्मत् नहीं है, तथापि इनकी अद्वैतवादिता सर्वसम्मत् है। मण्डनमिश्र के तीनग्रन्थ अद्वैतवाद से सम्बन्धित है– ब्रह्मसिद्धि, स्फोटसिद्धि और भ्रमविवेक। ब्रह्मसिद्धि पर चित्सुखाचार्य की अभिप्राय प्रकाशिका, शंखपाणि की ब्रह्मसिद्धि व्याख्या और आनन्दपूर्ण की भावसिद्धि नामक टीकाएं हैं। ब्रह्मसिद्धि में 4भाग है– ब्रह्म, तर्क, नियोग तथा सिद्धि। मण्डनमिश्र ने विशेश रूप से भेद का निराकरण, और प्रत्यक्ष विश्लेशण, मोक्षवाद, प्रपंचविलयवाद को स्थापित किया है।

मण्डनमिश्र ने 'ब्रह्मसिद्धि' के तर्क प्रकरण में सिद्धि किया है कि 'भेद न तो प्रत्यक्षगोचर है और न अनुमानगम्य, वह न तो उपमान से जाना जाता है और न अर्थापत्ति से'। तत्वतः वह किसी वस्तु का गुण भी नहीं है। भेद अभाव भी नहीं है, क्योंकि बिना आश्रय के अभाव की प्रतीत नहीं होती है।

आचार्य भांकर– 9वीं शताब्दी में केरल के कालडीनामक ग्राम में नम्बूदरीपाद ब्राह्मण कुल में विलक्षण प्रतिभा का आविर्भाव हुआ जिसने 8 वर्ष की आयु में चारों वेदों का अध्ययन, 12 वर्ष की आयु में सर्ववित् सर्वज्ञ तथा 16 वर्ष की आयु में बादरायण के ब्रह्मसूत्र पर शारीरकभाश्य से लिखा। 32 वर्ष की अवस्था में अपनी इहलीला का पटाक्षेप करने वाले महान दार्शनिक आचार्य शंकर को ईश्वर का एक विशेष अवतार समझ लेना सहज स्वाभाविक है। माधव का 'शंकरदिग्विजय' और आनन्दगिरि का 'शंकरविजय' इनकी जीवन–चरित्र के प्रकाशक ग्रंथ हैं। किंतु इन सभी ग्रंथों में ऐतिहासिक सामग्री और प्रशंसात्मक काव्य का इतना मिश्रण है, कि शंकर का प्रमाणिक जीवनी लिखना एक समस्या हो गई है।

संगठनशक्ति से बढ़कर चिन्तनशक्ति और लेखनशक्ति के पुरोधा शंकर के अनेक ग्रंथ प्रचलित हैं, तथापि प्रमाणिक रूप से शारीरकभाश्य, 10उपनिषदभाश्य, भगवद्गीताभाष्य तथा

उपदेशसाहस्त्री ही प्रायः मान्य है। शंकराचार्य की समग्र रचना सृष्टि को 3खंडों में विभक्त कर अध्ययन कर सकते हैं। भाष्य, स्त्रोत और प्रकीर्णग्रन्थ समूह विवेकचूड़ामणि, दशश्लोकी, दृग्श्यविवेक, अपरोक्षानुभूति, सौंदर्यलहरी, दक्षिणामूर्तिस्त्रोत, कनकधारास्त्रोत, योगतारावली, पंचीकरण इत्यादि ग्रन्थ शंकर विरचित माने जाते हैं, संभवतः ये ग्रन्थ जगद्गुरु शंकराचार्य की रचनाएं है, जो शंकराचार्य द्वारा स्थापित मठों के मठाधीश थे।

शंकराचार्य के चार प्रमुख शिष्यों में पद्मपाद, सुरेश्वर, त्रोटक और हस्तामलक माने जाते हैं। हस्तामलक के नाम से केवल उनका 'हस्तामलकस्त्रोत' प्रसिद्ध है। जिसमें 14 श्लोक हैं। इस पर शंकराचार्य की एक टीका भी है। इसमें 'गुरु–शिष्य–संवाद' के माध्यम से अद्वैत–वेदान्त की स्थापना की गई है। आचार्य त्रोटक के नाम से 'श्रुतिसारसमुद्धरण' प्रसिद्ध है, जिसमें 197पद त्रोटक छन्द में बद्ध है। इस पर सच्चिदानन्दयोगिद्र की 'तत्वदीपिका' नामक 'त्रोटकवृत्ति' है।

शंकराचार्य रचित शारीरकभाष्य पर अनेक टीकाएं लिखी गई है, जिनमें शंकर प्रवर्द्धित, निर्गुण–ब्रह्मवाद, आत्मवाद, मायावाद, सृश्टि–विद्या, ईश्वर, जीव, मोक्ष तथा मोक्षमार्ग सदृश्य सिद्धांतों को ही प्रस्तुत किया गया है। शारीरकभाश्य पर प्रमुख्य टीका–

क्रम	टीकाकार	टीका
1.	पद्मपाद	पंचपादिका
2.	वाचस्पतिमिश्र	भामती
3.	सर्वज्ञात्ममुनि	संक्षेपशारीरक
4.	आनन्दगिरि	न्यायमकरन्द
5.	गोविन्दानन्द	रत्नप्रभा
6.	चित्सुखाचार्य	भाष्यभाव–प्रकाशिका
7.	अप्पयदीक्षित	शारीरक न्यायरक्षामणि
8.	अद्वैतानन्द	ब्रह्मविद्याभरण

इन सभी भाष्य ग्रन्थों में प्रमुख्यतया आचार्य शंकर की 'लक्ष्यदृश्टि' को ही लक्षित किया गया है।

विवरण–प्रस्थान– आचार्यपद्मपाद शंकराचार्य के साक्षात् और अन्यतम शिश्य थे। इनका पूर्व नाम सनन्दन और इनका जन्म दक्षिण के चोल देश में हुआ था। 'भारतीय दर्शन का इतिहास' में डॉ दासगुप्त ने इनको शंकर का समकालीन माना है। शंकराचार्य के ब्रह्मलीन के बाद आचार्यपद्मपाद गोवर्धनमठ पुरी के शंकराचार्य पद पर अभिशिक्त हुए थे। शंकराचार्य के निर्देशानुसार पद्मपाद ने उनके शारीरकभाश्य पर 'पंचपादिका' नामक टीका लिखी थी। वर्तमान में यह ग्रन्थ केवल चतुःसूत्री तक ही प्राप्त होता है, लेकिन शंकरदिग्विजय के अनुसार इसका शेश भाग भी था, जिसे 'वृत्ति' कहा जाता था।

शंकर दिग्विजय में वर्णित कथा के अनुसार पंचपादिका का नाम 'वेदान्तडिण्डिम' था। इस ग्रन्थ में पद्मपाद ने शांकरभाश्य के तात्पर्य का तार्किक और अभूतपूर्व विश्लेशण प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ के ऊपर आचार्य प्रकाशात्मनयति की 'विवरणटीका' है, जिसके नाम से 'विवरण–प्रस्थान' प्रसिद्ध हुआ है। पंचपादिका पर विवरण के अतिरिक्त स्वामीअमलानन्द की पंचपादिका–दर्पण, नृसिंहाश्रम की वेदान्तरत्नकोश, आत्मस्वरूप की प्रबोधशोधनी तथा विज्ञानात्मा की तात्पर्यबोधनी, टीका उपलब्ध है। पद्मपाद के अन्य ग्रन्थो में शंकराचार्यकृत प्रपंचसारतन्त्र पर 'विवरणनामक टीका' शिवपंचाक्षरीभाश्य तथा विज्ञानदीपिका है। 'विवरण–प्रस्थान' को 'टीका प्रस्थान' भी कहा जाता है, क्योंकि 'पंचपादिका' शारीरकभाश्य की एक टीका है। विवरण–टीका परवर्ती काल मे इतनी प्रख्यात हुई कि इसके ऊपर भी अनेक उप–टीकाएं लिखी गई, जिसमें 'ऋजुविवरण' सर्वज्ञविश्णुभट्ट की, 'तत्वदीपन' अखण्डानन्द की, 'तात्पर्यदीपिका' चित्सुखाचार्य की तथा 'भावप्रकाशिका' नृसिंहाश्रम की प्रमुख है। इनग्रन्थो से

सुसज्जित विवरण–प्रस्थान एक सुप्रतिश्ठित प्रस्थान बना। विवरणटीका के बिना पंचपादिक की संक्षिप्त और सारगर्भित उक्तियों को हृदयंगम करना कठिन है। 'पंचपादिका' में जो वेदान्त–सिद्धान्त बीजत्वेन वर्णित है, वही 'विवरण' में बहुशाखामय, सुदृढ़ एवं विशाल वृक्षत्वेन विकसित हुआ है।

पंचपादिका नौ वर्णकों में विभक्त है। वर्णक का अर्थ वर्णन या व्याख्या से है जिसमें प्रत्येक वर्णक में एक–एक दार्शनिक विशय की व्याख्या की गयाी है। विवरण प्रस्थान के आचार्यों ने प्रमुख्य रूप से आभास, तमस्–भावरूपत्व, अविद्या का स्वरूप तथा भावरूपत्व, ब्रह्म का स्वरूप और लक्षण, ब्रह्म की जगत् कारणता, जीव का स्वरूप, जगन्मिथ्या शब्दापरोक्षवाद और अविद्यानिवृत्ति को ही उद्भाशित किया है।

भामती–प्रस्थान– भामती–प्रस्थान के उद्भावक आचार्य के रूप में वाचस्पति मिश्र माने जाते हैं, जिन्होंने शारीरकभाश्य पर एक विशद और मौलिक टीका के रूप में 'भामती' की रचना की है। 10वीं शताब्दी के श्रेश्ठ सर्वतन्त्र स्वतन्त्र दार्शनिक के रूप में प्रख्यात हैं। कल्पतरूकर के नाम से प्रख्यात अमलानन्द सरस्वती ने भामती पर वेदान्त–कल्पतरू नामक टीका लिखी है। जिसने भामती–प्रस्थान को अद्वैत–वेदान्त के प्रतिश्ठित प्रस्थान के रूप में प्रतिश्ठा प्रदान की है। अमलानन्द सरस्वती भामती–प्रस्थान के संस्थापक आचार्य माने जाते हैं। अमलानन्द के वेदान्त–कल्पतरू पर अप्पयदीक्षित की 'परिमल', लक्ष्मी नृसिंह कृत 'अभोग', वैद्यनाथ पायुगुण्डे कृत 'मंजरी' प्रसिद्ध है। वेदान्त–कल्पतरू के अतिरिक्त भामती पर वल्लालसूरी कृत 'भामतीतिलक', अखण्डानन्द कृत 'ऋजुप्रकाशिका', अच्युत कृश्णतीर्थ कृत 'भामती–भावदीपिका', सुब्रह्मण्यम् शास्त्री कृत 'भामती–विवरण' इत्यादि टीकाएं है। वाचस्पति मिश्र ने पद्मपाद की पंचपादिका और शंकर के सिद्धान्तों का आपातिक विरोध प्रकट करते जिनका स्वरूप और पुश्ट, अमलानन्द ने किया है। शंकर के अनुसार स्वशक्ति से ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है, किन्तु वाचस्पति मिश्र ने माना कि जगत् का कारण 'ब्रह्म' है तथा वह जीव के भ्रम का विशय है। भामती–प्रस्थान का भेद विवरण–प्रस्थान से है।

वार्तिक–प्रस्थान– इस प्रस्थान के संस्थापक शंकराचार्य के साक्षात् शिश्य सुरेश्वराचार्य हैं, और इसका आधारग्रन्थ 'बृहदारण्यकोपनिशद भाश्यवार्तिक' है, जिस पर आनन्दगिरि तथा विद्यारण्य स्वामी की टीका है। सुरेश्वराचार्य के अन्य ग्रन्थ भी इस प्रस्थान में आते हैं, जिनमें पंचीकरणवार्तिक, नैश्कर्म्यसिद्धि, मानसोल्लास प्रमुख है। नैश्कर्म्यसिद्धि आचार्यसुरेश्वर की मौलिक कृति है जिन पर ज्ञानोत्तमा कृत 'चंद्रिका' चित्सुख की भावतत्वप्रकाशिका, ज्ञानामृत की 'विद्यासुरभि' ,अखिलात्मा की 'नैश्कर्म्यसिद्धि' विवरण तथा रामदत्त कृत 'सारार्थ' प्रमुख है। वार्तिक–प्रस्थान का एक अन्य प्रधान ग्रन्थ सर्वज्ञात्मुनि रचित 'संक्षेपशारीरक' है। जिसको 'शारीरकभाश्यवार्तिक' भी कहा जाता है। इस पद्यमय ग्रन्थ पर मधुसूदन सरस्वती कृत 'संक्षेपशारीरकसारसंग्रह', नृसिंहाश्रम कृत तत्त्वबोधनी, रामतीर्थ कृत अन्वर्थ प्रकाशिका इत्यादि प्रमुख है।

आचार्य सुरेश्वर का अद्वैत विशयक सिद्धान्त शंकर के सिद्धान्तो को सर्वत्र पुश्ट करता है तथा कतिपय स्थलों पर वैशम्य भी स्थापित करता है। औपाधिक भेद व्यवस्था में जहाँ पद्मपाद 'प्रतिबिम्बवाद' का समर्थन करते हैं, वाचस्पतिमिश्र 'अवच्छेदवाद' का, वहीं सुरेश्वराचार्य आभासवाद का। भामती–प्रस्थान में 'त्रिवृतकरण' की मान्यता है, जबकि वार्तिक–प्रस्थान में 'पंचीकरण' मान्य है।

वाद–प्रस्थान– भामती–प्रस्थान, विवरण–प्रस्थान तथा वार्तिक–प्रस्थान को मिलाकर अधिकरण–प्रस्थान कहा जाता है, क्योंकि इनमें मुख्यतः अद्वैत–वेदान्त के सिद्धान्तों की व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। इसके विपरीत वाद–प्रस्थान में जहाँ एक ओर अद्वैत के सभी पूर्ववर्ती प्रस्थानों का समन्वय किया गया है, वहीं दूसरी ओर वाद–नियम के बल पर परमत शोधन भी किया गया है। अतः इस प्रस्थान को 'वाद–प्रस्थान' भी कहा जाता है। इस प्रस्थान के मुख्य ग्रन्थ श्रीहर्श का 'खण्डनखण्डखाद्य', चित्सुख की 'तत्त्वप्रदीपिका' और मधुसूदनसरस्वती की 'अद्वैतसिद्धि' है। जिसे भाशा शैली और विचार की दृश्टि से कठिन होने के कारण 'कठिनत्रयी' भी कहा जाता है। इन प्रास्थानिक ग्रन्थों पर नव्यन्याय–भाशा–शैली का प्रभाव होने के कारण इसे 'नव्य–वेदान्त' भी कहा जाता है।

खण्डनखण्डखाद्य की दार्शनिकता की यशोगाथा उन पर लिखित टीका से ही विदित है, जिनमें परमानन्दकृत 'खण्डन–मण्डन', भवानाथकृत 'खण्डन–मण्डन', रघुनाथ शिरोमणिकृत 'दीधित', वर्धमानकृत 'प्रकाश', विद्याभरणकृत 'विद्याभरणी', शंकरमिश्रकृत 'आनन्दवर्धन'(शांकरी), पद्मनामकृत' शिश्यहितैशणी', चित्सुख की 'भावदीपिका', रघुनाथ भट्टाचार्यकृत 'खण्डनभूशणमरिग' इत्यादि प्रमुख है। खण्डनखण्डखाद्य पर उपलब्ध सभी टीकाओं को मुख्यतया त्रिधा विभक्त कर सकते हैं, जिनमें खण्डनखण्डखाद्य का खण्डनकर न्यायदर्शन का मण्डन, खण्डनखण्डखाद्य के युक्तियों का विकास एवं न्यायदर्शन का अद्वैत–वेदान्त की ओर विकास। इसके अर्न्तगत आनन्दबोध कृत 'न्यायमकरन्द', अप्पयदीक्षितकृत 'मध्वमुखमर्दन', नृसिंहाश्रमकृत 'भेदधिक्कार', अनन्तकृश्णशास्त्री कृत 'शतभूशणी' इत्यादि हैं।

प्रारम्भिक–प्रस्थान– तुलसीदास का अद्वैत–वेदान्त के सन्दर्भ में अभिमत है कि ज्ञानमार्ग समझने, साधने और कहने में कठिन है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए अनेक अद्वैत–वेदान्तियों ने सारसंग्रह भूत अनेक प्रकरण ग्रन्थो की रचना की। जिनके

अध्ययन के अनन्तर शारीरकभाश्य, बृहदारण्य कोपनिशद्भाश्यवार्तिक, अद्वैतसिद्धि, चित्सुखी आदि ग्रन्थों को पढ़ने की परम्परा है। इन प्रकरण ग्रन्थों पर दो दृश्टियों से विचार कर सकते हैं, जैसे– मुमुक्षु की दृश्टि से– जिनमें स्वामी विद्यारण्य तथा उनके गुरू भारतीतीर्थ कृतपंचदशी तथा महादेव सरस्वतीकृत 'तत्त्वानुसन्धान' है, तथा जिज्ञासु की दृश्टि से– जिनमें सदानन्दकृत 'वेदान्तसार' तथा धर्मराजाध्वरीन्द्रकृत 'वेदान्तपरिभाशा' इत्यादि प्रमुख हैं।

उपसंहार– उक्त विवेचन से सिद्ध है कि अद्वैत–वेदान्त सामान्य जन, शिक्षार्थियों एवं मनीशियों के मध्य एक जीवन्त दर्शन है। अद्वैत–वेदान्त दर्शन ने एक प्रकार की तर्क प्रणाली विकसित की जिसे अद्वैत–द्वन्द्व–न्याय कहा गया है। पूर्ववर्ती आचार्यो के सिद्धान्तों का खण्डन–मण्डन व स्वमत प्रवर्धन ही प्रस्थानो के विकास का कारण रहा होगा। इन प्रस्थानों के विकास में हमें एक प्रकार की खण्डन–मण्डन वा तर्क की परम्परा का ज्ञान होता है। जिसकी कसौटी पर ही प्रास्थानिक आचार्यों ने स्वमत को स्थापित किया–

1. उपनिशदों में 'नेति–नेति' तथा 'इति–इति' की प्रक्रिया से सम्बन्धित है। अर्थात् इसके दो पक्ष है– निशेध तथा अभिधान।
2. मण्डनमिश्र तथा शंकर ने इसमें अध्यारोप और अपवाद की प्रणाली जोड़ी। इसमें अध्यारोपों की संख्या भी अनियत और इनके निराकरण की संख्या भी अनियत हो जाती है।
3. गौड़पाद तथा शंकराचार्य ने 'चतुश्कोटिक तर्कप्रणाली' जोडी, जिसका प्रयोग पूर्व में उपनिशपद तथा माध्यमिक बौद्ध–दर्शन में हुआ था।
4. श्रीहर्श, चित्सुख और मधुसूदन सरस्वती ने प्रसंगानुसारवाद की पद्धति जोड़ी और किसी विशय का खण्डन करने के लिए उसके अर्थ के अनेक विकल्प बनाए और यह दिखाया कि कोई भी विकल्प सम्भव नहीं है।
5. मधुसूदनोत्तर अद्वैत वेदान्तियों ने 'अन्वय–व्यतिरेकानुमान' का भी प्रयोग किया और श्रुति, स्मृति तथा युक्ति से अद्वैतवाद को सिद्ध किया।

सन्दर्भ –

अद्वैतकान्तपक्षेऽपि दृश्टो भेदो विरूध्यते।
कारकाणां क्रिययाश्च नैकं स्वस्मात् प्रजायते।। आप्तमीमांसा, 24

भूतं न जायते किंचिद अभूतं नैव जायते।
विवदन्त्योऽद्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति ते।। मा. उ. की. 4/4

यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पन्दते माययां मनः।
था जाग्रद् द्वयाभासं स्पन्दते माययां मन। मा. का.– 3/29

न भेदो वस्तुनो रूपं तद्भाव प्रसंगतः।
अरूपेण च भिन्नत्वं वस्तुनो नावकल्पते।। ब्र.सि. 2.5

वेदान्तवाक्यकुसुम ग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम्। वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरूदाहृत्य विचार्यन्ते। वाक्यार्थ विचारणाध्यावसान–निर्वृता हि ब्रह्मावगतिः, नानुमानादिप्रमाणान्तरनिर्वृता। शा. भा. 1.1.2

अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य अनेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियत देशकाल – निमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्य चिन्त्य रचनारूपस्य जन्मस्थितिभंग यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः कारणाद्भवति, ''तद्ब्रह्म'' इति वाक्यशेशः। शा. भा. 1.1.2

कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन बिबेक। होइ घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्युह अनेक।। रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, 118(ख)

सन्दर्भ –

1. डायसन, पाल, पाण्डेय, संगमलाल(अनु.), 1971. वेदान्त दर्शन, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ– 226001।
2. देवराज, नन्द किशोर(सम्पा.), 2002. भारतीय दर्शन, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ– 226001।
3. पाण्डेय, संगमलाल, 2002. मूल शांकरवेदान्त, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद–211001।
4. पाण्डेय, संगमलाल(खण्ड विशेश सम्पा.), 1996. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास(दसवाँ खण्ड), उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ– 226001।
5. मिश्र, जगदीश चन्द्र, 2012. भारतीय दर्शन, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी– 221001।
6. शर्मा, उर्मिला, 1978. अद्वैत वेदान्त में तत्व और ज्ञान, छन्दस्वती प्रतिश्ठान, वाराणसी– 221001।
7. शास्त्री, उदयवीर, 1991. वेदान्त दर्शन, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली– 110028।
8. शर्मा, राममूर्ति, 1972. अद्वैत वेदान्त का इतिहास तथा सिद्धान्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली– 110006।
9. हिरियन्ना, एम॰, (अनु॰– भट्ट, गोवर्धन, गुप्त, मन्जू, चौधरी, सुखवीर), 2018. भारतीय दर्शन की रूपरेखा,राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली– 110002।



GOVT. OF INDIA RNI NO.: UPBIL/2015/62096

UGC Approved Care Listed Journal

ISSN 2229-3620

SIS

SHODH SANCHAR Bulletin

An International
Multidisciplinary
Quarterly Bilingual
Peer Reviewed
Refereed
Research Journal

Vol. 10

Issue 40

October to December 2020

Editor in Chief
Dr. Vinay Kumar Sharma
D. Litt. - Gold Medalist

sanchar
Educational & Research Foundation

28.	TRACING ROOT THROUGH ROUTES: ANXIETY AND NOSTALGIA IN TABISH KHAIR'S THE THING ABOUT THUGS	Aditi Priya Dr. Archana Kumari	153
29.	JOB SATISFACTION OF LIS PROFESSIONALS OF SELECTED DISCIPLINE AND ITS IMPACT ON INFORMATION TECHNOLOGY	ADITI JOSHI Dr. HARISH KUMAR SAHU	158
30.	ADVERTISING IN THE TELECOM SECTOR AND ITS IMPACT ON CUSTOMERS BUYING DECISIONS	Parul Sauraj Dr. Mona Chawhan	165
31.	IMPACT OF PANDEMIC COVID-19 ON OLDER ADULTS AND THEIR WELLBEING	Gayatri Prajapati Khwairakpam Sharmila	171
32.	IN SEARCH OF A RECONDITE INTER-DIMENSION: A STUDY OF THE BAUL PHILOSOPHY AND ITS INFLUENCE UPON RABINDRANATH TAGORE	Tirtha Sagar Banerjee Deshna Paul	178
33.	NEW EDUCATION POLICY 2020 IN THE LIGHT OF SHRI AUROBINDO'S PHILOSOPHY OF EDUCATION	Golam Ahammad Dr. Swapan Kumar Maity	183
34.	A STUDY OF ENVIRONMENT RELATED COVERAGE IN PRINT MEDIA	Dr. Ajay Bhardwaj Neha Singh	188
35.	THE CONDITIONAL ALLOWANCE OF UNSYLLABIFIED CONSONANTS (SEMISYLLABLES) IN BEDOUIN DIALECTS OF YEMENI ARABIC	Sami A. A. Prof. G. Vijayasarathi	195
36.	EFFECT OF TADASANA ON PHYSICAL GROWTH IN SCHOOL GOING CHILDREN WITH SPECIAL REFERENCE TO SOCIOECONOMIC STATUS	Anuradha Singh Dr. K.N. Singh	201
37.	अनुसूचित जातियों में सामाजिक गतिशीलता : एक साहित्यिक समीक्षा	डॉ0 प्रतिभा राज राहुल पाण्डेय	207
38.	मोदी की विदेश नीति : पाकिस्तान के विशेष संदर्भ में अध्ययन	डॉ सुरेंद्र सिंह	212
39.	कोविड19 के कारण भारत के पर्यटन उद्योग पर पड़ने वाले आर्थिक प्रभाव का अध्ययन	डॉ0 विंध्याचल सिंह यादव अमित पाण्डेय	218
40.	महात्मा गाँधी के चिंतन के विविध आयाम–एक विश्लेषणात्मक अध्ययन	डॉ0 भावना त्रिवेदी	224
41.	दूरस्थ शिक्षा और मीडिया की नवीन तकनीक	डॉ. परमात्मा कुमार मिश्र	229
42.	भूमंडलीकृत भारत में जाति, धर्म के नाम पर पहचान की राजनीति और महात्मा गाँधी के विचारों की प्रासंगिकता	अभिषेक शर्मा	234
43.	वेदान्त परिभाषा में प्रमा का लक्षण : एक अध्ययन	विनय कुमार तिवारी	238
44.	भारत में स्वच्छता	डॉ0 नीरज कुमार राय	243
45.	छत्तीसगढ़ की माटी में बसा हिंदी का रखवाला कवि विनोद कुमार शुक्ल	डॉ. मधुलता बोरा श्रीमती रामेश्वरी दास	247

ISSN - 2229-3620
APPROVED UGC CARE
SHODH SANCHAR BULLETIN
Vol. 10, Issue 40, October - December, 2020
Page Nos. 238-242
AN INTERNATIONAL BILINGUAL PEER REVIEWED REFEREED RESEARCH JOURNAL

वेदान्त परिभाषा में प्रमा का लक्षण : एक अध्ययन

❐ विनय कुमार तिवारी*

ABSTRACT

वेदान्त परिभाषा, अद्वैत वेदान्त की प्रमाणमीमांसा से संबंधित महत्वपूर्ण 'प्रकरण ग्रंथ' है। यह 16वीं शताब्दी का ग्रन्थ है। एम. हिरियन्ना का मत है कि धर्मराजाध्वरीन्द्र कृत वेदान्त परिभाषा में अद्वैत वेदान्त का, विशेष रूप से उसके तर्कशास्त्रीय और ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्तों का, तकनीकी और तन्त्रबद्ध वर्णन है। डॉ राधाकृष्णन का मत है कि वेदान्त परिभाषा न्यायशास्त्र की अध्यात्मविद्या के विषय में एक अत्युत्तम ग्रन्थ है। वेदान्त परिभाषा में 'स्मृति व्यावृत्तं प्रमात्वं 'अनधिगत अबाधित–विषयज्ञानत्वम्' को प्रमा कहा गया है। सामान्यतः किसी विषय का ज्ञान प्रमा से ही सिद्ध होता है, क्योंकि 'नहिं लक्षण प्रमाणाभ्यां बिना वस्तुसिद्धिः' अर्थात् लक्षण और प्रमाण के बिना वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए भारतीय दार्शनिकों ने लक्षण एव प्रमाण के संबंध में विविध प्रणालियाँ उपस्थित की हैं। जिसमें वेदान्त परिभाषा की प्रमाण विचार प्रणाली विशेष महत्व रखती है।

वेदान्त परिभाषा का परम लक्ष्य आत्म साक्षात्कार की प्राप्ति है। इस साध्य की प्राप्ति में ज्ञान ही साधन है। अद्वैत वेदान्त मतानुसार ज्ञान द्वारा ही आत्मोपलब्धि की जा सकती है क्योंकि 'आत्मा का वास्तविक स्वरूप अज्ञान के आवरण से ढका रहता है।' अज्ञान निवृत्ति के द्वारा ही दृष्टा के वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति होती है। यही कारण है कि वेदान्त परिभाषा में ज्ञान के स्वरूप, ज्ञान की प्रामाणिकता आदि पर विशेष आग्रह किया गया है।

प्रस्तुत शोध पत्र में अद्वैत वेदान्त के प्रकरण ग्रंथ वेदान्त परिभाषा के आलोक में प्रमा के लक्षण को स्पष्ट किया जाएगा।

Keywords: *बोध, प्रमा, स्मृति, अनधिगत, अबाधित, प्रमाण, लक्षण आदि।*

वेदान्त परिभाषा में प्रमा का लक्षण : एक अध्ययन

वेदान्त परिभाषा, अद्वैत वेदान्त की प्रमाणमीमांसा से संबंधित महत्वपूर्ण 'प्रकरणग्रंथ' है। इस ग्रन्थ के आरम्भ, मंगलाचरण में श्लोकों के द्वारा ग्रन्थकार ने अपने गुरू, नाम एव कृतियों का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ के रचियता धर्मराजाध्वरीन्द्र है, 'वेदान्त परिभाषा' के अतिरिक्त इनकी प्रसिद्ध कृति 'तत्वचिन्तामणि' नाम के ग्रन्थ पर दस टीकाओं का खण्डन करने वाली 'तर्कचूडामणि' नाम की टीका है। यह 16वीं शताब्दी का ग्रन्थ है। धर्मराजाध्वरीन्द्र कृत वेदान्त परिभाषा में अद्वैत का, विशेष रूप से उसके तर्कशास्त्रीय और ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्तों का, तकनीकी और तन्त्रबद्ध वर्णन है। वेदान्त परिभाषा न्यायशास्त्र की अध्यात्मविद्या के विषय में एक अत्युत्तम ग्रन्थ है। वेदान्त परिभाषा पर अनेक टीकाएं हिन्दी, संस्कृत एवं अंग्रेजी में प्राप्त होती हैं। जैसे– शिखामणि, मणिप्रभा, आशुबोधनी, पदार्थमंजूसा, पंचाननकृत परिभाषा–संग्रह आदि व्याख्याए संस्कृत में प्राप्त होती हैं। अंग्रेजी में सूर्यनारायण शास्त्री एवं हिन्दी में स्वामी गोविन्द सिंह ने वेदान्त परिभाषा का अनुवाद किया है।

अद्वैत वेदान्त का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए तीन प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं– विद्यारण्य रचित पंचदशी, सदानन्द कृत वेदान्तसार, धर्मराजाध्वरीन्द्र विरचित वेदान्त परिभाषा। जिनमें पंचदशी श्लोकबद्ध

*शोधार्थी (भारतीय दर्शन विभाग), साँची बौद्ध–भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, बारला, रायसेन (म.प्र.)

तथा शास्त्रार्थ सम्मत् होने के कारण प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने वाले व्यक्तियों के लिए कठिन हो सकती है। जबकि वेदान्तसार एवं वेदान्त परिभाषा ऐसे व्यक्तियों के लिए अधिक उपयुक्त ग्रन्थ हैं। वेदान्तियों के मध्य ऐसा प्रचलित है कि वेदान्तसार के अध्ययन के उपरान्त ही वेदान्त परिभाषा का अध्ययन करना चाहिए। कारण यह कि 'वेदान्तसार द्वारा वेदान्त–प्रमेयों एवं शास्त्रार्थ का बोध होने पर अनेक शंका निराकरण पूर्वक विशिष्ट प्रमेयों एवं शास्त्रार्थ पद्धति का बोध वेदान्त परिभाषा से होता है।' प्रायः वेदान्तसार एव ंपंचदशी में जिन विषयों का उल्लेख नहीं किया गया है, उनका युक्तिसंगत् विवेचन वेदान्त परिभाषा में किया गया है। जैसे– ब्रह्म के द्रव्यरूपत्व का निराकरण, जातिरूपतत्व का निराकरण, मन के इन्द्रियत्व का निराकरण, स्मृति में प्रमात्व आदि। वेदान्त परिभाषा में प्रमा का विलक्षण वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ में' प्रमा' के लक्षण का अध्ययन करने के पूर्व ज्ञान(बोध), प्रमा आदि पारिभाषिक प्रत्ययों पर प्रकाश आवश्यक है।

ज्ञान, 'ज्ञा' धातु में ल्युट् प्रत्यय लगाने से बनता है। इसके शाब्दिक अर्थ है– जानना, सम्यक् बोध, शास्त्रानुशीलन, पदार्थ का ग्रहण करने वाली मन की वृत्ति, आत्म साक्षात्कार आदि।' इस प्रकार व्युत्पत्तिमूलक दृष्टि से भारतीय दर्शन में ज्ञान का अर्थ बहुधा 'सम्यक् बोध, जानना' आदि के रूप में किया जाता है। साधारणतः ज्ञाता की चेतना में विषय जिस रूप में उपस्थित होता है उसे बोध की संज्ञा दी जाती है।' भारतीय परम्परा में बहुधा 'बोध और ज्ञान' का प्रयोग समानार्थक रूप में किया जाता है। बोध के लिए तीन तत्व की आवश्यकता होती है–

1. बोध की विषय वस्तु (ज्ञान का विषय)
2. बोध की क्रिया (ज्ञान का साधन)
3. बोध को धारण करने वाला (ज्ञाता)

यही ज्ञान के तीन संघटक तत्व हैं। ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान का साधन, के सम्मिलित रूप को ज्ञान कहा जाता है। यथा कठोपनिषद् में कहा गया है कि जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ स्थिर हो जाती हैं तब ज्ञान होता है। यथा–

'यदा पञ्चावतिष्ठनते ज्ञानानि मनसा सह।'

(कठ. उपनिषद् – 6.10)

इस प्रकार व्युत्पत्तिमूलक दृष्टि से ज्ञान शब्द का प्रयोग पाँचों ज्ञानेन्द्रियों एवं मन के माध्यम से जानने के अर्थ में किया जाता है। लक्ष्यमूलक दृष्टि से 'तैत्तरीय उपनिषद्' में कहा गया है– 'ब्रह्म को जानने वाला परंब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, वह ब्रह्म सत्यस्वरूप वाला, ज्ञानमय–चित्स्वरूप, अनन्त–सर्वव्यापक, आदि–अन्त से रहित है'। यथा–

'सत्यं ज्ञानमनन्त ंब्रह्म।' (तै. उपनिषद् – 2.1.1)

इस प्रकार भारतीय दर्शन में ज्ञान को व्युत्पत्ति की दृष्टि 'जानने के अर्थ में' एवं लक्ष्य की दृष्टि से 'तत्व साक्षात्कार' की संज्ञा दी गई है। 'नहिं लक्षण प्रमाणाभ्यां बिना वस्तुसिद्धिः' अर्थात्– लक्षण और प्रमाण के बिना वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए समस्त भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों ने लक्षण एवं प्रमाण के संबंध में अपनी–अपनी प्रणालियाँ उपस्थित की हैं। किन्तु इसमें अद्वैत वेदान्त की प्रमाण विचार प्रणाली विशेष महत्व रखती है। 'प्रमाण का सम्बन्ध प्रमा से है। इसलिए प्रमा के स्वरूप को जाने बिना प्रमाण की चर्चा का कोई अर्थ नहीं है। प्रमा एक प्रकार का ज्ञान है।' इस शोध–पत्र का प्रतिपाद्य विषय प्रमा है।

प्रायः सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने प्रमा का विवेचन किया है तथापि अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से उसमें कुछ न्यूनताएं हैं, अद्वैत वेदान्त उन्ही का निराकरण करता है। अद्वैत वेदान्त के विषय में यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि 'अद्वैत वेदान्त तो जगत मिथ्यात्ववादी दर्शन है और प्रमा यथार्थ जगत् से सम्बन्धित है, अतः इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण किये बिना, क्या अद्वैत वेदान्त प्रमा विषयक कोई सन्तोषजनक समाधान प्रस्तुत कर सकता है? अब यदि विश्व असत् है तो उसका प्रमात्व असत् ही होगा? इस सन्दर्भ में अद्वैत वेदान्त की मान्यता है कि जैसे पारमार्थिक अर्थ में वह विश्व मिथ्यात्ववादी है, वैसे ही व्यावहारिक अर्थ में विश्व यथार्थवादी भी है और इसके सभी पक्ष को समान महत्व देता है। अतः अद्वैत वेदान्त के सम्बन्ध में यह प्रश्न स्वाभविक तो है किन्तु विचारणीय नहीं है। यही अभिमत वेदान्त परिभाषा पर भी लागू होता है।

प्रायः प्रमा के स्वरुप को लेकर भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में मतैक्य नहीं है। प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय की अपनी–अपनी तत्वमीमांसा के अनुरूप ही प्रमा के स्वरूप का निरूपण किया है। यह ध्यातव्य हो कि 'प्रत्येक

तर्कशास्त्रीय पद्धति एवं ज्ञानमीमांसीय पद्धति का किसी न किसी तत्वदर्शन या तत्वमीमांसा से घनिष्ठ सम्बन्ध है।' प्रमाण, प्रमा, प्रमाण्य आदि को लेकर भारतीय दार्शनिक ने बहुत सूक्ष्म चिन्तन प्रस्तुत किया है। प्रमा पद पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है– 'लक्ष्य की दृष्टि' से तथा 'व्युत्पत्ति की दृष्टि' से। यथा लक्षितिमूलक दृष्टि से 'वेदान्त–कौमुदीकार के शब्दों में 'तत्वानुभूतिः प्रमा' अर्थात 'तत्व की अनुभूति ही प्रमा है' या 'तत्व साक्षात्कार ही प्रमा है'। व्युत्पत्तिमूलक दृष्टि से 'प्र पूर्वक मा धातु से निष्पन्न प्रमा पद का अर्थ होता है– प्रकृष्ट ज्ञान अर्थात् यथार्थ ज्ञान।' केशवमिश्र अपने 'तर्कभाषा' नामक ग्रन्थ में प्रमा को यथार्थ अनुभव के रूप में परिभाषित किया है 'यथार्थानुभवः प्रमा'। प्रमा का शाब्दिक अर्थ है– प्रमाणों से उत्पन्न अर्थात् सही ज्ञान। इस प्रकार भारतीय दर्शन में प्रमा को व्यूत्पत्ति की दृष्टि 'यथार्थज्ञान' एवं लक्ष्य की दृष्टि से 'तत्वसाक्षात्कार' की संज्ञा दी गई है। सामान्यतः भारतीय दर्शन में लक्ष्य की दृष्टि से ज्ञान एवं प्रमा दोनों का प्रयोग एक ही अर्थ किया जाता है। वेदान्त परिभाषा में भी एक प्रकार से ब्रह्म ज्ञान ही प्रमा है तो यावहारिक दृष्टि से प्रमा को उसके व्यापक अर्थ स्मृतिव्यावृत्तं एवं स्मृतिसाधारणं के अर्थ में किया गया है। कारण यह कि 'अद्वैत वेदान्त में एक प्रकार से ब्रह्म का ज्ञान ही प्रमा है। किन्तु दूसरी दृष्टि से व्यावहारिक सत्य में प्रमा और अप्रमा का भेद किया जाता है। प्रमा के आसाधारण कारण को प्रमाण कहते है।'

वेदान्त परिभाषाकार ने वेदान्त परिभाषा के प्रत्यक्ष परिच्छेद के अर्न्तगत प्रमाणों की विवेचना के पूर्व 'प्रमा' के लक्षणों की स्थापना की है। प्रमा का सामान्य लक्षण है– तत्र प्रमाकरणं प्रमाणम्। अर्थात् 'तत्र–ब्रह्म, ब्रह्मज्ञान और उसमें प्रमाण इनमें प्रमा का जो करण(साधन) है, वह प्रमाण है। यहाँ 'प्रमाण' यह लक्ष्य है और 'प्रमाकरणं' यह उसका लक्षण है। यह प्रश्न उठता है कि प्रमा का क्या अर्थ है? वेदान्त परिभाषाकार के मत में प्रमा का अर्थ है– 'यथार्थज्ञान'। सामान्यतः सभी दार्शनिक निकायों में ज्ञान के दो प्रकार को माना गया है– प्रमा एवं अप्रमा के रूप में। यहाँ वेदान्त परिभाषाकार के मत में एक तरफ प्रमा का अर्थ स्पष्ट होता है तो दूसरी ओर अप्रमा के अर्थ का भी संकेत मिलता है कि अप्रमा का अर्थ है– अयथार्थ ज्ञान। इस शोध–पत्र का विषय प्रमा है, इसलिए यहाँ पर अप्रमा का विचार करना प्रसंगीय नही है। 'यथार्थज्ञान, 'स्मृति और अनुभव' के भेद से दो प्रकार का होता है, परन्तु कुछ लोग प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उत्पन्न होने वाला जो अनुभव रूप ज्ञान है, उसी को प्रमाण मानते हैं।' माध्व –वैशेषिक दार्शनिक स्मृति में प्रमात्व स्वीकार करते हैं, परन्तु न्याय दार्शनिक स्मृति में प्रमात्व को स्वीकार नहीं करते हैं। यही कारण है कि वेदान्त परिभाषाकार ने 'प्रमा' शब्द के पूर्व स्मृति व्यावृत्त पद का प्रयोग किया है क्योंकि स्मृति साक्षात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उत्पन्न नहीं होती है, किन्तु प्रत्यक्षादि अनुभव से संस्कार उत्पन्न होता है और संस्कार से स्मृति उत्पन्न होती है और संस्कारो में प्रमात्व न होने से स्मृति को भी प्रमा नही माना जाता'। इसलिए वेदान्त परिभाषाकार ने 'प्रमा' का प्रथम लक्षण स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि 'तत्र स्मृतिव्यावृत्तिं प्रमात्वं, 'अनधिगत अबाधित–विषयज्ञानत्वम्'। अर्थात्– प्रथमतः स्मृति में न जाने वाला प्रमा का लक्षण अनधिगत और अबाधित विषय का ज्ञान ही प्रमा है। 'यहाँ पर स्मृति को छोड़कर केवल अनुभवात्मक प्रमा का 'अनधिगत अबाधित विषयज्ञानत्वं प्रमात्वम्' यह लक्षण किया गया है। इसमें 'प्रमात्व' यह लक्ष्य है और 'अनधिगत–अबाधित–विषयज्ञानत्वम्' यह लक्षण है।'

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि 'अनधिगत–अबाधित–विषयज्ञानत्वम्' का अर्थ क्या है? वेदान्त परिभाषाकार के मत में 'अनधिगत' का अर्थ है– जो पूर्वज्ञात न हुआ। अर्थात्– जिसका ज्ञान पहले न हुआ हो या जो नवीन हो। पुनश्च अबाधित का अर्थ है– जो दूसरे प्रमाण से मिथ्या न सिद्ध होने वाला, जो विषय है, उसका ज्ञान ही प्रमा है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि वेदान्त परिभाषा में प्रथमतः प्रमा का लक्षण है– नवीन विषय एवं उत्तर ज्ञान से बाधित न होने वाले विषय का ज्ञान ही प्रमा है। वेदान्त परिभाषाकार का स्पष्टीकरण है कि 'प्रमा' लक्षण में 'अनधिगत' विशेषण लगाने से स्मृति के विषय का निराकरण हो जाता है। इसीप्रकार 'अबाधित' विशेषण लगाने से बाधित विषय का निराकरण भी हो जाता है। जैसे– 'शुक्तौ इदं रजतम्' शुक्ति (सीप) में रजत (चाँदी) का ज्ञान होता है कि इस विषय का ज्ञान रजत है, परन्तु उसका प्रमाण के द्वारा विवेचन किये जाने पर बाध होता है, अतः शुक्ति में होने वाला रजत ज्ञान प्रमा नहीं है। यहाँ से हमें अप्रमा के लक्षण भी स्पष्टीकरण हो जाता है कि 'अधिगत एवं बाधित विषय का ज्ञान ही अप्रमा है'। इस प्रकार वेदान्त परिभाषा में 'अनधिगत और अबाधित विषय

का जो ज्ञान है, वही प्रमा है' यह लक्षण स्मृति में घटित न होने से केवल अनुभवात्मक प्रमा का निर्दोष लक्षण है। पुनश्च परिभाषाकार के मत 'विषयज्ञानत्वम्' इस शब्द में जो 'ज्ञान' शब्द है, वह 'प्रमा' का स्वरूप बताने के लिए प्रयुक्त है क्योंकि इच्छादि अन्तःकरण–वृत्तिरूप नहीं है। इच्छा भी एक प्रकार का अन्तःकरण–वृत्तिरूप ज्ञान ही है, परन्तु 'अनधिगत' इस विशेषण से इच्छादि का निराकरण हो जाता है क्योंकि ज्ञात हुए विषय में ही इच्छादि उत्पन्न होती है।

वेदान्त परिभाषा की विशेषता यह कि 'वह अबाधित स्मृति को प्रमा की कोटि में लाने का प्रयास करता है। इसलिए परिभाषाकार ने प्रमा का दूसरा लक्षण करते हुए लिखते हैं कि 'स्मृतिसाधारणं तु अबाधित–विषयज्ञानत्वम्'।' अर्थात् स्मृति तथा अनुभव इन दोनों ज्ञानों में जो साधारण अबाधित विषय का ज्ञान ही प्रमा है, यही स्मृति साधारण प्रमा है। इसलिए जिस स्मृति का विषय यथार्थ होता है एवं उत्तर ज्ञान से बाधित नहीं होता ऐसी स्मृति को कुछ लोग प्रमाण मानते है। जैसे– माध्व और वैशेषिक स्मृति को प्रमा मानते है। परिभाषाकार ने प्रमा की इस परिभाषा में 'अबाधित–विषयज्ञानत्वं प्रमाणत्वम्' यह लक्षण किया है और 'स्मृतिसाधारणं' यह लक्ष्य है। यहाँ पर साधारण का अर्थ 'अनेक में रहने वाला' है, एवं 'उत्तर ज्ञान से बाधित न होने वाले विषय का ज्ञान ही प्रमा है'। यह लक्षण स्मृति एवं अनुभव दोनो ज्ञानों समान रूप से घटित होता है। इसलिए प्रमा का यह लक्षण स्मृति–साधारण है। जैसे– प्रथमतः यह घट है ऐसा ज्ञान होता है और उसका किसी उत्तर ज्ञान से बाध नहीं होता है। इस ज्ञान से अन्तःकरण में सूक्ष्म संस्कार उत्पन्न होते है, इसी संस्कार से आगे चलकर कुछ समय के बाद उसी घट का स्मरण होता है। इस स्मृति का विषय अबाधित घट होने से यह स्मृति प्रमा है। इसलिए अबाधित घट ज्ञान भी प्रमा है। इसके विपरीत रज्जु–सर्प का ज्ञान होने पर उसके समीप जाकर यह देखा जा सकता है कि यह सर्प है या नहीं? इस प्रकार प्रमाण के द्वारा यह ज्ञात होता है कि यह रज्जु है सर्प नहीं। इस उत्तर ज्ञान से पहले उत्पन्न सर्प ज्ञान का बाध हो जाता है। यहाँ पर सर्प रूपी विषय का बाध होता है, प्रमा का नहीं। ऐसे बाधित विषय की बाद में होने वाली स्मृति भी प्रमा नहीं होती है। इसलिए स्मृति और अनुभव दोनों 'प्रमा' का 'अबाधित–विषयज्ञानत्वम्' यह साधारण लक्षण है। वेदान्त परिभाषाकार के मत में 'अनुभव एवं स्मृति ये दोनों ज्ञान यथार्थ तथा अयथार्थ भेद से दो प्रकार के होते हैं।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि 'वेदान्त परिभाषा में प्रतिपादित प्रमा का स्वरूप अन्य सभी मत से अधिक व्यावहारिक एवं व्यापक है। वेदान्त परिभाषा में 'प्रमा' की उक्त दो परिभाषा प्राप्त होती है। प्रथम– 'स्मृति में न जाने वाला नवीन एवं उत्तर ज्ञान से बाधित होने वाले विषय का ज्ञान ही प्रमा है। तथा द्वितीय– स्मृति तथा अनुभव इन दोनों ज्ञानों में जो साधारण अबाधित विषय का ज्ञान ही प्रमा है, यही स्मृति साधारण प्रमा है। परिभाषाकार का मत इसलिए विलक्षण है कि 'वह स्मृति को भी प्रमा की कोटि में स्थान दिया है।

सन्दर्भ

- शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी–221001, पृ॰ 1।
- वहीं, पृ॰ 1–5।
- सर्वेपल्लि राधाकृष्णन, 2018. भारतीय दर्शन (भाग दो), राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली–110006, पृ॰ 389।
- देवराज, नन्द किशोर (सम्पा.), 2002. भारतीय दर्शन, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ–226001, पृ॰ 518।
- भट्ट, गोवर्धन, गुप्त, मंजू, चौधरी, सुखवीर (अनु.), एम. हिरियन्ना, 2018. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्रकाशन प्रा॰लि॰, नई दिल्ली–110032, पृ॰ 340।
- सर्वेपल्लि राधाकृष्णन, 2018. भारतीय दर्शन (भाग दो), राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली–110006, पृ॰ 389।
- शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी–221001, पृ॰ 9। (श्री मदनन्त शास्त्री फडके के प्राक्कथन से)
- कुमार, शशिप्रभा, शुक्ल, संतोष कुमार, झा, राम नाथ (सम्पा.), 2014. दार्शनिक सम्प्रत्यय–कोष, डी॰के॰ प्रिन्टवर्ल्ड प्रा॰लि॰, नई दिल्ली–110015, पृ॰ 71–72।

- सिन्हा, नीलिमा, 2005. भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली–110028 पृ3।
- कुमार, शशिप्रभा, शुक्ल, संतोष कुमार, झा, राम नाथ (सम्पा.), 2014. दार्शनिक सम्प्रत्यय–कोष, डी॰के॰ प्रिन्टवर्ल्ड प्रा॰लि॰, नई दिल्ली–110015, पृ॰ 71–72।
- वहीं।
- शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी–221001, पृ॰ 9।
- देवराज, नन्द किशोर (सम्पा.), 2002. भारतीय दर्शन, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ–226001, पृ॰ 256।
- मिश्र, हृदयनारायण, 2013. भारतीय दर्शन, शेखर प्रकाशन, प्रयागराज(इलाहाबाद)–211001, पृ॰ 22।
- शास्त्री, सुब्रह्मण्यम (सम्पा.) 1955. रामाद्वयाचार्यप्रणीत वेदान्तकौमुदी, मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास–600005, पृ॰ 244।
- झा, किशोर नाथ (अनु.), शर्मा, अम्बिकादत्त एवं मिश्रा, सच्चिदानन्द (सम्पा.) 2015. न्यायदर्शनम्, भारतीय दर्शन अनुसंधान पषिद्, नई दिल्ली–110062, पृ॰142।
- शुक्ल, बदरीनाथ (हिन्दीव्याख्याकार), 2014. केशवमिश्र प्रणीत तर्कभाषा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली–110028, पृ॰ 16।
- देवराज, नन्द किशोर (सम्पा.), 2002. भारतीय दर्शन, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ–226001, पृ॰ 533।
- शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी–221001, पृ॰ 9।
- देवराज, नन्द किशोर (सम्पा.), 2002. भारतीय दर्शन, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ–226001, पृ॰ 533।
- शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी–221001, पृ॰ 9।
- वहीं, पृ॰ 10।
- वहीं पृ॰ 9।
- शर्मा, अम्बिकादत्त, पाण्डेय, शुक्ल, श्रीप्रकाश, संजय कुमार, मैत्रेय, सुशील (सम्पादक), 2013. वेदान्त दर्शन के आयाम, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, नई दिल्ली–110002, पृ॰ 263।
- शास्त्री, श्रीगजानन मुसलगांवकर (हि॰ व्याख्या॰), 2013. धर्मराजाध्वरीन्द्रविरिचिता वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी–221001, पृ॰ 9।
- वही, पृ॰ 10।
- वहीं, पृ॰ 9।
- वहीं, पृ॰ 10।
- वहीं।
- वहीं।
- वहीं।
- वहीं।
- वहीं।
- वहीं, पृ॰ 9।
- वहीं, पृ॰ 11।
- वहीं।
- वहीं।



पंजीयन क्रमाकः 14/14/01/08825/06

दर्शन परिषद् (मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़)

15वाँ अधिवेशन एवं राष्ट्रीय शोध संगोष्ठी (21 एवं 22 फरवरी 2020)

स्व.श्री बद्रीप्रसाद शाक्य स्मृति निबंध पुरस्कार 2020

आयोजक : योग एंव दर्शन विभाग, शासकीय दिग्विजय स्वशासी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, राजनांदगांव (छत्तीसगढ़)

श्री विनय कुमार तिवारी साँची बौद्ध भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय बारला, रायसेन, म.प्र. ने 'संत परम्परा का दार्शनिक चिंतन' विषय पर निबंध प्रस्तुत किया। निर्णायक मण्डल के मूल्यांकन उपरान्त आपके निबंध पर दर्शन परिषद (मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़) आपको स्व.श्री बद्री प्रसाद शाक्य स्मृति निबंध पुरस्कार 2020 का प्रमाण पत्र एवं र. 2100/- सम्मान निधि प्रदान करती है

दिनांक : 21 फरवरी 2020 **स्थान : राजनांदगांव (छ.ग.)**

डॉ. जय प्रकाश शाक्य	डॉ. हरनाम सिंह अलरेजा	डॉ. सुरेन्द्र सिंह नेगी
सचिव	आयोजन सचिव	अध्यक्ष
दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छत्तीसगढ़)	पन्द्रहवाँ अधिवेशन एवं राष्ट्रीय शोध संगोष्ठी	दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छत्तीसगढ़)

www.abdpindia.net

SE/1070/Distt South-East /2016

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

प्रमाण-पत्र

वैद्य श्री गणपतराम जानी (पोलरपुरवाला) गुजरात पुरस्कार

2020

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद् के 65 वें अधिवेशन के अवसर पर, जो महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र) में आयोजित हो रहा है, आज दिनांक २१ अगस्त २०२१ को...श्री विनय कुमार तिवारी स्थान.. .....सांची.....को कनिष्ठ वर्ग में तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में प्रस्तुत आलेख "मीमांसा एवं अद्वैत वेदान्त में अर्थापत्ति का स्वरूप" हेतु प्रदान किया जाता है।

ज्योति स्वरूप कुमार

महामंत्री
अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

21.08.21

अध्यक्ष
अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्